योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

(प्रथम भाग)

लेखक

भीखनलाल आत्रेय, एम. ए., डी. लिट्.,

प्रोफ़ेसर ऑफ़ फिलॉसोफ़ी

(दर्शनाध्यापक)

हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस



इण्डियन बुकशॉप, बनारस

१९३७

प्रकाशक—
प्रोफ़ेसर भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ।

मुद्रक—
माधव विष्णु पराड़कर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी । ६५६५–१४

आवागढ़नरेश

श्री राजा सूर्यपालसिंहजी साहबके

करकमलोंमें

सादर समर्पित

एतच्छास्त्रघनाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात् ।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी ॥१॥
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ।
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ॥२॥
(योगवासिष्ठ २।१८।३६,८; ३।८।१३,१५)

इस शास्त्रके बार बार पढ़नेसे और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों-को भलीभाँति व्यवहारमें लानेसे मनुष्यमें महान् गुणोंवाली नाग-रिकताका उदय होता है। इस ग्रन्थके श्रवणसे बुद्धिमें परम ज्ञानका उदय हो जाता है और जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगता है।

लेखककी अन्य पुस्तकें

1. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
2. Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy
3. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
4. Vasiṣṭhadarṣanam (Sanskrit, with an Introduction in English)
5. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृतभूमिकासहितम्)
6. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
7. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
8. Deification of Man
9. Self-realization
10. The Elements of Indian Logic
11. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)
12. श्रीशङ्कराचार्यका मायावाद
13. The Place of the Screen in Schools
14. Yogavāsiṣṭha and Some of the Minor Upanishads
15. Address on Jainism
16. Notes on Human Physiology
17. Philosophy and Theosophy (in the Press)
18. The Concept of God in Indian Philosophy (in the Press)

Available at

THE INDIAN BOOKSHOP, BENARES.

प्रस्तावना

परमात्माका अनेक बार धन्यवाद है कि लेखक आज पाठकोंके सामने "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नामक पुस्तकको रखनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहा है। योगवासिष्ठ महारामायण संस्कृत साहित्य में एक अद्भुत, महान्, और अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जिस जिसने इस महाग्रन्थका विचारपूर्वक अध्ययन किया है उसीने इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। इस परम पावन ज्ञान-गङ्गासे लेखकके इस जन्मका प्रथम परिचय ११ वर्षकी आयु-में पतितपावनी श्रीजाह्नवीके तटपर स्थित परम पुण्य स्थान हरि-द्वारमें एक मित्रके घरपर हुआ था। तभीसे अबतक बराबर किसी न किसी रूपमें लेखक इस ग्रन्थरत्नका अनुशीलन करता चला आ रहा है। इसके अति उच्च और गहन दार्शनिक विचारोंकी ओर ध्यान देते हुए लेखकको सदा ही इस बातका बड़ा आश्चर्य रहा है कि इतने उत्तम ग्रन्थके सम्बन्धमें अभी तक क्यों किसी आधुनिक वैज्ञानिक-समालोचना-निष्णात भारतीय दर्शनके व्याख्याता भारतीय अथवा पाश्चात्य पण्डितने अंग्रेजी या जर्मन भाषामें कोई पुस्तक नहीं लिखी—जबकि इसकी अपेक्षा बहुत क्षुद्र ग्रन्थों तककी व्याख्याएँ और समालोचनाएँ लिखी जा चुकी हैं। भारतीय दर्शनके सम्बन्धमें लिखनेवाले अधिकतर बड़े बड़े विद्वानोंने योगवासिष्ठका नाम तक भी अपने ग्रन्थोंमें कुछ दिन पहिले तक नहीं लिया था। सन् १९२३ में एम. ए. की परीक्षा पास करके, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें सहा-यक दर्शनाध्यापकके पदपर नियुक्त होते ही, लेखकने यथा अवकाश योगवासिष्ठका नियमित और विचारपूर्वक अध्ययन आरम्भ किया, और इस ग्रन्थके सम्बन्धमें आधुनिक रीतिसे अंग्रेजी भाषामें कुछ लिखनेका

विचार किया। सन् १९२५ के दिसम्बर मासमें भारतीय दर्शन परिषद् (Indian Philosophical Congress) के कलकत्तेवाले प्रथम अधिवेशनमें लेखकने इस विषय सम्बन्धी प्रथम लेख "दी फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ वसिष्ठ" (The Philosophy of Vasiṣṭha) नामकको पढ़ कर विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित किया। तबसे लेकर तीन चार साल तक इस परिषद्के प्रत्येक अधिवेशनमें लेखकने योगवासिष्ठ सम्बन्धी चर्चा की। जुलाई सन् १९२८ में "दी फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ वसिष्ठ ऐज़ प्रेज़ेण्टेड इन दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of Vasiṣṭha as Presented in the Yogavāsiṣṭha) नामक एक निबन्ध (Thesis) लिखकर लेखकने हिन्दू विश्वविद्यालयको 'डाक्टर ऑफ़ लेटर्स' (Doctor of Letters) नामकी सर्वोच्च उपाधिके लिये दिया। उसकी परीक्षाके लिये विश्वविद्यालयने कई यूरोपियन और भारतीय विद्वानोंकी एक परीक्षकसमिति नियुक्त की। उनकी सहमतिसे सन् १९३० के उपाधि वितरणोत्सव पर लेखकको हिन्दू विश्वविद्यालयने डी. लिट्. (D. Litt.) की उपाधि प्रदान की। कई कारणोंसे इस निबन्धके प्रकाशित करानेका कोई आयोजन नहीं किया गया, और वह लेखकके पुस्तकालयमें बरसों लापरवाहीसे पड़ा रहा। कुछ मित्रोंके अनुरोधसे सन् १९३२ में लेखकने 'काशी तत्त्व सभा' के अधिष्ठातृत्वमें थियोसोफ़िकल सोसाइटी, काशीके प्रसिद्ध भवनमें योगवासिष्ठ सम्बन्धी दस व्याख्यान दिये। सन् १९३२ में ही इनमेंसे प्रथम पाँच व्याख्यान 'थियोसोफ़ी इन् इण्डिया' (Theosophy in India) नामक पत्रमें छपकर पुस्तकाकारमें प्रकाशित हुए। इस पुस्तकका नाम "योगवासिष्ठ ऐण्ड इट्स फ़िलॉसोफ़ी" (Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy) पड़ा, और यह पुस्तक अल्प कालमें ही विद्वज्जन-सम्मानित और लोकप्रिय हो गई। इसको पढ़नेवालोंसे लेखकके पास अनेक प्रशंसापत्र आने लगे। उसी

समय लेखकने हिन्दीमें एक छोटी सी पुस्तिका "वासिष्ठदर्शनसार" नामक भी प्रकाशित कराई, जिसमें सारे योगवासिष्ठका १५० श्लोकोंमें सार देकर उनका हिन्दी अनुवाद कर दिया था। इन दोनों पुस्तकोंके छपनेपर लेखकके पास ऐसे अनेक पत्र आये जिनमें योगवासिष्ठपर कोई बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित करनेके लिये अनुरोध था। इसी बीचमें सन् १९३४ में काशी तत्त्व सभामें दिये हुए शेष पाँच व्याख्यान भी "योगवासिष्ठ ऐण्ड मॉडर्न थॉट" (Yogavāsiṣṭha and Modern Thought) नामक पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हो गये। विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इस पुस्तककी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की। आवागढ़ रियासतके अधिपति श्री राजा सूर्यपालसिंह जी साहबको तो यह पुस्तक इतनी पसन्द आई कि उन्होंने अपने श्रीमुखसे पूज्य मालवीय जीके सामने इसकी बहुत प्रशंसा की और उनके द्वारा लेखकके पास १००१ रुपयेका चेक पारितोषिकके रूपमें भेजनेकी कृपा की। लेखक राजा साहबकी इस कृपाका—जिसको प्राप्त करनेके लिये लेखकने नाममात्रको भी प्रयत्न नहीं किया था और जिसकी लेखकने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की थी—अपनेको सदाके लिये अनुग्रहीत मानता रहेगा। राजा साहबके इस सात्त्विक दानकी जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही थोड़ी है, क्योंकि उनसे लेखकका न कोई पूर्व परिचय था और न लेखकने उनके पास इस पुस्तककी कोई प्रति ही भेजी थी।

इन दो पुस्तकोंके अंग्रेजीमें प्रकाशित होनेसे लेखकको कई ऐसे मित्रोंके प्राप्त होनेका सौभाग्य मिला जो लेखकके योगवासिष्ठ सम्बन्धी बड़े ग्रन्थको प्रकाशित करानेके लिये बहुत उत्सुक हो गये। उन मित्रोंमेंसे मद्रास प्रान्तके दक्षिण कनारा ज़िलेके एक रिटायर्ड कस्टम्स ऑफ़िसर श्री बी० सुब्बराव साहबका शुभनाम विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने मद्रास जाकर वहाँपर थियोसोफ़िकल पब्लिशिङ्ग हाउस, अड्यार (Theosophical Publishing House, Adyar) के

प्रबन्धकोंके सामने लेखककी प्रकाशित पुस्तकोंकी बहुत प्रशंसा की, और उनसे उसकी बृहत् पुस्तकके प्रकाशित करनेका सफल अनुरोध किया। वहाँके मैनेजर महोदयने तुरन्त ही लेखकसे उस पुस्तककी हस्तलिखित प्रति मँगाई, और पुस्तकको प्रकाशित करनेकी स्वीकृति एक सप्ताहके भीतर ही भेज दी। लेखक श्री सुब्बराव साहबकी इस कृपाका जन्म-भर ऋणी रहेगा। थियोसोफ़िकल पब्लिशिङ्ग हाउसका भी लेखक सदाके लिये कृतज्ञ है, क्योंकि उसके मैनेजर महोदयने इस बृहत् पुस्तकके छपवाने और प्रकाशित करानेमें विशेष कष्ट उठाया है, और इसको बहुत सुन्दर और शुद्ध रूपमें निकालनेका प्रयत्न किया है। दिसम्बर सन् १९३६ में यह बृहत् ग्रन्थ "दी फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha) नामसे प्रकाशित हुआ। पृथ्वी मण्डलके प्रायः सबही सभ्य देशोंमें इसको आशातीत सन्मान मिल रहा है। विद्वानों, समालोचकों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी दिल खोल कर प्रशंसा की है। इसके लिये वे सब लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। इस पुस्तकके अनेक पाठकोंके पाससे लेखकके पास जो समय समयपर चिट्ठियाँ आती रहती हैं, उनसे ज्ञात होता है कि योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे कुछ लोगोंके संतप्त चित्तको बहुत शान्ति मिली है*। अंग्रेज़ी पुस्तक 'The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha" के साथ साथ ही गवर्नमेण्ट कालेज बनारसके भूतपूर्व प्रिंसिपल विद्वच्छिरोमणि पं० गोपीनाथ कविराज जीकी कृपासे लेखककी संस्कृत

---

* बहुत सी ऐसी चिट्ठियोंमें से केवल एकको ही जैसीकी तैसी (अंग्रेज़ी भाषामें) पाठकोंके सामने प्रस्तुतकर देना यहाँपर अनुचित नहीं जान पड़ता :—

"Dear Dr. Atreya,

Allow me a stranger to address you and to express my deep obligations that I owe you for writing such a splendid book, "The Philosophy of the Yogavasistha." I read a large number of theosophical books, and also Krishnamurti, Trine, Marden, James Allen, Buddhism, a number of Commentaries on the Bhagwadgita and Upanishads etc., but nowhere I got satiety

पुस्तक "श्रीवासिष्ठदर्शनम्" नामक भी यू० पी० गवर्नमेण्टकी "प्रिन्सेस ऑफ़ वेल्स टेक्स्ट्स" मालामें प्रकाशित हो गई। इस कृपाके लिये लेखक कविराज जीका बहुत कृतज्ञ है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दीमें भी योगवासिष्ठ पर एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित करनेकी अभिलाषा लेखकके मनमें बहुत दिनोंसे थी, लेकिन अन्य कार्योंकी अधिकतासे अवकाश न मिलनेके कारण यह अभिलाषा बहुत दिनों तक पूरी न हो सकी। प्रस्तुत पुस्तकके आरम्भ होनेका सबसे अधिक श्रेय काशीके पत्र "सनातनधर्म" के सहकारी सम्पादक पं० गया प्रसाद ज्योतिषी जीको है। उनके अनुरोधसे ही यह पुस्तक "सनातनधर्म" में एक लेखमालाके रूपमें १ मार्च सन् १९३४ को आरम्भ हुई थी। कुछ दिनों तक तो यह लेखमाला चलती रही, किन्तु फिर अवकाशके अभावसे बन्द हो गई। उस मालामें जितने लेख छपे थे वे ज्ञानमण्डल प्रेस, काशीकी कृपासे साथ साथ पुस्तकाकारमें भी छप गये थें। लेखमाला स्थगित होनेसे पुस्तक भी स्थगित हो गई। इस बीचमें सनातनधर्मका टाइप भी बदल गया। पुस्तक कब प्रकाशित होगी इस सम्बन्धमें अनेक चिठ्ठियाँ आनेसे, और श्रीमती आत्रेयके पुस्तकको पूरा कर देनेके बार बारके अनुरोधसे, जब जितना

---

and peace. I am now 47 years of age and have struggled through many crises in life. But your book has given me a new insight of life and I have found peace, solace and rest which I could not succeed in getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. Yogavasistha in original was in itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude. May I make one request ? Will you bring out a Hindi Edition of the book for the understanding of those who do not know English ? It is clear that it was the teaching of Yogavasistha which made India so great. We are now fallen because we have quite forgotten it. May this book of yours infuse a new life into the decaying nerves of India ! Every step should be taken to popularise this teaching. Kindly excuse me for writing this letter. Yours truly,"

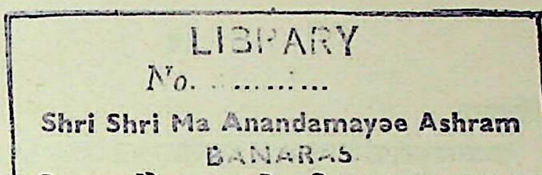
............"

अवकाश मिला उतना ही अंश इस पुस्तकका लिख कर छपवाया गया। इस रीतिसे आज इस पुस्तकका प्रथम भाग समाप्त हो पाया है। पहिले तो विचार यही था कि पूरा ग्रन्थ एक ही जिल्दमें छपे। लेकिन इस विचारसे कि ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाएगा, इसको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है। प्रथम भाग पाठकोंके सामने है। दूसरे भागमें योग-वासिष्ठका तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन होगा। सारी पुस्तक एक साथ न लिखे जाने और छपनेके कारण इस पुस्तकमें शैली, क्रम और व्याख्याके कुछ दोषोंका आ जाना स्वाभाविक ही है। आशा है कि पाठक और समालोचक उनके लिये लेखकको क्षमा करेंगे। इस पुस्तकमें लेखकने योगवासिष्ठके संस्कृत श्लोकोंका अक्षरशः हिन्दी अनुवाद करनेका साहस नहीं किया; पर जहाँतक हो सका है योगवासिष्ठके भावोंको ही हिन्दुस्तानी भाषामें पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया है। श्लोकोंके अनुवादके साथ यदि लेखकने अपनी ओरसे कोई बात लिखी है, तो उसको कोष्ठोंके भीतर लिखा है। श्लोकोंके आगेवाले कोष्ठोंके भीतर निर्णयसागरप्रेस बम्बईसे प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ योगवासिष्ठके प्रकरण, सर्ग, और श्लोकोंके अङ्क दिये गये हैं, ताकि पाठकोंको यह ज्ञात हो जाए कि अमुक श्लोक मूलग्रन्थमें किस स्थानपर है।

इस पुस्तककी अनुक्रमणिकाके बनानेमें लेखकके प्रिय शिष्य और मित्र, श्री श्यामसुन्दर खत्री "सुन्दर" और उनकी सुयोग्य बहिन कुमारी सावित्रीने सहायता दी है। इसके लिये वे दोनों लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तकके इस समय समाप्त हो जानेका बहुत सा श्रेय लेखककी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी आत्रेयको है, इसलिये लेखक उनको भी धन्यवाद देकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
विजयदशमी
सम्वत् १९९४ वि०

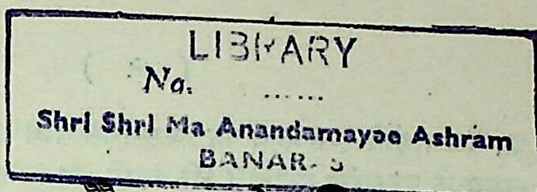
भी० ला० आत्रेय



योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ



योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

१—योगवासिष्ठ का भारतीय दार्शनिक साहित्य में स्थान

श्री योगवासिष्ठ संस्कृत भाषा का एक बृहत् ग्रन्थ है जो **योगवासिष्ठ महारामायण, महारामायण, आर्षरामायण, वासिष्ठरामायण, ज्ञानवासिष्ठ,** और **वासिष्ठ** आदि नामों से भी ज्ञात है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका पाठ, मूल तथा भाषानुवाद में, बहुत काल से होता चला आ रहा है। जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिए **श्रीमद्भागवत** और **श्रीरामचरितमानस** का, और कर्मयोगियों के लिये **श्रीमद्भगवद्गीता** का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिये श्री योगवासिष्ठ का है। सहस्रों स्त्री-पुरुष—राजा से लेकर रङ्क तक—इस विचित्र ग्रंथ के अध्ययन से अपने जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते हैं। प्रायः सब ही प्रकार के पाठकों के अनुमोद के लिये इस ग्रन्थ में सामग्री प्रस्तुत है। जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहाँ बड़े बड़े विद्वानों की समझ से बाहर की उलझनों और गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है। हमारी समझ में तो यह ग्रंथ महान् और विशाल हिमाचल के सदृश है। पृथ्वी तल पर स्थित होने से प्रायः सभी लोगों की पहुँच हिमालय तक है, लेकिन विरले ही साहसी और पुरुषार्थी खोजक उसके उत्तुङ्ग शृङ्गों को स्पर्श करते हैं। यही हाल योगवासिष्ठ का है। यह ऐसा अद्भुत ग्रंथ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन, सभी का आनन्द वर्तमान है। भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से यह ग्रंथ एक है। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्म भाव में स्थित रह कर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रंथ का पाठ, मनन और निदिध्यासन सर्वोत्तम साधन है।

ऐसा मत केवल हमारा ही नहीं है, वरन् उन सब महापुरुषों

का है जिन्होंने इस ग्रन्थ का अमृतरस पान किया है। आधुनिक समय के परमहंस ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अमेरिका में अपने एक व्याख्यान "भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता" में योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में कहा है, "भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से एक—और मेरे मतानुसार तो संसार की सभी पुस्तकों से अद्भुततम पुस्तक—योगवासिष्ठ है। यह असम्भव है कि कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन कर ले और उसको ब्रह्मभावना न हो और वह सबके साथ एकता का अनुभव न करे" (इन दी वुड्स ऑफ गॉड-रिअलाइज़ेशन, वॉल्यूम ७, पञ्चम संस्करण १९३२, पृ० ६५)। काशी के जगद्विख्यात विद्वान् श्री डाक्टर भगवान्दास जी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक (मिस्टिक एक्सपीरीएन्सेज़) की भूमिका में लिखते हैं—"संस्कृत के ग्रन्थ योगवासिष्ठ का—जिसमें कि ३२ सहस्र श्लोक हैं—भारतीय वेदान्तियों में, इसके दार्शनिक सिद्धान्त, आत्मानुभवप्राप्ति के साधनों तथा इसके साहित्यिक सौन्दर्य और काव्यमय होने के कारण बहुत ही आदर है। वेदान्तियों में तो यह उक्ति प्रचलित है कि यह ग्रन्थ सिद्धावस्था में अध्ययन करने के योग्य है और दूसरे ग्रन्थ भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र साधनावस्था में अध्ययन किए जाने योग्य हैं।" योगवासिष्ठ के भाषानुवाद की भूमिका में, ब्रह्माभ्यासियों में प्रसिद्ध स्व० लाला बैजनाथ जी ने लिखा है—"वेदान्त में कोई ग्रन्थ ऐसा विस्तृत और अद्वैत सिद्धान्त को इतने आख्यानों और दृष्टान्तों और युक्तियों से ऐसा दृढ़ प्रतिपादन करनेवाला आजतक नहीं लिखा गया, इस विषय में सभी सहमत हैं कि इस एक ग्रन्थ के विचार से ही कैसा हो विषयासक्त और संसार में मग्न पुरुष हो वह भी वैराग्य-सम्पन्न होकर क्रमशः आत्मपथ में विश्रान्ति पाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आई है कि इस ग्रन्थ के सम्यक् विचार करनेवाले यथेच्छाचारी होने के स्थान में अपने कार्य को लोकोपकारार्थ, उसी दृष्टि से कि जिस दृष्टि से श्री रामचन्द्रजी करते थे, करते हुए उनकी नाईं स्व-स्वरूप में सदा जागते हैं। (योगवासिष्ठ महारामायण—भाषानुवाद समेत—भाग २, भूमिका, पृ० ७)

"वह वेदान्त के सब ग्रन्थों में शिरोमणि है और कोई मुमुक्षु उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता" (**यो०म०,भा,** भाग १, भूमिका, पृ० ७)। पंजाब के वर्तमान ब्रह्मनिष्ठ उर्दू कवि मुं० सूर्यनारायण 'महर' ने लघु योगवासिष्ठ के अपने उर्दू अनुवाद को भूमिका में लिखा है—"जो योगवासिष्ठ पढ़ता है वह जरूर ही ज्ञानी हो जाता है"। (**योगवासिष्ठसार** (उर्दू) पृष्ठ ६)।

योगवासिष्ठ का लेखक—वह चाहे जो कोई हो—स्वयं अपने ग्रंथ के महत्त्व को अच्छी तरह जानता था स्वयं वह कहता है, और ठीक ही कहता है:—

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥१॥ (२।१८।३३)
अस्मिन्श्रुते मते ज्ञाते तपोध्यानजपादिकम्।
मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किंचिदुपयुज्यते ॥२॥ (२।१८।३५)
सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः। (२।१०।९)
सुखदुःखक्षयकरं महानन्दैककारणम् ॥३॥ (२।१०।७)
य इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः।
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ॥४॥ (२।८।१३)

अर्थात्—यह शास्त्र सुबोध है। अलङ्कारों से विभूषित है। सुन्दर और रसपूर्ण काव्य है। और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन किए गए हैं ॥१॥ मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रंथ का श्रवण मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन को आवश्यकता नहीं रहती ॥२॥ यह ग्रंथ सब दुःख सुखों का क्षय करने वाला बुद्धि को अत्यन्त आश्वासन देने वाला, और महा आनन्द प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥३॥ जो इसका नित्य श्रवण करता है उस प्रकाशमयी बुद्धि वाले को बोध से भी परे का बोध हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥४॥

वेदान्त के प्रायः सभी मध्य कालीन लेखकों के ऊपर इस ग्रंथ का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ा है। योगवासिष्ठ के साथ साथ यदि भर्तृहरि के **वैराग्यशतक** और **वाक्यपदीय,** गौडपादाचार्य की **माँडूक्यकारिका,** श्री शंकराचार्य की **विवेकचूडामणि, आत्मबोध, स्वात्मनिरूपण, शतश्लोकी** तथा **अपरोक्षानु-**

भूति और सुरेश्वराचार्य के **मानसोल्लास** का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि अद्वैत वेदान्त के मध्य कालीन आचार्यगण योगवासिष्ठ के कितने ऋणी हैं (इस विषय का प्रतिपादन आगे किया जायगा)। नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में हो—जब कि श्री शंकराचार्य वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का पुनरुद्धार करने में सफल हो चुके थे—इस बृहत् ग्रन्थ का एक संक्षेप—**लघु योगवासिष्ठ** नामक—लगभग ६००० श्लोकों में, कश्मीर के पण्डित अभिनन्द गौड़ द्वारा किया गया (**विन्टर्निट्ज़—गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर** वॉ. ३, पृ. ४४३)। उस समय से योग वासिष्ठ का—जो कि पहिले बृहत् होने के कारण कठिनता से उपलब्ध होता था—खूब प्रचार हो गया। वेदान्त के प्रसिद्ध लेखक विद्यारण्य स्वामी के **जीवन्मुक्तिविवेक** और **पञ्चदशी**, नारायण भट्ट के **भक्तिसागर**, प्रकाशात्मा की **वेदान्तसिधान्तमुक्तावली**, और **शिवसंहिता**, **हठयोगप्रदीपिका** तथा **रामगीता** इत्यादि ग्रन्थों में योगवासिष्ठ की उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। केवल **जीवन्मुक्तिविवेक** में ही योवासिष्ठ के २५३ श्लोक उद्धृत हैं।

केवल इतना ही नहीं, गहरी खोज करने पर लेखक को यह भी पता चला है कि १०८ प्रसिद्ध उपनिषदों में से कुछ **उपनिषद्** ऐसे हैं जो कि—सब के सब अथवा जिनके कुछ (प्रधान) भाग—योग वासिष्ठ में से चुने हुए श्लोकों से ही बने हैं, अथवा जिनमें कहीं कहीं पर योगवासिष्ठ के श्लोक पाए जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में हस्तलिखित पुस्तकें होने से योगवासिष्ठ जैसा बड़ा ग्रन्थ आसानी से उपलब्ध न होने के कारण, लोगों ने इसमें से अपनी अपनी रुचि के अनुसार श्लोकों को छाँट कर उनका संग्रह करके उसका नाम उपनिषत् रख लिया। लेखक के अनुसार निम्नलिखित उपनिषदों में योगवासिष्ठ के श्लोक पाए जाते हैं (देखिए **सरस्वतीभवन स्टडीज़** १९३२ में हमारा लेख "योनवासिष्ठ और कुछ उपनिषद्")।

१ **महा उपनिषद्**—केवल पहिला, छोटासा भूमिकामय

अध्याय छोड़ कर सारा उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही (५१० के लगभग) श्लोकों से बना है।

२ अन्नपूर्णा उपनिषद्—सम्पूर्ण। (आरम्भ के १७ श्लोक छोड़ कर)

३ अक्षि उपनिषद्—सम्पूर्ण।

४ मुक्तिकोपनिषद्—दूसरा अध्याय जो कि मुख्य अध्याय है।

५ वराह उपनिषद्—चौथा अध्याय।

६ बृहत्संन्यासोपनिषद्—५० श्लोक।

७ शाण्डिल्य उपनिषद्—१८ श्लोक।

८ याज्ञवल्क्य उपनिषद्—१० श्लोक।

९ योगकुण्डली उपनिषद्—३ श्लोक।

१० पैङ्गल उपनिषद्—१ श्लोक।

इनके अतिरिक्त दूसरे कुछ ऐसे उपनिषद् भी हैं जिनमें योगवासिष्ठ के श्लोक तो अक्षरशः नहीं पाये जाते लेकिन योगवासिष्ठ के सिद्धान्त अवश्य ही मिलते हैं। अभी तक यह कहना कठिन है कि ये योगवाशिष्ठ के पहिले के हैं अथवा पीछे के। वे ये हैं:—

१ जाबाल उपनिषद्—समाधिखण्ड।

२ योगशिखोपनिषद्—१।३४-३७; १।५९, ६०; ४ (समस्त) ६।५८, ५९-६४।

३ तेजोबिन्दूपनिषद्—समस्त।

४ त्रिपुरतापिनी उपनिषद्—उपनिषत् ५, श्लोक १-१९।

५ सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्—द्वितीयखण्ड, श्लोक १२-१६।

६ मैत्रायण्युपनिषद्—प्रपाठक ४, श्लोक १—११।

७ अमृतबिन्दूपनिषद्—श्लोक १—५।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन में योगवासिष्ठ का बहुत ऊँचा स्थान है और भारतीय दर्शन के इतिहास में इसका महत्त्व उपनिषद् और भगवद्गीता से किसी प्रकार कम नहीं

वरन् अधिक ही रहा है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वानों का इसकी ओर कम ध्यान गया है। हमारे दर्शन के इतिहास लेखकों ने इसकी अक्षम्य अवहेलना की है। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **भारतीय दर्शन के इतिहास** के प्रथम भाग में, जहाँ कि इस ग्रन्थ का उच्च स्थान होना चाहिये था, योगवासिष्ठ का नाम तक भी नहीं आया। हर्ष की बात है कि दूसरे भाग में उन्होंने अब इसको स्थान दे दिया है। प्रो० राधाकृष्णन् के **भारतीय दर्शन** में भी योगवासिष्ठ पर कुछ भी नहीं लिखा गया। प्रो० हिरियण्ण की अभी हाल में छपी हुई पुस्तक **आउटलाइन ऑफ़ इण्डियन फ़िलासोफ़ी** में भी योगवासिष्ठ का नाम तक नहीं आता। प्रो०अभ्यङ्कर ने अपने सम्पादन किए हुए **सर्व दर्शन संग्रह** के अन्त में दी हुई भारत के दर्शन ग्रन्थों की नामावली में भी योगवासिष्ठ का नाम नहीं दिया। यही सबसे बड़ा कारण है कि लेखक को इस विषय में अपनी लेखनी उठानी पड़ी।

यही बात नहीं है कि योगवासिष्ठ की ओर आधुनिक लेखकों का ध्यान नहीं गया, वरन् कुछ लोगों ने इसका ज़िक्र करते हुए इसके प्रति अपनी विपरीत भावना का भी परिचय दिया है। डा० विण्टनिज़ ने अपने 'भारतीय साहित्य के इतिहास', **गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ. ३** के ४४३ पृष्ठ पर लिखा है, "वेदान्त के कुछ ग्रंथों के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि वे दार्शनिक ग्रंथ हैं अथवा धार्मिक (साम्प्रदायिक)। यही बात योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह अधिकतर साम्प्रदायिक ही पुस्तक है।" इसी प्रकार डा० फर्कुहार साहब अपने ग्रंथ **'एन आउटलाइन ऑफ़ रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इण्डिया'** में २२ वें पृष्ठ पर कहते हैं—"**योगवासिष्ठ रामायण** १३ वीं या १४ वीं शताब्दी में लिखी हुई उन पुस्तकों में से है जो कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने के निमित्त लिखी गई थीं, लेकिन यह **अध्यात्मरामायण** की टक्कर की नहीं है।" प्रो० राधाकृष्णन् साहब को शायद यह मत मान्य है क्योंकि उन्होंने भी अपने **भारतीय दर्शन (इंडियन फ़िलॉसोफ़ी)** के दूसरे भाग के

४५२ वें पृष्ठ के फुट नोट में लिखा है-"पीछे लिखे हुए बहुत से उपनिषद्—यथा **महोपनिषद्**—और **योगवासिष्ठ** तथा **अध्यात्म रामायण** जैसे साम्प्रदायिक ग्रंथ भी अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं"। ये विचार योगवासिष्ठ के भलीभाँति अध्ययन करने पर काफ़ूर हो जाते हैं। योगवासिष्ठ में किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिकता नहीं है। वह सर्वथा एक दार्शनिक ग्रंथ है, किन्तु अन्य दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं रूखी और सूत्रमयी भाषा में नहीं लिखा गया, बल्कि इस ग्रन्थ में रसमय काव्य के रूप में उपाख्यानों और दृष्टान्तों द्वारा उच्च से उच्च और गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

यदि इसके गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के अपनाने और मानने के लिये नहीं, तो भी अद्वैत वेदान्त के इतिहास से भलीभाँति परिचित होने के लिए, विद्वानों को इसका अध्ययन करना आवश्यक ही है। क्योंकि लेखक का पूरा विश्वास है (जैसा कि आगे चल कर सिद्ध किया जायगा) कि यह ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य और श्रीगौड़पादाचार्य के पहिले का है। हमारा यह विचार शरवाट्सकी, कीथ, विण्टर्निज़ और शरेडर आदि युरोप के पण्डितों ने मान लिया है। जैसा कि शरेडर साहब (कील, जर्मनी) ने हम को एक चिट्ठी में लिखा है, "यदि यह बात प्रायः मान ली गई, तो अवश्य ही इस ग्रंथ का महत्त्व बहुत बढ़ जायगा और प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों का ध्यान इसकी ओर अवश्य ही जायगा।" यदि इस लेखमाला से कुछ विद्वानों की रुचि इस अद्भुत ग्रंथ का अमृत पान करने की ओर हो गई तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

२–योगवासिष्ठ कब लिखा गया होगा।

संस्कृत भाषा के अधिकतर ग्रन्थों का लेख-समय निर्धारित करना बहुत ही कठिन काम है क्योंकि लेखकों ने अपने और अपने समय के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में कुछ नहीं लिखा। आजकल के लेखकों की नांई वे लोग अपना नाम विख्यात करना इतना आवश्यक नहीं समझते थे जितना कि अपने ग्रन्थ और तद्गत सिद्धान्तों का प्रचार। उनके इस उच्च कोटि के आत्मत्याग से भारत के ऐतिहासिक ज्ञान को अत्यन्त क्षति पहुँची है। इसी कारण से भारत का प्राचीन इतिहास बहुत अन्धकारमय है, और बड़े बड़े विद्वानों का समय और उनकी शक्ति भारत के प्राचीन इतिहास की खोज में व्यय होती है। कितने दुःख की बात है कि हमको महाकवि कालिदास और आचार्य शङ्कर तक के समय का भी निश्चय नहीं है। यही हाल योगवासिष्ठ का भी है। जितना मतभेद इस ग्रन्थ के लेखन-समय के सम्बन्ध में है उतना शायद ही और किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में होगा। एक ओर तो यह मत प्रचलित है कि यह ग्रन्थ रामायण के रचयिता महर्षि आदिकवि श्री वाल्मीकि जी की कृति है, और दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् समझते हैं कि यह ग्रन्थ १३वीं अथवा १४वीं क्रिष्टीय शताब्दी में लिखा गया होगा। निर्णय सागर प्रेस से जो ग्रन्थ छपा है उसके आरम्भ में लिखा है "श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः योगवासिष्ठः" और प्रत्येक सर्ग के अन्त में "इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहा रामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु" इत्यादि लिखा रहता है। इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय में जो योगवासिष्ठ की हस्तलिखित प्रतियाँ मौजूद हैं (देखिये एगलिङ्ग की **सूची** भाग चौथा, पृष्ठ ११२, संख्या २४०७—२४१४) उनमें भी ऐसे ही लिखा हुआ है। लेकिन यदि फर्कुहार साहब का ग्रन्थ **रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया** पढ़ें तो उसमें यह लिखा हुआ मिलता है कि "योगवासिष्ठ महा-रामायण उन संस्कृत काव्यों में से है जो १३वीं या १४वीं शताब्दियों में लिखे गये थे" (पृष्ठ २२८)। अब हमको यहाँ पर यथासंभव यह निश्चय करना है कि यह ग्रन्थ कब लिखा गया होगा। प्रथम

हम आधुनिक विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे और पीछे उस मत की जो कि भारत में प्रायः प्रचलित है।

फर्कुहार साहब ने अपने मत के समर्थन में कोई भी युक्ति नहीं दी। किन्तु एक और विद्वान्—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य—ने योगवासिष्ठ के लेखन काल पर मद्रास में हुई दूसरी ऑरियेण्टल कान्फ्रेन्स में एक पाण्डित्यपूर्ण लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया था—"इन सब विचारों से यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ १०—१२वीं शताब्दियों में लिखा गया होगा" (**रिपोर्ट**, पृष्ठ ५५४)। हमारी समझ में योगवासिष्ठ इतने पीछे का ग्रन्थ नहीं है क्योंकिः—

(१) विद्यारण्य स्वामी के समय (१४ वीं शताब्दी के पूर्व भाग) तक योगवासिष्ठ काफ़ी प्रसिद्ध और आदरणीय ग्रन्थ हो चुका था। उनके सर्वप्रिय ग्रन्थ **पञ्चदशी** में योगवासिष्ठ से बहुत सी उक्तियाँ हैं और उनका **जीवन्मुक्तिविवेक** ग्रन्थ तो योगवासिष्ठ के आधार पर ही लिखा हुआ है। इसमें योगवासिष्ठ से कम से कम २५३ श्लोक अपने मत समर्थन के लिये उद्धृत किए गए हैं। प्रो० भट्टाचार्य जी को शायद यह बात मालूम नहीं थी—क्योंकि उन्होंने अपने लेख में लिखा है—"विज्ञान भिक्षु से पहिले का कोई भी दार्शनिक लेखक या भाष्यकार इस ग्रन्थ को प्रमाण ग्रन्थ नहीं समझता मालूम पड़ता है" (**प्रोसिडिङ्ग की रिपोर्ट** पृष्ठ ५४९)। विज्ञान भिक्षु का समय १६ वीं शताब्दी समझा जाता है, लेकिन विद्यारण्य तो १४ वीं शताब्दी ही में माने जाते हैं।

(२) नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही इस बृहत् ग्रन्थ योगवासिष्ठ का कश्मीर देश के पण्डित अभिनन्द गौड़ ने एक सार—**लघु योगवासिष्ठ** अथवा **योगवासिष्ठसार**—लोकोपकारार्थ ६००० श्लोकों में कर दिया था। यह घटना प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं। इसका उल्लेख कोनो साहब की **कर्पूरमंजरी** (पृष्ठ १९७), कीथ साहब की बोडलियन पुस्तकालय की **पुस्तकसूची** (नं० ८४०), विण्टर्निज़ साहब के **भारतीय साहित्य के इतिहास** (जर्मन—**गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर,** वॉ ३,

पृष्ठ ४४४) और हाल साहब की **बिब्लियोग्राफ़ी** (वेदान्त, नं० १४४) में है। यह ग्रन्थ सन् १८८१ में निर्णय सागर प्रस से छपा था और बाज़ार में मिलता है। मालूम पड़ता है कि प्रो० भट्टाचार्य को इस ग्रन्थ की सत्ता का ज्ञान नहीं था क्योंकि वे लिखते हैं—"**लघु योगवाशिष्ठ** अथवा **मोक्षोपायसार**, जिस से किसी पूर्व ग्रन्थ का होना सिद्ध होता है, एक बंगाली लेखक का लिखा हुआ ९२ श्लोकों का ग्रन्थ है। इस लेखक का नाम अभिनन्द है। लेकिन यह अभिनन्द कश्मीर के प्रसिद्ध गौड अभिनन्द से अतिरिक्त कोई दूसरा ही व्यक्ति है" (**प्रोसीडिंग्स्**—पृष्ठ ५५२ फ़ुटनोट)

डा० विण्टर्निज़ साहब ने अपने **गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर** (भारतीय साहित्य का इतिहास) के तीसरे भाग के ४४४ वें पृष्ठ पर योगवाशिष्ठ का समय निर्धारण करते हुए लिखा है—"योगवासिष्ठ का एक सार संस्करण—**योगवासिष्ठसार** नामक—गौड़ अभिनन्द का किया हुआ है। अभिनन्द गौड़ ९वीं शताब्दी के मध्य काल में हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि योगवासिष्ठ इस समय से पुराना है लेकिन शंकराचार्य ने इसका कहीं भी ज़िक्र नहीं किया। इस लिये योगवासिष्ठ शंकराचार्य के किसी समकालीन लेखक ने लिखा होगा"। यह युक्ति हमको ठीक नहीं मालूम पड़ती। शंकराचार्य का समय आजकल के विद्वानों के अनुसार—जो कि डा० विण्टर्निज़ को भी मान्य है (**गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर**, भाग ३, पृष्ठ ४३४)— ७८८—८२० क्रिष्टीय है, और गौड़ अभिनन्द की बाबत भी यह निश्चित सा ही है कि वह ९वीं शताब्दी के मध्य में हुए हैं (देखिये कोनो की **कर्पूरमञ्जरी** पृष्ठ १९७)। ज़रा विचार करना चाहिए कि शंकराचार्य के और गौड़ अभिनन्द के समय में कितना थोड़ा अन्तर है—एक तो ९वीं शताब्दी के प्रथम पाद में और दूसरे उसके मध्य में हुए हैं। यदि विण्टर्निज़ साहब की बात मान लें तो यह मानना पड़ता है कि इस थोड़े से समय में एक ३२००० श्लोकों का ग्रन्थ (यद्यपि आज कल इसमें केवल २७६८७ श्लोक ही हैं), जिसमें उत्तम काव्य के बहुत से गुण वर्तमान हैं, इस समय में बन भी गया होगा और उस हस्त लेखन के समय में उसका ख़ूब प्रचार

भी हो गया होगा और उसका इतना आदर भी हो गया होगा कि गौड़ अभिनन्द जैसा पंडित उसको अध्ययन करे, और उस को भली भांति अध्ययन करके उन्होंने उसका सार भी इसी थोड़े समय के भीतर तैयार करके संसार के समक्ष रख दिया होगा। हमको तो यह सब इतने थोड़े से समय में उस ज़माने में होना नितान्त ही असंभव प्रतीत होता है।

प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने मद्रास ओरियण्टल कान्फ़रेन्स में पढ़े हुए लेख में लिखा है, "योगवासिष्ठ में 'वेदान्तिनः' और 'वेदान्त-वादिनः' से एक सम्प्रदाय का कथन करना इस बात का सूचक है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पहले का नहीं है"। (रिपोर्ट पृष्ठ ५५२)। हमारी समझ में केवल 'वेदान्तिनः' अथवा 'वेदान्त-वादिनः' शब्दों के योगवासिष्ठ में होने से योगवासिष्ठ का शंकरा-चार्य से पीछे का होना सिद्ध नहीं होता। 'वेदान्त' शब्द शंकराचार्य के पीछे का नहीं है वरन् बहुत पुराना है । **मुण्डक उपनिषद्** (३।२।६) और **श्वेताश्वतर उपनिषद्** (४।२२) में भी 'वेदान्त' शब्द उपनिषद् के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'वेदान्तिनः' शब्द अवश्य ही शंकर से पहिले भी उस सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा जो उपनिषदों के सिद्धान्तों को अध्ययन करते थे और उनको ही मानते थे। गौडपादाचार्य की—जिनका शंकर से पूर्व होना सिद्ध ही है—**माण्डूक्यकारिका** (२।३१) के पढ़ने से भी मालूम पड़ता है कि उनसे पूर्व भी अद्वैतवाद को अथवा 'वेदान्त' के सिद्धान्त को प्रतिपादन करनेवाला कोई सम्प्रदाय था। और शंकराचार्य के **ब्रह्मसूत्रभाष्य** को पढ़ने से भी यही ज्ञात होता है कि वे किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार ही वेदान्त सिद्धान्तों की व्याख्या कर रहे हैं, अपना वैयक्तिक मत का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। कोई कारण नहीं है कि वह पूर्व वृत्त सम्प्रदाय तथा वे आचार्य जिनका मत गौड-पादाचार्य तथा शङ्कराचार्य ने प्रतिपादन किया है 'वेदान्तिनः' अथवा 'वेदान्तवादिनः' के नाम से न पुकारे जाते हों या योगवासिष्ठकार ने उनको इन नामों से न पुकारा हो । इस लिये प्रो० भट्टाचार्य की यह युक्ति योगवासिष्ठ के शङ्कराचार्य के पीछे का ग्रन्थ होने को सिद्ध नहीं करती।

योगवासिष्ठ शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है।

१—एक विशेष कारण जिसकी वजह से हमको योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पश्चात् का ग्रन्थ नहीं जान पड़ता, यह है कि योगवासिष्ठ यद्यपि अद्वैत सिद्धान्त और औपनिषद अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक है,—जिसका प्रतिपादन शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में किया है—तथापि उसमें उन पारिभाषिक शब्दों का अभाव है जिनका श्री शंकराचार्य ने प्रायः और विशेषतया प्रयोग किया है और जिनका प्रयोग शंकराचार्य के पीछे के सभी अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक लेखकों ने किया है, और जिनका प्रयोग योगवासिष्ठकार भी करता यदि उसको वे शब्द ज्ञात होते। और यदि वह शंकराचार्य के पीछे का लेखक होता तो कोई कारण ही नहीं कि श्री शंकराचार्य के शब्दों का उसको क्यों ज्ञान न होता जब कि अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वह अपने इस महान् ग्रन्थ में कर रहा था। उदाहरणार्थ, शंकराचार्य के प्रयोग किए हुए ऐसे शब्दों और संज्ञाओं में से कुछ हम यहाँ देते हैं:—'अध्यास', 'साधन चतुष्टय—विवेक, विराग, षट्सम्पत् (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) तथा मुमुक्षत्व', 'सगुण' तथा 'निर्गुण ब्रह्म', 'अपर ब्रह्म' 'सविशेष' और 'निर्विशेष ब्रह्म', 'उपाधि', 'क्रममुक्ति', 'प्रारब्ध' तथा 'संचित' कर्म 'बाध', 'पञ्चकोश', ईश्वर की उपाधि रूप से 'माया' और 'अविद्या', अविद्या का 'अनादित्व', 'कर्म का अनादित्व', ब्रह्म से जगत् का शङ्कराचार्य के अनुसार विकास जो कि सांख्य के अनुसार विकास से भिन्न है, महावाक्यों का एक विशेष प्रकार से अर्थ लगाना इत्यादि।

२—दूसरा कारण यह है कि योगवासिष्ठ का अद्वैतवाद इतने सुसंज्ञित शब्दों में और इतनी निश्चितार्थ तथा दार्शनिक भाषा में नहीं है जितना कि शंकराचार्य का तथा उनके सब अनुयायियों का है। योगवासिष्ठ में प्रायः सभी दार्शनिक संज्ञाएँ कई कई अर्थों की द्योतक हैं।

३—तीसरा कारण यह है कि शङ्कराचार्य जी और उनके अनुयायियों ने जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन किए हैं उन सब को श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है। श्रुति उन सब के लिये अद्वैत सिद्धान्तों का परम प्रमाण है। किन्तु योगवासिष्ठ में कहीं पर भी श्रुति की इतनी महानता नहीं मानी गई। सब प्रमाणों

के ऊपर अनुभव ही को प्रधानता दी गई है। किसी स्थान पर भी श्रुति की उक्ति के आधार पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। लेकिन शङ्कर के पश्चात् किसी भी अद्वैतवाद के समर्थक ने ऐसा नहीं किया। योगवासिष्ठ के अनुसार तो प्रत्यक्षानुभव ही एक परम प्रमाण है। यथाः—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥१॥ (२।१९।६)
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥२॥ (६/१।१९७।१५)

४—चौथा कारण यह है कि शंकराचार्य से लेकर उनके सभी अनुयायियों तक ने अपने ग्रन्थों में दूसरे मतों का यथाशक्ति खंडन कर के अपने मत का प्रतिपादन और अपने मत को सब से उत्तम सिद्ध करने का यत्न किया है। और जहाँ जहाँ युक्तियाँ सफल नहीं हो सकीं वहाँ वहाँ पर श्रुति को परम प्रमाण मान कर उसका पूरा सहारा लिया है। योगवासिष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता। उसके लेखक ने प्रायः सभी अपने समय में वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और उनका अपने मत में समावेश किया है। शंकर का अद्वैत वेदान्त तो केवल उपनिषद् के ही सिद्धान्तों का समन्वय है, लेकिन योगवासिष्ठ अपने समय के सभी दर्शनों का समन्वय है। किसी मत के ऊपर भी योगवासिष्ठकार ने आक्षेप नहीं किया।

५—पाँचवाँ कारण इस विषय में यह है कि यद्यपि योगवासिष्ठ में शङ्कराचार्य के विशेष सिद्धान्त और उनकी विशेष संज्ञाएँ नहीं पाई जातीं, तथापि शङ्कराचार्य के छोटे छोटे पद्य ग्रन्थों में योगवासिष्ठ के बहुत से सिद्धान्त, बहुत सी विशेष संज्ञाएँ ही नहीं, बहुत से श्लोक भी मिलते हैं। भाष्यों में, जो कि गद्य में लिखे गए हैं, शङ्कराचार्य जी को भाष्य कृत ग्रंथों के ही विचारों तक परिमित रहना आवश्यक था, किन्तु अपनी स्वतन्त्र पद्य रचनाओं में वे अपने विचारों तथा शब्दों में स्वतन्त्र थे। इस लिये इन ग्रंथों में कुछ विशेषता है। यदि शङ्कराचार्य के **विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी** आदि पद्य ग्रंथों का योगवासिष्ठ के साथ साथ अध्ययन किया जाय तो अवश्य ही यह निश्चित हो जायगा कि शङ्कराचार्य को

अवश्य ही योगवासिष्ठ के सिद्धान्त मालूम थे और उसके बहुत से श्लोक उनके स्मृति चित्र पर अंकित थे। इस विषय में यह कह देना भी उचित है कि यह सम्भव हो सकता है कि ये ग्रंथ शङ्कराचार्य के लिखे हुए शायद न हों। लेकिन विद्वान् लोग प्रायः इन ग्रन्थों को उन्हीं के मानते चले आ रहे हैं (देखिये अभ्यङ्कर सम्पादित **सर्वदर्शन संग्रह** के अन्त में दी हुई सूची तथा राधाकृष्णन् की **इण्डियन फिलासोफ़ी**, वा० २, पृष्ठ ४५०—जहाँ पर कि **विवेक चूडामणि** शङ्कराचार्य का ग्रन्थ मान लिया गया है)। दूसरी बात यह भी कह देनी उचित है कि शङ्कराचार्य जी को योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और श्लोक स्वयं योगवासिष्ठ से न प्राप्त होकर अपने आचार्यों या सम्प्रदाय द्वारा मौखिक पथ द्वारा प्राप्त हुए हों, और योगवासिष्ठ के पढ़ने का स्वयं उनको सौभाग्य और समय न प्राप्त हुआ हो, क्योंकि उस ज़माने में पुस्तकें—विशेष कर बड़े ग्रंथ—सुलभतया नहीं मिलते थे। हम यहाँ पर पाठकों के निश्चय के लिये कुछ थोड़े से ऐसे श्लोक, वाक्य और सिद्धान्त यहाँ पर इन ग्रंथों से उद्धृत करते हैं जो योगवासिष्ठ में प्रायः उसी रूप में पाए जाते हैं:—

विवेकचूडामणि—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

योगवासिष्ठ—

शान्तसंसारकलनः कलावानपिनिष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।९।११॥

विवेकचूडामणिः—

लीनधीरपि जागर्ति जाग्रद्धर्मविवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

योगवासिष्ठ—

यो जागर्ति सषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्तउच्यते ॥२॥ (३।९।४)

विवेकचूडामणि—बीजं संसृतिभूमिजस्य। (१४५)

योगवासिष्ठ—संसृतिवृततेर्बीजम्। (५।९१।८)

विवेकचूडामणि—

नह्यस्त्यविद्या मनोऽतिरिक्ता मनोह्यविद्या भवबन्धहेतुः।
तस्मिन्विनष्टे सकलंविनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलंविजृम्भते॥(१६९)

योगवासिष्ठ—

चित्तमेव सकलभूताऽडम्बर कारिणीमविद्यां विद्धि।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति। (३।११६।१८)
मनोविजृम्भणमिदं संसार इति संमतम्। (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम्॥ (१७०)

योगवासिष्ठ—

मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः॥ (३।६२।५३)
यथास्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः। (३।५७।५०)
मनोविजृम्भणमिदम्। (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

मुक्तिप्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्। (२६९)

योगवासिष्ठ—वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः। (२।२।५)

विवेकचूडामणि—सर्वत्र सर्वतः सर्वम्। (३१६)

योगवासिष्ठ—सर्वत्र सर्वथा सर्वम्। (६।१५९।४१)

विवेकचूडामणि—

वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते। (३१७)

योगवासिष्ठ—

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्तितोच्यते॥ (३।२२।८)

विवेकचूडामणि—पृथङ्नास्ति जगत्परमात्मनः। (२३५)
योगवासिष्ठ—न जगत्पृथगीश्वरात्। (३।६१।४)

विवेकचूडामणि—स्वयं विश्वमिदं सर्वम्। (३८८)
योगवासिष्ठ—आत्मैवेदं जगत्सर्वम्। (३।१००।३०)

विवेकचूडामणि—
बाह्याभ्यन्तरं शून्यं पूर्णं···ब्रह्माद्वितीयमहम्। (४९२)
योगवासिष्ठ—
अन्तःपूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। (६/१।१२६।३८)
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे॥ (६/१।१२६।३९)

विवेकचूडामणि—
अस्तीति प्रत्ययो यश्च नास्तीति वस्तुनि।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः॥ (५७२)
योगवासिष्ठ—
न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा॥ (३।१००।३९)

शतश्लोकी—अतो दृष्टिसृष्टं किलेदम्। (८१)
योगवासिष्ठ—दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः (३।११४।५६)

आत्मबोध—
सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्र भासते।
बुद्धावेवावभासते स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥ (१७)
योगवासिष्ठ—
सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति।
यथा तथाऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते॥ (५।७१।३९)

स्वात्मनिरूपण—

व्यवहारदशेयं विद्याऽविद्येति वेदपरिभाषा ।
नास्त्येव तत्त्वदृष्ट्या तत्त्वं ब्रह्मैव नान्यदस्त्यस्मात् ॥ (९७)

योगवासिष्ठ—

अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः ।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदाम्वरैः ॥ (६।४२।१)
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः । (४।४०।१)
नाऽविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयाऽनया ॥ (६।९।१७)

शतश्लोकी—

यः कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतोः । (१५)

योगवासिष्ठ—

आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानि चित् । (६।१०८।२०)

शतश्लोकी—न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यात्,
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।
न शून्यं वा चाशून्यमद्वैतकत्वात्,
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ (१०)

योगवासिष्ठ—

एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्वितीयत्वयोर्द्वयोः ।
एकत्वं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ (६।३३।४)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना ।
अशून्यत्वात्संभवतः शून्यताशून्यते कुतः ॥ (३।१०।१४)

दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम् ।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरेवोद्भतं यथा निद्रया ॥१॥

योगवासिष्ठ—

रूपालोकमनस्कारैरन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ (६।२२।२७)
बाह्यमभ्यन्तरं भाति स्वप्नार्थोऽत्र निदर्शनम् । (३।४४।२०)

२

अपरोक्षानुभूति—

भावितं तीव्रवेगेन वस्तु निश्चयात्मना।
पुमान्स्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत्॥ (१४०)

योगवासिष्ठ—

भावितं तीव्रवेगेन यदेवाशु तदेव हि। (६/१।२८।३७)
यथैव भावयत्यात्मा तथैव भवति स्वयम्॥ (४।११।२९)

अपरोक्षानुभूति—यथा कनके कुण्डलाभिधा। (६०)
योगवासिष्ठ—हेम्नीव कटकादित्वम्। (३।१।४२)

अपरोक्षानुभूति—यथा नीरं मरुस्थले। (६१)
योगवासिष्ठ—यथा नास्ति मरौ जलम्। (३।७।४३)

अपरोक्षानुभूति—यथैव शून्ये वेतालः। (६२)
योगवासिष्ठ—यथा नास्ति नभोयक्षः। (३।७।४४)

अपरोक्षानुभूति—गन्धर्वाणां पुरं यथा। (६२)
योगवासिष्ठ—यथा गन्धर्वपत्तनम्। (३।३।३०)

अपरोक्षानुभूति—सर्पत्वेन यथा रज्जुः। (७०)
योगवासिष्ठ—यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिः। (२।१७।९)

अपरोक्षानुभूति—कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम्। (७२)
योगवासिष्ठ—कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथांभसि। (३।२१।६५)

अपरोक्षानुभूति—यथाऽकारो द्विचन्द्रत्वम्। (६२)
योगवासिष्ठ—

यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम्। (३।६६।७)

अपरोक्षानुभूति—जलत्वेन मरीचिका। (७३)
योगवासिष्ठ—मृगतृष्णाम्बिववासत्यम्। (४।१।७)

योगवासिष्ठ गौडपादाचार्य और भर्तृहरि के पूर्व का ग्रन्थ है

गौडपादाचार्य की **माण्डूक्यकारिका** का भलीभाँति अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य से पूर्व का अद्वैत वेदान्त—जो कि **माण्डूक्यकारिका** में प्रतिपादित है—**योगवासिष्ठ** प्रतिपादित अद्वैतवादसे शङ्कराचार्य और उनके अनुयायियों के अद्वैतवादकी अपेक्षा अधिक मिलता जुलता है। **योगवासिष्ठ** और **माण्डूक्यकारिका** के विचारों और भाषा में बहुत कुछ समानता है (देखिए—बम्बई में हुई फिलासोफिकल कांग्रेस में पढ़ा हुआ हमारा लेख—"गौडपाद ऐण्ड वसिष्ठ," **रिपोर्ट** पृष्ठ १८८)। यहाँ पर हम दोनों में से कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं:—

माण्डूक्यकारिका—

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये वहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रयान्तरे ॥ (२।१५)

योगवासिष्ठ—समस्तं कल्पनामात्रमिदम्। (६।२।२१०।११)

माण्डूक्यकारिका—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चिचराचरम्। (३।३१)

योगवासिष्ठ—

मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। (४।११।२३)

माण्डूक्यकारिका—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥ (४।४७)

योगवासिष्ठ—सस्पन्दे समुदेतीव निस्पन्दान्तर्गतेन च।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ (३।९।५८)

माण्डूक्यकारिका—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (२।३१)

योगवासिष्ठ—

मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः । (३।५७।५४)
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (६/१।३३।४५)

माण्डूक्यकारिका—स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां च समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ (२।५)

योगवासिष्ठ—

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ (४।१९।११)

माण्डूक्यकारिका—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (२।६)

योगवासिष्ठ—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (४।४५।४५)

माण्डूक्यकारिका—

न किञ्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ (३।४८)

योगवासिष्ठ—

बुद्धानामस्मदादीनां न किञ्चिन्नाम जायते । (६/२।१४६।१८)
जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चास्ति न च दृश्यते ॥ (३।७।४०)

माण्डूक्यकारिका—

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो न निवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ (२।१८)

योगवासिष्ठ—

यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्विनश्यत्यवलोकनात् ।
तथैवैतत्प्रेक्षणाच्छान्तिमेति संसारदुःखिता ॥ (२।१७।९)

माण्डूक्यकारिका—मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते । (३।३१)

योगवासिष्ठ—

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता……एकाभावाद्द्वयोर्नाशः । (४।१७।१९)

माण्डूक्यकारिका—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ (३।४०)

योगवासिष्ठ—

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥ (४।३५।२)

कल्पनावाद, भ्रमवाद, अजातवाद तथा मनोनाशवाद योगवासिष्ठकार और गौडपाद दोनों ही को मान्य हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों ग्रन्थों—**योगवासिष्ठ** और **माण्डूक्यकारिका**—में कौनसा ग्रन्थ पूर्वकाल का है। हमारे विचार में, निम्न लिखित कारणों से, योगवासिष्ठ **माण्डूक्यकारिका** से पूर्व का ग्रन्थ है।

१—**माण्डूक्यकारिका** अद्वैत सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। वह **माण्डूक्य उपनिषद्** के ऊपर एक प्रकार का वार्त्तिक है। उसमें माण्डूक्य उपनिषद् के सिद्धान्तों का किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिपादन है। वे पूर्ववृत्त अद्वैतवादी लोग **माण्डूक्यकारिका** में "वेदान्तेषु विचक्षणाः" (२।३१) "तत्त्वविदः" (२।३४) "नायकाः" (४।९८) और "बुद्धाः" (४।८८) आदि शब्दों से संकेत किए गए हैं। इन लोगों के जो सिद्धान्त **माण्डूक्य कारिका** में प्रतिपादन किए गए हैं वे सब योगवासिष्ठ में योगवासिष्ठकार के ही सिद्धान्तों के रूप में वर्त्तमान हैं।

२—योगवासिष्ठगत सिद्धान्त किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के रूप में नहीं हैं। वे 'वसिष्ठ' ऋषि के सिद्धान्त हैं जो कि उन्हों ने किसी उपनिषद् अथवा किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय से प्राप्त नहीं किए बल्कि स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किए थे, और अपने आप ही उनका अनुभव किया था (देखिए—मुमुक्षु प्रकरण का १० वाँ सर्ग)

माण्डूक्यकारिका में दूसरे मतों का तिरस्कार और खण्डन तथा अद्वैत वाद का मण्डन है। योगवासिष्ठ में किसी मत का तिरस्कार अथवा खण्डन नहीं पाया जाता। सब ही मतों

का समन्वय है, किसी मत के प्रति भी घृणा का लेश नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठ उपनिषद् और भगवद्गीता की शैली का ग्रन्थ है और माण्डूक्यकारिका शंकराचार्य और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों की शैली का है जिसमें अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन और दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्मों के मतों का तिरस्कार और खण्डन है। योगवासिष्ठ के इस प्रकार के भाव के हम यहाँ पर कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) 'विज्ञानवाद' और 'बाह्यार्थवाद' की अविरोधिता का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार कहते हैं:—

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदा सदसंस्थितेः॥ (६/२।३८।४)

(२) मन का स्वरूप न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय, आर्हत और पाञ्चरात्र आदि दर्शनों के अनुसार बतला कर योगवासिष्ठकार कहता है—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीताववोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैरारुरुक्षवः॥ (३।९६।५२)
स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
विचित्रदेशकालोत्था मार्गं स्वं पथिका इव॥ (३।९६।५३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुतसे बटोही नाना देशोंसे चले हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पदको नाना देश और कालमें ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुँचते हुए वे लोग,—परमार्थका किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण और उसका विपरीत ज्ञान होनेसे भी—परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार मार्ग चलने वाले लोग अपने अपने मार्गको ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने दर्शनोंकी प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनोंके प्रति इस प्रकारकी उदारताका भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता

है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने ही उस मार्गपर चलना चाहिए जिस पर चलनेसे उसको किसी प्रकारकी सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्गको छोड़ कर दूसरे किसी मार्गपर चलना ठीक नहीं है—

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ (६।१३०।२)

(४) परमतत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है कि वही एक तत्त्व नाना दर्शनों में नाना नामों द्वारा वर्णित है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ (५।८७।१८)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ (५।८७।१९)

प्रोफ़ेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यजी का कहना है कि "इस प्रकारके विचार और इस प्रकारका आदर्श बौद्धकालमें बङ्गाल-के पाल राजाओंके समयसे पहिले किसी हिन्दू लेखकके लिये सम्भव नहीं थे" (**मद्रास फिलॉसोफ़िकल कांग्रेसको रिपोर्ट,** पृष्ठ ५५१)। पाल राज्य १० वीं शताब्दीके क़रीब हुआ है। लेकिन **हर्षचरित्र** का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी-के पूर्वार्द्धमें ही मध्य देशमें (जो आजकल यू०पी० कहलाता है) इस प्रकारके आदर्शों और विचारोंका होना संभव था। बाण ने उस समयकी सभ्यता और विचारोंकी उदारताका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। अपनी यात्रामें राजा हर्ष दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध साधुके आश्रमपर जाकर उनके यहाँ अनेक विद्वानों को अपने अपने मतों और सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करते हुए पाते हैं। वे लोग बड़ी उदारता और बड़े प्रेमसे एक दूसरेके साथ अपने अपने सिद्धान्तोंपर विचार करते हैं। वहाँपर देश देशान्तरोंसे आए हुए बौद्ध भिक्षु, श्वेत वस्त्रधारी जैन लोग, कपिलके अनुयायी, लोकाय-तिक, उपनिषदोंके मानने वाले, नैयायिक, वैशेषिक, मनुस्मृति और पुराणोंके अध्ययन करने वाले, यज्ञ करानेमें दक्ष और व्याकरण के

पण्डित—सभी प्रकारके विद्वान् मौजूद थे। वे अपने अपने शास्त्रोंका अध्ययन करते थे और दूसरे शास्त्रोंका भी। बड़े ही मेल और सहानुभूतिका उनका जीवन था। किसीको किसीके प्रति घृणा नहीं थी। सब लोग मित्रता और प्रेमसे एक दूसरे से अपने अपने सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करते थे। चाहे यह बात काल्पनिक ही क्यों न हो, तो भी, जैसा कि डा० कार्पेण्टर ने अपने **थीस्म इन् मैडीवल इण्डिया** में लिखा है, यह इतना तो अवश्य ही सूचित करती है कि उस देशके उस समयके लेखक इस प्रकारका विचार अपने मनमें ला सकते थे (पृष्ठ ११२)। इस प्रकारके विचारोंके लिये हमको बङ्गालके पाल राज्यमें जानेकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य कहते हैं।

गौडपादाचार्यके कालसे पहिले अद्वैत वेदान्त सम्प्रदायका होना केवल हमारी कल्पना ही नहीं है, इसका लेखबद्ध प्रमाण भी है। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त का यह विचार हमको ठीक मालूम नहीं होता कि उपनिषदोंके पश्चात् गौडपादाचार्य ही अद्वैत वेदान्तके प्रतिपादक हुए हैं (ए **हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी,** वॉ १, पृष्ठ ४२२)। भवभूति कवि के **उत्तर रामचरित** में ऐसे विचार पाए जाते हैं जिनका प्रचार गौडपाद और शंकराचार्यने किया है। भवभूतिका समय शंकराचार्यसे पूर्वका होना निश्चित ही है (देखिए—भण्डारकरकी **मालतीमाधव** की अंग्रेज़ी भूमिका)। **उत्तररामचरित** में दो श्लोक ऐसे हैं जिनमें कि अद्वैत वेदान्तके दो विशेष सिद्धान्तोंका ज़िक्र है—एक विवर्तवाद और दूसरा ज्ञान द्वारा समस्त अज्ञानरूपी संसारका लय हो जाना। वे ये हैं:—

(१) एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तवुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥ (३।४७)

(२) विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः ॥ (४।६)

इससे यह मालूम पड़ता है कि ये दोनों सिद्धान्त शंकर और गौडपादसे पहिलेके हैं। ये दोनों सिद्धान्त योगवासिष्ठमें प्रचुरतासे उन्हीं शब्दोंमें पाए जाते हैं—

(१) यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि॥ (६।११।४०)
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ।
या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि॥ (६।११।४१)
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते। (३।१००।२८)
तरङ्गमालयाऽम्भोधिर्यथात्मनि विवर्तते।
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्थमिदं ब्रह्म विवर्तते॥ (११।१८-१९)

(२) यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते॥ (३।११४।९)
येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते॥ (६।४९।१८)

भवभूतिके श्लोकोंसे ही यह जान पड़ता है कि इस प्रकारका अद्वैतवाद अवश्य ही उनको ज्ञात था और उनके समयसे पहिले ही इसका प्रतिपादन हो चुका था। इसलिये हमें योगवासिष्ठको भवभूतिके समयसे पूर्वका कहनेमें कुछ भी सन्देह नहीं होता।

यह हमारा विचार योगवासिष्ठका भर्तृहरिके ग्रन्थ **वाक्यपदीय** और **वैराग्यशतक** के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से और भी दृढ़ हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंमें कुछ श्लोक योगवासिष्ठके पाए जाते हैं। और इनके और योगवासिष्ठके विचार भी बहुत मिलते जुलते हैं। जैसा कि आगेके वाक्योंसे व्यक्त हो जायगा—

वैराग्यशतक—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।
लोला यौवनलालनातनुभृतामित्याकलय्यद्रुतम्
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः॥ (५४)

योगवासिष्ठ—

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलाम्बाम्बुवद्भङ्गुरम्
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला।

लोला यौवनलालनाजलरयः कायः क्षणापायवान्
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥(६/१।१२६।३३)

वैराग्य शतक—

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ (७८)

योगवासिष्ठ—

पुनर्दिनैककलना शार्वरीसंस्थितिः पुनः।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ (५।२२।३१)
तमेव भुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ (५।२२।३२)

वाक्यपदीय—विवर्त्तते ऽर्थभावेन। (१।१।१)
योगवासिष्ठ—विवर्त्तेऽर्थभावेन। (६/१।९३।४६)

वाक्यपदीय—

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरव स्थिताः ॥ (३।७।४१)

योगवासिष्ठ—

द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (५।५६।३५)

वाक्यपदीय—नैकत्वमस्ति नानात्वं विनैकत्वेन नेतरत्।
परमार्थे तयोरेष भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ॥ (३।६।२८)
योगवासिष्ठ—एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता।
एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ॥ (६/१।३३।५)

वाक्यपदीय—

न चैकत्वं नापिनानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।
आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते ॥ (३।१।२१)

योगवासिष्ठ—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युक्तं ते तद्वपुर्यदा ।
नचैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (६।५३।९)

वाक्यपदीय—सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः । (३।१।२२)
योगवासिष्ठ—समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा । (३।६७।२)

वाक्यपदीय—यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम् ।(३।३।७०)
योगवासिष्ठ—द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् । (३।१२१।५३)

वाक्यपदीय—न तदस्ति न तन्नास्ति । (४।२।१२)
योगवासिष्ठ—न तदस्ति न तन्नास्ति । (६।३१।३६)

वाक्यपदीय—

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ (१।१।१३१)

योगवासिष्ठ—इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता । (३।९।५८)

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों—भर्तृहरिकृत ग्रन्थ और योगवासिष्ठ–में कौनसा पूर्व कालका है ? हमारा विचार तो यह है कि योगवासिष्ठ ही पूर्वकालीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें भर्तृहरिके 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्तका नामतक भी नहीं आता और 'शब्द ब्रह्म' **वाक्यपदीय** का विशेषतया प्रतिपादित विषय है । यदि योगवासिष्ठ **वाक्यपदीय** से पीछे लिखा गया होता तो अवश्य ही उसमें भी 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त का वर्णन होता । इसलिये हमारा खयाल है कि योगवासिष्ठ भर्तृहरिके समयमें वर्त्तमान था । भर्तृहरिके मरणका साल ६५० क्रिष्टीय समझा जाता है (देखिए—मैक्समूलर के **सिक्स सिस्टम्स ऑफ**

इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी, पृष्ठ ९०, और कीथ का क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर पृ० ११८)। इससे यह निश्चय है कि क्रिष्टीय सप्तम शताब्दीके आरम्भसे पूर्व योगवासिष्ठ अवश्य ही वर्त्तमान रहा होगा।

पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि लेखकका यह मत कि योगवासिष्ठ शङ्कराचार्यसे और सम्भवतः भर्तृहरिसे प्राचीन ग्रन्थ है प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य और डा० विण्टर्निज़ने भी जिनके मतोंका यहाँपर खण्डन किया गया है मान लिया है। और शरवाट्स्की, शरडेर और कीथ प्रभृति यूरोपके बड़े बड़े पण्डितों ने हमारी इस खोजकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। प्रो० कीथने एक चिट्ठीमें लिखा है "आपने योगवासिष्ठका शंकरसे प्राचीनतर होना तो साफ़ तौरसे सिद्ध कर दिया है और आपकी इसके भर्तृहरिसे पूर्व कालका होनेकी युक्तियाँ भी ठीक ही जान पड़ती हैं।" प्रो० शरेडरने अपने एक पत्रमें लिखा है "मैं अपनी ओरसे आपको इस बातपर बधाई देना चाहता हूँ कि आपने योगवासिष्ठका शंकरसे और सम्भवतः गौडपादसे पूर्वका ग्रन्थ होना साबित कर दिया है।"

वर्त्तमान योगवासिष्ठ वाल्मीकिकृत नहीं है।

यहाँतक यह सिद्ध हो चुका है कि योगवासिष्ठके निर्माणकालके सम्बन्धमें आधुनिक विद्वानोंमें जो विचार प्रचलित हैं वे ठीक नहीं हैं, योगवासिष्ठ अवश्य ही वाक्यपदीय और वैराग्यशतक के रचयिता भर्तृहरिसे पहिलेका है। अब हमको यह विचार करना है कि यह ग्रन्थ कितना प्राचीन है, और यह कहाँतक सत्य है कि यह रामायण के रचयिता श्री वाल्मीकिजीकी कृति है जैसा कि प्रायः समझा जाता है।

इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा था जिसमें वसिष्ठजीके वे सिद्धान्त वर्णित थे जो उन्होंने श्री रामचन्द्रजीको सिखाए थे और जो कि उन्होंने स्वयं ब्रह्मासे सीखे थे। यह हमारा विश्वास निम्नलिखित दो कारणों पर निर्भर है:—

१—महाभारत के अनुशासन पर्वके छठे अध्यायमें युधिष्ठिरने भीष्मपितामहसे प्रश्न किया है: "आप महाप्राज्ञ और सब शास्त्रोंके

पण्डित हैं। मुझे बतलाइये कि भाग्य (दैव) प्रवल है अथवा पुरुषार्थ ?" इस प्रश्नके उत्तरमें भीष्मने कहा "धर्मराज ! इस विषयमें ब्रह्मा और वसिष्ठका सम्वाद सुनो" इतना कहकर उन्होंने इस विषय में वे बातें कहीं जो कि ब्रह्माने वसिष्ठको सुनाई थीं। ये बातें प्रायः वे ही हैं जो कि वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको कही थीं (देखिए योगवासिष्ठ— मुमुक्षु प्रकरण सर्ग ४-९) रामचन्द्रजीको यह शिक्षा देकर वसिष्ठजीने उनसे यह भी कहा है कि यह ज्ञान उनको ब्रह्मासे प्राप्त हुआ था :—

इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना। (२।१०।९)

इस प्रकारकी शिक्षा देनेसे पहिले भी वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा थो कि जो ज्ञान वे उनको देंगे वह ज्ञान उन्होंने स्वयं ब्रह्मासे प्राप्त किया थाः—

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम्॥ (२।३।१)

२—वर्त्तमान योगवासिष्ठके सर्वप्रथम सर्ग—जो कि प्रस्तावनारूप है—पढ़नेसे भी यह निश्चित होता है कि वाल्मीकिकृत कोई एक ऐसा ग्रंथ मौजूद था जिसमें कि उन्होंने रामचन्द्रजीको वसिष्ठजी द्वारा किए हुए उपदेशका वर्णन किया था। इस ग्रन्थको बनाकर वाल्मीकिजीने अपने शिष्य भरद्वाजको सुनाया था। और फिर बहुत काल पीछे उसी ग्रन्थको उन्होंने राजा अरिष्टनेमीको सुनाया था :—

शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम्।
श्रुत्वावधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥ (१।१।५२)
वसिष्ठरामसम्वादं मोक्षोपायकथां शुभाम्।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र वदामि श्रूयतां बुध॥ (१।१।५३)
एतांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराहमरिमर्दनः।
शिष्यायास्यामि विनीताय भरद्वाजाय धीमते॥ (१।२।४।५)

इन दो प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि अवश्य ही वाल्मीकि-कृत कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ मौजूद रहा होगा जिसमें कि वसिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंका वर्णन हो। लेकिन जिस रूपमें योगवासिष्ठ ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित है उस रूपमें यह न बहुत प्राचीन ही है और न वाल्मीकि ऋषिकी कृति है। हमारा विचार यह है कि वह कोई प्राचीन ग्रन्थ, पुनः पुनः आवृत्त होनेसे, और उसमें समय समयपर दूसरे लेखकों द्वारा वृद्धि होनेसे, इस बृहत् रूपको प्राप्त हो गया है। योग-

वासिष्ठके प्रस्तावनारूप प्रथम सर्गका अध्ययन करनेसे ही यह विचार निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थकी बहुतसी आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। (१) वाल्मीकिजीने इसको रचकर भरद्वाजको सुनाया था और फिर उन्होंने ही इसको कुछ दिन पीछे अरिष्टनेमी राजाको सुनाया (१।२।४; १।२।५३)। (२) जो उपदेश वाल्मीकिजीने अरिष्टनेमीको दिया था उसका वर्णन इन्द्रके एक दूतने सुरुचि नाम की एक अप्सराके सामने किया था (१।१।२३)। (३) यह बात अग्निवेश्यने अपने पुत्र कारुणको सुनाई थी (१।१।१८) और (४) अग्निवेश्य और कारुणका यह प्राचीन इतिहास अगस्तिने सुतीक्ष्ण ब्राह्मणको सुनाया था (१।१।९)। बार बार केवल अपनी स्मृतिसे पुरानी कथाओं और उपदेशोंको दूसरोंके प्रति सुनानेमें अवश्य ही बहुतसी नई बातें कहनेमें आ जाया करती हैं और बहुतसी पुरानी बातें विस्मृत हो जाया करती हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरण-के पूर्वार्द्धके ५२–५८ सर्गोंमें महाभारतके संग्राम और श्रीकृष्णके गीता-उपदेशका भी वर्णन मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि वर्तमान रूपमें भी योगवासिष्ठ पूर्णतया और यथार्थ ही श्री वाल्मीकिजीकी कृति है।

दूसरा बहुत महत्त्वपूर्ण कारण जिसकी वजहसे हम वर्त्तमान योगवासिष्ठको बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं कह सकते यह है कि इसमें बौद्धमतके 'विज्ञानवाद', 'मध्यमवाद' और 'शून्यवाद' का केवल वर्णन ही नहीं आता बल्कि इन मतोंका वर्त्तमान योगवासिष्ठमें बहुत सुन्दरताके साथ सम्मिश्रण और समन्वय है। (देखिए योगवासिष्ठ ५।८७।१८–२० और ३।५।६ इत्यादि)। योगवासिष्ठका अध्ययन करने-पर यह पूरे तौरसे निश्चित हो जाता है कि इसमें अश्वघोष, नागार्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु आदि बौद्ध दार्शनिकोंके सिद्धान्तों के साथ औपनिषद् अद्वैतवाद तथा आत्मवादका बहुत ही उत्तम समन्वय है। नागार्जुनका समय आधुनिक विद्वानोंके अनुसार द्वितीय क्रिष्टीय शताब्दीका पूर्वार्द्ध है, और विज्ञानवादके प्रवर्तक वसुबन्धुका समय तत‌क्षुके अनुसार ४२० से ५०० ईस्वी सन् मानना चाहिए। (देखिए **दी जर्नल ऑफ़ रुआयल एशियाटिक सोसोइटी,** १९०५ पृष्ठ १ आदि) इसलिये वर्त्तमान योगवासिष्ठ का पांचवां ईस्वी शताब्दीके पीछेका ही मानना पड़ता है।

इस विचारकी पुष्टि इस कारणसे भी होती है कि योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्द्धके ११९ वें सर्गके १-६ श्लोकोंमे महा कवि कालिदासके "मेघदूत" का बहुत ही संक्षेपमें वर्णन है। केवल मेघदूतका विचार ही नहीं बल्कि कवि कालिदासके शब्द भी इस संक्षिप्त वर्णनमें मिलते हैं। पाठकोंके निश्चयके लिये इन श्लोकोंको हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं:—

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके।
प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम्॥ (६।११९।१)
एकत्र शृणु किं वृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम्।
दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम्॥ (६।११९।२)
अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात्।
नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत॥ (६।११९।३)
आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः।
विद्युल्लता विलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः॥ (६।११९।४)
भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरुदयां सा वाष्पपूर्णेक्षणा।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वो न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः॥ (६।११९।५)
चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वालिङ्गिता सती।
न जाने क्वाधुनैवेतः पयोद दयिता गता॥ (६।११९।६)

आधुनिक विद्वानोंके मतानुसार कालिदास पांचवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुए हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ इस समयके पीछेका ही होना चाहिये।

ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्त्तमान योगवासिष्ठ गुप्त साम्राज्यके पतन होनेके समय लिखा गया था। इसके तीसरे और छठे प्रकरणोंमें बहुत सी लड़ाइयों और आक्रमणोंका वर्णन है। उत्पत्ति प्रकरणमें विदूरथ और सिन्धुका संग्राम और निर्वाण प्रकरणमें वर्णित विपश्चित्के राज्य पर चारों ओरसे आक्रमणोंका उल्लेख इस बातके द्योतक हैं कि वह समय महा अशान्तिका था। हूणों और पारसीकों का भी ज़िक्र इन स्थानों पर आता है। युद्धका वर्णन बहुत ही विकट

भाषामें है। इन सब बातोंसे यही सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ महाकवि कालीदासके पीछे और भर्तृहरिके पूर्व समयका ग्रन्थ है। यदि योगवासिष्ठकी भाषा और उसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं-का गहरा अध्ययन किया जाए तो हमें पूर्ण आशा है कि इस विचार की अधिकतर पुष्टि हो जायगी। विद्वानोंसे आशा है कि वे इस ओर ध्यान देकर इस विषय पर अपना मत प्रकट करेंगे।

३–योगवासिष्ठ-साहित्य

इस बीसवीं शताब्दीमें भी, जबकि पुस्तकोंकी प्रचुरतासे पढ़नेवालोंका नाकमें दम है, योगवासिष्ठके सम्बन्धमें पुस्तकोंका सर्वथा अभाव है। आजकल भारतीय साहित्य और दर्शन सम्बन्धी पुस्तकें दिनपर दिन अधिकतासे छपती जा रही हैं किन्तु अभी तक योगवासिष्ठ सम्बन्धी कोई भी उत्तम पुस्तक हमारे देखनेमें नहीं आई। यहाँ तक कि संस्कृत भाषाके योगवासिष्ठकी भी एक आवृत्ति-को छोड़कर कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। लेखकने इस ग्रन्थके विषयमें सन् १९२५ ई० से लिखना आरम्भ किया है। उससे पहिले इस महान् ग्रन्थपर प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया था। केवल बाबू (अब डाक्टर) भगवान्दासजी ने शायद "ल्यूसीफ़र" नामक अंग्रेजी पत्रिकामें योगवासिष्ठके सिद्धन्तोंके ऊपर कोई लेख लिखा था। तबसे लेकर अब तक भी योगवासिष्ठके सम्बन्धमें बहुत ही कम लेख छपे हैं। यहाँपर हम उस समस्त साहित्यका उल्लेख करना चाहते हैं जो कि योगवासिष्ठके सम्बन्धमें पाठकोंको उपलब्ध हो सकता है।

(१) योगवासिष्ठ के काल-निर्णयके सम्बन्ध में—

१—डा. जे. एन्. फर्कुहार के **एन आउट लाइन ऑफ़ दी रिलीजस लिट्रेचर ऑफ़ इण्डिया** में २२८ पृष्ठपर कुछ पँक्तियाँ जिनमें योगवासिष्ठको १३-१४ शताब्दियोंका रचा हुआ माना है।

२—डा० विण्टर्निज़के **गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर** वा० ३, पृष्ठ ४४३–४४४ पर एक पेराग्राफ़, जिसमें योगवासिष्ठको श्री शंकराचार्यके किसी समकालीन व्यक्तिका लिखा हुआ माना है।

३—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा मद्रास ओरियण्टल कान्फ़रेन्समें पढ़ा हुआ और उसकी **प्रोसीडिंग्स** में छपा हुआ एक लेख—"योगवासिष्ठ रामायण, इसका समय और लिखनेका स्थान"– जिसमें कि उन्होंने योगवासिष्ठको १०-१२ शताब्दियोंमें किसी बङ्गाली लेखकके द्वारा लिखा हुआ सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

३

४—डा० बी० एल्० आत्रेयके **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलासोफ़ी** में दूसरा लेक्चर जिसमें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि योगवासिष्ठ कवि कालिदाससे पीछे और भर्तृहरि से पहिलेका लिखा हुआ ग्रन्थ है।

५—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्तके **ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी**, वॉ० २, में "फ़िलासोफ़ी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" नामक अध्यायमें उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया है कि योगवासिष्ठ या तो आठवीं या सातवीं शताब्दीमें लिखा गया होगा। यही मत उन्होंने अपने ग्रन्थ "**इण्डियन आइडीयलिज़्म**" में भी पृष्ठ १५४ पर प्रकट किया है। वहाँ पर उन्होंने लिखा है "योगवासिष्ठ का काल निर्णय नहीं हो सकता, लेकिन मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दिके पीछेका नहीं हो सकता।"

६—डा. बी. एल्. आत्रेयका बड़ोदा ओरियण्टल कान्फेरेन्समें भेजा हुआ लेख "दी प्रोबैबिल डेट ऑफ़ कम्पोज़ीशन ऑफ़ योगवासिष्ठ", जिसमें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ छठी शताब्दीमें लिखा गया होगा।

७—श्री प्रह्लाद सी० दीवानजीका बड़ोदा ऑरियण्टल कान्फ़ेरेन्समें पढ़ा हुआ लेख, "दी डेट एण्ड प्लेस ऑफ ओरिजिन् ऑफ़ दी योगवासिष्ठ", जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ दसवीं शताब्दीके मध्यमें कश्मीर देशमें लिखा गया होगा।

(२) योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें—

१—लाला बैजनाथ द्वारा कराए हुए योगवासिष्ठके हिन्दी भाषानुवादमें उनकी लिखी हुई भूमिका, जिसमें उन्होंने योगवासिष्ठ के छहों प्रकरणोंके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन मात्र कराया है।

२—श्री नारायण स्वामी अइयरके **इंगलिश ट्रांसलेशन ऑफ़ लघु योगवासिष्ठ** की भूमिका, जिसमें कि लघु योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

३—बी० एल्० आत्रेयका प्रथम (कलकत्ता) इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१९२५) में पढ़ा हुआ लेख—"फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ" जिसमें योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया है। यह लेख इस कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

४—बी० एल० आत्रेय का बनारस इण्डियन फिलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१९२६) में पढ़ा हुआ लेख—"डिवाइन इमेजिनिज्म ऑफ़ वसिष्ठ"—जिसमें योगवासिष्ठके कल्पनावादका वर्णन है। यह लेख बनारस फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेसकी **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

५—बी० एल० आत्रेय का बम्बई इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेसमें पढ़ा हुआ लेख—"गौड़पाद ऐण्ड वसिष्ठ"—जिसमें गौड़पादाचार्य और योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंकी तुलना की है। यह लेख भी इस कांग्रेसकी **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

६—डा० बी० एल० आत्रेयका **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलासोफ़ी**—जो कि काशी तत्त्व सभामें योगवासिष्ठपर दिए हुए १० व्याख्यानोंमेंसे पाँचका संग्रह है। यह पुस्तक 'इण्डियन बुक शॉप', बनारससे मिल सकती है। इस पुस्तकमें योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंका सरल अंग्रेज़ी भाषामें प्रतिपादन किया गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानोंने इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। इस लेखककी अंगरेज़ीमें बड़ा पुस्तक (६०० पृष्ठ की) **फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ** छप रही है।

७—डाक्टर बी० एल० आत्रेय की हिन्दी पुस्तक **श्री वासिष्ठ दर्शनसार** जिसमें योगवासिष्ठका १५० श्लोकोंमें, जिनके नीचे उनका सरल हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है, सार सिद्धान्त रखनेका प्रयत्न किया गया है। इसकी भूमिकामें योगवासिष्ठ सम्बन्धी और बातोंका भी वर्णन है। यह पुस्तक भी इण्डियन बुक शॉप, बनारससे मिल सकती है।

८—डा० बी० एल० आत्रेय का लिखा हुआ **कल्याण के शिवाङ्क** में "शिव-शक्ति-वाद" नामक लेख जिसमें योगवासिष्ठके शिव-शक्ति-वादका, और मतोंकी दार्शनिक समालोचनाके साथ, समर्थन किया गया है।

९—डा० बी० एल्० आत्रेय का **कल्याण** के **भगवद्गीताङ्क** में लिखा हुआ लेख—"योगवासिष्ठमें भगवद्गीता"—जिसमें योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरणमें अर्जुनको दिए जानेवाले श्रीकृष्णके गीता-उपदेश का वर्णन किया गया है।

१०—डा० बी० एल० आत्रेय का यू० पी० गवर्नमेण्टकी प्रिंसेस् ऑफ़ वेल्स **सरस्वती भवन स्टडीज़** १९३३ में छपा हुआ एक लेख "योगवासिष्ठ एण्ड सम ऑफ़ दी माइनर उपनिषद्स", जिसमें कि यह सिद्ध किया गया है कि बहुतसे उत्तरकालीन उपनिषद् योगवासिष्ठके ही सार श्लोकोंसे बने हैं।

११—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्तके **ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन फ़िलासोफ़ी** के दूसरे भागमें योगवासिष्ठके दर्शनके ऊपर एक ५० पृष्ठोंका अध्याय।

१२—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्तके **इंडियन आइडीयलिज़्म** में योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तका ५ पृष्ठोंमें वर्णन।

१३—डा० भगवान्दासकी पुस्तक **मिस्टिक एक्सपीरियन्सेज़** जिसमें योगवासिष्ठके उत्पत्ति प्रकरणमेंसे चार कहानियोंका अंग्रेजीमें वर्णन है। इसमें कहीं कहीं उपयोगी फ़ुटनोट भी हैं।

१४—डा० बी० एल० आत्रेयका संस्कृत ग्रन्थ **वासिष्ठदर्शन** जिसको कि यू० पी० गवर्न्मैंण्ट अपने प्रिंस ऑफ़ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट्स सीरीज़में छपवा रही है। यह ग्रन्थ इस समय प्रेसमें है। इसमें योगवासिष्ठके समग्र दार्शनिक सिद्धान्त योगवासिष्ठ ही के क़रीब २५०० श्लोकोंमें संग्रह करके क्रमबद्ध रीतिसे रक्खे गए हैं। यह ग्रन्थ योगवासिष्ठके सारे दार्शनिक सिद्धान्तोंको योगवासिष्ठके प्रेमियोंके समक्ष रखनेका प्रथम प्रयत्न है। इसके आदिमें एक अंग्रेज़ी की भूमिका भी है जिसमें योगवासिष्ठके समग्र आख्यान संक्षेप रूपसे दिए हैं।

१५–डा० भी० ला० आत्रेयका हिन्दी ग्रन्थ **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त** जो आजकल प्रेसमें है। इस ग्रन्थमें योगवासिष्ठ सम्बन्धी सभी प्रश्नोंपर विवेचना की गई है।

१६—कन्हैयालाल मास्टरकी **कल्याण** में लिखी हुई 'योगवासिष्ठसार' नामक लेखमाला। इसमें हिन्दी भाषामें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तोंका भली भांति वर्णन है।

१७—डा० बी० एल० आत्रेय लिखित **योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थॉट** जिसमें योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंकी अर्वाचीन वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्तोंके साथ तुलना की है और यह दिखलाया है कि अर्वाचीन विचार योगवासिष्ठके विचारोंसे बहुत मिलते हैं।

३—योगवासिष्ठके अनुवाद—

हिन्दी—

१—योगवासिष्ठ-भाषा टीका सहित—श्रीठाकुर प्रसाद आचार्यकृत भाषा अनुवाद सहित संस्कृत योगवासिष्ठ। यह ग्रन्थ दो भागोंमें, सम्वत् १९६० में, ज्ञानसागर प्रेस बम्बईसे छपा था। यह अनुवाद स्व० लाला बैजनाथजीकी प्रेरणासे हुआ था और दोनों भागोंके आदिमें लाला बैजनाथजीकी लिखी हुई उत्तम भूमिका है जिसमें योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन कराया गया है। हमको यह अनुवाद अच्छा नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इसमें मनमाना अर्थ किया गया है। जो बातें योगवासिष्ठके श्लोकोंमें नहीं हैं वे भी अर्थमें लिख दी हैं। योगवासिष्ठमें अनुवादकने शाङ्कर वेदान्तके बहुतसे सिद्धान्त, जो कि योगवासिष्ठकारको ज्ञात नहीं थे, घुसेड़ दिए हैं। अनुवादक को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। इस पुस्तकका काग़ज़ इतना जल्दी टूटने वाला है कि हम किसीको भी इस पुस्तकके ख़रीदनेकी राय नहीं देंगे। इसके दाम २२) रु० है।

२—योगवासिष्ठ भाषा—नवलकिशोर प्रेस लखनऊसे छपा हुआ। दाम ८) रु०। यह ग्रन्थ बम्बईके वेङ्कटेश्वर प्रेससे भी छपा है। इसमें योगवासिष्ठके संस्कृत श्लोक नहीं हैं। केवल भाषामें ही योगवासिष्ठकी कथा है। भाषा कुछ पुराने ढङ्ग की है। इस ग्रन्थकी बाबत यह कहा जाता है कि क़रीब १७५ वर्षके हुए कि पटियाला रियासतके महाराजा-साहेब सिंहकी दो बहिनें विधवा हो गई थीं। उन्होंने साधु रामप्रसाद निरञ्जनीसे योगवासिष्ठ सुनानेकी प्रार्थना

की। उन्होंने सारा ग्रन्थ उन देवियोंको पञ्जावी भाषामें उल्था करके सुना दिया। जो कुछ वे सुनाते थे दो गुप्त लेखक नोट करते जाते थे। जब ग्रन्थ पूरा सुनाया जा चुका तो यह उल्था छपवा दिया गया। पीछे इस पञ्जाबी उल्थाको खड़ी वोली हिन्दीमें शुद्ध कराकर लोकोपकारके लिये नवलकिशोर प्रेसने १९१४ ई० में छाप दिया। इस ग्रन्थका पञ्जाब और पश्चिमीय यू० पी० में वहुत प्रचार है। ग्रन्थ है भी बहुत ही उत्तम। इसमें योगवासिष्ठके सिद्धान्त उसी ग्रन्थकी भाषामें वर्णित हैं। कुछ सर्ग, जिनका दार्शनिक सिद्धान्तोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, छोड़ दिये गए हैं। दोष इस ग्रन्थमें यही है कि इसमें जिन श्लोकोंका अनुवाद किया गया है उनका अंक नहीं दिया गया। इसके सर्गोंके अङ्क भी योगवासिष्ठके सर्गोंके अङ्कोंसे नहीं मिलते क्योंकि कहीं २ पर वे सर्ग छोड़ दिए गए हैं जिनमें युद्ध, वन इत्यादिक वर्णन था।

३—योगवासिष्ठ भाषा—वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण— वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित। इसमें योगवासिष्ठके केवल प्रथम दो प्रकरणोंका ही भाषामें अनुवाद है। इस पुस्तकका बहुत प्रचार है। अनुवाद भी अच्छा है। इसमें भी श्लोकोंके अङ्क नहीं दिये गये।

उर्दू—

१—योगवासिष्ठ सार—लघु योगवासिष्ठका मुंशी सूर्यनारायण मेहरका किया हुआ उर्दू अनुवाद, १९१३ में दिल्लीसे प्रकाशित। यह लघु योगवासिष्ठका उर्दू भाषामें बहुत अच्छा अनुवाद है।

२—योगवासिष्ठायन—म० शिवव्रतलाल द्वारा किया हुआ लाहोरसे छपा हुआ लघु योगवासिष्ठका उर्दू अनुवाद। यह अनुवाद भी बहुत ही उत्तम है। इसमें विशेषता यह है कि किताबके किनारे-पर हरएक पैरेग्राफ़के सिद्धान्त दिए हैं।

अंग्रेज़ी—

१—इंग्लिश ट्रांस्लेशन ऑफ़ योगवासिष्ठ महारामायण—बिहारीलाल मित्रका ४ भागोंमें किया हुआ अनुवाद सन् १८९१ में कलकत्तेसे छपा हुआ। इस अनुवादके करनेमें अनुवादकने

प्रयत्न तो बहुत ही श्रेष्ठ किया है किन्तु खेद है कि अनुवाद किसी भी कामका नहीं है। इसको पढ़कर कोई भी योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंको नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अंग्रेज़ी भाषा मात्र जाननेवालोंको अभी तक योगवासिष्ठके सिद्धान्तोंका भलीभाँति ज्ञान नहीं हो सका।

३—ए ट्रांस्लेशन ऑफ (लघु) योगवासिष्ठ—मद्रासमें १८९६ में छपा हुआ के० नारायण स्वामी अइयरका किया हुआ लघु योगवासिष्ठका अंग्रेजी अनुवाद। यह अनुवाद ऊपरवाले अनुवादसे कुछ अच्छा है, किन्तु इसमें भी बहुत जगहों पर ठीक अनुवाद नहीं है और इसमें श्लोकोंका नम्बर नहीं दिया है।

४—मूल ग्रन्थ—संस्कृत योगवासिष्ठ

१—आनन्द बोधेन्द्र कृत टीका सहित सम्पूर्ण योगवासिष्ठ—सम्वत् १९३६ वि० में गणपत कृष्णजी प्रेस बम्बईसे प्रकाशित। यह खुले पत्रोंके रूपमें छपा है। टाइप भी उत्तम नहीं है और एक श्लोक दूसरेसे अलहदा नहीं है। सब श्लोक लगातार एक ही साथ मिले हुए छपे हैं जिससे पढ़नेवालोंको कष्ट होता है।

२—श्रीमद्वाल्मीकि महर्षि प्रणीत **योगवासिष्ठ**— श्रीवासिष्ठ महारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्या सहित। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा संपादित निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सन् १९१८ में दो भागोंमें प्रकाशित। इसमें आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती भिक्षुकी व्याख्या है। यह व्याख्या उत्तर कालीन शांकर वेदान्तके सिद्धान्तों के अनुसार है। यह ग्रन्थ अच्छा छपा है। पाठकोंको इसीका पाठ करना उचित है। यह केवल संस्कृतमें ही है। इसका दाम १४) है।

संस्कृत लघु योगवासिष्ठ—

१. लघु योगवासिष्ठ—गौड अभिनन्दकृत निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सम्वत् १८४४ में खुले पत्रोंमें छपा हुआ। इसमें पहिले तीन प्रकरणों (वैराग्य, मुमुक्षु और उत्पत्ति) पर आत्मसुखकृत वासिष्ठ चन्द्रिका नामक व्याख्या है और आखरी तीन (स्थिति, उपशम और निर्वाण) पर मिम्मदीदेवकी संसारतारिणी नामकी व्याख्या है। इस लघुयोगवासिष्ठमें योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्द्धका सार नहीं है। यह ग्रन्थ भी उत्तम है।

योगवासिष्ठकी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ—

यहाँ तक हमने पाठकोंको योगवासिष्ठ सम्बन्धी प्रकाशित पुस्तकों और लेखोंका परिचय दे दिया। अब हम उनको योगवासिष्ठ और उसके संक्षेपोंकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंसे भी परिचित कराना चाहते हैं। वे ये हैं:—

१—योगवासिष्ठ (सम्पूर्ण)

(१) इण्डिया ऑफ़िस लाइब्रेरी, लण्डनमें। देखिये ज्यूलियस ऐग्लिङ्ग रचित "दी कैटालोग ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स इन दी लाइब्रेरी ऑफ़ इण्डिया ऑफ़िस", लण्डन, पार्ट (भाग) ४, पृष्ठ ७७२ आदि पर वर्णित:—

योगवासिष्ठ—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत वासिष्ठ-तात्पर्य-प्रकाश नामक व्याख्या समेत। (नं० २४०७—२४१४) इस प्रतिमें

१. वैराग्य प्रकरणमें (नं० ३०२ अ) ३३ सर्ग हैं और लगभग ११३० श्लोक हैं।

२. मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में २० सर्ग और उनमें ६००० के लगभग श्लोक हैं।

३. उत्पत्ति प्रकरणमें १२२ सर्ग और उनमें लगभग ६००० श्लोक हैं।

४. स्थिति प्रकरणमें ६२ सर्ग हैं जिनमें '२४०० के लगभग' श्लोक हैं।

५. उपशम प्रकरणमें ९३ सर्ग हैं जिनमें '४२७० के लगभग' श्लोक हैं।

६. निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्धमें १२९ सर्ग हैं जिनमें '५४६० के लगभग' श्लोक हैं।

७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग हैं जिनमें ८८०० के लगभग श्लोक हैं।

यहाँ पर यह उचित जान पड़ता है कि हम पाठकोंको यह भी वतला दें कि निर्णय सागर वम्बईसे प्रकाशित ग्रन्थमें सर्गों और श्लोकोंकी संख्या क्या है। उसमें

१. वैराग्य प्रकरणमें ३३ सर्ग, ११७६ श्लोक हैं।
२. मुमुक्षु व्यवहार प्रकरणमें २० सर्ग, ८०७ श्लोक हैं।
३. उत्पत्ति प्रकरणमें १२२ सर्ग, ५२९५ श्लोक हैं।
४. स्थिति प्रकरणमें ६२ सर्ग, ४१५ श्लोक हैं।
५. उपशम प्रकरणमें ९३ सर्ग, ४१६७ श्लोक हैं।
६. निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध में १२८ सर्ग, ५१११ श्लोक हैं।
७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग, ८७१६ श्लोक हैं।

इस पुस्तकालयमें योगवासिष्ठकी और भी प्रतियाँ हैं (२४१५। २९४१;२४१६—२४२०; २४२१ और २४२२) किन्तु उनमें कोई भी सम्पूर्ण नहीं है।

(२) ऑक्स्फोर्डके बोडलियन पुस्तकालय में—(देखिये आउ-फेरेख़्टका "कैटालोगी कोडिकम मैन्युस्क्रुप्टोरम् बिब्लियोथीकी बोड्लियने" नं० ८४०)। यहाँ पर जो प्रति वर्त्तमान है उसमें निर्वाण प्रकरणका उत्तरार्द्ध नहीं है। इस प्रतिके प्रारम्भके शब्द "दिवि भूमौ" हैं।

(३) महाराजा बीकानेरके पुस्तकालयमें (देखिये राजेन्द्रलाल मित्रका बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० १२१६)। इस प्रतिमें भी निर्वाण प्रकरणका उत्तरार्द्ध नहीं है इसके आदिके शब्द हैं—"दिकालाद्य-नवच्छिन्न"।

(४) अलवरनरेशके पुस्तकालयमें (देखिए पिटर्सनका बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० ५४८,५४९)। इन प्रतियोंपर योगवासिष्ठके नाम, 'योगवासिष्ठ' 'आर्षरामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ' 'महारामायण', 'वासिष्ठ रामायण' और 'वासिष्ठ' हैं। इनके साथ आनंद बोधेन्द्र सरस्वतीकी व्याख्या भी है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय, क्वीन्स कालिज, बनारसमें (देखिए–यहाँकी हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, नं० १८०८–१८१०, १८२० और ५०३७)। यहाँपर ६ प्रतियाँ हैं किन्तु केवल एक ही, नं० १८२०, सम्पूर्ण है।

(६) मद्रासके गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रुप्ट पुस्तकालय-में। (देखिए रंगाचार्यकी बनाई हुई पुस्तक सूची वा ४, भाग १, नम्बर १९१०—१९१४):—

नं० १९१०, वासिष्ठ रामायणम् सव्याख्यानम्—देवनागरी लिपि। केवल वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु प्रकरण और स्थिति प्रकरण।

नं० १९११, वासिष्ठरामायणम्—सव्याख्यानम्। ग्रन्थ लिपि। उपशम प्रकरण, असम्पूर्ण।

नं० १९१२, वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। देवनागरी लिपि। इसमें निर्वाण प्रकरणके १२२ सर्ग तक ही हैं।

नं० १९१३ वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। इसमें निर्वाण प्रकरणके ३९वें अध्यायसे लेकर अन्ततक है। देवनागरी लिपि।

(७) एशियाटिक सोसाइटी, बंगालके ऑरियण्टल पुस्तकालय-में (देखिये कुञ्जविहारीकृत सूचीपत्र, कलकत्ता १९०४, पृष्ठ १५६):—

१—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या सहित वासिष्ठ रामायण, बङ्ग लिपि में।

२—अद्वयरण्यकृत योगवासिष्ठ टीका (वासिष्ठ पददीपिका) देवनागरी लिपि।

२—संक्षिप्त योगवासिष्ठ

१—लघु योगवासिष्ठ, योगवासिष्ठसार, मोक्षोपायसार—

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी (एग्लिङ्गकृत सूची भाग ४, नं० २४२४।२१२० और २४२५।१३४२)

(२) बोड्लियन लाइब्रेरी (ऑक्सफोर्ड) कीथकृत सूची-अपेण्डिक्स। नं० ८४० (एम० एस० फ़रेज़र ६)। इसके लेखकके सम्बन्धमें कीथ साहब कहते हैं "अभिनन्दके पितामहका पिता काश्मीरके मुक्तापीड राजाके समय (करीब ७२४ ईस्वी) में था। लेखक काश्मीरमें पैदा हुआ था किन्तु वह गौड देशमें विक्रमशीलके पुत्र युवराज हरवर्षके यहाँ रहता था। देखिए पिटर्सनकी सुभाषितावली पृष्ठ ९७।"

(३) अलवर पुस्तकालयमें पिटर्सनकी सूची नं० ५५०।

(४) सरस्वती सदन पुस्तकालय, क्वीन्सकालिज, बनारसमें। हालके सूचिपत्र "कन्ट्रीब्यूशन टुवडर्स एन इंडेक्स टू दी बिब्लियोग्राफ़ी आफ़ इण्डियन फ़िलासोफ़िकल सिस्टम्स" में वेदान्त, नं० १४४ में वर्णित योगवासिष्ठका संक्षेप "अभिनन्द आफ़ काश्मीर" द्वारा कृत। इसके साथ एक संसारतारिणी नामकी व्याख्या भी है।

(५) मद्रासकी गवर्नमेंट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रप्ट लाइब्रेरीमें—(रङ्गाचार्यको सूची नं० १८९२–१८९५)। इसका नाम लघु योगवासिष्ठ और ज्ञानवासिष्ठ है। "यह ४४ सर्गोंमें बड़े वासिष्ठ-रामायणका सार है। सार करनेवालेका नाम तैलङ्गी लिपिमें "काश्मीर पण्डित" दिया है"।

२—योगवासिष्ठसार

यह विना रचयिताके नाम का है। किसी किसी प्रतिमें बनारसके महीधरकी व्याख्या है—

(१) इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरीमें—ऐग्लिङ्ग कृत सूची, भाग ४, नं० २४२६।२५३२ फ। इसमें २२० श्लोक और १० प्रकरण हैं। इसके आदिकी पंक्ति है "दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये"। नं० २४२८।१५२१, २४२८।१३६४ सी, और २४२९।२४३६ महीधर कृत योगवासिष्ठ सार वृत्ति अथवा योगवासिष्ठ सार विवरणकी प्रतियाँ हैं। यह वृत्ति बनारसके महीधरने सम्वत् १६५४ (१५९७ ईस्वी) में लिखी थी।

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (आक्सफ़ोर्ड) में कीथकी सूचीमें नं० १३०२ और आउफरेख्टकी सूचीमें नं० ५६३। इसके साथ भी महीधर कृत वृत्ति है। इसमें भी १० प्रकरण हैं।

(३) सरस्वती भवन पुस्तकालय बनारसमें हालके "इण्डेक्स" में पृष्ठ १२१ पर नं० ११६ और ११७।

(४) एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गालके ऑरियण्टल पुस्तकालयमें—कुञ्जविहारी कृत सूचीमें नं० आई. जी. २५। इसका नाम योगवासिष्ठ सार है और इसके साथ महीधर कृत वृत्ति है जो बङ्ग लिपिमें है।

(५) इस ग्रंथका वर्णन राजेन्द्रलाल मित्रने अपने "नोटिसेज़ आफ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स" में भी किया है (वॉ १, पृष्ठ १९२ पर नं० ३४०) इसके आदिका श्लोक यह है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

३—योगवासिष्ठसार-संग्रह

यह माधवाचार्य कृत, २३०० श्लोकोंमें, योगवासिष्ठका सार है और बनारसकी क्वीन्स कालेजकी संस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वती भवन) में है। देखिए सूची नं० १८०७।७०। हालका इंडेक्स भी देखिए, पृष्ठ १२१ नं० १४८।

४—ज्ञानवासिष्ठसमुच्चय

यह तैलङ्गी लिपिमें लिखा हुआ ७०० श्लोकोंमें ज्ञानवासिष्ठ (लघु योगवासिष्ठ) का कृष्णद्य कृत सार है। इसकी एक प्रति गवर्नमेंट ऑरियण्टल लाइब्रेरी मद्रासमें है (देखिये—रङ्गाचार्य कृत सूची वॉ ४, भाग १, नं० १९८८)।

५—निर्वाणस्थिति

यह योगवासिष्ठमेंसे ३०४ श्लोकोंमें किया हुआ एक संग्रह है जिसमें मुक्ति और उसके साधनोंका वर्णन है (देखिए मित्रका "नोटिसेज़" वॉ ९, पृष्ठ २८३, नं० ३२०८)

६—नानाप्रस्थानात्म-खिलमोक्षोपायाः

योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरणके साथ परिशिष्टरूपसे यह ग्रन्थ १४ सर्गों और ५५० श्लोकोंमें रचा हुआ इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरीमें है। (देखिए एग्लिङ्गकी सूची भाग ४, नं० २४२३।२४४२ बी.)

३—लघु योगवासिष्ठका फ़ारसी अनुवाद

यह दाराशिकोह का कराया हुआ लघु योगवासिष्ठ का फ़ारसी भाषामें अनुवाद है। इसकी एक प्रति मालती सदन पुस्तकालय बनारसमें है। इसमें बड़े बड़े १२० पृष्ठ हैं। इसकी यह नक़ल सम्वत् १८५५ के श्रावण महीनेकी नवीं तिथि को बनारसके लाला कुंवरसिंह द्वारा की गई थी। इसकी फ़ारसी बहुत सरस और सुंदर है।

४—योगवसिष्ठ और कुछ उत्तर कालीन उपनिषद्

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तर कालीन उपनिषदोंमेंसे कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिनके सारे अथवा कुछ श्लोक योगवासिष्ठमें वर्त्तमान हैं। लेखकका मत यह है कि ये श्लोक योगवासिष्ठ ही के हैं और उनको योगवासिष्ठमेंसे बहुतसे स्थलोंसे चुनकर एकत्र करके उस संग्रहका नाम संग्रहकर्त्ताने उपनिषद् रख दिया। उस समयमें पुस्तकोंका, विशेषकर बड़ी पुस्तकोंका, मिलना कठिन था क्योंकि सब ग्रंथ हाथसे ही लिखे जाते थे। इस कारणसे योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थको पढ़कर लोगोंने अपनी अपनी रुचिके अनुसार इसमेंसे सार श्लोकोंका संग्रह कर लिया, पीछे उसी संग्रहको उन्होंने उपनिषद् नामसे पुकारना आरम्भ कर दिया, और दूसरे लोगोंने इस उपनिषद्को अपने पाठके लिये नक़ल कर लिया होगा। इस प्रकारसे ये उपनिषद् विख्यात हुए। आजतक इस घटनाका पता किसी विद्वान्को इस कारणसे नहीं चला कि योगवासिष्ठ और उपनिषदोंका तुलनात्मक गहन अध्ययन किसीने नहीं किया। शायद ही कोई विद्वान् ऐसा होगा जो किसी श्लोकको पढ़कर यह कह सके कि यह श्लोक योगवासिष्ठ में अमुक स्थलपर है। इस महान् ग्रन्थके श्लोकोंकी सूची भी अभी-तक नहीं तैयार हुई। लेखकको ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उसने कई सालोंके कठिन परिश्रमसे बहुतसे उपनिषदोंके श्लोकोंको योगवासिष्ठमें पाया है। यह गहरी और महत्त्वपूर्ण खोज पाठकोंके समक्ष रखनेका यहाँ प्रयत्न किया जाता है। स्थानाभावसे केवल उन श्लोकोंका जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठमें पाए जाते हैं यहाँपर अङ्कमात्र दिया जाता है। जो पाठक अधिक उत्सुक हों वे इन नम्बरों-के श्लोकोंको दोनों ग्रन्थोंमेंसे देखकर मुक़ाबला कर लें।

केवल इस घटनासे ही कि कोई श्लोक योगवासिष्ठ और किसी उपनिषद्में पाया जाता है यह सिद्ध नहीं होता कि वह मूलतः योगवासिष्ठका है और उपनिषद्-कर्ताने उसे योग-

वासिष्ठसे ही लिया है। कुछ और कारण ऐसे हैं जिनकी वजहसे हमारा यह विश्वास है कि ये श्लोक जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ दोनोंमें पाये जाते हैं योगवासिष्ठके हैं और उनको संग्रह करके ही ये उपनिषद् बनाये हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं :—

१—बहुतसे श्लोक ऐसे हैं जो कि कई उपनिषदोंमें नाना स्थलों और नाना सम्बन्धोंमें मिलते हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि संग्रहकर्ताओंने ये श्लोक किसी एक ही जगहसे लेकर अपनी अपनी रुचिके अनुसार सज्जित किए हैं। ये सब श्लोक ऐसे हैं जो कि योगवासिष्ठमें मिलते हैं। यथा :—

योगवासिष्ठ	महोपनिषद्		अन्नपूर्णोपनिषद्
५।७४।३३, ३६	२।४७		२।२५,२६
५।९१।८१	२।४८		४।६९
५।५९।३२	४।१०		१।४७
३।७।१०	४।८२		४।२१
	मुक्तिकोपनिषद्		
५।९०।४	२।३२		४।१४
५।९०।१६	२।३४ (आधा)		४।१६
५।९०।१८	२।३४ (आधा)		४।१७
५।९०।२०	२।३५ (आधा)		४।१८
५।९०।२३	२।३५ (आधा)		४।१९
५।९१।३७	२।२९		४।४८
५।९१।१४	२।४८		४।४१
५।९१।२९	२।५७		४।४६
५।९२।१७	२।१०		४।८३
५।९२।२२	२।१३		४।८४
५।९२।३४	२।४३		४।९०
	महोपनिषद्		वराहोपनिषद्
३।११८।५-१५	५।२४-३४		४।१-१०
		मैत्रेय्युप.	
३।११७।९	५।६	२।३०	योगकुण्डल्युपनिषद्
३।९।४७	२।६५	१।१०	३।२४

यो० वा०	मुक्तिकोपनिषद्	म० उ०	पैङ्गलोपनिषद्	यो०कु०उ०
३। ९ ।१४	२।७६	२।६३	३।११	३।३४
४। २३ ।५८	२।४२	५।७५		
			याज्ञवल्क्योपनिषद्	
१।२१। १,२,५,६, ११,१२,१८, २०,२३,२५		३।३९-४८	५-१५	
४।२४।८-१०	२।४०,४१	५।७७-७८		
४।३५।१८	२।३९	५।९७-९८		
		वराहोपनिषद्	अक्ष्युपनिषद्	
६/१।१२६।६०-६७		४।१२-१७	३१-३९	

२—बहुतसे उपनिषदोंमें इन श्लोकोंके आदिमें "अत्र श्लोका भवन्ति" ऐसा लिखा है जिससे साफ़ ज़ाहिर है कि उपनिषत्कारोंने ये श्लोक किसी दूसरे स्थलसे लिए हैं।

३—योगवासिष्ठके उस स्थलपर जहाँसे कि उपनिषदोंके श्लोक चुने गए हैं बहुतसे और श्लोक उसी प्रकारके वर्तमान हैं जैसे कि वे जोकि चुने गए हैं।

४—उपनिषदोंमें योगवासिष्ठसे चुने हुए श्लोकोंकी तरतीब प्रायः ठीक नहीं है। बहुतसे स्थलोंपर तो योगवासिष्ठकी ही तरतीब ज्योंकी त्यों रक्खी गई है, किन्तु बीचके बहुतसे श्लोक छोड़ देनेपर वह तरतीब जोकि योगवासिष्ठमें ठीक जान पड़ती है उपनिषदोंमें ख़राब हो गई।

५—इन उपनिषदोंमें से कोई भी उपनिषद् पुराना नहीं है। सब ही योगवासिष्ठसे पीछेके बने हुए हैं क्योंकि इनमें से कोई भी श्री शंकराचार्यसे पूर्वका नहीं है और हमने ऊपर यह सिद्ध कर दिया है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्यसे पूर्वका ग्रन्थ है।

६—इन श्लोकोंमेंसे जो कि योगवासिष्ठ और इन उपनिषदोंमें मिलते हैं कोई भी श्लोक ऐसा नहीं है जो **लघुयोगवासिष्ठ** में न मिलता हो। लेकिन योगवासिष्ठके बहुतसे उत्तम श्लोक लघु योगवासिष्ठमें नहीं पाए जाते और वे ही श्लोक इन उपनिषदोंमें भी नहीं मिलते। इससे यह मालूम पड़ता है कि इन उपनिषदोंके बनाने वालोंको केवल लघुयोगवासिष्ठ ही देखनेमें आया होगा।

महा-उपनिषद् और योगवासिष्ठ

महा-उपनिषद्—जैसा कि इसके नामसे ही ज़ाहिर है—एक बहुत बड़ा उपनिषद् है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय एक छोटासा भूमिकारूप गद्यमें लिखा हुआ अध्याय है। बाक़ी ५ अध्याय पद्यमें हैं और उनमें ५३५ श्लोक हैं। इन ५३५ श्लोकोंमेंसे हमको ५१० श्लोक योगवासिष्ठमें मिल गए। जैसा कि निम्नलिखित अंकोंसे ज़ाहिर है:—

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
२ ।	१,२	२ ।	१	। ८,१०
२ ।	३,५	३ ।	८०	। ४,६,७
२ ।	९,१०,११	३ ।	८१	। २,३,३
२ ।	१३-३५	२ ।	१	। ११-३४
२ ।	३८-४०	१ ।	३	। ६,८,१५
२ ।	४१,४२	२ ।	२	। ५,६
२ ।	४३-४६	५ ।	१६	। १८,२१,११,१९
२ ।	४७	{५ ।	७४	। ३३,३६
		{५ ।	७५	। ५२
२ ।	४८	५ ।	९१	। ८१
२ ।	४९-६०	६/१ ।	११५	। १२,१३,१५,३७,३८,२८ २५,३३,१६,३४,२०,२१
२ ।	६१-६९	३ ।	९	। १२-१५,४७-५०,७५
२ ।	७०-७७	२ ।	१	। ३५-३७,४१-४५
३ ।	१-७	१ ।	१२	। ४,५,७-९,१६,२१,२६
३ ।	८	१ ।	१३	। १
३ ।	९-१५	१ ।	१४	। १,२,५,१०-१३
३ ।	१६,१७	१ ।	१५	। ३,९
३ ।	१८-२१	१ ।	१६	। २,१५,२४,२५
३ ।	२२-२५	१ ।	१७	। ८,२९,३१,३२
३ ।	२६-३२	१ ।	१८	। ४,१८,१९,३१,३८,६१
३ ।	३३	१ ।	१९	। ३०

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	३४	१ ।	२०	। ३
३ ।	३५, ३६	१ ।	२२	। ६, ८
३ ।	३७, ३८	१ ।	२३	। ३, १९
३ ।	३९–४८	१ ।	२१	। १,२,५,६,११,१२,१८, २०,२३,३५
३ ।	४९–५१	१ ।	२६	। २३,२५,२९
३ ।	५२–५४	१ ।	२८	। २१,३१,३५
३ ।	५५	१ ।	२९	। १३
३ ।	५६	लघुयोगवासिष्ठ १		। १६५
३ ।	५७	कई श्लोकोंका संक्षेप (देखिये		
		१ ।	३१	। २४
४ ।	२–४	२ ।	११	। ५९, ६१, ६७
४ ।	५	२ ।	१३	। ११
४ ।	६	५ ।	५०	। १७
४ ।	७, ८	५ ।	५६	। १५, २१
४ ।	९	५ ।	५७	। २२
४ ।	१०	५ ।	५९	। ३२
४ ।	११, १२	५ ।	६२	। ६, ८
४ ।	१३–१५	४ ।	५६	। ३०, ३१, ३३
४ ।	१७–२३	४ ।	६१	। १–३, ५–७, १२–१४, १६
४ ।	२४	५ ।	१३	। २०
४ ।	२६	२ ।	१२	। १६, १७
४ ।	२८–३४	३ ।	१३	। ३८–४०, ५८,६१,६२,७२, ७५, ८१
४ ।	३५–३७	२ ।	१५	। ३, ६, १२
४ ।	३८	२ ।	१८	। २६
४ ।	३९	२ ।	१९	। ९, १०, ११
४ ।	४२, ४३	२ ।	१९	। २९, ३१
४ ।	४४–४९	३ ।	१	। १०,१२,१७,१९,२२;२३

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
		३ ।	३	। २५
४ ।	५०	३ ।	४	। ३९,४२,४४
४ ।	५१,५२	३ ।	४	। ४४,५८
४ ।	५३,५४	३ ।	५	। ३-५
४ ।	५५,५७	३ ।	१७	। १०,१२,१३
४ ।	५८,६०	३ ।	२२	। ३६,२९,३१
४ ।	६१-६३	३ ।	२०	। ९,१०
४ ।	६४,६५	३ ।	८४	। ३६
४ ।	६६	३ ।	८९	। ३
४ ।	६७	३ ।	१०३	। १४
४ ।	६८	३ ।	७	। १०
४ ।	८२	३ ।	१०९	। २५
४ ।	८७	३ ।	१११	। १,२,८,१२,१५,१९,२०, २२,२३,३५,३६,४०,४२
४ ।	८८-९८	३ ।	११२	। ५-७,११,१६,१७,१९-२५
४ ।	९९-१११	३ ।	११३	। २
४ ।	११२	३ ।	११४	। ३-५,७,८,१२,१४,१५, १६-१८,२३,२९,३१,३४, ५१,५३,६०,६१,७५,७६
४ ।	११३-१३२	३ ।	११५	। ४-५
४ ।	१३३	३ ।	११७	। २,५,६-१९,२१-२३,२५
५ ।	१-२०	३ ।	११८	। १-३,५-१९,२१-२३
५ ।	२१-४०	३ ।	११८	। २८-३० (संक्षिप्त)
५ ।	४१,४२	लघुयोगवासिष्ठ, ४।१३।१३०		
५ ।	४३	लघु योगवासिष्ठ, ३।१३।१३२,१३३		
५ ।	४४-४६	३ ।	११९	। २१-२३
५ ।	४८-५१	३ ।	१२१	। ५३-५६,६८
५ ।	५२,५३	३ ।	१२२	। ५४,५३
५ ।	५४	४ ।	१	। ३

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
५ ।	५५-५८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१४।२,४-६		
५ ।	५९	४ ।	१४	। ४३
५ ।	६०,६१	४ ।	१५	। २१,२५
५ ।	६२-६९	४ ।	२२	। १-३,७-१०,३२
५ ।	७०-७५	४ ।	२३	। ४४,४१,४३,५५-५८
५ ।	७६-८२,८४	४ ।	२४	। १,८-१४,१८,१९
५ ।	८५,८६	४ ।	२७	। २५,३५
५ ।	८८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१६।७		
५ ।	८९-९५	४ ।	३३	। ५०-५७,५९
५ ।	९६,९७	४ ।	३५	। ३,१८
५ ।	९८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१७।६		
५ ।	९९-१०३	४ ।	३५	। ३,७,८,१४,१५
५ ।	१०४-१०७	४ ।	३९	। २३-२५,४३
५ ।	१०८-११२, ११४,११७	४ ।	४१	। ४,१३-१५,२०,३२
५ ।	११३	लघुयोगवासिष्ठ ४।१७।४०		
५ ।	११८-१३५	४ ।	४२	। ११,१३-१६,२१ २३-२६,३१,३४, ३६-३८,४४,४५,५०
५ ।	१३६-१४३	४ ।	४३	। १,२,५,९-१२
५ ।	१४४-१६४	४ ।	४४	। १४-२८,३०,३१,४२-४९
५ ।	१६५,१६६	४ ।		। ४५,१४,२५,२६
५ ।	१६७-१७७	४ ।	४६	। २,४,५,७,१४, १६,१७,२१,२६
५ ।	१७८-१८५	४ ।	५४	। २-५,१२,१३, १८,२२,३७,३८
६ ।	१-५	४ ।	५६	। २५,३४,३७,४१-४७
६ ।	६-९	४ ।	५७	। २२-२५,२९,३७
६ ।	१०	४ ।	५८	। ७,४०

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
६ ।	११	लघुयोगवासिष्ठ ४।१८।४०		
६ ।	१२–१५	५ ।	५	। ३९,४३,६१
६ ।	१६	५ ।	६	। ८
६ ।	१७–२१	५ ।	८	। ९–११,१३,१७
६ ।	२२–२७	५ ।	९	। २५,३३,३६,४१, ४४,५२,६०
६ ।	२८–३४	५ ।	१३	। २१,२८,२९,३२, ३३,३५,३८
६ ।	३५–३८	५ ।	१४	। ४६,४८,५०,५२
६ ।	३९–४०	५ ।	१५	। २३,२४,२७
६ ।	४१–४९	५ ।	१६	। ७–१२,१५,१८–२१
६ ।	५०–६२	५ ।	१७	। ५,७,९,१३–१७, १९,२०,२२,२७
६ ।	६३–७१	५ ।	१८	। ५–९,१७,१८,२२,२४, १९,२१,६१
६ ।	७२	५ ।	१८	। ६१ और ५,२०,३७
६ ।	७३–७६	५ ।	२१	। २,८,११,१५
६ ।	७६	५ ।	२२	। ३३
६ ।	७७,७८	५ ।	२६	। १३,१४
६ ।	७९–८२	५ ।	२७	। २,२०,२५,३२,३३

अन्नपूर्णोपनिषद् और योगवासिष्ठ

अन्नपूर्णा उपनिषद् में ३३७ श्लोक हैं, जिनमेंसे प्रथम १७ श्लोक भूमिकाके हैं और बाक़ी श्लोक उपनिषद्के सिद्धान्तोंके हैं। प्रथम १७ श्लोकोंको—जोकि भूमिकामात्र हैं—छोड़कर इस उपनिषद्के प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठके उपशम और निर्वाण (पूर्वार्द्ध) प्रकरण से संग्रह किए हुए हैं।

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
१ ।	१८–१९	६/१ ।	११५ ।	१,४०
१ ।	२०–२२	६/१ ।	११७ ।	९,१०,११
१ ।	२३–२६	५ ।	५५ ।	२,३,७,८
१ ।	२८–३९	५ ।	५६ ।	१७–१९,३२,३०,३१,३३, ३४,४३,४९,५५,५६
१ ।	४०–४६	५ ।	५८ ।	३२,३३,३९,४१,४४,४७
१ ।	४७	५ ।	५९ ।	३२
१ ।	४८–५०	५ ।	६२ ।	९–११
१ ।	५१,५२	५ ।	६४ ।	४९–५१
१ ।	५३	५ ।	६५ ।	१
१ ।	५४,५५	५ ।	६४ ।	५५,५४
१ ।	५६,५७	५ ।	६७ ।	३३,४२
२ ।	१–७	५ ।	६८ ।	१,२,४,५,६,८,९
२ ।	८–११	५ ।	६९ ।	२,७–११
२ ।	१२–१६	५ ।	७० ।	१२,२६,३१–३३
२ ।	१७	५ ।	७१ ।	५६
२ ।	१८	५ ।	७२ ।	३६
२ ।	२०–२२	५ ।	७२ ।	४०,४१,३३,४३,४४
२ ।	२३	५ ।	७३ ।	३५।३६
२ ।	२४–२६	५ ।	७४ ।	९,१०,३३,३५
२ ।	२७	५ ।	७५ ।	२२
२ ।	२८–३१	५ ।	७७ ।	७,१३,१४,१६
२ ।	३२,३३	५ ।	७८ ।	४६,४९
२ ।	३४–४४	५ ।	७९ ।	२,८–१३,१५–१७,२०
३ ।	४–९	५ ।	८२ ।	९,११,१२,१५,१६,२१,२३
३ ।	९,१०	५ ।	८३ ।	४३,४४
३ ।	१०,११	५ ।	८४ ।	३,
३ ।	११,१२	५ ।	८६ ।	३,५,६
३ ।	१३–२४	५ ।	८७ ।	३,७,११–१६,१८,१९,२१–२४

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
४ ।	१-८	५ ।	८९ ।	९,१२-१४,२३,२७,३१, ३२,३३
४ ।	९	लघु योगवासिष्ठ ४।२७।६६		
४ ।	११	५ ।	८९ ।	६३
४ ।	१२-२४	५ ।	९० ।	१२,१४,४,५,१६,१८,२०, २३-२८,३०,३१
४ ।	३१	३ ।	७ ।	१०
४ ।	३९-७२	५ ।	९१ ।	८,१०,१४,१५,२०,२१,२६ २७,२९,३६,३७,३९,४२,४३, ४६, ४७,६६,७४-७७,८१- ८७,१०२,१०५,१०८,११०, १११-११३,११२
४ ।	७३-९१	५ ।	९२ ।	२-६,९,११-१७,२२,२५, २६,२७,२९,३०,३२,३४, ४९,५०
५ ।	१-७	५ ।	९३ ।	१५,५५,५६,८२,८४,८५,९१
५ ।	८-१३	६/१ ।	२ ।	२४-२६,३१,४६,५६
५ ।	१४	६/१ ।	४ ।	४
५ ।	१५-१९	६/१ ।	१० ।	१४,२०-२२,४४
५ ।	२०,२२,२३	६/१ ।	११ ।	७७,९९
५ ।	२४	६/१ ।	१२ ।	२
५ ।	२५-३२	६/१ ।	२५ ।	३-५,७,३४,६३,६७,६८
५ ।	३३,३४	६/१ ।	२८ ।	४७,६८
५ ।	३५,३६	६/१ ।	२९ ।	६७,१३४
५ ।	३७-४६	६/१ ।	४४ ।	२,१०,१४,१६-१८, २४-२६,३०
५ ।	४७, ४८	६/१ ।	५३ ।	१९, २२
५ ।	४९-५३	६/१ ।	६९ ।	१८-२०,४०,४५,४७
५ ।	५५, ५६	६/१ ।	७८ ।	३२-३४

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
५ ।	५७–६०	६/१ ।	२६	। ८,१२,१४,१६,२०
५ ।	६२	६/१ ।	२५	। २६
५ ।	६३	६/१ ।	९३	। ४४
५ ।	६५, ६६	६/१ ।	१११	। ३६, ४०
५ ।	६८	६/१ ।	११३	। २०
५ ।	६९	६/१ ।	११८	। ७
५ ।	७०	६/१ ।	११९	। ८
५ ।	७१	६/१ ।	१२०	। १
५ ।	८१–९५	६/१ ।	१२०	। १–१०, १२–१६, २२
५ ।	९६–१०१	६/१ ।	१२२	। ४–८, ११
५ ।	१०२–१०६	६/१ ।	१२३	। ६–८, १०, ११
५ ।	१०७–१११	६/१ ।	१२४	। २३–२७
५ ।	११२–११८	६/१ ।	१२५	। १, २, ४–८

मुक्तिकोपनिषद् और योगवासिष्ठ

मुक्तिकोपनिषद् में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय भूमिका-मात्र है। इस अध्यायमें १०८ उपनिषदोंके नाम दिए गये हैं। दूसरे अध्यायमें, जोकि उपनिषद्का मुख्य भाग है, ७६ श्लोक हैं। ये श्लोक सारेके सारे योगवासिष्ठसे चुने हुए हैं। लेकिन वे इस क्रमसे संग्रह किए गए हैं कि उनको योगवासिष्ठसे ढूँढ निकालना बहुत कठिन है। इनमेंसे बहुतसे श्लोकोंका हमको पता चल गया है, जैसा कि नीचेके अंकोंसे प्रतीत होगा। उपनिषत्कारने इन श्लोकोंके आरम्भमें यह लिखकर "अत्र श्लोका भवन्ति" इस बातको सूचित भी कर दिया है कि ये श्लोक किसी दूसरे स्थानसे लिए गए हैं।

मुक्तिकोपनिषद्	योगवासिष्ठ		
अध्याय २, श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
१	२ ।	५	। ४
३–९	२ ।	९	। २५–२७,३०–३३,३५,३८
१०–१४	५ ।	९२	। १७,१६,१८,२२,२३

मुक्तिकोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय २, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१६,१७	५ । ३४ । ३२,२८
१८-२१	५ । ५७ । १९,२६,२८
२५-२७	५ । ९१ । ३५,५३,६४,४८
२९	५ । ९१ । ३७
३०,३१	२ । ९ । ४१,४२
३२-३५	५ । ९० । ४,११,१६,१८,२०,२३
३६-३८	५ । ९ । ५५,५६
३९	४ । ३५ । १८
४०	४ । २४ । ८-१०
४२	४ । २३ । ५८
४३,४४	५ । ९२ । ३३-३५
४५,४७	५ । ९२ । ३६-३९
४८	५ । ९१ । १४
५१-५२	६/१ । २५ । ८,१६,१७
५७-६०	५ । ९१ । २९-३२
६१,६२	१ । ३ । ११,१२
६८-७१	४ । ५७ । १९,२०-२२
७६	३ । ९ । १४

वराहोपनिषद् और योगवासिष्ठ

वराहोपनिषद्में पाँच अध्याय हैं, जिनमेंसे चौथा अध्याय जिसमें कि ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन है, योगवासिष्ठके श्लोकोंसे बना है। इन श्लोकोंसे पहले इस उपनिषद्में यह लिखा है: "तत्रैते श्लोका भवन्ति", जिससे यह प्रकट है कि ये श्लोक उपनिषत्कारने किसी दूसरे स्थानसे लिए हैं। वे ये हैं:—

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१-१०	३ । ११८ । ५,६,८-१५

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
११-१८	६/१ । १२६ । ५२,६०-६९
२१-२७	३ । ९ । ४,६-९,११,१३

अक्ष्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

अक्षि-उपनिषद् एक छोटा सा उपनिषद् है। इसमें ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन है। छोटी सी प्रस्तावनाको, जो कि गद्यमें है, छोड़ कर इस उपनिषद्में ४८ श्लोक हैं। जिनमेंसे ३९ श्लोक योगवासिष्ठके एक ही सर्गमेंसे, जिसमें कि और बहुतसे श्लोक इसी विषयके हैं, चुने हुए हैं। वे ये हैं:—

अक्ष्युपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
२-४०	६/१ । १२६ । ९८,९९,८-३०,३२,३३,३६ ३८,४१,४२,५८-६८, ७०,७१

संन्यासोपनिषद् और योगवासिष्ठ

संन्यासोपनिषद्में, जिसमें संन्यासका वर्णन है, १०४ श्लोक हैं। जिनमेंसे आधेके लगभग योगवासिष्ठके उपशम प्रकरणमेंसे चुने हुए हैं। वे ये हैं:—

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१३-५१	५ । ३४ । ९-२०,६८,६९,९०,१००, १०११०४,११२-११४
	५ । ३५ । ४,११,३८,३९,७७,७८,८१
	५ । ३९ । ४७,४८,४९
	५ । ४० । १९
	५ । ४२ । १४,१५
	५ । ५० । २१,२२२,२९,३४, ३५,३९,४२

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
५१–५७	५। ५१ । ३१,३३,३५
	५। ५३ । ६७,७५,७८,७९

याज्ञवल्क्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

याज्ञवल्क्योपनिषद्में कुल २४ श्लोक हैं जिनमेंसे १० श्लोक योगवासिष्ठके वैराग्य प्रकरणके २१ वें सर्गमेंसे चुने हुए हैं। वे ये हैं:—

याज्ञवल्क्योपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
५–१४	१। २१ । १,२,५,६,११, २,१८, २०,२३,३५

शाण्डिल्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

शाण्डिल्योपनिषद् में योगवासिष्ठके १३ श्लोक हैं इनका विषय प्राणनिरोध द्वारा मनोनिरोध है। इनके आदिमें "तदेते श्लोका भवन्ति" लिखा है। वे ये हैं:—

शाण्डिल्योपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय, खण्ड श्लोक	प्रकरण, सर्ग श्लोक
१। ७ । २४–३६	५। ७५ । ८,१५,१६,१८–२१,२५, २७–३१,३९

मैत्रेय्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

मैत्रेय्युपनिषद् में भी योगवासिष्ठके बहुतसे श्लोक मालूम पड़ते हैं। किन्तु हमको निम्नलिखित अङ्को वाले श्लोक मिल गये हैं:—

मैत्रेय्युपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१। १०	३। ९ । ४७
२। २७	६/१। १२६ । ३८–३९
२। ३०	३। ११७ । ९

योगकुण्डल्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

योगकुण्डल्युपनिषद् में हमको केवल दो श्लोक योगवासिष्ठ के मिले हैं। वे ये हैं:—

योगकुण्डल्युपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३।	२४	३।	९	।४७
३।	३४	३।	९	।१४

पैङ्गलोपनिषद् और योगवासिष्ठ

पैङ्गलोपनिषद् में हमको अभी तक केवल १ श्लोक योगवासिष्ठका मिला है। यह श्लोक और कई उपनिषदोंमें भी आया है। वह यह है:—

पैङ्गलोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३।	११	३।	९	।१४

५—योगवासिष्ठकी शैली

योगवासिष्ठकी दार्शनिक ग्रन्थोंमें गणना न होनेका विशेष कारण उसकी लेख शैली ही जान पड़ती है। इस ग्रन्थमें दार्शनिकों-के बालकी खाल निकालनेवाले तर्क वितर्कों और नीरस और शुष्क सूत्रमयी भाषाका सर्वथा अभाव है। न इसमें उत्तरकालीन लेखकों-की नाईं अनुमानकी परिभाषाका ही प्रयोग पाया जाता है, न प्रमाण ग्रन्थोंकी उक्तियाँ। इस ग्रन्थका लेखक जो कुछ कहना चाहता है, सरल और सीधी भाषामें कहता है, और इस ढङ्गसे कहता है कि उसका कथन हृदयमें तीरकी नाईं प्रवेश करके मनमें बैठ जाता है, और फिर पढ़ने अथवा सुननेवालेको न किसी प्रमाणकी आवश्यकता रहती है और न किसी शास्त्रकी उक्ति की। वह जो कुछ कहता है अपने अनुभवसे कहता और सरल और सुन्दर, सरस और काव्यमयी भाषामें कहता है, और दृष्टान्तों और उपाख्यानों द्वारा अपने कथनका समर्थन करता है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ और दार्शनिक ग्रन्थोंकी नाईं दार्शनिक विद्वानोंको ही प्रिय नहीं बल्कि साहित्यके रसिकोंको भी प्रिय है। दृष्टान्तोंकी प्रचुरताके कारण प्रायः सभी कक्षाओंके पाठक इसका रस ले सकते हैं और इसके सिद्धान्तोंको समझ सकते हैं। उपाख्यानोंके कारण सर्वसाधारण मनुष्य भी इसमें आनन्दका अनुभव कर सकते हैं। इस कथनमें किञ्चिन्मात्र भी अत्युक्ति नहीं है कि यह ग्रन्थ एक उत्तम और सरस काव्य है। योगवासिष्ठकारका यह कहना बिल्कुल ठीक है:—

> शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
> काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम्॥ (२।१८।३३)

अर्थात् यह शास्त्र सुबोध है, अलङ्कारोंसे विभूषित है, रस-मय सुन्दर काव्य है, और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित हैं।

योगवासिष्ठकार को रसहीन, रूखी और कठिन भाषा पसन्द नहीं है, क्योंकि वह श्रोताके हृदयमें न प्रवेश ही कर पाती है और न वहाँपर जाकर प्रकाश करती है।

यत्कथ्यते हि हृदयंगमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम् ॥ (३।८४।४५)
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम् ॥ (३।८४।४६)

अर्थात् जो कुछ ऐसी भाषामें कहा जाता है जोकि मधुर शब्दोंवाली और समझमें आने वाले दृष्टान्तों (उपमाओं) और युक्तियोंवाली हो, वह सुननेवालेके हृदयमें प्रवेश करके वहाँपर इस प्रकार फैल जाता है जिस प्रकार कि तेलकी बूँद जलके ऊपर, और सुननेवालेकी सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। इसके विपरीत वह भाषा जोकि कठिन, कठोर, कठिनाईसे उच्चारण किए जानेवाली, सरस शब्दों और उपमाओं (दृष्टान्तों) से रहित है, वह सुनने-वालोंके हृदयमें प्रवेश नहीं कर सकती और वह इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार राखमें पड़ा हुआ घृत।

उचित दृष्टान्तोंके द्वारा ही कठिनसे कठिन विषयका हृदयमें प्रवेश कराया जा सकता है।

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्रकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव ॥ (३।८४।४७)

अर्थात्—संसारमें जितनी कथाएँ और आख्यान हैं और जो जो विषय उचित और गहन हैं, वे सब दृष्टान्त-रीतिसे कहनेसे ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे कि संसार सूर्यकी किरणों द्वारा।

इन विचारोंको अपने हृदयमें रखकर योगवासिष्ठकारने ब्रह्म-विद्याको काव्यके रूपमें संसारके समक्ष रखनेका प्रयत्न किया है। काव्य, दर्शन और आख्यायिकाका यह सुन्दर सङ्गम—त्रिवेणीके समान महत्त्व वाला है। तीर्थराज जिस प्रकार पापोंका विनाश करता है उसी प्रकार योगवासिष्ठ भी अविद्याका विनाश करता है।

इसका पाठ करने वाला यह अनुभव करता है कि वह किसी जीते जागते आत्मानुभव वाले महान् व्यक्तिके स्पर्शमें आ गया है, और उसके मनमें उठने वाली सभी शंकाओंका उत्तर बालोचित सुबोध, सुन्दर और सरस भाषामें मिलता जा रहा है, दृष्टान्तों द्वारा कठिनसे कठिन विचारों और सिद्धान्तोंका मनमें प्रवेश होता जा रहा है, और कहानियों द्वारा यह दृढ़ निश्चय होता जाता है कि वे सिद्धान्त, जिनका इस ग्रन्थमें प्रतिपादन किया गया है, केवल सिद्धान्त मात्र और कल्पना मात्र ही नहीं हैं बल्कि जगत् और जीवनमें अनुभूत होने वाली सच्ची सच्ची घटनाएँ हैं।

इस ग्रन्थमें किसी दूसरे मत अथवा सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका न खण्डन है और न किसीके ऊपर आक्षेप। क्योंकि योगवासिष्ठकार की दृष्टि इतनी उदार और विस्तृत है कि वह सब मतोंमें ही सत्यको वर्तमान पाता है। उसके विशाल दर्शनमें सभी मतोंका स्थान है। उसको किसीका भी विरोध नहीं करना है। उसको तो वह सिद्धान्त प्रतिपादन करना है, जिसमें सभी इतर सिद्धान्तोंका समावेश है और जिसके विशाल मन्दिरमें सभी मत और सम्प्रदाय अविरोधात्मक रूपसे अपना अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं। सत्य तो सत्य ही है। प्रत्येक व्यक्ति और सम्प्रदायको उसके प्राप्त करनेका अधिकार है क्योंकि सभी कोई सत्यकी खोजमें हैं। उसको कोई किसी एक दृष्टिकोणसे देखता है कोई किसी दूसरेसे। लड़ाई और विरोध क्यों होना चाहिए। योगवासिष्ठकारके इस प्रकारके भावोंके कुछ उदाहरण हम यहाँ पर देते हैं।

(१) बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः। (६।३८।४)

अर्थात् बाह्यार्थवाद और विज्ञानवादमें हमको कोई भेद नहीं जान पड़ता। ऊँची दृष्टिसे देखनेसे दोनों एक ही हैं।

(२) मनके स्वरूपके विषयमें नाना दर्शनोंके मतोंका वर्णन करके योगवासिष्ठकार कहता है:—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)

अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीताववबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैरारुरुक्षवः॥ (३।९६।५२)

स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
विचित्रदेशकालोत्थं मार्गं स्वं पथिका इव॥ (३।९६।५३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुतसे मुसाफ़िर नाना देशोंसे चले आए हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पदको नाना देश और कालमें ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुँचते हुए वे लोग—परमार्थका किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण, और उसका विपरीत ज्ञान होनेसे भी—परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार बटोही लोग अपने अपने मार्गको ही सर्वोत्तम समझते हैं। उसी प्रकार वे भी अपने अपने सिद्धान्तोंकी ही प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकारका दूसरे दर्शनोंके प्रति इस प्रकारकी उदारताका भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्यको अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलनेसे उसे किसी प्रकारकी सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्गको छोड़कर किसी दूसरे मार्ग पर चलना ठीक नहीं है।

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥ (६।१३०।२)

अर्थात्—जिस मार्गसे जिस मनुष्यकी उन्नति होती है उस मार्गपर चले बिना उसकी गति न शोभा देती, न सुख देती है, न उसके हितके लिये है और न शुभ फल वाली होती है।

(४) परम तत्त्वका वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है:—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम्॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलङ्कानां कालः कालैकवादिनाम्॥ (५।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥ (५।८७।२०)

अर्थात्—परम तत्त्व वही है जिसको शून्यवादी लोग शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञानमात्र, सांख्यदृष्टिवाले पुरुष,

योगवाले ईश्वर, शैव लोग शिव, कालवादी काल, आत्मवादी आत्माका आत्मा, अनात्मवादी अनात्मा, माध्यमिक लोग मध्यम और सब ओर समानदृष्टि रखनेवाले सर्व कहते हैं।

योगवासिष्ठमें ये सब गुण होते हुए भी आधुनिक पाठकों की दृष्टिसे एक दो बड़े भारी दोष हैं। इसमें पुनरुक्ति बहुत है और किसी प्रकारकी भी विषय सम्बन्धी तरतीब नहीं हैं। सब बातें सब जगह मौजूद हैं। न कोई क्रम है और न कोई विषयोंका उचित स्थान। इस कारणसे पढ़ने वालोंको इस ग्रन्थके सिद्धान्तोंका ठीक ठीक और साफ़ साफ़ ज्ञान नहीं होने पाता। प्रकरण विभाग केवल नाममात्र है। प्रत्येक प्रकरणमें प्रायः सभी प्रकरणोंके सिद्धान्तोंका वर्णन है—कितनी अच्छी बात होती कि प्रत्येक प्रकरणमें उसी प्रकरण सम्बन्धी बातें होतीं। लेकिन ऐसा नहीं है। तीसरा दोष आजकलके पाठकोंकी दृष्टिसे इस ग्रन्थमें यह है कि यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा है। बहुत सी बातें बारबार कहीं गई हैं और उसी रूपमें कही गई हैं। बहुत जगहों पर तो लेखक यही भूल गया है कि वह एक दार्शनिक ग्रन्थ लिख रहा है। उसको यही ध्यान रहा है कि वह एक काव्य लिख रहा है और काव्योचित सौन्दर्यकी रचना करनेमें वह अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। यह ग्रन्थकारका गुण और दोष दोनों ही है।

इन सब कारणोंसे हमने उन पाठकोंके लाभके लिये जो केवल इस ग्रन्थके दार्शनिक सिद्धान्त ही संपूर्णतया और क्रमबद्ध रीतिसे जानना चाहें, इस बृहत् ग्रन्थमेंसे २५०० श्लोकोंके लगभग चुनकर उनको दार्शनिक दृष्टिकोणसे तरतीब देकर और उनको नाना विषयों में विभाजित करके एक ग्रन्थ **वासिष्ठदर्शन** नामक तैय्यार किया है। यह ग्रन्थ "प्रिन्स आफ़ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट सिरीज" में यू. पी. गवर्नमेण्ट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसमें योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ, दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी २५०० श्लोकोंका संग्रह किया गया है। यह संग्रह अपने ढङ्गका प्रथम प्रयास है। इस संग्रहका भी एक सार १५० श्लोकोंमें वर्तमान लेखकने **श्रीवासिष्ठदर्शनसार** नामसे किया है जो कि हिन्दी अनुवाद और भूमिका समेत प्रकाशित हो चुका है।

योगवासिष्ठके और भी अनेक संक्षेप किए जा चुके हैं। उनमें कुछके नाम हम यहाँ पर देते हैं। इन सबमें आजकलके पाठकोंकी दृष्टिसे अनेक त्रुटियाँ हैं।

सबसे उत्तम और सबसे प्रथम संक्षेप काश्मीरके गौड अभिनन्द द्वारा नवीं शताब्दीमें किया हुआ **लघु योगवासिष्ठ** नामक है। इस में ४८२९ श्लोक हैं (६००० श्लोक कहे जाते हैं)। उन्हीं ६ प्रकरणोंमें जो कि योगवासिष्ठमें हैं, संक्षेपकारने बृहत् ग्रन्थकी कहानियों और सिद्धान्तोंका सार, ४८२९ श्लोकोंमें रखनेका प्रयत्न किया है। प्रयत्न बहुत ही सराहनीय है, किन्तु इसमें योगवासिष्ठके बहुतसे दार्शनिक विषय छूट गए हैं, और निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्द्धका सार बिल्कुल ही नहीं दिया गया। यह निर्वाण प्रकरणके पूर्वार्द्ध तक का ही सार है। इस ग्रन्थमें भी यह दोष है कि विषयोंका कोई उचित क्रम नहीं है। जो तरतीब बृहत् ग्रन्थमें है वही इसमें है। जो लोग योगवासिष्ठके सिद्धान्त और कहानियाँ–दोनों–संक्षेपसे जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है, किन्तु जो लोग योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्त ही पूर्णतया जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं है। प्रायः लोग इसी ग्रन्थका पाठ करते हैं।

एक और सार, जो कि दार्शनिक दृष्टिसे लघु योगवासिष्ठसे उत्तम है किसी अज्ञात व्यक्तिका किया हुआ है। उसका नाम **योगवासिष्ठसार** है। इसमें २२५ श्लोकोंमें निम्नलिखित शीर्षकोंमें बृहत् ग्रन्थका सार किया गया है:—१—वैराग्य, २—जगन्मिथ्यात्व, ३—जीवन्मुक्तलक्षण, ४—मनोनाश, ५—वासनाक्षय, ६—आत्म ध्यान, ७—आत्मार्चन, ८—आत्मस्वरूप, ९—जीवन्मुक्ति। यह भी एक उत्तम प्रयास है। लेकिन इसमें योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंका अंश मात्र ही आता है। तरतीब भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ विलायतके कई हस्तलिखित पुस्तकोंके पुस्तकालयोंमें मौजूद है, और कई वर्ष हुए मुरादाबादके लक्ष्मीनारायण प्रेससे छपा भी था।

योगवासिष्ठके और संक्षेप—जिनका पता अभीतक किसीको भी नहीं था—**महोपनिषद्** और **अन्नपूर्णोपनिषद्** नामक हैं इनमें से प्रथम सार ५३५ श्लोकोंमें और द्वितीय ३३१ श्लोकोंमें है। इनमें भी ऊपरवाले सारकी नाईं कहानियाँ नहीं हैं, केवल दार्शनिक

सिद्धान्तोंका ही संग्रह है। किन्तु दोनोंमें मिलाकर भी योगवासिष्ठ-के सारे दार्शनिक सिद्धान्तोंका वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद्में योगवासिष्ठके 'वासनात्याग' के सिद्धांत का ही ७६ श्लोकोंमें सार है, **वराहोपनिषद्** में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्तके लक्षणों" का ही ३० श्लोकोंमें वर्णन है। "योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठके ४० श्लोकोंको लेकर किसी पाठकने उनका नाम **अक्षि-उपनिषद्** रख लिया। योगवासिष्ठके इन सब संक्षेपोंमें यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखनेका प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योग-वासिष्ठमेंसे निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रहको कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकारका हमारा **वासिष्ठदर्शन** और उसका सार हमारा **वासिष्ठदर्शनसार** है। इन दोनोंमें योगवासिष्ठके सिद्धांत समग्र, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूपमें रखनेका प्रयास है। इनके एक बार पाठसे ही पाठकको योगवासिष्ठके दर्शनका ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

६—योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

योगवासिष्ठके निर्वाण प्रकरणके पूर्वार्द्धके ५२-५८ सर्गोंमें "अर्जुनोपाख्यान" नामक एक कहानी है। उसमें वसिष्ठजीने रामचन्द्र जीको यह कहा—

पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः।
क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम्॥

(६/१।५२।९)

अर्थात्-जिस प्रकार पाण्डुका पुत्र अर्जुन अपने जीवनको बिना दुःखके वितावेगा उसी प्रकार तुम भी अपने जीवनको विताओ।

तव रामने प्रश्न किया :—

भविष्यति कदा ब्रह्मन् सोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः।
कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम्॥

(६/१।५२।१०)

अर्थात्—हे ब्रह्मन्! वह पाण्डुपुत्र अर्जुन कब होगा और हरि उसको किस प्रकारकी असक्तताका उपदेश देंगे।

तब वसिष्ठजीने रामको यह बतलाया कि एक समय ऐसा आवेगा कि लोग बहुत ही घोर पाप वृत्तिके हो जाएंगे और युधिष्ठिर और दुर्योधनमें बड़ा भारी संग्राम होगा। उस संग्रामके आरम्भमें अर्जुनको विषाद होगा और वह युद्ध नहीं करेगा। तब हरि उसको प्रबोधित करेंगे—यह प्रबोध वसिष्ठने रामचन्द्रजीको सुनाया है। इन सात सर्गोंमें इसीका वर्णन है।

भगवद्गीताके साथ इन सर्गोंकाअध्ययन करनेपर यह मालूम पड़ता है कि भगवद्गीताके ७०० श्लोकोंमेंसे केवल २७ श्लोक ही ऐसे हैं जो कि पूर्णतया अथवा अंशतः योगवासिष्ठमें पाए जाते हैं। वे ये हैं:—

भगवद्गीता	योगवासिष्ठ (निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध)
२।८	५५।१४
२।१४	५४।२
२।१६	५५।१२

भगवद्गीता	योगवासिष्ठ (नि० पू०)
२।१७	५५।१३
२।१७-१८	५३।२
२।१९	५२।३७
२।२०	५२।२६
२।४७/२-२।४८/२	५४।२६
२।४८।१	५३।१६।१
२।७०	५४।३८
३।६	५४।३६
३।७	५४।३७
३।२७/२	५३।५/२
४।१८	५४।२५
४।२०	५४।३३
५।११	५३।९
६।२९	५३।४३
६।२९/१	५३।६०/१
८।१	५८।१
९।२७	५४।२२
९।३४	५३।३४
१०।१	५४।१
१५।५	५३।६६
१५।९	५५।२१
१७।४/१	५५।१८/१

भगवद्गीताके ७०० श्लोकोंमेंसे केवल इतने ही श्लोक योगवासिष्ठमें क्यों उद्धृत हैं जब कि वसिष्ठने रामचन्द्रजीको अर्जुनोपाख्यान ७ सर्गोंमें सुनाया, जिसमें कि २६३ श्लोक हैं ? इस उपाख्यान में वर्णन किए हुए सब विचार भी भगवद्गीताके विचारोंसे नहीं मिलते। कहीं कहीं पर ही भगवद्गीताके विचार योगवासिष्ठगत विचारोंसे मिलते हैं।

कुछ लोग तो अवश्य ही यह मान लेंगे कि उस समयमें भगवद्गीताका उपदेश लेखबद्ध नहीं था, भविष्यमें होनेवाला था। वसिष्ठजीने उसे अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ही जानकर रामचन्द्रजीको

बतलाया था जैसा कि योगवासिष्ठगत भविष्यकालीन भाषासे प्रकट है। किन्तु इतिहासज्ञ पण्डित यह नहीं मानेंगे। वे तो यही कहेंगे कि भगवद्गीता योगवासिष्ठके रचनाकालमें अवश्य ही वर्तमान रही होगी। यह सम्भव है कि उसमें आजकल प्राप्त होनेवाले सभी ७०० श्लोक न रहे हों। हमें यहाँ पर इस विषयमें और कुछ नहीं कहना है। यह विषय भगवद्गीताके विद्वानोंके लिये छोड़ते हैं। (देखिये हमारा कल्याणके **गीताङ्क** में "योगवासिष्ठमें भगवद्गीता" नामक लेख)।

७—योगवासिष्ठके उपाख्यान

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, योगवासिष्ठकारने अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन स्वानुभव, दृष्टान्त और उपाख्यानों द्वारा किया है। समस्त ग्रन्थमें ५५ उपाख्यान हैं। इनमेंसे कुछ उपाख्यान तो बहुत ही अच्छे, रोचक और उपदेशप्रद हैं। वसिष्ठ और रामचन्द्रजीका सम्वाद भी एक उपाख्यान हीके रूपमें है। योगवासिष्ठकी दृष्टान्तों और कहानियोंद्वारा ब्रह्मज्ञानके उपदेश करनेकी इस रीतिका गुजराती भाषामें **चन्द्रकान्त**, उर्दूमें **चहलदरवेश** और हिन्दीमें **ज्ञानवैराग्यप्रकाश** नामक पुस्तकोंमें भली भाँति अनुसरण किया गया है। यहाँ पर हम पाठकोंको योगवासिष्ठके सब उपाख्यानोंका दिग्दर्शन मात्र कराना चाहते हैं।

(१) योगवासिष्ठकी कथा

एक समय सुतीक्ष्ण नामक एक ब्राह्मणके मनमें यह शंका उत्पन्न हुई कि मोक्ष प्राप्तिका साधन कर्म है अथवा ज्ञान, अथवा दोनों। इस संशयकी निवृत्तिके लिये वह अगस्तिके आश्रम पर गया और उनसे उसने यही प्रश्न किया। अगस्तिने उत्तर दिया :—मोक्ष न केवल कर्मसे प्राप्त होता है, न केवल ज्ञानसे ही। पक्षी एक पंखसे नहीं उड़ सकता। जैसे उसे आकाशमें उड़नेके लिये दोनों पंखोंकी आवश्यकता है, ऐसे ही ज्ञान और कर्म दोनों ही मोक्ष प्राप्तिके साधन हैं। मैं इस विषयमें तुमको एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ :—अग्निवेश्यका वेदवेदाङ्ग जानने वाला एक पुत्र गुरुके घरसे विद्या पढ़कर लौट आने पर इसी प्रकारकी शंकासे व्यथित होकर सब नित्य नैमित्तिक कर्मोंको त्याग कर चुपचाप रहने लगा। अग्निवेश्यने अपने पुत्रको इस अकर्मण्य दशामें देखकर उससे कहा :—पुत्र ! तुम कर्म क्यों छोड़ बैठे ? कर्म किए विना तुमको सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? कारुणने कहा :—पिताजी ! कुछ शास्त्र तो परमार्थ सिद्धिके लिये कर्म करनेका उपदेश देते हैं और कुछ कर्मत्यागका। मेरी समझमें नहीं आता कि कौनसा मार्ग ठीक है। आप ही इस विषयमें

मुझे यथोचित उपदेश दीजिए। अग्निवेश्य बोले :—इस सम्बन्धमें मैं तुमको एक पुरानी कथा सुनाता हूँ। उसको सुनकर तुम्हारी यह शंका पूर्णतया निवृत्त हो जावेगी :—एक समय सुरुचि नामकी एक सुन्दर अप्सरा हिमालयके शिखर पर बैठी हुई प्रकृतिकी शोभाका निरीक्षण कर रही थी। उसने इन्द्रके एक दूतको अन्तरिक्षमें जाते हुए देखकर बुलाया और उससे पूछा—हे दूत तुम कहाँसे आ रहे हो और कहाँ जाओगे? दूतने उत्तर दिया :—सुभगे! भूलोक-में अरिष्टनेमी नामका एक राजा था। उसने अपने पुत्रको राज्य देकर अपने भविष्य कल्याणके लिये गन्धमादन पर्वत पर घोर तप करना आरम्भ कर दिया था। मेरे स्वामी इन्द्रको जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अपने दूतोंको भेजकर उनको बड़े आदर और सत्कारके साथ अपने यहाँ बुलवा लिया और स्वर्गमें रहनेके लिये उनको निमंत्रित किया। राजाने इन्द्रसे यह प्रार्थना की :—हे देव! स्वर्गमें वास करनेसे पहिले मैं यह जानना चाहता हूँ कि स्वर्गमें वास करनेके गुण और दोष क्या हैं। इन्द्रने कहा :—राजन् स्वर्गमें नाना प्रकारके भोग हैं, पर वे सब अपने अपने शुभ कर्मोंके अनुसार ही मिलते हैं। उत्तम कर्मों वालोंको उत्तम भोग, मध्यम कर्मों वालोंको मध्यम, और कनिष्ठ प्रकारके पुण्य कर्मों वालोंको कनिष्ठ प्रकारके भोग स्वर्गमें प्राप्त होते हैं। ऊँची श्रेणीके व्यक्तियोंको नीची श्रेणी वालोंके प्रति अभिमान, नीची श्रेणी वालोंको ऊँची श्रेणी वालोंके प्रति ईर्ष्या और मनमें वेदना होती है, बराबर श्रेणीके व्यक्तियोंमें एकको दूसरेके प्रति स्पर्धा होती है। पूर्वकृत पुण्य कर्मोंका फल भोग द्वारा क्षीण हो जानेपर स्वर्गवासियोंको फिर मर्त्य लोकमें वापिस जाकर जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना पड़ता है। यह सुनकर राजाने इन्द्रसे कहा :—देव! इस प्रकारके स्वर्गमें रहनेकी मेरी इच्छा नहीं है। मुझे आप कृपया गन्धमादन पर्वतपर वापिस भेज दीजिए। वहींपर मैं तप करते करते किसी प्रकारकी भोगेच्छा न रखते हुए अपने शरीरका त्याग कर दूँगा। हे देवि! इन्द्रने तब मुझसे यह कहा :—हे दूत! यह राजर्षि तो तत्त्वज्ञानका अधिकारी है। इसको तुम वाल्मीकि ऋषिके आश्रमपर ले जाओ। वे इनको आत्मज्ञानका उपदेश देंगे, जिसके श्रवण करनेसे इनको मोक्षकी प्राप्ति होगी। हे सुरुचि! देवराज इन्द्रकी यह आज्ञा पाते ही मैं राजा अरिष्टनेमीको

वाल्मीकि ऋषिके आश्रमपर ले गया। वहाँपर पहुँचकर राजाने वाल्मीकिजीको साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया—हे ऋषि! कृपया मुझे वह मार्ग बतलाइए जिसके द्वारा मैं संसारके बन्धन और दुःखोंसे निवृत्त हो जाऊँ। ऋषिने कहा—हे राजन्! मैं तुमको मोक्षप्राप्तिका वह सारा उपदेश सुनाता हूँ जो कि किसी समयपर वसिष्ठ ऋषिने अपने शिष्य श्री रामचन्द्रजीको दिया था। उसको सुनकर तुमको आत्मबोध होगा और तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। इस मोक्षोपाय नामक वसिष्ठ-राम-संवादका मैंने बहुत दिन हुए संग्रह किया था। इसकी रचना करनेपर मैंने इसे अपने विनीत शिष्य भरद्वाजको सुनाया था। भरद्वाज इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, और ब्रह्माजीके पास जाकर उन्होंने इसको ब्रह्माजी-को सुनाया। ब्रह्माजी इसको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह आशीर्वचन कहा:—श्री वाल्मीकिजीने संसारके उपकारके लिये यह ऐसा उत्तम ग्रन्थ बनाया है कि इसके श्रवण मात्रसे ही मनुष्य भवसागरसे सहजमें पार हो जावेंगे। राजन्! वही ग्रन्थ मैं तुमको अब तुम्हारे हितके लिये सुनाता हूँ। दूतने सुरुचिको वह सारी कथा कह सुनाई जो कि उसने वाल्मीकि ऋषिके मुँहसे सुनी थी।

(२) वसिष्ठ-राम-संवादकी कथा

अरिष्टनेमीने वाल्मीकिजीसे पूछा:—हे भगवन् राम कौन थे और उनको वसिष्ठजीने क्यों और क्या उपदेश किया? ऋषि बोले:-शापके कारण अज्ञ मनुष्यका रूप धारण किए हुए श्री विष्णु भगवान् ही रामचन्द्र थे। एक समय विष्णु भगवान् ब्रह्मलोकमें गए। सब लोगोंने उठकर उनको प्रणाम किया, किन्तु सनत्कुमार शान्तचित्त स्थिरभावसे बैठे रहे। यह देखकर विष्णुको उनपर क्रोध आ गया और उन्होंने उनको शाप दिया—हे सनत्कुमार! तुमको अपने निष्काम होनेका गर्व है, इसलिये इस गर्वको दूर करनेको मैं तुमको शाप देता हूँ कि तुम शरजन्म नामके कामी राजाके रूपसे पृथ्वी लोकमें जन्म लोगे। सनत्कुमारने यह सुनकर विष्णु भगवान्से कहा—मैं भी आपको शाप देता हूँ कि आप अपनी सर्वज्ञताको छोड़-कर, जिसका कि आपको गर्व है, कुछ दिनों तक अज्ञानी जीव बन कर भूमण्डलपर वास करोगे। वही विष्णु अयोध्याके राजा दशरथ-

के यहाँ रामचन्द्र नामक पुत्रके रूपमें आए थे, और जबतक वसिष्ठ जी द्वारा उनको आत्मज्ञानका उपदेश नहीं हुआ था, अज्ञानी ही रहे थे।

इस उपदेशके दिए जानेकी कथा इस प्रकार है :—एक समय, जब कि रामचन्द्रजी शैशवावस्थाको समाप्त करके युवावस्थामें पदार्पण कर रहे थे, उनके मनमें यह विचार उठा कि जीवनमें क्या सार है, यहाँ मनुष्य सुखरूपी मृगतृष्णाके पीछे दौड़ते दौड़ते अपना सारा जीवन बिता देते हैं, किन्तु किसीको दुःखसे रहित सुखकी प्राप्ति नहीं होती। रात दिन संसारकी उलझनोंमें फँसे रहते हैं और कभी शान्तिका अनुभव नहीं करते। उत्पन्न होते हैं और कुछ दिन जीवित रहकर मर जाते हैं। कोई भी नहीं जानता कि कहाँसे आते हैं और कहाँ जाते हैं। यह संसार क्यों बना, कैसे बना और कब बना ? इससे छूटनेका कोई उपाय है अथवा नहीं है ? इत्यादि प्रश्न रामचन्द्रजीके मनमें उठे। और वे इनको सोचनेमें इतने लीन हो गए कि उनको अपने नित्य कर्मों और अपने खाने-पीने शयन और विहार करनेमें किसी प्रकारकी भी रुचि न रही। जड़ शिलाकी मूर्तिकी नाईं दिन रात बैठे हुए सोचते रहते थे।

रामचन्द्रजीकी यह दशा देखकर उनके नौकर चाकरों ने बहुत ही घबराकर दरबारमें आकर महाराज दशरथके प्रति उनकी शोचनीय दशाका इस प्रकार वर्णन किया:—हे राजन् कुंवर रामचन्द्र जीकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गई है। हमारी समझमें ही नहीं आता कि उनको हो क्या गया है। बहुत बार याद दिलाने पर वे अपने नित्य कामोंको करनेमें प्रवृत्त होते हैं, और उनको किसी प्रकारका उत्साह नहीं है। सदा ही खिन्नबदन रहते हैं। स्नान देवार्चन, दान, भोजन आदि कभी करते हैं, कभी नहीं करते। ज़रा ज़रा सी बातों पर उनको क्रोध आ जाता है, क्योंकि जो कुछ भी उनको करना पड़ता है वे मनसे नहीं करते। कोई भूषण उनको पसन्द नहीं आता। जो युवतियाँ उनको प्रसन्न करनेके लिये उनके पास छोड़ी गई हैं, उनसे उनको बहुत ही घृणा होती है। उनको नाचते गाते और झूलेमें झूलते देखकर उनसे उनको द्वेष होता है। जितने सुन्दर स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक चढ़ा लेते हैं। सदा ही मौन रहते हैं। हास प्रहाससे चिढ़ते हैं। एकान्त पसन्द करते हैं। यदि कभी उनको हम बोलते हुए सुनते हैं तो ऐसे शब्द

हमारे कानोंमें पड़ते हैं :—सम्पत्तिसे क्या? विपत्तिसे क्या! घर बार से क्या! राग रङ्गसे क्या? सब कुछ फ़िज़ूल है; किसी वस्तुसे परमानन्द नहीं मिलता। हम नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं। किस चीज़का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रति दिन कृश होते जाते हैं, पीले पड़ते जाते हैं, और ऐसे प्रभाहीन होते जा रहे हैं जैसे कि शरद ऋतुके अन्तमें वृक्ष। उनकी हालतको देखकर उनके और भाई भी दुःखी रहते हैं। माताओंको भी बड़ी चिन्ता लग रही है। हे राजन् हम नहीं जानते कि उनके लिये क्या किया जाय। अतः आपको सूचित करने आए हैं।

राजाको रामचन्द्रजी की ऐसी दशा सुनकर बहुत शोक हुआ राजसभामें विश्वामित्र जी, जो कि राजा दशरथसे अपनी यज्ञरक्षाके लिये राम और लक्ष्मणको मांगने आए थे-और वसिष्ठजी जो कि उनके राजगुरु थे, बैठे हुए थे। यह सब बातें सुनकर और राजाको चिन्तित देखकर विश्वामित्रजी बोले—हे राजन् यदि रामचन्द्रजीका ऐसा हाल है तो उनको यहाँ बुलवाओ—हम उनका दुःख निवृत्त करेंगे। वसिष्ठजी उनको ऐसा उपदेश देंगे कि उनका सब शोक निवृत्त हो जावेगा, और उनको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परमानन्दकी प्राप्ति होगी। और वे संसारमें एक आदर्श पुरुष होकर अपने जीवनको इस प्रकार वितावेंगे कि संसार उनका अनुकरण करेगा।

यह सुनकर राजा दशरथकी चिन्ता कुछ कम हुई। उन्होंने रामचन्द्रजीको बुलवा लिया। रामचन्द्र वहाँ आये और सबको यथायोग्य प्रणाम करके बैठ गए। वसिष्ठ और विश्वामित्रके पूछनेपर उन्होंने अपने मनकी व्यथा विस्तारपूर्वक सुनाई। संक्षेपतः उनका कथन यह था :—ज्यों ज्यों मेरी शैशवावस्था व्यतीत हो रही है मेरे मनमें यह विचार दृढ़ होता जाता है कि संसारमें कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत्‌में मुझे कुछ भी आस्था नहीं रही। मेरी समझहीमें नहीं आता कि राज्य करनेसे, भोगोंके पीछे दौड़नेसे, लक्ष्मीका उपार्जन करनेसे, सुंदर स्त्रियोंके सङ्गसे मनुष्यको किस सुखकी प्राप्ति होती है। रात दिन मैं देखता हूँ कि जिनको यह सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वेभी महा दुःखी हैं। संसारके भोगोंसे सुखकी आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णारूप है। इन्द्रियोंके भोग विषैले सर्पके फणकी नाईं दुःखदायी हैं। मनुष्यको इस जीवनमें

कभी और कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवनके पीछे क्या होता है हम नहीं जानते। हम कहाँसे आते हैं कहाँ जाते हैं कुछ मालूम नहीं है। यह संसार क्या है, क्यों है, और इसका क्या अन्त है हम कुछ नहीं जानते। मनुष्यको किसी अवस्थामें चैन नहीं है। शैशवावस्था मोहपूर्ण और दुःखदायी है। युवा अवस्था स्त्री रूपी मृगतृष्णाके पीछे दौड़नेमें नष्ट हो जाती है। वृद्धावस्थामें सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। काल सबको खा जाता है। तब फिर किस लिये मनुष्य संसारके पीछे दौड़ता रहता है? हे ब्रह्मन्, मुझे तो संसार-की किसी भी वस्तुकी वाञ्छा नहीं है। न मुझे इस जीवनसे कुछ प्रेम है—क्योंकि मुझे इसमें कुछ भी सार नहीं दिखाई पड़ता। यदि आप जानते हों तो, कोई ऐसा मार्ग बताओ जिससे मुझे परम शान्ति और परमपदकी प्राप्ति हो। मुझे आप वह मार्ग बताओ जिसपर चलनेसे मुझे संसाररूपी गड्ढेमें न गिरना-पड़े, जिससे मैं संसारमें रहते हुए भी संसारके दुःखोंमें न फँसूँ। यदि आप मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं बतलायेंगे, तो मैं स्वयं अपने आप ही सोचकर किसी ऐसे उपायको ढूँढूँगा। और यदि मैं अपने निजके प्रयत्नसे भी संसारसे बाहर न हो सका और परमपद और सत्यकी प्राप्ति न कर सका, तो, मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जलका त्याग करके एक स्थानपर बैठकर चिन्तन करते करते इस शरीरका त्याग कर दूँगा।

वसिष्ठ और विश्वामित्र रामचन्द्रजीकी इस तीव्र जिज्ञासाको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजीने रामचन्द्रको उस तत्वज्ञान-का उपदेश दिया जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। इस उपदेशको सुनकर रामचन्द्रजीको आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुई और वे जीवन्मुक्त होकर परम आनन्दको प्राप्त हुए, और संसारमें, जलमें कमलकी नाईं रहकर आदर्श पुरुष बने। रामचन्द्रजीके जीवनको आदर्श बनाने-वाला वसिष्ठजीका उपदेश ही **योगवासिष्ठ** नामक ग्रंथका विषय है।

३—शुककी कथा

श्रीरामचन्द्र जीका विवेक और वैराग्य और तत्त्वज्ञानके लिये उनकी तीव्र जिज्ञासा देखकर विश्वामित्र रामसे बोले—हे राम! तुम तो तत्त्वज्ञानके योग्य अधिकारी हो, तुमको ज्ञान प्राप्त करनेमें कुछ भी आयास और समय नहीं लगेगा। तुम्हारा अज्ञानका परदा

वहुत ही पतला हो गया है, वसिष्ठजीके उपदेश मात्रसे ही तुम्हारा अज्ञान नष्ट होकर आत्मज्ञानका प्रकाश होगा, और तुम जीवन्मुक्त होकर इस संसारमें जीवन व्यतीत करोगे। व्यासके पुत्र शुककी नाईं तुम ज्ञानके उत्तम अधिकारी हो और उनकी नाईं ही तुमको क्षणभरमें ज्ञान हो जावेगा।

रामने पूछा—हे मुने! शुकके ज्ञान प्राप्त होनेकी कथा आप मुझे सुनाइये।

विश्वामित्र वोले—

भगवान् व्यासके पुत्र शुक सब शास्त्रोंमें निपुण थे। एक समय उनके मनमें यह विचार आया कि मैंने सब कुछ पढ़लिया, किन्तु अभी तक मुझे न परमानन्दका ही अनुभव हुआ और न यही मालूम हुआ कि यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे इसकी निवृत्ति होगी। यह सोचकर कि उनके पिता व्यासजी सर्वज्ञ हैं वे ही उनकी शङ्काओंकी निवृत्ति करेंगे, शुक अपने पिताके पास गए और उनके सन्मुख उन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की। व्यासजीने उनको कहा—पुत्र! मैं सर्वतत्त्वज्ञ नहीं हूँ, राजा जनक सर्वतत्त्वज्ञ हैं। तुम उनके पास जाओ। वे ही तुम्हारी शंकाओंकी निवृत्ति करेंगे। शुकदेवजी पिताकी आज्ञा पाकर मिथिला नगरी पहुँचे, और राजा जनकके द्वार-पर आकर उन्होंने द्वारपालसे राजासे मिलनेका आशय प्रकट किया। द्वारपालने जाकर राजासे कहा कि द्वारपर शुकदेवजी खड़े हैं और आपसे मिलना चाहते हैं। जनक समझ गए कि शुकदेवजी तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त आए हैं। कुछ सोचकर उन्होंने कहा—खड़े रहने दो। शुकदेवजी सात दिन तक द्वार परही खड़े रहे। आठवें दिन राजाने पूछा—शुकदेवजी खड़े हैं या चले गए? द्वारपालने कहा—महाराज वे तो उसी प्रकार निश्चल और निस्तब्ध खड़े हैं जैसे कि आनेवाले दिन थे। राजाने कहा—उनको ले आओ और अन्तःपुरमें रानियों और सुंदर स्त्रियोंके मध्यमें उनको रखकर उत्तम प्रकारके भोजन कराओ और सब प्रकारके भोग भुगवाओ। शुकदेवजी इस परिस्थितिमें भी सात दिन रहे, किन्तु न उनको वहाँ रहनेसे हर्ष हुआ और न शोक। न किसी वस्तुसे उनको घृणा हुई, और न किसीके लिये इच्छा। राजाको उनके व्यवहारकी सब सूचना मिलती रही। आठवें दिन फिर राजाने उनको अपने पास बुलवाया। शुकदेवजीने

जनकको आदरके साथ प्रणाम किया। जनकने कहा—शुकदेवजी, आप किस लिये यहाँ पर आए हैं। शुकदेवजी बोले—राजन् मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह संसार कैसे उत्पन्न होता है और किस आधारपर स्थित है और कैसे इसका क्षय होता है। क्या इससे बाहर निकलकर शान्त और निश्चल आनन्दमें स्थित रहनेका भी कोई उपाय है? राजा बोले, हे शुक! यह संसार अपने चित्तमें ही उत्पन्न होता है और चित्तके निःसंकल्प, निर्वेद, अथवा निस्फुरण होनेसे क्षीण होता है। चित्तके संकल्पमें ही इसकी स्थिति है। दृश्यके लिये जब तक मनमें वासना है तभी तक संसारका अनुभव होता है। वासनाका सर्वथा क्षय होनेसे ही आत्मानुभव होकर परमानन्दमें स्थिति होती है। यह सुनकर शुकदेवजी मिथिलासे सुमेरु पर्वतपर चले गए और वहाँ जाकर निर्विकल्प समाधिका अनुभव करके निर्वाणपदमें स्थित हुए।

४—वसिष्ठजीकी उत्पत्ति और ज्ञानप्राप्तिकी कथा

शुकदेवजीकी ज्ञानप्राप्तिकी कथा सुनकर रामचन्द्रजीकी तत्त्वज्ञान प्राप्तिकी इच्छा और भी तीव्र हो गई। उन्होंने वसिष्ठजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की। वसिष्ठजीने कहा! मैं तुमको आज उस पूर्ण ज्ञानका उपदेश देना आरम्भ करूँगा जो कि मुझे सृष्टिके आदिमें ब्रह्माने दिया था। उसकी कथा इस प्रकार है:—

जब कमलयोनि ब्रह्मा इस जगत्‌की सृष्टि कर चुके और संसार में मनुष्य कर्मके नियमानुसार सुखदुःखके भँवरमें फँस गए, तो उनको मनुष्योंकी इस दीन दशाको देखकर बहुत करुणा उपजी। उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय मनुष्योंको बताना चाहिए जिसके द्वारा वे इस संसार चक्रसे निवृत्त होकर परमानन्दकी प्राप्ति और अनुभव कर सकें। यह सोचकर उन्होंने तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ इत्यादि उपायोंकी रचना की, किन्तु उनको यही जान पड़ा कि इनमेंसे कोई भी उपाय ऐसा नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य निर्वाण नाम परम सुखकी प्राप्ति कर सके। वे फिर सोचने लगे, और उनके ध्यान करते करते उनके संकल्प द्वारा उत्पन्न होकर अक्षकी माला और कमण्डलु धारण किए हुए एक सर्वज्ञ देहधारी मनुष्य उनके सामने खड़ा होकर उनको प्रणाम करने लगा। उनका वह मानसपुत्र

मैं ही वसिष्ठ था। मुझे देखते ही ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उनको यह अच्छा नहीं लगा कि मैं सर्वज्ञ था, क्योंकि मेरे सर्वज्ञ होनेसे मुझे अज्ञजनोंके प्रति करुणा कैसे आती—जो अज्ञ रहकर सर्वज्ञता को प्राप्त होता है वही अज्ञजनोंके दुःखोंसे अनुदुःखित हो सकता है—इसलिये मुझे उन्होंने शाप दिया कि कुछ कालके लिये मैं अज्ञ हो जाऊँ। मैं अज्ञ हो गया, और पिता ब्रह्मासे मैंने आत्मज्ञान और तत्त्व-ज्ञान देनेकी प्रार्थना की और कहा—हे भगवन्! इस महादुःखदायी संसाररूपी व्याधिकी ओषधि बताओ। कैसे यह संसार उदय होता है और कैसे इसका क्षय होता है? ब्रह्माजीने मुझे इन सब प्रश्नोंका विस्तारपूर्वक उत्तर दिया, और थोड़े ही समयमें मुझे समस्त तत्वज्ञान प्राप्त हो गया। तब ब्रह्माजीने मुझे यह आज्ञा दी कि मैं जम्बू-द्वीपके भारतवर्ष नामक देशमें जाकर वास करूँ, और संसारके लोगोंके कल्याणके निमित्त उस तत्वज्ञानका प्रचार करूँ, जो कि मुझे ब्रह्माने दिया था, ताकि कुछ लोग जिनको संसारसे विरक्ति हो गई है, आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्वाण पद प्राप्त करें। मुझे आज्ञा मिली है कि जो पुरुष कर्मपरायण है और संसारके उत्तम उत्तम भोगोंका भोग करना चाहते हैं, उनको मैं कर्मकाण्डका मार्ग बतलाऊँ; और जो संसारसे विरक्त हो गए हैं और संसार समुद्रके पार निर्वाण पदमें स्थित होना चाहते हैं उनको ज्ञानका मार्ग बतला-कर जीवन्मुक्त बनाऊँ। इस प्रकार हे राम! मैं परमपिता ब्रह्माजी-का नियुक्त किया हुआ यहाँपर स्थित हूँ। तुम ज्ञानके उत्तम अधिकारी हो, इसलिये तुम्हें मैं वह सम्पूर्ण ज्ञान जो कि पिताजीने मुझे दिया था दूँगा। उसको सुनकर तुम परमानन्दको प्राप्त होगे और जीवन्मुक्त होकर संसारमें विचरोगे।

५—आकाशजकी कथा

रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीके सन्मुख अपने वैराग्यकी दशाको वर्णन करते हुए संसारमें मृत्युके साम्राज्यका वर्णन किया था, और यह बतलाया था कि कोई पुरुष भी ऐसा नहीं है जिसको काल न खाता हो। वसिष्ठने सबसे पहिले रामचन्द्रजीको यही बतलाया कि मृत्यु केवल अज्ञानी जीवके लिये ही है जिसने कि अपने आपको मरणशील भौतिक देह ही मान रक्खा है। जो जीव वासनापूर्वक

कर्म करता है वही मृत्युका भाजन है क्योंकि उसको अपनी वासनाओंकी पूर्ति करने और अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही दूसरी परिस्थितियोंमें जन्म लेना होता है। जो तत्वज्ञानी है, जिसके मनमें संसारके विषयोंके लिये लेशमात्र भी वासना नहीं है, जो सकाम कर्म नहीं करता, अपने आपको सदा ही चिदाकाशमें स्थित रखता है, और भौतिक शरीरका अभिमानी नहीं है, उसके लिये मृत्यु कोई चीज़ ही नहीं है। मृत्यु उसको स्पर्श करनेमें भी असमर्थ है। इस विषयमें वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको आकाशजकी कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

आकाशज नामका एक ब्राह्मण था। उसकी उत्पत्ति शुद्ध चिदाकाशसे, बिना किसी पूर्व कर्म किए, लीला मात्रसे हुई थी। उत्पन्न होकर भी वह सदा ही अपने चिदाकाश स्वरूपमें स्थित रहता था, किसी विषयके लिये उसके हृदयमें वासना नहीं थी, और न वह किसी कामनासे प्रेरित होकर कोई कर्म करता था। इस प्रकारका जीवन विताते हुए उसको जब बहुत समय बीत गया तो मृत्युको ख़याल आया कि यह ब्राह्मण बहुत समयसे जीवित है, अभी तक मरा नहीं, इसको अब मारना चाहिए। मृत्युने उसको मारनेका बारम्बार प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रही। अपनेको अपने नित्यके धर्मका पालन करनेमें इतनी असमर्थ पाकर मौतको आश्चर्य, खेद, और क्रोध, सभी कुछ हुआ। जब अपनी असफलताका कारण मृत्युकी समझमें न आया, तो वह अपने स्वामी यमराजके पास पहुँची, और उनके प्रति अपने विस्मय और अपनी असफलताका हाल कहा। उसको सुनकर यमराज बोले—हे मौत तू तो निमित्तमात्र है। तू किसीको भी नहीं मार सकती, केवल प्राणियोंके कर्म ही उनको मारते हैं। जिसने वासनात्मक कर्म किए हैं वही तुम्हारा शिकार होता है। जाओ, आकाशज ब्राह्मणके कर्मोंकी तलाश करो। यदि तुमको उसका कोई भी कामनापूर्वक किया हुआ कर्म मिल गया, तो तुम उसको मारनेमें समर्थ हो सकोगी, अन्यथा नहीं। मौतने ख़ुफिया पुलिसकी नाईं, ब्राह्मणके साथ गुप्त रूपसे रहकर उसके जीवनका निरीक्षण किया, और उसके पूर्वकालीन जीवनका भी भलीभाँति हाल जाना, किन्तु उसको आकाशज ब्राह्मणके जीवनमें एक भी वासनात्मक कर्म नहीं

मिला। उसकी स्थिति सदा ही आत्मभावमें रहती थी। किसी विषयके प्रति उसकी वासना नहीं थी। उसके चित्तमें कोई भी ऐसी कामना नहीं थी जिसकी सिद्धिके लिये वह कोई कर्म करता हो। उसके सारे काम स्वभावप्रेरित थे। वह संसारकी किसी वस्तु और प्राणीको भी अपनेसे भिन्न और बाहर नहीं समझता था। उसको क्षणभंगुर देह और मनके साथ आत्मत्वका अभिमान नहीं होता था। अब मृत्युकी समझमें आ गया कि आकाशजका जीवन क्यों उसके क़ाबूसे बाहर है। वह यमराजके पास गई और उनसे यह बोली कि जो आप कहते थे ठीक निकला। मैं किसीको नहीं मारती। प्राणियोंके कर्म ही उनको मारते हैं।

६—लीलाका उपाख्यान

लीलाका उपाख्यान योगवासिष्ठके सर्वश्रेष्ठ और सबसे लम्बे उपाख्यानोंमें से है। इसके द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रको बहुत सी गूढ़ और विचित्र बातोंका उपदेश दिया है। मृत्यु क्या है? मृत्युके पीछे क्या होता है? सृष्टिके भीतर सृष्टि और उसके भीतर भी सृष्टि–इस प्रकार अनन्त सृष्टियोंके होनेका वृत्तान्त, वासनाके अनुसार आगामी जीवनका बनना–इत्यादि अनेक रहस्योंका इस उपाख्यानमें वर्णन है। उपाख्यान बहुत बड़ा है प्रत्येक पाठकको यह उपाख्यान योगवासिष्ठमेंसे पढ़ना चाहिए। यहाँ पर हम इसका बहुत संक्षेप से ही वर्णन कर सकते हैं।

पृथ्वीमण्डल पर किसी समय पद्म नामका एक राजा राज्य करता था। वह बहुत ही योग्य और सर्वगुणसम्पन्न था। उसके अनुरूप गुणशीलवाली उसकी रानी थी, जिसका नाम लीला था। लीला अपने स्वामीमें बहुत अनुरक्त थी और कल्पनामें भी कभी उससे जुदा होकर रहना नहीं चाहती थी। वह यही चाहती रहती थी कि उसका स्वामी सदा जीवित रहे, कभी उसकी मृत्यु न हो। लीलाने अपने नगरके सर्वोत्तम पण्डितोंको बुलाकर यह पूछा कि कौन सा उपाय ऐसा है जिससे मनुष्य मृत्युके मुखमें न जाए। विद्वानोंने कहा–हे देवि कोई उपाय ऐसा नहीं है जिससे संसारी मनुष्य उत्पन्न होकर मरे नहीं; जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही नाशको प्राप्त होता है। लीला निराश होकर सरस्वती देवीकी उपासना करने लग गई। सरस्वतीने प्रसन्न होकर वर मांगनेको

कहा। लीलाने सरस्वतीसे यह वर माँगा कि यदि उसके स्वामीकी मृत्यु उससे पहिले हो जाए तो उनका जीव उसके कमरेमें ही रहे, उससे बाहर न जाने पाए। सरस्वती देवी यह वर देकर और यह कहकर कि जब लीला उसको याद करेगी वह प्रकट हो जाया करेगी, अन्तर्धान हो गई। समय आनेपर पद्मकी मृत्यु हो गई। लीला बहुत दुःखी और शोकातुर होकर रोने लगी। एक आकाशवाणीने उसको बतलाया कि घबरानेकी ज़रूरत नहीं है, राजाका जीव उसके कमरेमें ही मौजूद है। राजाके शवको यथाविधि उस समय तक सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करना चाहिए जब तक कि वह उनके प्राण लौटनेपर पुनर्जीवित न हो जाए। लीलाको यह आकाशवाणी सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सरस्वतीका ध्यान किया, और सरस्वती देवी अपने वचनके अनुसार आ उपस्थित हुई। लीलाने देवीसे पूछा कि उसके स्वामी अब कहाँ हैं। देवीने कहा कि वे इसी कमरेमें हैं, किन्तु दूसरी सृष्टि में हैं, जो कि इस सृष्टिसे सूक्ष्म है और जो इसके भीतर है। लीलाको सरस्वतीने बतलाया कि एक जगतके भीतर दूसरा जगत और उसके भीतर एक तीसरा जगत–इस प्रकार यह सिलसिला अनंत तक जारी है। एक सृष्टि दूसरी सृष्टि वाले जीवोंके लिये शून्य है। लेकिन यदि कोई जीव दूसरी सृष्टिके व्यवहारको देखना चाहे तो इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लीला यह सुनकर अपने पतिको उसकी वर्त्तमान सृष्टिमें देखनेको बहुत उत्सुक हो गई। यह देखकर सरस्वती देवीने उसको वह रीति बतलाई जिसके द्वारा वह दूसरी और सूक्ष्मतर सृष्टियोंमें प्रवेश और वहाँ होने वाले व्यवहारोंका निरीक्षण कर सके।

तब सरस्वती और लीला दोनोंने उस लोकमें प्रवेश किया जिसमें कि पद्म उस समय अपने वासनायुक्त पूर्व कर्मोंका भोग कर रहा था। पद्मको मरे हुए इस सृष्टिमें कुछ क्षण ही हुए थे, किन्तु जिस सृष्टिमें वह उस समय था जब कि लीला और सरस्वती उसको देखती हैं, वहाँ पर वह एक १६ वर्षकी अवस्थाका राजा बना हुआ एक विशाल राज्यपर राज कर रहा था।

लीलाको यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने थोड़े समयमें १६ वर्ष कैसे व्यतीत हो गए और उसके कमरेके भीतर

ही सारी सृष्टि और बहुत बड़ा साम्राज्य कैसे दिखाई देता है। सरस्वतीने लीलाको समझाया कि देश और कालके अणु अणुके भीतर महान् महान् जगत् हैं, और सारे जगतोंके देश और कालका हिसाब एक ही नहीं है। जो घटना एक सृष्टिके एक क्षणमें हो जाती है, वह दूसरीके एक कल्पमें होती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने बिस्तरपर पड़ा हुआ एक क्षणमें सालोंतक होनेवाले स्वप्नके व्यवहारोंका एक अनन्त संसारक्षेत्रमें अनुभव कर लेता है उसी प्रकार सब सृष्टियोंका हाल है। सरस्वतीने लीलासे कहा—इसमें तुमको क्या आश्चर्य होता है, इससे अधिक आश्चर्यकी तो यह बात है कि कुल एक सप्ताह भी नहीं व्यतीत हुआ कि तुम्हारे स्वामी पद्म बननेसे पहिले एक ब्राह्मण थे और तुम उनकी पत्नी थीं। यदि तुमको विश्वास न हो तो आओ मैं तुमको दिखलाती हूँ कि उस ब्राह्मण दम्पतीकी कुटिया अब खाली पड़ी है और उसके लड़के बाले अभी उसको मृत्युका शोक कर रहे हैं। लीलाको यह बात सुनकर वह स्थान देखनेकी बहुत उत्सुकता हुई। सरस्वती लीलाको उस सृष्टिमें ले गई।

वहाँपर जाकर लीलाने वह झोंपड़ी देखी जिसमें कि ब्राह्मण वसिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती रहते थे। एक दिन वसिष्ठने एक राजाकी सवारी बड़े ठाठबाटके साथ निकलती देखी। उसको देखकर उनके मनमें एक तीव्र वासना उस सुख और वैभवको भोगनेकी हुई जो कि राजाओंको प्राप्त होता है। उसी दिन ब्राह्मणका शरीर छूट गया। अरुन्धतीने भी यह वर माँग रक्खा था कि यदि ब्राह्मण उससे पहिले मर जाय तो उसका जीव उसकी झोंपड़ीसे बाहर न जाने पाए, और सदा उसका और उसके पतिका साथ रहे। ब्राह्मणके मरनेपर उसकी पत्नीको बहुत दुःख हुआ और उसकी चितापर बैठकर वह सती हो गई। सरस्वतीने लीलासे कहा कि यह सब वृत्तांत केवल एक सप्ताह व्यतीत हुए हुआ था। वह ब्राह्मण तुम्हारे पति पद्मके रूपमें और ब्राह्मणी तुम्हारे रूपमें इस सृष्टिमें राज्यका सुख भोगनेके लिये उत्पन्न हुए थे। तुम दोनोंका जीव उस कुटियासे बाहर नहीं गया। लीलाको बहुत आश्चर्य हुआ और यह जाननेकी उत्सुकता बढ़ी कि वह उससे पहिलेके जन्मोंमें क्या थी और कहाँ थी। सरस्वतीकी सहायतासे उसको अपने सब पूर्व जन्मोंका ज्ञान उदय हो गया।

अब सरस्वती और लीला दोनों उस लोकमें लौटीं जहाँपर पद्म विदूरथ राजाके रूपमें राज्य कर रहा था। उनको यह देखकर बहुत विस्मय हुआ कि अब राजा विदूरथ ७० वर्षकी अवस्था के दिखाई पड़ते हैं। उसकी वर्त्तमान स्त्रीका नाम भी लीला है। क्योंकि वह लीलाको बहुत चाहता था, इसलिये उसको इस जन्ममें भी लीला ही मिली। लीला और सरस्वती राजा विदूरथके एकान्तवासके समय उनके सामने प्रगट हुई और उनको उनके पूर्व जन्मके पद्मरूपकी याद दिलाई। विदूरथके चित्तमें पद्म होनेकी वासना उदय हो आई। इसी समय दूसरी लीलाने भी सरस्वती देवीसे यह वर माँग लिया था कि अगले जन्ममें वह अपने पतिकी पत्नी बने। कुछ समयके पीछे विदूरथके राज्यपर बाहरसे आक्रमण होने लगे और एक बड़ा संग्राम छिड़ गया। इस संग्राममें राजा विदूरथ मारा गया। उसका जीव जो कि लीलाके कमरेसे कभी बाहर नहीं गया था, वहाँपर सुरक्षित पड़े हुए शवमें प्रविष्ट हो गया, और पद्म नामक देह जाग उठी। पद्मने उठते ही अपनी पुरानी दुनियाका अनुभव किया और अपने सामने दोनों लीलाओंको, जिनमें उसकी वासना थी, खड़े हुए पाया। अपनी दोनों पत्नियोंके साथ सुखसे फिर कुछ काल तक पद्मने जीवन व्यतीत किया।

वसिष्ठने रामचन्द्रसे कहा कि जो कुछ हमारे जीवनमें होता है सब हमारी वासनाओंके अनुसार ही होता है। जीवन-मरण, साथी सङ्गी, लोक-लोकान्तर सब हमारी वासनाओंके बनाए बनते हैं।

७—कर्कटी राक्षसीकी कहानी

मूर्ख लोग दुःख भोगने और मरनेके लियेही जीते हैं। जिसने अपने आत्माको नहीं जाना, उस मूर्खका जीवन ही मृत्यु है। ब्रह्माने सृष्टिके आदिसे यह नियम बना रक्खा है कि हिंस्र जीवों (दरिन्दों) के भक्षणके लिये मूढ़ प्राणी हैं, आत्मज्ञानी जन नहीं हैं। संसारमें जो उदार गुणोंवाले देहधारी हैं, वे इस पृथ्वी तल पर वर्त्तमान चन्द्रमा हैं; वे अपने सङ्गसे सबको शीतलता प्रदान करते हैं। सारे गुणोंसे उत्तम गुण अध्यात्मविद्या है; उसको जाननेसे ही राजा राजा होता है और मन्त्री मन्त्री होता है; अन्यथा नहीं।

इन सिद्धान्तोंको समझानेके लिये श्रीवसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको

कर्कटी (विषूचिका) का उपाख्यान सुनाया, जो संक्षेपतः इस प्रकार है। हिमालय पहाड़की उत्तरीय घाटीमें कर्कटी नामकी एक राक्षसी रहती थी। वह अन्य जीवोंको खाकर अपना पेट भरती थी। किन्तु बहुत दीर्घकाय होनेके कारण सदा ही भूखी रहती थी। इसलिये उसने उग्र तपस्या की और ब्रह्माको प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका आकार सूईके समान हो जाय। ब्रह्माने एवमस्तु कहा और तभीसे कर्कटीका आकार सूचिके समान हो गया और उसका नाम अब विषूचिका पड़ा। उसने इस विषूचिका रूपसे बहुतसे जीवोंका हनन किया। किंतु उसको रह रहकर यह पछतावा होता था कि बहुत बड़े बड़े जन्तुओंको मारनेपर भी उसके शरीरमें केवल एक छोटीसी बूँद खून जाता था। उसने फिर तपस्या की और ब्रह्माको प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका शरीर फिर उतना ही बड़ा हो जाए जितना कि पहिले था। ब्रह्माने यह वर देनेसे पहले उससे यह वादा करा लिया कि वह केवल मूढ़ जीवोंको ही मारकर अपना पेट भरेगी, ज्ञानीको कुछ नहीं कहेगी। कर्कटीने यह मालूम करनेके लिये कि कौन जीव मूढ़ है और कौन ज्ञानी है प्रश्नोंकी एक सूची तैयार की। जो जीव उसे मिलता उसीसे वह प्रश्न करती थी। उत्तर न पानेपर उसको भक्षण कर जाती थी। ऐसा करते करते जब उसको कुछ समय हो गया तो एक दिन उसको एक वनमें सैर करता हुआ एक किरात राजा दिखाई पड़ा। वह दौड़कर राजाके पास आई और उससे उसने अपने सब प्रश्न पूछे। राजा ब्रह्मज्ञानी था। उसने उसके सब प्रश्नोंका संतोषजनक और यथोचित उत्तर दे दिया। इसलिये उसने राजाको खानेसे छोड़ दिया और उससे मित्रता करना और उसके संग रहना चाहा। राजाकी आज्ञासे उसने अपना कुरूप वेष त्याग कर सुन्दर शरीर धारण किया और सुन्दर वस्त्र और भूषणोंसे अलंकृत होकर वह राजमहलमें रहने लगी। राजाके राज्यमें जो लोग पाप और अधर्म करते थे और जिनको राजदरबारसे मृत्युदण्ड मिलता था, वे उसको खानेके लिये दिए जाते थे। इस प्रकार वह कुछ दिन शान्तिसे जीवन बिताकर उत्तम गतिको प्राप्त हुई।

८. इन्दु ब्राह्मणके लड़कोंकी कथा

जीव केवल संकल्पमय है। जो संकल्प इसके हृदयमें दृढ़ हो

जाता है वह ही बाह्यआकार धारण कर लेता है। संकल्पमय चित्त जिस प्रकारके जगत्की कल्पना करता है, वैसा ही समस्त जगत् क्षणमें निर्मित हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड मनकी ही कल्पना है, और प्रत्येक मनमें जगतके रचनेकी सामर्थ्य है। इस सिद्धान्तको प्रतिपादन करते हुए वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको ब्रह्माके मुख द्वारा सुनी हुई इन्दु ब्राह्मणके लड़कोंकी कथा, जो संक्षेपतः इस प्रकार है, सुनाईः—

एक समयकी बात है कि जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपनी महाप्रलयकी निद्रासे जागकर जब नई सृष्टिकी रचना करनेको ही थे तो उनको मालूम पड़ा कि सृष्टि तो पहिलेसे रची हुई है। उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ। जो सृष्टि उनको दिखाई पड़ी उसके सूर्यसे उन्होंने पूछा कि यह सृष्टि मेरे रचनेसे पहले ही कहाँसे आ गई। सूर्यने कहा, हे देव एक ही सृष्टि नहीं, ऐसी ऐसी दस सृष्टियाँ आपके रचे बिना ही रची गई हैं। ब्रह्माने विस्मयके साथ पूछा कि इनके रचने-वाले कौन हैं? सूर्य देवने कहा—

भगवन् आपकी पूर्वरचित सृष्टिमें कैलाश पर्वतके नीचे जो जम्बूद्वीप था उसमें स्वर्णजट नामका एक प्रान्त था। वहाँ पर इन्दु नामका एक बहुत पवित्र ब्राह्मण और उसकी सुयोग्य पत्नी वास करते थे। उनके यहाँ जब बहुत काल तक कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने तप करके शिवजी महाराजसे वर पाया कि उनके यहाँ १० महामना बालक होंगे। ऐसा ही हुआ। कुछ काल जीकर वह ब्राह्मण मर गया। पुत्रोंको उसके मरनेका बहुत दुःख हुआ। सबने इकट्ठा होकर यह सोचा कि पिताजीकी यादगार क़ायम रखनेके लिये कोई ऐसा बड़ा काम करना चाहिए जो आजतक किसी मनुष्यने न किया हो। सोचते सोचते वे इस प्रस्ताव पर आए कि उन दसोंको १० ब्रह्मा बनकर दस सृष्टियोंकी रचना करनी चाहिए। यह धारणा करके वे लोग पद्मासन जमाकर समाधिमें बैठकर यह संकल्प करने लगे कि वे ब्रह्मा हैं और सृष्टिकी उत्पत्ति कर सकते हैं। यथोचित समय बीतने पर वह संकल्प दृढ़ हो गया और १० सृष्टियोंकी रचना हो गई।

यह सृष्टियाँ तब तक क़ायम रहीं जब तक कि उनके संकल्पकी शक्ति क्षीण न हुई।

६. अहिल्या रानी और उसके प्रियतम इन्द्रकी कहानी

मनके किसी वस्तु पर स्थिर हो जानेमें कितना आनन्द है और स्थिर चित्त वाले प्रेमीको शरीरके दुःखोंका किस प्रकार भान नहीं होता–यह बात अहिल्या और इन्द्रकी कथासे ज़ाहिर है। कथा संक्षेपसे इस प्रकार है:—

मगध देशमें इन्द्रद्युम्न नामका एक बड़ा प्रतापी राजा था। उसकी स्त्री अहिल्या, बहुत रूपवती थी। उसी नगरमें इन्द्र नामक एक अत्यन्त बुद्धिमान ब्राह्मण कुमार रहता था। रानीने उस ब्राह्मण कुमारकी प्रशंसा सुनकर उसको देखना चाहा। किसी सखी द्वारा ब्राह्मण कुमार इन्द्रके दर्शन कराए जाने पर वह उसकी परम अनुरागिणी बन गई, और यह चाहने लगी कि इन्द्र उसका होकर उसके ही साथ रहे। वह उसमें इतनी अनुरक्त हो गई कि सारे जगत्को वह तन्मय ही देखने लगी—"ततस्तदनुरक्ता सा पश्यन्ती तन्मयं जगत्"—किसी प्रकारसे उसने अपने पास इन्द्रको बुलाया और उससे अपने हृदयका प्रेम प्रकट किया। इन्द्र भी रानीमें अनुरक्त हो गया, और सारे संसारको भूलकर उसीके ध्यानमें रहने लगा।

अहिल्याको इन्द्रका ध्यान करनेमें और इन्द्रको अहिल्याका ध्यान करनेमें अलौकिक आनन्दका अनुभव होता था, और एककी दूसरेसे मिलनेकी सदा ही चाह रहती थी। रानी जब कभी अवसर पाती इन्द्रको बुला लेती और उसके साथ आनन्दसे समय बिताती। यह बात धीरे धीरे राजाको भी मालूम हो गई। राजाने उन दोनोंका विच्छेद करानेका यथाशक्ति यत्न किया किन्तु असफल रहा। उसने उन दोनोंको हर एक प्रकारका शारीरिक दुःख दिया—मत्त हाथीके पैरोंमें डलवा दिया, कोड़ोंसे पिटवाया, अन्न-जल न मिलने दिया—पर उन दोनोंका ध्यान एक दूसरेपर इतना लगा हुआ था कि शरीरके कड़ेसे कड़े दुःखका उनको भान नहीं हुआ।

इन्द्रने राजासे कहा कि मेरा जगत तो अहिल्यामय है। आपने जो सैकड़ों दुःख मुझे दिए हैं वे मुझे मालूम ही नहीं पड़े। और अहिल्याका जगत् मन्मय है अर्थात् वह सब जगह मुझे ही देखती है, इसलिये उसको भी किसी दूसरेके दुःख देनेसे ज़रा भी दुःख नहीं मालूम होता।

राजाको बहुत खेद हुआ क्योंकि वह उनदोनोंको सब प्रकारका कष्ट देने पर भी उनको एकदूसरेके मनसे दूर न करा सका। तब राजाने भरत नामके मुनिके पास जाकर और सब हाल कहकर उनसे यह प्रार्थना की कि वे उन दोनोंको शाप दें। भरतने उनको शाप दिया कि वे नष्ट हो जाएँ। उन दोनोंने भरत और राजासे कहा—इस शापसे हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। ज्यादासे ज्यादा यह शाप हमारे शरीर हीको नष्ट कर देगा। शरीरकी तो हमें कुछ सुध बुध ही नहीं। हमारे मनोंको जो एक दूसरेके ध्यानमें अचल हैं शाप नष्ट नहीं कर सकता। ये दोनों मन जहाँ भी रहेंगे शरीरोंकी पुनः रचना कर लेंगे।

दोनों शरीर शापके कारण भूमिपर सूखे वृक्षोंकी नाईं गिर पड़े। दोनों मृग योनिमें पैदा होकर एक दूसरेसे प्रेम करते रहे। इसके पीछे दोनों पक्षी होकर एक दूसरेमें रत रहे। फिर दोनों ब्राह्मण दम्पतिके रूपमें आए। इसके पीछे भी उनके अनेक जन्म हो चुके हैं लेकिन हर जन्ममें वे एक दूसरेको प्रेम करते हैं।

१०—चित्तोपाख्यान

संसारके जितने सुख दुःख हैं वे सब चित्तके अधीन हैं। बन्ध और मोक्ष भी चित्तकी ही अवस्थाएँ हैं। जो चित्त वासनाओंकी पूर्त्तिके लिये इधर उधर दौड़ता रहता है उसको कभी चैन नहीं मिलती, जिसने वासनाओंसे निर्मुक्ति पा ली है वही चित्त शुद्ध ब्रह्म बनजाता है, और अनुपम परमानन्दका अनुभव करता है—इन बातोंको समझाते समय वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको चित्तोपाख्यान (चित्तकी कहानी) सुनाया, जो इस प्रकार है:—

हे राम! एक बहुत बड़ा, शान्त और भयानक वन है। एक समय उसमें विचरते हुए मैंने एक विचित्र पुरुष देखा। वह पुरुष बहुत बड़े शरीर वाला, सहस्रों आखों और हाथों वाला था। उसकी क्रियाएँ पागलकी क्रियाओंकी नाईं देख पड़ती थीं। वह कभी इधर दौड़ता था, कभी उधर; कभी रोता था, कभी हँसता था; कभी नाचता था, कभी शोकातुर होकर गिर पड़ता था। उसकी सहस्रों आखें उसको सहस्रों विषयोंका दर्शन कराती थीं, जिनकी प्राप्तिके लिये वह अधीर होकर चारों ओर दौड़ता रहता था, और किसी

एक विषयपर स्थिरमति होकर उसका आस्वादन नहीं कर पाता था। किसी विषयकी प्राप्ति न होनेपर अथवा उस विषयसे वह आनन्द प्राप्त न होनेपर जिसकी कि वह उस विषयसे आशा करता था, वह इतना क्रुद्ध हो जाता था कि वह अपने सहस्रों हाथोंसे अपनी देहको खूब ज़ोरसे पीटने लगता था। ऐसा करते करते वह इतना भयभीत हो जाता था कि वह अपने को सुरक्षित रखनेके लिये किसी एकान्त और घने कुञ्जकी शरण लेनेके लिये उत्सुक होता था। किन्तु रोते रोते उसकी दृष्टि और विवेकबुद्धि इतनी मन्द पड़ जाती थी कि वह अन्धेकी नाईं करञ्जुवेके घने कुञ्जमें प्रवेश करके उसके कांटोंसे विदीर्ण होता था और चिल्लाने लगता था। उसके शरीरमें इतनी वेदना होती थी कि उसको मिटानेके लिये वह एक कुएँमें कूद पड़ता था। वह कुआँ अन्धेरे और विषैले जन्तुओंसे भरा हुआ था और उसमें से नाकको दुःख देनेवाली दुर्गन्ध आती थी। रातभर उसमें किसी तरह रहकर प्रातःकाल फिर वह उस कूपसे बाहर निकलकर अपने बेचैन जीवनका आरम्भ करता था। घूमते फिरते कभी कभी उसको केलेका शीतल और सुगन्धित वन मिल जाता था जिसमें वह घड़ी दो घड़ी विश्राम और भरपेट भोजन पा लेता था। लेकिन वहांपर भी उसको शान्ति नहीं मिलती थी। वहांसे भागकर फिर इधर उधर मारा मारा फिरता था। मैंने यह भी विचित्र बात देखी कि मेरे यत्न करनेपर भी वह मेरे सन्मुख नहीं होता था। हर समय वह मेरी निगाहसे बचकर चलता था। एक समय ऐसा हुआ कि बहुत यत्न करनेपर मैंने उसको अपने सामने बुलाया और एक दृष्टि उसके ऊपर डाली। देखते देखते ही उसके सहस्रों हाथ और नेत्र क्षीण होने लगे। थोड़े ही समयमें उसका सारा शरीर छिन्न भिन्न हो गया और वह मेरे हृदयमें प्रविष्ट होकर शान्त हो गया। मैंने तो यह जाना था कि उस वनमें ऐसा उन्मत्त पुरुष एक ही था और उसको मेरा दर्शन होते ही मुक्ति मिल गई। लेकिन फिर मुझे ऐसे पुरुष उस वनमें बहुतसे मिले। जो जो मेरे सन्मुख आए वे सब शान्त हो गए और जिन्होंने मुझसे मुँह छिपाया वे अभी तक उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे पूछा— हे ब्रह्मन्! वह वन कहाँ है और वह पुरुष कौन है? वसिष्ठजी बोले! हे रामजी! वह वन यह

संसार है और वह मत्त पुरुष मन है! सहस्रों नेत्र और हाथ मनकी अनन्त वासनाएँ हैं। वह अन्धकूप गृहस्थ है, करञ्जुवेका कुञ्ज नरक है और कदली वन स्वर्ग है। मैं जिसके सन्मुख होता हूँ वह मन शान्त और मुक्त हो जाता है। मैं विवेक हूँ। विचार और विवेक द्वारा ही मन शमनीभावको प्राप्त होकर निर्वाण और परमानन्दकी प्राप्ति करता है।

११—बालाख्यायिका

जो कुछ दृश्य संसार है वह सब केवल दृष्टि मात्र है। कल्पना और भ्रमसे अधिक इसकी सत्ता नहीं है। शून्य ब्रह्मकी भित्तिपर मनरूपी चित्रकारने ये सब चित्र बना रक्खे हैं। मनकी कल्पनाके अतिरिक्त इसमें कुछ भी सार नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नमें रचे हुए जगत्में कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है उस प्रकार ही इस संसार की स्थिति है। वस्तुतः तो जगत् है ही नहीं—मनने अपने भीतर ही इसकी कल्पना कर रक्खी है, और उस कल्पनाके वश होकर वह अपने आपको इतना भूल गया है कि उसको दृश्य पदार्थ ही सार और वास्तविक जान पड़ते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कि कोई बालक सर्वथा मिथ्या कहानी को सुनकर उसको सच समझकर उसमें सुख और दुःखका अनुभव करने लगता है। इस विषयको समझानेके लिये वसिष्ठने रामचन्द्रजीको एक वह कहानी सुनाई जो किसी दाईने एक बालकको सुनाई थी, और बालकने उस को सच्ची बात मानली थी। वह कहानी इस प्रकार है—

एक शून्य नामका नगर है। उसमें तीन राजपुत्र रहते थे, जिनमें-से दो तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे और एक गर्भमें भी नहीं आया था। वे विपत्तिमें पड़नेके कारण दुःखी होकर सोचने लगे और उन्होंने यह निश्चय किया कि बाहर जाकर धनोपार्जन किया जाए। बाहर जाकर मार्गमें उनको बहुत कष्ट हुआ और मार्गमें चलते चलते थककर भूख और प्याससे तंग होकर वे एक तीन वृक्षोंके कुंजकी छायामें जा बैठे। वे तीन वृक्ष ऐसे थे जिनमेंसे दो तो उपजे ही नहीं थे और एकका बीज भी नहीं बोया गया था। वहाँ पर बैठकर उन्होंने विश्राम किया और अमृतके समान सुस्वादु फलोंका भक्षण किया। थोड़ी देर बाद वहाँसे उठकर वे आगे बढ़े और बहुत सुन्दर, निर्मल और शीतल जल वाली तीन नदियाँ उन्हें दिखाई पड़ीं। वे नदियाँ

ऐसी थीं कि दो तो जलरहित थीं और एक सूख गई थी। तीनोंने उन नदियोंमें बड़े आनन्दके साथ स्नान क्रीड़ा की और जल पिया। फिर चलते चलते जब सायंकाल हो गया तो उनको एक भविष्य-नगर दिखाई पड़ा। उन्होंने उसमें प्रवेश किया, और उनको रहनेके लिये उस नगरमें तीन मकान मिले—जिनमेंसे दो तो अभी बने ही नहीं थे और तीसरेमें एक भी दीवार नहीं थी। वहाँ रहकर उन्होंने तीन ब्राह्मणोंको निमंत्रण दिया—जिनमेंसे दोके तो शरीर ही न थे और तीसरेके मुँह ही नहीं था। उन्होंने तीन थालियोंमें भोजन किया, जिनमेंसे दोमें तो तली ही नहीं थी और तीसरी चूर्णरूप थी। उस भविष्य नगरमें वे तीनों बालक आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताते रहे।

यह कहानी सुनाकर वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे कहा कि यह संसार भी इस कहानीकी नाईं है। केवल कल्पनापर ही इसकी स्थिति है। सार वस्तु जो कि कल्पित नहीं इसमें कुछ नहीं है।

१२—इन्द्रजालोपाख्यान

इन्द्रजालोपाख्यान योगवासिष्ठके सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानोंमें से है। इसके द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह बतलाया कि सारा जगत् मनके भीतर है। मन इसको एक निमेषमें उत्पन्न कर लेता है और एक निमेषमें लीन कर देता है। सारा दृश्य संसार स्वप्नके सदृश है। क्षणभरके स्वप्नमें वे सब घटनाएँ घटित हो जाती हैं जो कि बाह्य जगत्में, जो एक दूसरा स्वप्न है, युगों और कल्पोंमें होती हैं। जो कुछ बाह्य जगत्में होता है वही क्षण भरमें मनके अन्दर प्रतीत हो सकता है। संक्षेपतः इन्द्रजालोपाख्यान इस प्रकार है:—

इस पृथ्वीतलपर उत्तरपाण्डव नामका एकदेश था, उसपर लवण नामका एक बड़ा धर्मात्मा और प्रतापी राजा राज करता था। एक समय, जब कि राजा अपने दरबारमें बैठे हुए थे, वहाँपर एक इन्द्र-जाली (बाज़ीगर) आया और राजाको यथोचित प्रणाम करके बैठ गया। राजाने उसको अपना कौतुक दिखानेकी आज्ञा दी। इन्द्र-जालीने अपना पिटारा खोलकर उसमेंसे एक मोरकी पूँछका गुच्छा निकालकर राजाके सामने घुमाया। उसके घुमाते घुमाते राजाको निद्रा आगई और कोई दो घड़ी तक राजा मूर्च्छितसे होकर निद्रामें

पड़े रहे। सब दरबारी लोग सोचमें हो गए, और जादूगरको बुरा-भला कहने लगे। जागनेपर राजाने सब लोगोंके सम्मुख वह वृत्तान्त सुनाया जिसका कि उन्होंने उस दो घड़ीके समयमें अनुभव किया था। वह इस प्रकार था :—

मोरकी पूँछका गुच्छा घूमते देखकर राजाका ध्यान उस ओर ऐसा लगा कि उसको अपनी अवस्थाका विस्मरण हो गया और एक विचित्र दृश्य उसके सामने आया। उसने देखा कि एक दूसरे राजाका दूत एक बहुत तेज़ और सुन्दर घोड़ा लिए उनके सामने उपस्थित है। दूतने राजासे प्रार्थना की कि वह घोड़ा उनकी सवारीके लिये उसके राजाने भेंट रूपसे भेजा है। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उस घोड़ेपर सवार होकर बाहर निकले। घोड़ा बहुत तेज़ था। राजाको लेकर वह अति वेगसे भागा और रोके न रुका। राजा बैठे बैठे जब तंग आ गए और अपने राज्यसे बहुत दूर दक्षिण दिशामें विन्ध्याचलके जंगलमें पहुँच चुके, तब उन्होंने घोड़ेपर बैठे हुए ही एक पेड़की शाखाको पकड़ लिया और घोड़ेको छोड़ दिया। जब घोड़ा भाग गया तो वे पेड़से नीचे उतर कर विश्राम करनेके निमित्त बैठ गए। उनको इतनी भूख और प्यास लगी थी कि प्राण निकले जाते थे। चारों ओर देखा। कहींसे भी अन्न अथवा जलकी प्राप्तिकी सम्भावना न जान पड़ी। वे जीवनसे निराश हो ही चुके थे कि एक मलिन वस्त्रोंवाली काली और कुरूपा चाण्डाल कन्या एक बर्तनमें जामुनका रस और दूसरेमें पके हुए चावल भरे हुए मस्तानी चालसे जाती हुई उनको दिखाई पड़ी। राजा इतने भूखे थे कि सब विचार छोड़कर उससे प्रार्थना करने लगे कि उस अन्न और रसमेंसे कुछ उसको देकर उसके प्राणोंकी रक्षा करे। कन्याने राजासे कहा कि वह चाण्डाल-कन्या है और वह अन्न और रस अपने पिताके लिये ले जा रही है। बहुत प्रार्थना करनेपर भी उसने राजाको कुछ न दिया। राजाने उसका पीछा किया—तब उस कन्याने राजासे कहा—यदि तुम मेरे पति बनना स्वीकार करो तो मैं अपने पिताके अन्नमेंसे कुछ भाग तुमको दे दूँगी। राजा भूख-प्याससे इतने पीड़ित हो रहे थे कि उन्होंने उसका पति बनना स्वीकार कर लिया। उसको थोड़ासा भात खिलाकर और जामुनका रस पिलाकर वह बड़ी प्रसन्न होकर अपने पिताके पास गई और उससे

बोली—मैंने यह सुन्दर पुरुष अपना पति बना लिया है। पिता बहुत प्रसन्न हुए और बोले—बहुत अच्छा किया। जा इसको लेकर घर जा और सुखसे जीवन बिता। राजाने चाण्डालके घर आकर देखा कि चारों ओर अस्थि, मांस और रुधिर, कुत्ते, गधे और भैंस आदि जानवरोंकी खालें बिखरी पड़ी हैं। एक बहुत ही गन्दी दुर्गन्धयुक्त झोंपड़ीमें उसकी सास मांस पका रही थी। अपने जामाताको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई; रुधिर और मांसका भोजन राजाको परोसा। सारी चाण्डाल बिरादरीको इकट्ठा करके चाण्डाल-दम्पतीने बड़े समारोहके साथ अपनी पुत्रीका विवाह रचाया। थोड़े ही समयमें राजा एक प्रतिष्ठित चाण्डाल बन गया। कुछ वर्षोंके भीतर उसकी स्त्रीसे उसके यहाँ तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। राजा अपने राजभावको बिल्कुल ही भूल गया, और चाण्डालोचित सब कर्म करने लगा। बहुत सुखसे अपने गृहस्थमें रहता रहा। एक समय ऐसा आया कि वर्षा न होनेके कारण बहुत बड़ा अकाल पड़ गया। उस देशमें अन्न और जलका अभाव हो गया। सब लोग भूखे मरने लगे। तङ्ग आकर वह चाण्डाल अपनी स्त्री और बच्चोंको साथ लेकर दूसरे देशमें भोजनोपार्जन करनेके लिये बाहर निकला। रास्तेमें वे सब भोजनके विना तंग आ गए और चलने योग्य न रहकर एक वृक्षके नीचे बैठ गए। वहाँपर पड़े पड़े, सबसे छोटे पुत्रने पितासे कहा कि भूखके मारे उसके प्राण निकल रहे हैं। पिताके पास और साधन कुछ नहीं था, इसलिये उसने अपने पुत्रकी क्षुधा तृप्तिके लिये अपने आपको एक लकड़ीके जलते अम्बार पर रखते हुए कहा कि ले तू मेरा माँस खाकर अपने प्राणकी रक्षा कर ले। आगसे जलने पर उस चाण्डालकी चेतना दूसरी स्थितिका अनुभव करने लगी—राजा लवण मूर्च्छासे जाग गए और अपने आपको उन्होंने राजाके रूपमें सिंहासन पर बैठा हुआ पाया। सामने इन्द्रजाली बैठा था और सब दरबारी चिन्ताकुल सामने खड़े थे।

राजाको यह सब दृश्य केवल दो घड़ीके भीतर अनुभव करके बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्द्रजालीने उससे कहा—महाराज ये सब घटनाएँ सच्ची हैं और यदि आपको विश्वास न हो तो आप स्वयं उस देशमें जाकर देख लीजिए। राजा अपनी सेनाको लेकर दक्षिणको रवाना हुए। चलते हुए रास्तेमें उन्होंने वे सब देश, स्थान, और दृश्य

देखे। किरात देशमें पहुंच कर हूबहू वही सब स्थान देखे जिनमें उसने भ्रमण और वृत्त्युपार्जन किया था। वह स्थान भी देखा जहाँ पर कि उसने अपनी देहका अपने पुत्रोंकी क्षुधातृप्तिके लिए बलिदान किया था। अकालके सभी निशान उनको वहाँ पर दिखाई पड़े। चाण्डाल गृहमें जाकर देखा तो उनकी सास घरमें बैठी हुई अपने जमाईकी मृत्युके शोकमें रो रही थी। राजाने उसके पास जाकर उसको सान्त्वना दी। उसको धन देकर प्रसन्न किया, और आश्चर्यसे पूर्ण होकर यात्रासे घर लौट आया।

१३—शुक्रोपाख्यान

शुक्रोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह बतलाया कि वासना और संकल्पके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है, इसलिये निर्वाणपद प्राप्त करनेकी इच्छा वाले मनुष्यको संसारके विषयोंके लिये वासना नहीं करनी चाहिए, और किसी भी सांसारिक सुख अथवा भोगका अपने मनमें संकल्प उदय न होने देना चाहिए।

एक समयकी बात है कि मन्दराचल पर्वतपर भृगुमुनिने उग्र तप करना आरम्भ किया। उनके समीप उनकी देखभाल और सेवा करनेके लिये उनके प्रिय और सर्वगुणसम्पन्न पुत्र शुक्र रहने लगे। भृगु ऋषिने निर्विकल्प समाधि लगाई तो शुक्रको सेवा कार्यसे कुछ अवकाश मिला।

एक समय जब कि शुक्र शान्तचित्त बैठे हुए प्रकृतिकी शोभाका निरीक्षण कर रहे थे, उनको आकाश मार्गसे जाती हुई एक रूपलावण्यसम्पन्ना अप्सरा दिखाई पड़ी। उसको देखते ही शुक्रके मनमें कामवासना उदय हो आई। उसको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उनको यह ख़याल आया कि यह अप्सरा देवलोककी है इस लिये देवलोक जाना चाहिए। यह संकल्प उदय होते ही उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरको छोड़कर देवलोक पहुँचा। शुक्रने अपने आपको इन्द्रलोकमें पाया। वहाँपर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्दका साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्रने शुक्रका आदर सत्कार किया और उनको स्वर्गमें रहकर वहाँके आनन्दका भोग करनेके लिये निमंत्रण दिया। शुक्रका मन तो उसी अप्सराके पीछे लगा था जिसको देखकर वे कामसे परास्त हुए थे। स्वर्गमें उसकी तलाशमें फिरने लगे। आख़िर

वह एक वाटिकामें विहार करते हुए मिल ही गई। आंखे चार होतें ही दोनोंमें परस्पर स्नेहका उदय हो गया, और आनन्दसे एक दूसरे-के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नामकी देवसुन्दरीके साथ आनन्दका उपभोग करते करते शुक्रको बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्योंका भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्गसे गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे गिरी। कुछ समय तक दोनोंके सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा-की किरणोंमें रहे। फिर अनाजके पौदोंमें आकर रहे। उस पौदेके धान्यको जिसमें शुक्रका जीव था दशारण्य देशके एक ब्राह्मणने खाया और उसके धान्यको जिसमें विश्वाचीका जीव था मालव देशके राजाने खाया। ब्राह्मणके भोजनका वीर्य बननेपर शुक्र उसकी स्त्रीके गर्भसे उस ब्राह्मणका पुत्र हुआ, और मालव नरेशके यहाँ विश्वाचीका जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजाने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुननेकी आज्ञा दी। दैवयोगसे वह ब्राह्मण बालक भी यहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूपसे उदय हो आया, और उस कन्याने अवश होकर ब्राह्मणके गरीब बालकको अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाताको राज्य सौंपकर वन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनयाका उपभोग करनेपर शुक्रके जीवने उस देहका त्याग किया। तब वह वङ्ग देशमें एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रासमें एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नामका एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचलमें एक किरात हुआ। फिर सौवीर और कैवट देशमें मन्त्री हुआ। फिर त्रिगर्तदेशमें एक गधा हुआ, फिर किरात देशमें एक बांसका पौदा हुआ। फिर चीनके जङ्गलमें एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़के वृक्षमें वास करनेवाला सर्प हुआ फिर एक वनमें मुर्गा हुआ। इस प्रकार अपनी वासना और कर्म नियमानुसार वह बहुतसे रूपोंको धारण करता हुआ एक ब्राह्मण कुमार होकर गङ्गा तटपर तपस्या करने लगा। उसका शुक्र शरीर विकृत होकर शीर्ण होने लगा।

भृगु ऋषिकी जब बहुत काल पीछे समाधि खुली तो उन्होंने

शुक्रको अपने पास न पाया। तलाश करनेपर जब उसके शरीरको मृत अवस्थामें पाया तो उनको कालके ऊपर बहुत क्रोध आया, और कालको शाप देनेके लिये तैयार हुए। इतने ही में कालने स्थूल रूप धारण करके भृगुऋषिको प्रणाम किया, और कहा—महाराज आप क्या कर रहे हैं। मैं काल तो भगवान्‌का नियत किया हुआ हूँ, और सदा अपने धर्मका पालन करता हूँ। मुझे आप शाप नहीं दे सकते। मैं सब प्राणियोंकी वासना और कर्मोंके अनुसार उनके स्थूल शरीर-की तबदीली किया करता हूँ। आपका पुत्र शुक्र अपनी वासनाओं-के और सकल्पोंके अनुसार ही अगण्य योनियोंमें भ्रमण करता फिर रहा है। कालने उसके सब जन्मोंका वृत्तान्त सुना कर भृगुको बतलाया कि शुक्रका जीव इस समय ब्राह्मण बालक बना हुआ गङ्गा तटपर तप कर रहा है। विश्वास न हो तो जाकर देख लिया जाए। भृगु मुनि कालको लेकर उसके समीप गए। ब्राह्मण बालकने दोनों को देखा किन्तु पहचाना नहीं। भृगुने उसको ध्यान लगाकर देखनेको कहा। तब उसको अपने पूर्व जन्मोंका स्मरण हो आया। पिताकी आज्ञानुसार उसने फिर शुक्र होनेकी तीव्र वासना की। और उसके फलरूप ब्राह्मण बालकके शरीरको छोड़ कर उसकी पुर्यष्टक (सूक्ष्म देह) ने शुक्र शरीरमें प्रवेश करके उसको जीवित किया।

वसिष्ठजीने रामसे कहा कि शुक्रने जो रूप धारण किया अपनी वासनाके अनुसार किया। हरएक जीवकी हरएक वासना उसके लिये एक बाँधने वाली डोरी है, जो कुछ कालके लिये अवश्यही उसे उस विषयसे बांधेगी जिसकी वह चाह करता है। किसी उर्दू कविने ठीक कहा है:—

आज़ूंये दीदे जानां बज़्म में लाई मुझे।
आज़ूंये दीदे जानां बज़्म से भी ले चली॥

अर्थात् प्रिय वस्तुके दर्शन (प्राप्ति) की अभिलाषा (वासना) ही मुझे संसारमें लाती है और वही मुझे संसारसे ले जाती है।

कठोपनिषद्‌में इसी कारण से यह कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अर्थात्—जब इस जीव के हृदय में वास करने वाली वासनाओं का परित्याग हो जाता है तभी मर्त्य (मरने वाला) जीव अमृत होकर ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है।

१४—दाम, व्याल और कटकी कहानी

दाम, व्याल और कटकी कहानी सुनाकर वसिष्ठजीने रामचन्द्र जीको यह उपदेश दिया कि मनुष्यको सब प्रकारकी सिद्धि और विजय प्राप्त करनेका एक ही उपाय है और वह है अनहंभावयुक्त पुरुषार्थ। जो मनुष्य अहंभावसे प्रेरित होकर पुरुषार्थ करता है उसको इतनी कामयाबी नहीं प्राप्त होती जितनी कि उसको होती है जोकि अहंभावसे स्पृष्ट न होकर अपने जीवनको हथेलीपर रखकर अपने आदर्शकी सिद्धिके लिये मृत्युसे ज़रा भी नहीं डरता। जिस मनुष्यमें अहंभाव और मृत्युका डर है और जो सदा ही अपनी जान बचानेका ख़याल रखता है वह परास्त होता है।

एक समय पाताल लोकके असुर राजा शम्बरने देवलोकवासी देवताओंसे संग्राम छेड़ा। बहुत दिनों तक घोर युद्ध होता रहा। कभी शम्बर परास्त होता था, कभी देवराज इन्द्र। शम्बरको कई प्रकारकी माया आती थी। उसने अपनी माया द्वारा तीन विशालकाय दैत्य—दाम, व्याल और कट—उत्पन्न किए। वे ऐसे थे जिनमें अहंभाव लेशमात्र भी न था और न किसी प्रकारकी वासना उनके मनमें होती थी। जिस कार्यके लिये उनकी उत्पत्ति हुई थी केवल उसके करनेमें ही उनकी निष्काम प्रवृत्ति थी। उसके फल, अथवा उस सम्बन्धी हानि लाभकी चिन्ता उनके मनमें ज़रा भी नहीं होती थी।

ऐसे दाम, व्याल और कटने संग्राममें देवताओंके दाँत खट्टे कर दिए। वे इतनी बहादुरीसे लड़े कि उनके सामने खड़े होनेकी भी देवताओंमें हिम्मत न रही। निदान, देवता लोग भाग निकले और ब्रह्माकी शरणमें पहुँचे। ब्रह्माने ध्यान करके विचार किया तो उनको असुरोंकी जयका कारण मालूम पड़ गया। उन्होंने देवताओंको समझाया कि जबतक दाम, व्याल और कट अनहंभावसे निष्काम युद्ध करते रहेंगे, तबतक देवताओंको उनके ऊपर विजय प्राप्त न हो सकेगी। इसलिये यदि उनको परास्त करना है, अथवा उनसे अपनी रक्षा करनी है, तो इस रीतिसे युद्ध करना चाहिए कि उनके हृदयमें विजयकी कामना, मृत्युका भय, जीवनकी लालसा और अहं-मम-भाव उत्पन्न हो जाएँ।

देवताओंने ब्रह्माकी सलाहपर विचार किया और अपने युद्धका कार्यक्रम निश्चय कर लिया। वे दाम, व्याल और कटसे इस रीतिसे लड़े कि इनके मनमें विजयका अभिमान उत्पन्न हो गया। फिर मरनेका भय, पराजयसे घृणा, जीवनकी लालसा, अहं-मम-भाव उत्पन्न हो गए। इतना होनेपर वे देवताओंसे युद्ध करनेसे भय मानने लगे और उनके ऊपर आक्रमण करना छोड़कर, भाग निकले और नष्ट हो गए। देवताओंके सरसे आफ़त टली।

१५—भीम, भास और दृढ़की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह उपदेश दिया कि आत्मज्ञानी पुरुषको, जो कि वासनारहित होकर संसारमें स्वधर्मका पालन करता है, यहाँपर विजय और अभ्युदय और मृत्युके पीछे उत्तम गति प्राप्त होती है।

जब पातालके दैत्यराज शम्बरको यह मालूम हुआ कि उसके माया द्वारा उत्पन्न किए हुए योद्धा, दाम व्याल और कट, इस कारणसे देवताओं द्वारा परास्त किए गए कि उनमें अहंभावका उदय हो आया था (जैसा कि ऊपरवाली कहानीमें बतलाया गया है), तो उसने अपनी माया द्वारा तीन आत्मज्ञानी योद्धाओं, भीम, भास और दृढ़की रचना की। उनमें जन्मसिद्ध ही ब्रह्मभाव पूर्ण रूपसे वर्त्तमान था। वे जीवन्मुक्त थे, और किसी कारणसे भी उनमें अहंभाव, कामना, भय और फलकी आकांक्षा उदय होनेकी संभावना नहीं थी। वे जिस कार्यके करनेके लिये उत्पन्न हुए थे उसको अपनी जान लड़ाकर अनहंभावसे करते थे। जब देवताओंसे उनका युद्ध हुआ तो देवताओंके दाँत खट्टे हो गए। देवताओंने बार बार उनके चित्तमें अहंभाव, वासना और भय आदि उत्पन्न करनेका यत्न किया, किन्तु असफल रहे, क्योंकि वे तीनों जीवन्मुक्त थे और स्वधर्मपर दृढ़ रहना ही उनका काम था। जब देवताओंका कोई बस न चला तो वे विष्णु भगवान्‌की शरणमें पहुँचे। विष्णु भगवान्‌ने ध्यान धरके देखा तो उनको मालूम हो गया कि भीम, भास और दृढ़को मारना अथवा परास्त करना देवताओंके वशसे बाहरकी बात है। इसलिये वे स्वयं अपना सुदर्शन-चक्र लेकर युद्ध-स्थानपर आए और उन तीनोंको मारकर उनको अपने लोकमें स्थान दिया और देवताओंको भय और दैत्याक्रमणसे मुक्त किया।

१६—दाशूरोपाख्यान

मगध देशमें शरलोमा नामका एक मुनि रहता था। उसका एकमात्र पुत्र दाशूर अपने पिताको बहुत प्यार करता था। समय आनेपर जब शरलोमाकी मृत्यु हो गई तो दाशूरको अत्यन्त शोक हुआ, और वह अधीर होकर रोने लगा। उसका तीव्र दुःख देखकर एक वनदेवीको बहुत करुणा आई और वह उसके समीप जाकर अदृष्ट रहते हुए ही उसको समझाने लगी—हे साधो! तू क्यों शोक करता है? क्या तेरे लिये कोई ऐसी घटना हो गई है जो दूसरोंके लिये नहीं होती? संसारका यह अटल नियम है कि यहाँपर जीव पैदा होकर कुछ दिन जीकर मर जाते हैं। ब्रह्मा तकको भी एक दिन नाशको प्राप्त होना है। तब फिर किसीके मरनेपर शोक क्यों किया जाए? रोना तो बच्चोंका काम है जिनको संसारके अटल नियमोंका ज्ञान नहीं है। तुम तो बच्चे नहीं हो। उठो और अपने जीवनके ध्येयकी प्राप्तिमें लगो।

दाशूरको होश आया और उसने विचार किया कि पिताके मरनेपर शोक करना व्यर्थ है। शोक करनेसे पिताजी जीवित नहीं हो सकते। अब अपने जीवनको सुधारना चाहिए। यह सोचकर उसने तप करनेका निश्चय किया। तप करनेके लिये उसने एक अत्यन्त पवित्र स्थानकी खोज करनी शुरू की, लेकिन उसको कहीं-पर भी कोई पवित्र स्थान न मिला। अन्तमें उसकी समझमें यह आया कि यदि वह किसी प्रकार किसी वृक्षकी फुङ्गल (अग्रभाग) पर स्थित रह सके तो वह सबसे शुद्ध स्थान तप करनेका होगा। यह इच्छा अपने मनमें रखकर उसने कुछ लकड़ियाँ एकत्रित करके आग जलाई और अपना मांस काट काटकर अग्नि देवताको बलि देना आरम्भ किया। ब्राह्मणके मांसकी बलि आगमें पड़ते ही अग्नि-देवताको बहुत दुःख हुआ और वे ब्राह्मणके सामने प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट हो गए, और उससे वर माँगनेको कहा। दाशूरने अपनी इच्छा प्रकट की। अग्निदेवने वर दिया कि उनको वहाँपर खड़े हुए कदम्ब वृक्षकी शाखाके अग्र भागपर रहनेकी शक्ति प्राप्त हो। दाशूर उस कदम्ब वृक्षपर रहकर तप और यज्ञ करने लगे। उनके सब यज्ञ और तप मानसिक थे। मन द्वारा उन्होंने विधिपूर्वक

वैदिक रीतिसे अश्वमेध, नरमेध, गोमेध आदि बड़े बड़े यज्ञोंकी समाप्ति की। बहुत दिनों तक तप और यज्ञ करनेसे भी उनको आत्मज्ञान प्राप्त न हुआ, क्योंकि आत्मज्ञान तो केवल विचारसे ही उत्पन्न होता है, तप और यज्ञ द्वारा नहीं प्राप्त होता। हाँ इतना हुआ कि निष्काम तप और यज्ञोंके करनेसे दाशूरका अन्तःकरण इतना पवित्र हो गया कि वह अब आत्माके स्वरूपका विचार करने योग्य हो गया। विचार करनेसे उसको आत्मज्ञान हो गया, और वह जीवन्मुक्त होकर आनन्दसे उस वनमें रहने लगा। अब उसको किसी प्रकारका शोक और मोह नहीं रहा।

एक समय उसके सामने एक वनदेवी आकर रोने लगी—हे मुने! आपको सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हैं। आप मेरे शोकको दूर कीजिए। चैत्र शुक्लपक्षकी त्रयोदशीको इन्द्रके नन्दनवनमें कामदेवका उत्सव मनानेके लिये सब देवियाँ एकत्रित हुई थीं। सबके साथ उनकी सन्तानोंको देखकर मुझे दुःख हुआ कि मेरे अभी तक कोई पुत्र नहीं है। तबसे यह बात मेरे मनमें बहुत खटक रही है। हे मुने, आप मेरे इस शोकको दूर करो और मुझे पुत्र प्रदान करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी। दाशूरको उस वनदेवीपर दया आई और उन्होंने उसको एक पुष्प देकर यह कहा—जाओ, एक महीनेके पीछे तुम्हारे गर्भसे एक पुत्र होगा। लेकिन, चूँकि तुमने अग्निमें प्रवेश करनेकी धमकी दी थी, इसलिये वह पुत्र अज्ञानी होगा। सांसारिक विद्याए उसको सभी आयेंगी, परन्तु आत्मज्ञान उसे बिना किसी ज्ञानीके उपदेश किए न होगा।

प्रसन्नचित्त होकर वह वनदेवी घर गई और एक महीने पश्चात् उसको पुत्रोत्पत्तिका आनन्द प्राप्त हुआ। माताने पुत्रका भलीभाँति पालन पोषण किया। और उसे सब प्रकारकी विद्याएँ पढ़ाई। जब दस वर्षका हो गया तो उसने उसको दाशूर मुनिके पास लाकर उनसे प्रार्थना की कि वे उसको आत्म-ज्ञान देकर अपने शापको दूर करें। दाशूरने वनदेवीके पुत्रको नाना प्रकारके दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश दिया।

वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे कहा कि एक समय जब कि वे आकाश मार्गसे सूक्ष्म शरीर द्वारा गङ्गामें स्नान करने जा रहे थे, उन्होंने दाशूर मुनिको वनदेवीके पुत्रको आत्मज्ञानका बड़े सरल और रोचक उपायसे उपदेश करते हुए सुना था। उस समय दाशूर मुनि

उसको यह समझा रहे थे कि सारा जगत् संकल्पका प्रसार है। संकल्प ही सारे पदार्थोंका उत्पादक है। संकल्प द्वारा ही संसारकी रचना होती है, और संकल्पके क्षीण होनेपर संसारका नाश होता है। यह संसार केवल एक संकल्प नगर है जो कि शुद्ध चिदाकाशमें उदय होता है और उसीमें लय हो जाता है।

१७—कच गीता

एक समय देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कचको परम शान्तिका अनुभव हुआ और सहज समाधि लग गई। समाधिसे जागनेपर उन्होंने आत्माके सर्वव्यापक होनेके विषयमें निम्नोद्धृत विचारों युक्त एक गीत गाया—वह गीत वसिष्ठ जीने रामचन्द्रजीको सुनाया:—

सारा विश्व इस प्रकार आत्मासे परिपूर्ण है जैसे कि महाप्रलयमें जगत् जलसे पूर्ण होता है। इसलिये मैं किस वस्तुको त्यागूँ और किसके प्राप्त करनेकी वाञ्छा करूँ? क्या करूँ क्या न करूँ? कहाँ जाऊँ? दुःख भी आत्मा है, सुख भी आत्मा है। सब कुछ आत्ममय है। इसलिये किस बातकी चिन्ता होनी चाहिए? देहके वाहर देहके भीतर, ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, सब दिशाओंमें आत्मा ही आत्मा है। अनात्म वस्तु कोई भी नहीं है। आत्मा सब जगह स्थित है। आत्मा ही सब कुछ है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो मेरा आत्मा नहीं है। जो कुछ संसारमें है वह मेरा ही एक रूप है। मैं सब जगह, सारे ब्रह्माण्डमें सन्मय रूपसे पूर्ण हू। मैं पूर्ण हूँ, सर्वत्र पूर्ण रूपसे स्थित हूँ। आनन्द रूप हूँ। मेरे चारों ओर आनन्दका समुद्र लहरें मार रहा है।

ऐसा कहते कहते कचको फिर समाधि लग गई और वह परमानन्दमें लीन हो गया।

१८—जनकके जीवन्मुक्त होनेकी कथा

रामचन्द्रजीको जीवन्मुक्तिका उपदेश करते समय वसिष्ठजीने उनको राजा जनकके जीवन्मुक्त होनेकी कथा सुनाई। वह इस प्रकार है:—

विदेह नगरके राजा जनक एक समय अपने लीलोपवनमें सैर कर रहे थे। एकाएक उनको कुछ अदृष्ट सिद्धोंका गाना सुनाई पड़ा। वह बड़े ध्यानसे सुनने लगे। गाना क्या था जनकके लिये चेतावनी और उद्बोधन था। उस गानेका सार यह था—

जो मनुष्य, यह जानकर भी कि संसारके जितने भोग्य पदार्थ हैं वे सब अन्तमें दुःखदायी होते हैं, पदार्थोंके पीछे दौड़ता है, वह मनुष्य नहीं है गधा है। जो मनुष्य अपने हृदयके भीतर वर्तमान ईश्वरको छोड़कर और दूसरे बाह्य देवताओंकी उपासनाके चक्करमें पड़ते हैं, और बाहर ईश्वरको तलाश करते हैं, वे ऐसे मूढ़ हैं, जैसे कि वह मनुष्य जो हाथमें मौजूद मणिको फेंककर कांचके पीछे भागता है। हम लोग तो उस देवकी उपासना करते हैं जो कि सबमें है, जिसमें सब हैं, जिसके सब हैं, जिससे सब हैं, जो सब है; जो सत्य है, और जो आत्माका भी आत्मा है। जो सत् और असत्, प्रकाश और अप्रकाश, द्रष्टा और दृश्यसे भी परे और इनके मध्यमें है वह आनन्द रूप और स्पन्दरहित आत्मा है। वहाँ पर स्थित होकर सब वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं।

इस गीतको सुनकर जनकको बहुत विषाद हुआ। उन्होंने विचार किया कि यह जन्म वृथा ही जा रहा है, अभी तक उस परम पदकी प्राप्ति नहीं हुई जिसको प्राप्त कर लेनेपर और कुछ प्राप्त कर लेनेकी वासना ही नहीं रहती।

घर जाकर जनक एकान्त स्थानमें बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे :—

यह प्रपञ्च रचना इन्द्रजालके समान है। न जाने मैं इसमें क्यों मोहित हो रहा हूँ? संसारके सारे पदार्थ जलकी तरङ्गोंके समान क्षणभंगुर हैं, फिर भी मैं उनको प्राप्त करनेकी वासना करता रहता हूँ, इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है? जिन वस्तुओंमें सुख है वे सब दुःखोंसे मिश्रित हैं, फिर भी मेरी उनमें आस्था है? जो बड़े २ महापुरुष और महाशक्तिशाली मनुष्य हो चुके हैं वे भी मौतके मुँहमें चले गए, तब भी मैं जीनेकी वाञ्छा करता रहता हूँ। संसारके सब पदार्थ नाशवान् हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको सत्य कहा जा सके। किस पदार्थपर आस्था की जाए? संसारके सब भोग विषरूप हैं, इनमें आस्था करना महा मूर्खता है। जिन जिन पदार्थोंकी लोग वासना करते हैं उन सबका परिणाम मुझे दुःखही दिखाई पड़ता है। ऐसा कोई पदार्थ नज़र नहीं आता जिसको प्राप्त कर लेनेपर फिर किसी वस्तुकी प्राप्तिकी वांछा न रहे अथवा जिसको प्राप्त करके पूर्ण सुखका अनुभव हो जाए। एक वस्तुको प्राप्त कर लेने पर

दूसरीके प्राप्त कर लेनेकी वासना तुरन्त ही हृदयमें उदय हो जाती है। जो प्राप्त हो चुकी है उसको सन्तुष्टिसे उपभोग नहीं करने पाते कि मन उससे विरक्त होकर दूसरे पदार्थकी ओर लग जाता है, और समस्त जीवन इसी प्रकार की मृगतृष्णाके पीछे दौड़नेमें खतम हो जाता है। जैसे पतंग दीपशिखाको सुख रूप जान कर उसकी ओर दौड़ता है और उसको छूतेही भस्म हो जाता है यही हाल हम लोगोंका है। भोगोंको आनन्द रूप जानकर हम उनका उपभोग करनेमें अपना सर्वस्व खतम कर देते हैं—अन्तमें हाथ मल कर पछताते हैं और रोते हैं कि जीवन वृथाही विता दिया। सब सत्ताओंके सरपर असत्ता नाचती है। सब सुन्दर और रम्य पदार्थों-के भीतर कुरूपता और अरम्यता छिपी बैठी हैं। सर्व सुखोंका परिणाम दुःख है। बतलाइए फिर कैसे किसी पदार्थ, किसी सौन्दर्य अथवा किसी सुखकी वाञ्छा की जाए? जितनी सम्पत्तियाँ हैं वे सब किसी न किसी रूपमें आपत्तियाँ ही हैं। बहुत दिन तक अज्ञानी बना हुआ मैं इनके पीछे फिरता रहा। संसारके अनन्त प्रकारके भोगों-की वासनाओंके कारण बहुतसे जन्म मरण सहे। अब यह नहीं होगा। अब मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। अब मुझे समझ आ गई है। और अब मुझे मालूम हो गया है कि मेरा दुश्मन जो मुझे संसारके भोगोंकी ओर ले जाया करता है मेरे ही भीतर मेरे मनके आकारमें है। मैं अब उसीको पकड़ूँगा और पकड़ कर ऐसा मारूँगा कि फिर वह सर न उठाने पाएगा। मेरा मनरूपी मोती अभी तक बिंधा नहीं है। अब इसको मैं आत्मविचार रूपी बर्मेसे बींधूँगा।

यह सोच कर राजा जनकने अपने मनको सम्बोधन करके उसको समझाना आरंभ किया। चित्तसे जनकने पूछा—हे चित्त तू बता अबतक जिन जिन पदार्थोंकी प्राप्तिकी तूने इच्छा की है उनमें से कितने पदार्थ ऐसे हैं जिनको पाकर तुझे तृप्ति हुई हो? क्या तू समझता है कि भविष्यमें भी तेरा वही हाल नहीं रहेगा जैसा कि भूतकालमें रहा है? इसलिये तू अच्छी तरह समझ ले कि तेरा भोगों के पीछे दौड़ना वृथा है। इससे तुझे शान्ति कभी प्राप्त नहीं होगी।

इस प्रकार चित्तको बारबार समझानेसे जनकका चित्त शान्त हुआ। भोगोंकी वासना मनसे चली गई। आत्माका प्रकाश होना आरम्भ हुआ। और धीरे धीरे शान्ति और आनन्दका अनुभव दृढ़

होने लगा। इस प्रकारका अभ्यास बढ़ते बढ़ते, और आत्माका विचार करनेसे आत्मामें स्थिति होते होते, जनकने जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति की। उनको न तो किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी वाञ्छा रही, और न त्याग करने की। किसीसे न द्वेष रहा, न राग। न राज पाटको बुरा समझ कर उसको त्याग करनेकी इच्छा हुई, और न उसके सुखोंके भोग करनेकी वासना मनमें रही। जिस स्थितिमें वे थे उसके ही अनुसार वे अपने सारे कार्य करते रहे। मनकी संकल्प वृत्तिका क्षय हो गया। वे राज्यका सब कार्य यथोचित रूपसे करते रहे और किसी कार्यके करनेमें भी उन्हें किसी प्रकारके हर्ष और विषादका अनुभव नहीं हुआ। उनका जीवन यंत्रवत् होगया। न उनको भूतका पश्चात्ताप था और भविष्यत्की चिन्ता। केवल वर्त्तमान कालके यथायोग्य कार्यों का निरपेक्ष और निरहंभावसे वे सम्पादन करते थे। किसी वस्तुके प्रति भी उनका संग नहीं था। ऐसे राजा जनक राजा होते हुए भी ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे।

१९—पुण्य और पावनकी कथा

संसारके जितने सम्बन्ध हैं वे सब अस्थायी हैं, एक न एक दिन अवश्य ही टूटेंगे। जिनके साथ पूर्व कर्म और वासनानुसार हमारा इस जन्ममें सङ्ग हुआ है अवश्य ही उनसे वियोग होना है। यह बात जानते हुए भी जो मनुष्य किसी सम्बन्धीकी मृत्यु होनेपर, अथवा उससे किसी और कारणसे वियोग होनेपर रोता और शोक करता है वह मूर्ख है। प्रत्येक प्राणीके अनन्तजन्म हो चुके हैं, उन जन्मोंमें उसका अनन्त जीवोंके साथ सम्बन्ध हुआ है और यथा-समय सबसे वियोग हुआ है। जब तक जीवको निर्वाणपदकी प्राप्ति नहीं होगी, तब तक यही दशा बराबर रहेगी। यह समझते हुए किसी प्राणीको किसी सम्बन्धीसे वियोग होनेपर शोक नहीं करना चाहिए—इस विषयपर वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको पुण्य और पावन-का वृत्तान्त सुनाया, जो इस प्रकार है:—

जम्बुद्वीपके किसी स्थानपर महेन्द्र नामका एक पर्वत है। वहाँ-पर गङ्गाके तटपर दीर्घतपस् नामका एक ब्राह्मण अपनी पत्नी सहित वास करता था। उसके दो बड़े योग्य और सुन्दर पुत्र थे, जिनके नाम पुण्य और पावन थे। पुण्य बड़ा और पावन छोटा था।

दोनोंने अपने माता पिताकी शिक्षाके अनुसार तप और ब्रह्म-विचार करना आरम्भ कर दिया। पुण्य तो थोड़े ही कालमें ज्ञानवान् हो गया और आत्मपदमें स्थित रहने लगा; पावनको ज्ञानप्राप्ति नहीं हुई। इसी बीचमें उनके पिताका शरीर छूट गया—माताने भी उसी समय अपना शरीर छोड़ दिया। पुण्य तो जीवन्मुक्त हो चुका था। उसको अपने माता पिताके मरनेका कुछ शोक नहीं हुआ। उसने यथाविधि अपने माता-पिताके मृतक देहोंका संस्कार किया और फिर अपने यथोचित कार्यमें लग गया। पावनको माता पिताके मरनेका बहुत शोक हुआ, और वह रात दिन उनको याद कर करके रोने लगा। पुण्यको उसकी दशापर बहुत करुणा आई। एक दिन उसने पावनको बुलाकर इस प्रकार समझाया:—

भाई पावन! तुम किस लिये इतना शोक करते हो। पिता माता तो ज्ञानी थे—वे तो उस परम पदको प्राप्त हो गए जो सब जीवोंका ध्येय है। तुमसे उनको अवश्य ही जुदा होना था—यह संसारका अटल नियम है जो कि तुम्हारे रोने धोनेसे नहीं बदल सकता। इस शरीरका सम्बन्ध जीवसे तभी तक है जब तक वह उसकी वासनाओंकी सिद्धि करता है। जब वह जीवके कामका नहीं रहता तो जीव उसको फटे पुराने वस्त्रकी नाईं फेंक कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। तेरे जीवनके दीर्घ इतिहासमें केवल वे ही तेरे माता पिता नहीं हुए। अनेक माता पिता और अनेक स्त्री पुत्रोंसे तेरा नाता जुड़ चुका है, और उनसे बिछोह हो चुका है। उनको तू नहीं जानता, क्योंकि तेरी ज्ञान-दृष्टि संकुचित है। मैं तेरे पूर्व जन्मोंको जानता हूँ। तू जब मृगयोनिमें था तो बहुतसे मृग और मृगी तेरे बन्धु थे। उनका अब तू क्यों शोक नहीं करता? तू जब हंस योनिमें था तो अपने हंस बन्धुओंसे वियोगका शोक क्यों नहीं करता? तू वृक्ष योनिमें रहा और वृक्ष तेरे बन्धु हुए। तू सिंह हुआ और सिंह जातिके तेरे अनेक बन्धु हुए। तू मत्स्य योनिमें रहा, मत्स्य तेरे बन्धु हुए। दशार्णव देशमें तू काक और वानर हुआ था; तुषार देशमें तू राजपुत्र हुआ। पुण्ड्र देशमें तू बनका काक हुआ। हैहय देशमें हाथी; त्रिगर्त देशमें गधा; शाल्व देशमें कुत्ता; सालके बनमें पक्षी; विन्ध्याचलमें पीपलका वृक्ष वटके वृक्षमें घुन; मन्द्राचलमें मुर्गा होकर; कोशल देशमें ब्राह्मण; वङ्ग देशमें तीतर; तुषार

देशमें घोड़ा होकर; तालकी जड़में कीड़ा, गूलरके वृक्षमें मच्छर; विन्ध्याचलमें बगुला; हिमालय पर भोजपत्रकी छालमें चींटी; एक गाँवमें गोबरके सूखे ढेरमें बिच्छू; एक समय चाण्डाली पुत्र—आदि अनेक योनियोंमें तुम पैदा हुए और उन योनियोंमें तुम्हारे अनेक माता पिता और बन्धु जन हुए। ये सब योनियाँ तुमको तुम्हारे कर्म और वासनाओंके कारण मिलीं। मैं भी आज जो तुम्हारा बन्धु बना हुआ हूँ अनेक योनियोंमें जीवन बिता चुका हूँ। त्रिगर्त देशमें मेंढक; एक बनमें छोटा सा पक्षी; विन्ध्याचलमें चाण्डाल; बंग देशमें वृक्ष; विन्ध्याचलमें ऊँट; हिमालयमें चातक; पौण्ड्रदेशमें राजा; एक वनमें व्याघ्र; दो वर्ष तक गीध; पाँच मास तक ग्राह; १०० वर्ष तक सिंह; आँध्र देशमें चकोर; तुषार देशमें राजा; शैलाचार्यका पुत्र इत्यादि अनेक रूपमें मैंने जन्म लिया है। इस योनिमें मैं तुम्हारा भाई हूँ; यह सम्बन्ध स्थायी नहीं है। इसलिये हे भाई माता पिताका वियोग होने पर तुमको किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिए। जब इस प्रकार पुण्यने पावनको चेतावनी दी तो पावनको बोध हुआ। अपने भाई पुण्यकी नाईं वह भी जीवन्मुक्त होकर जीवन बिताने लगा।

२०—बलिकी कथा

संसारके भोगोंसे चित्त को शान्ति नहीं मिलती। जिन भोगोंको एक बार भोग लिया जाता है और यह भी अनुभव कर लिया जाता है कि जिस तृप्ति और आनन्दप्राप्तिकी उनसे आशा की थी वह उनके द्वारा नहीं मिली, मनुष्य फिर भी बार बार उन्हींकी इच्छा करता रहता है। इससे अधिक और क्या मूर्खता हो सकती है? यह विचार हृदयमें आनेपर राजा बलिको संसारसे विरक्ति और उस विरक्तिके कारण उनको आत्मपदकी प्राप्ति हुई थी। बलिकी कथा इस प्रकार है:—

इस जगत्के नीचे पाताल लोक है। वहाँपर किसी समय विरोचनका पुत्र राजा बलि राज्य करता था। वह महाप्रतापी राजा था। उसने अपने बाहुबलसे देवताओं और दानवोंको परास्त करके अपना साम्राज्य चारोंओर फैला लिया था। जब उसको राज्य करते करते बहुत वर्ष बीत गए तो एक दिन उसके मनमें इस प्रकार-

का विचार उदय हुआ :—मैं चिरकालसे त्रिलोकीका राज्य भोग रहा हूँ, किन्तु कभी चित्तको शान्ति नहीं मिली। बार बार वे ही भोग भोगता हूँ, लेकिन कभी इनसे परम तृप्ति नहीं हुई। दिन प्रति दिन वही काम करता रहता हूँ जिनको करनेसे आत्माका कुछ भी कल्याण होता नहीं दीखता। सारा जीवन इन्हीं भोगोंको भोगते हुए व्यतीत हो गया, लेकिन हाथ कुछ न आया। सब जीवोंकी क्रियाएँ उन्मत्तकी चेष्टाओंके तुल्य हैं। मेरे पिता विरोचन आत्मज्ञानी थे। वे कहा करते थे कि जीवको उस स्थितिको प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए, जिसमें परम आनन्द और परम तृप्ति स्वभावसिद्ध है, जिसका आनन्दरूप विषय भोगोंके द्वारा प्राप्त सुखोंसे कहीं उत्तम है, और जिसको प्राप्त करनेसे विषयोंके भोगकी वासना नहीं रह जाती। जब वे ऐसी बातें कहा करते थे तब मुझे उनके समझनेकी शक्ति नहीं थी। लेकिन अब मुझे ज्ञात हो गया है कि जबतक उस पदकी प्राप्ति नहीं होगी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि संसारके समस्त भोगोंको अनन्त काल तक भोग कर लेनेपर भी चित्तमें शान्तिका अनुभव और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। भोगोंके द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह क्षणिक और तुरन्त ही दुःखमें परिणत होनेवाला है।

इस प्रकारका विचार मनमें उदय होनेपर बलि अपने गुरु शुक्राचार्यके पास गए, और उनको प्रणाम करके उनसे उनसे उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय पूछा जिसका वर्णन उसके पिता विरोचन किया करते थे। शुक्रने बलिसे कहा :—मुझे इस समय बहुत कुछ कहनेका अवकाश नहीं है, कार्यवश कहीं जाना है। केवल एक बात तुमको बतलाए देता हूँ, तुम उसका ही चिन्तन करते रहो। चिन्तन करते करते तुमको निर्विकल्प समाधि लग जायगी और परम आनन्दका अनुभव हो जायगा। वह बात यह है कि जो कुछ संसारमें है—तुम, मैं और जगत्के सब पदार्थ—वह सब एक ही अखण्ड, शुद्ध, निर्विकार चित् तत्त्व है। उसके अतिरिक्त संसारमें और कुछ है ही नहीं। उस पदमें अपने आपको विचार द्वारा स्थित करना और अपने आपको वही समझ लेना ही मनुष्य-जीवनका ध्येय है। यह कहकर शुक्र चले गए।

बलिने घर आकर विचार करना आरंभ किया और विचार करते

करते उसको यह दृढ़ निश्चय होगया कि संसारमें जो कुछ है वह सब चित् तत्त्व ही है; इसके अतिरिक्त यहाँपर कुछ भी नहीं हैं। ऐसा सोचते सोचते उसको निर्विकल्प समाधि लग गई, और उस समाधिमें उसको अनुपाधि और शुद्ध परमानन्दका अनुभव हुआ। वह आनन्द ऐसा था कि जिसके मुक़ाबलेमें उसके सारे जीवनके भोगोंका सुख लेशमात्र भी नहीं था। बहुत दिनों तक समाधिमें बैठा रहा तो राज्यके कामोंमें विघ्न पड़ने लगे। यह देख कर शुक्राचार्य वहाँपर आए और बलिको समाधिसे जगा कर उसको अपने राज्य कार्योंके देखनेका उपदेश किया। बलिको जीवन्मुक्त पदकी प्राप्ति हो चुकी थी, और वह आनन्द जिसका उनको समाधिमें अनुभव हुआ था उनका सदाका स्वरूप हो गया था। उस आत्मस्वरूपमें स्थित होकर बलिने बहुत दिनों तक राज्य किया और शरीरान्त होनेपर निर्वाण पदकी प्राप्ति की।

२१—प्रह्लादकी कथा।

प्रह्लादकी कथा योगवासिष्ठकी सर्वश्रेष्ठ कथाओंमेंसे है। इसके द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको भक्तिके सच्चे और उत्तम स्वरूप और ज्ञानप्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधनका उपदेश दिया है। कथा इस प्रकार है :—

एक समय पाताल देशका राजा, जहाँपर दानव लोग रहते थे, हिरण्यकशिपु था। उसने देवताओंसे घोर संग्राम किया और उनको उससे इतना भय हुआ कि उन्होंने विष्णु भगवान्से अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना की। विष्णु भगवान्ने अपने सुदर्शनचक्र द्वारा उसे मारकर देवताओंको भयसे मुक्त किया।

हिरण्यकशिपुके विष्णुभगवान् द्वारा मारे जानेपर उसके पुत्र प्रह्लादको यह विचार हुआ कि विष्णुसे बैर रखनेसे कोई लाभ नहीं है। वे तो इतने बलवान् हैं कि उन्होंने उसके अत्यन्त बलशाली पिताको सहज ही में मार डाला। इस लिये ऐसे शक्तिशाली देवकी भक्ति करनेसे जिस लाभकी संभावना है वह उनसे वैर करनेपर प्राप्त नहीं हो सकता। यह सोचकर प्रह्लादने विष्णु भगवान्की भक्ति करनी आरम्भ कर दी।

प्रह्लाद अपने मनमें विष्णु भगवान्की दिव्य मूर्तिको स्थापित

करके मानसिक साधनों द्वारा ही उनकी पूजा करने लगा। धीरे धीरे उसने अपने अन्दरसे सब असुर वृत्तियोंको निकाल कर अपने आपको विष्णुकी कृपायोग्य, शुद्ध चित्त वाला, अनन्य भक्त बना लिया। विष्णु भगवान्‌के अतिरिक्त उसके मनमें और कोई वस्तु नहीं आती थी। सदा ही वह उनके ध्यानमें रहता था। इस प्रकारके अनन्य प्रेमके वशीभूत होकर विष्णु भगवान् प्रह्लादके सामने प्रत्यक्ष रूपसे आकर उपस्थित हुए और उससे मन चाहा बर मांगनेको कहा। प्रह्लादने विष्णुभगवान्‌से यह प्रार्थनाकी कि उसको वह आत्मज्ञान प्राप्त हो जाय जिसको पाकर उसे उस पदकी प्राप्ति हो, जिसमें परमानन्द और परम शान्तिका अनुभव होता है। विष्णु भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा—संसारके जितने उत्तम पदार्थ हैं वे मैं सब तुमको दे सकता हूँ, लेकिन आत्मज्ञान देना मेरी शक्तिसे बाहर है। आत्मज्ञान किसीको किसी दूसरेसे नहीं मिल सकता। गुरु और देवता केवल आत्मज्ञानका साधन ही बता सकते हैं, आत्मज्ञान नहीं प्रदान कर सकते। आत्मज्ञान केवल स्वयं विचार करनेसे उदय होता है। इसलिये तुम भी अपने आप आत्म-विचार करना आरम्भ करो। शुद्ध चित्त और स्थिर बुद्धि द्वारा विचार करते करते तुमको शीघ्र ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा—यह कहकर भगवान् विष्णु प्रह्लादकी दृष्टिसे ओझल हो गए।

प्रह्लादके मनमें आत्मज्ञान प्राप्तिकी बहुत तीव्र जिज्ञासा उदय हो गई। उसने विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या वस्तु है। विचार करते करते वे पहिले तो इस निर्णयपर आए कि कोई भी दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मातो सब दृश्य पदार्थोंका साक्षी द्रष्टा है। किसी भी दृश्य पदार्थको आत्मा समझना भूल है। इसलिये, इन्द्रियाँ, शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि वस्तुएँ, जिन सबका ज्ञान आत्माको होता है, कभी आत्मा नहीं हो सकतीं। आत्मा इन सब दृश्य पदार्थोंसे परे, इनसे सूक्ष्म, वह तत्त्व है जो स्वयं-संवेद्य है, और जिसका अनुभव हमको उस अवस्थामें होता है जब कि हमारे ज्ञानका विषय कोई भी विषय न हो। प्रह्लादने उस अनुभवमें स्थित होनेका प्रयत्न किया। उस अवस्थामें स्थित होकर उसको अलौकिक आनन्द और शान्तिका अनुभव होने लगा। ऐसा अभ्यास करते करते निर्विकल्प समाधि लग गई।

प्रह्लादको समाधिमें बैठे बैठे बहुत काल व्यतीत हो गया। राज्यमें हलचल मच गई। चारों ओर अत्याचार होने लगे। न कोई व्यवस्था रही, और न कहीं न्याय रहा। पाताल लोककी प्रजा निरंकुश होकर दूसरे लोकोंके निवासियोंपर अत्याचार करने लगी। देवताओं और दानवोंमें युद्ध भी अब अनियमित रूपसे होने लगा। यह दशा देखकर विष्णु भगवान् अपने लोकसे पाताल लोकमें गए और प्रह्लादको उन्होंने निर्विकल्प समाधिसे जगाकर यह उपदेश दिया :—

प्रह्लाद ! जिस आनन्द और शान्तिका अनुभव तुम निर्विकल्प समाधिमें कर रहे हो वही शान्ति और आनन्द सच्चे आत्मज्ञानीको संसारमें अपने स्थानोचित धर्मोंका पालन करते हुए अनुभवमें आते हैं। आत्मानुभव नाश या तबदील होनेवाली वस्तु नहीं है। न वह किसी अवस्था विशेषका ही नाम है। जिसको एक बार आत्मदर्शन हो गया है वह सदा ही उस पदपर स्थित रहता है जो पूर्ण है, शान्त है, अनन्त है और अखण्ड है। विषय, देह, इन्द्रियाँ, मन आदि सब ही आत्मतत्वके नाना नाम और रूप हैं। जगत्में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो आत्मासे अतिरिक्त हो। यह सारा जगत् आत्माका ही प्रकाश है, और आत्माके भीतर है, इसमें अनात्म कुछ भी नहीं है। इसलिये ज्ञानी पुरुषको संसारको छोड़कर कहीं भागना नहीं चाहिए। संसारमें ही रहते हुए, जीवन्मुक्त बनकर, अपने धर्मोंका, जो कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदिसे सम्बद्ध हैं, पालन करते रहना चाहिए। जो जीवन्मुक्त अपने शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा उनके करनेयोग्य कर्मोंको होने देता है, उसका जीवन ही सुन्दर जीवन होता है। निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त स्थितिमें ही नित्य स्थित रहते हुए, संसारमें रहने और अपने स्थानोचित धर्मोंका पालन करते रहनेका ही नाम जीवन्मुक्ति है। इसलिये हे प्रह्लाद ! अपने राज्यके कामोंको देखो, और राजोचित धर्मोंका पालन करो।

प्रह्लादकी समझमें विष्णु भगवान्की बात आ गई। उन्होंने जीवन्मुक्त होकर बहुत समय तक दैत्यलोकका राज्य किया और शरीरान्त होनेपर निर्वाणपदको प्राप्त हुए।

२२—गाधीकी कथा

गाधीकी कथा योगवासिष्ठके सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानोंमेंसे है।

इसके द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको मायाके स्वरूपका उपदेश किया है। इस उपाख्यानका वही तात्पर्य है जो कि इन्द्रजालीके उपाख्यानका था—जो घटनाएँ बाह्यजगतमें बरसोंमें होती हैं वे ही मनके भीतर उसी रूपसे एक क्षणमें घटित हो सकती हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी रचना मनके भीतर न हो सकती हो। कथा इस प्रकार है :—

कोशल देशमें एक बहुत शुद्ध आचार और विचारवाला गाधी नामका ब्राह्मण रहता था। उसके मनमें एक समय भगवान्‌की मायाका दर्शन करनेकी इच्छा हुई। अतएव उसने विष्णु भगवान्‌की भक्ति करना आरम्भ कर दिया। उनके ध्यानके सिवाय उसके मनमें और कुछ न आता था। भगवान् प्रसन्न हुए और गाधीके सामने प्रकट होकर उससे बोले कि जो चाहो वर माँगो। गाधीने कहा, भगवन्! मै मायाका स्वरूप देखना चाहता हूँ। भगवान् यह कहकर कि किसी समय ऐसा ही होगा, अन्तर्धान हो गए।

कुछ दिन पीछे गाधी गङ्गास्नानको गया। कपड़े निकालकर गङ्गा तटपर रख दिए और जलमें प्रवेश करके एक गोता लगाया। गोता लगते ही उसको एक विचित्र स्थितिका अनुभव हुआ जो इस प्रकारकी थी:—

गाधी अपने घरपर है। बीमार है, और बीमारी इतनी बढ़ी कि वह मर रहा है। मरनेकी अवस्थाका उसको अनुभव हो रहा है। उसको मृत शरीरको छोड़कर लोकान्तरोंमें जानेका अनुभव होता है, और वहाँपर अपने जीवनकी उत्कट और अपूर्ण वासनाओंके अनुसार उसको भोग और दण्ड मिल रहे हैं। इसके पीछे वह फिर इस लोकमें आता है, और एक चाण्डालीके गर्भमें प्रवेश करता है। समय पूरा होनेपर वह चाण्डाल-शिशु होकर उत्पन्न होता है। बड़ा होता है और एक चाण्डाल कन्यासे जो कि ऐसी ही कुरूपा है जैसा कि वह स्वयं है, विवाह कर लेता है। उसके साथ गृहस्थीका सुख भोगता है, और चाण्डाल वृत्तिद्वारा धनोपार्जन करके अपना निर्वाह करता है। उसकी पत्नी द्वारा उसके घरमें कई पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न होकर बड़ी होती हैं। वह स्वयं वृद्ध हो जाता है। एक समय उस किरात देशमें, जहाँपर कि वह चाण्डाल रहता है, बहुत अकाल पड़ता है। अन्न न होनेके कारण उसके कई लड़के और लड़कियाँ

मर जाती हैं। पत्नीका भी देहान्त हो जाता है। वह बहुत रोता है और शोकातुर होकर अपना पेट पालनेके वास्ते दूसरे देशको चला जाता है। रास्तेमें उसको अचानक ही एक हाथी अपनी सूँड़में उठाकर अपनी पीठपर बैठा लेता है। यह हाथी एक राज्यका हाथी है जो कि उस राज्यके राजाकी मृत्यु हो जानेपर इसलिये छोड़ा गया है कि जिसे वह उठा लेगा वही राजा बनाया जाएगा। हाथीके पीछे पीछे राज्यके मंत्री और अन्य कर्मचारी हैं। उन्होंने उस चाण्डालको प्रणाम किया और हाथीपरसे उतारकर उसको स्नान कराया और नृपोचित शृङ्गार कराकर अपने राज्यस्थानपर ले जाकर गद्दीपर बैठा दिया। अब वह चाण्डाल राजा होकर सब प्रकारके भोगोंका उपभोग करने लगा। उसके राज्यमें किसी बातकी कमी नहीं है। धन धान्य अतुल है। अन्तःपुरमें एकसे एक उत्तम और सुन्दर स्त्री उसकी सेवाके लिये मौजूद है। पूरे आठ वर्ष उसने सब प्रकारके सुख भोगे और बड़ी अच्छी तरहसे राज्य किया। दुर्भाग्यवश एक दिन वहाँपर उसके यौवनके मित्र और सङ्गी कुछ चाण्डाल आ निकले। उनके सामनेसे राजा साहबकी सवारी निकली तो उन चाण्डालोंने अपने पुराने मित्र कटञ्ज चाण्डालको राजाके रुपमें देखकर पहचान लिया और वे प्रसन्न होकर चिल्लाए और उससे मिलनेके लिये दौड़े। सिपाहियोंके रोकनेपर भी न रुके, क्योंकि जिनका मित्र राजा हो उन्हें सिपाहियोंका क्या डर। यह रहस्य प्रजाको मालूम हो जाता है और सारे नगरमें इस बातकी ख़बर फैल जाती है कि वहाँका राजा चाण्डाल है। रानियोंको और नगरके द्विजोंको इस ख़बरके पाते ही इतना दुःख और पश्चात्ताप हुआ कि नगरके लोगोंने प्रायश्चित करनेके लिये एक स्थानपर बहु विस्तृत अग्निकुण्ड बनाकर अग्निमें प्रवेश किया। राजाको यह सब दृश्य असह्य हो गया और उसने भी उसी अग्निकुण्डमें प्रवेश कर लिया। जब उसका शरीर अग्निसे जलने लगा तो वह अचेत हो गया। जब उसे चेतना आती है तो वह अपने आपको गाधीके रुपमें गंगामें ग़ोता लगाकर ऊपरको सर उठाता हुआ पाता है। उसकी बुद्धिमें ही नहीं आता कि क्या मामला है। तटकी ओर जो देखा तो उसके कपड़े वहाँपर मौजूद हैं, और चारों ओरकी स्थितिपर ग़ौर करनेसे यही मालूम हुआ कि उसने यह सब अनुभव उतने ही समयमें कर लिया जितना कि उसको गंगामें एक ग़ोता लगानेमें हुआ था।

कुछ दिन पीछे उसके घरपर एक मुसाफ़िर अतिथि होकर आता है। रातको उसको भोजन कराकर और आरामके लिये योग्य आसन देकर गाधीने उस यात्रीसे अपनी यात्राका वृत्तान्त सुनानेकी प्रार्थना की। यात्रीने कहा—हे ब्राह्मण मैंने बहुत देशोंमें भ्रमण किया है पर एक देशमें मैंने इतना हृदय-विदारक दृश्य देखा है कि उसका ध्यान करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोना आता है। यहाँसे बहुत दूर उत्तर दिशामें एक देश है। वहाँ सारी द्विज प्रजा और सारी रानियाँ इस कारण अग्निमें प्रवेश कर गईं कि उनको आठ वर्ष तक अज्ञाततया एक चाण्डालके राज्यमें जीवन बिताना पड़ा। चाण्डाल राजा भी दुःखी होकर उसी अग्निमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो गया। वह दृश्य मैंने इन्हीं आंखोंसे देखा है। वहाँसे मैं प्रयाग गया और त्रिवेणीमें स्नान करके सीधा यहाँ आ रहा हूँ।

गाधीको यह बात सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और उस घटना स्थानको देखनेकी प्रबल इच्छा हुई। यात्रीको साथ लेकर वे उस राज्यमें गए और वहाँ सब बातें उसी प्रकार पाईं जैसे कि उन्होंने अनुभव की थीं। फिर वे किरात देशमें गए और वे सब बातें देखीं जो उन्होंने अपने चाण्डाल जीवनमें अनुभव की थीं।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे उसे ज्ञान हुआ यही मायाका स्वरूप है।

२३—उद्दालककी कथा

मनुष्यको शान्ति और आनन्दका अनुभव तभी हो सकता है जब कि वह अपने आपको सत्ता सामान्यमें स्थित कर लेता है। जब तक मनुष्य विकारवान् नानापदार्थोंमें अपना अहंभाव रखता है तब तक उसे शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषयपर वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको उद्दालक मुनिका उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

गन्धमादन पर्वतपर उद्दालक नामका एक युवा मुनि वास करता था। एक समय उसके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि अभी तक उसको शान्ति और आनन्दका अनुभव नहीं हुआ; उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य जीवनका परम उद्देश्य वही है। इन्द्रियोंके भोग भोगनेसे मनुष्यको कभी तृप्ति नहीं हो सकती। मनुष्यको तो वह वस्तु प्राप्त करनी चाहिए जिसको प्राप्त

करलेनेपर और कुछ प्राप्त करना ही नहीं रहता। मनुष्यका ध्येय तो वह स्थिति है जिसमें अनन्त आनन्द और परम शान्तिका अनुभव हो, और दुःख, शोक और मोहका लेश भी न हो।

यह सोच कर उद्दालकने निष्काम तप करना आरम्भ किया। कुछ दिन तक तप करने और यम और नियममें स्थित रहनेसे उसका मन शुद्ध और विवेकवान् हो गया। अब उसने मनको सम्बोधित करके यह पूछना आरम्भ किया:—हे मन ! तू यह बता कि बिषयोंके पीछे दौड़नेमें तुझे क्या सुख मिलता है। यदि तू विचार करके देखे, तो तुझको यह स्पष्ट हो जायगा कि विषयों द्वारा सुखकी आशा करना ऐसा ही है जैसा कि किसी प्यासे मनुष्यका मृगतृष्णाके पीछे दौड़ना। जिन विषयोंको तू सुखदाई समझ कर उनके पीछे दौड़ता है वे सब दुखदाई ही सिद्ध होते हैं। किसी विषयको प्राप्त कर लेने पर ऐसी तृप्ति नहीं होती कि फिर और किसी विषयकी इच्छा न हो। जिस विषयको तू प्राप्त कर लेता है, उसीसे तुझे थोड़े ही काल पीछे घृणा हो जाती है। यदि वह विषय सुखदाई होता तो उससे घृणा क्यों होती ? अतएव किसी विषयको सुखदाई समझना तेरा भ्रम है। इसलिये विषयोंके लिये वासना छोड़ कर उस आत्म-पदमें स्थित होनेका प्रयत्न कर, जिसमें स्थित हो जानेपर अतुल, अक्षय और अनन्त आनन्दकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकारके विचारों द्वारा जब उसका मन शान्त हुआ तो उद्दालकने आत्मविचार आरम्भ किया और अपनेसे यह प्रश्न पूछा—मैं क्या हूँ ? क्या मैं इन्द्रियोंके विषय हूँ ? नहीं ! क्योंकि मेरा आत्मभाव तो सदा एक रूप है, स्थिर है, और प्रकाशरूप है। विषय नाना हैं, विकारवान् हैं, और जड़ हैं। इन्द्रियां भी मेरा आत्मस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ भी नाना हैं, विकारवान् हैं, और मेरे ज्ञानका विषय हैं। ज्ञाता और ज्ञानके विषय कैसे एक हो सकते हैं ? ज्ञाता तो विषयसे सदा ही भिन्न होगा। शरीर भी मैं नहीं हूँ क्योंकि यह भी मेरे ज्ञानका विषय है। मैं इसको अपना कहता हूँ, यह विकारवान् है, और उत्पत्ति और नाशको प्राप्त होता है। आत्मामें न तो विकार है, और न उत्पत्ति और नाश हैं। आत्मा किसी दूसरे ज्ञानका विषय भी नहीं है। स्व-संवेद्य है। आत्माके अनुभवमें कभी भी विच्छेद नहीं होता; शरीरका अनुभव तो सुषुप्ति अवस्थामें होता ही नहीं। क्या मैं

मन हूँ ? यह भी कहना ठीक नहीं है। मन भी आत्माका विषय है, विकारवान् है, और मनका अनुभवभी अविच्छिन्न रूपसे नहीं होता। सुषुप्ति अवस्थामें मनका अनुभव नहीं रहता किन्तु आत्माका अनुभव तो सब अवस्थाओंमें होता रहता है। इन सब विचारोंसे यह निश्चय हुआ कि विषय, इन्द्रियाँ, शरीर मन आदि जितने पदार्थ हैं कदापि आत्मा नहीं हो सकते। आत्मा इन सब का द्रष्टा, इन सबसे अधिक स्थायी और स्वयंप्रकाश तत्व है। उसका न कोई आदि है और न अन्त। वह सदा ही अपनी सत्तामें स्थित है। उसका अनुभव तभी हो सकता है जब कि सब विषयोंसे आत्मभाव हटा कर आत्मसत्तामें अपने आपको स्थित कर लिया जाए।

यह सोचकर उद्दालकने योग द्वारा मनका निरोध करना आरम्भ किया। प्राणायाम द्वारा प्राणोंका निरोध करके उसने कुण्डलिनी शक्तिको जागृत किया, और उसको ब्रह्मस्थान पर लेजाकर ब्रह्ममें स्थित किया। ऐसा करनेसे उसको निर्विकल्प समाधि लग गई। इस स्थितिमें उसने परम शान्ति और परम आनन्दका अनुभव किया।

कुछ काल पीछे निर्विकल्प समाधि टूटी और वह जाग्रत अवस्थामें आया। अब उसकी दृष्टि दूसरी ही हो गई। उसके चित्तमें वही शान्ति और वही आनन्द था जो कि उसने समाधिकी अवस्थामें अनुभव किया था। अब उसको जागृत अवस्थामें भी आत्मभावका अनुभव होता था और उसकी स्थिति उस सत्तासामान्यमें थी जो कि सदा और सर्वत्र एक रूपमें स्थित है, जो सब ही वस्तुओं का परम स्वरूप है और जिसमें आनन्द और शान्ति अविच्छिन्न रूपसे वर्तमान हैं। इस अवस्थाको चारों अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि—से परेकी अवस्था, अर्थात् तुर्यातीत अवस्था कहते हैं। इस अवस्थामें स्थित हो जाने पर मनुष्यको और किसी स्थितिके प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रहती। उद्दालकने इस प्रकार अपनेको सत्तासामान्यमें, जो कि चारों अवस्थाओंका आधार है, स्थित करके जीवन्मुक्त रूपसे अपना शेष जीवन विताया।

२४—सुरघुकी कथा

उद्दालक मुनिकी नाईं किरातराज सुरघुने भी अपने विचार द्वारा परम शान्तिका अनुभव किया था। उसकी कथा इस प्रकार है—

हिमालय पर्वतोंमें कैलाशके पास एक देश था जहाँ पर हेम-जटा (सोने जैसे बालों वाली) नामक एक जङ्गली जाति रहती थी। उस जातिके लोग किरात भी कहलाते थे। उन किरातोंके राजाका नाम सुरघु था। सुरघु महा प्रतापी और बुद्धिमान् राजा था। वह बहुत न्यायपूर्वक राज्य करता था। एक समय उसको इस प्रकारकी वेदना हुई कि राज्यके कार्य न्यायपूर्वक करनेसे भी उसके हाथोंसे बहुतसे लोगों (अपराधियों) को दुःख पहुँचता है, और इस दुःखको देख कर उसका चित्त बहुत ही अनुदुःखित होता है। यदि इस दुःखसे बचनेके लिये वह राज्य छोड़ दे तो उसकी प्रजा अराजकताके कारण नष्ट भ्रष्ट हो जाएगी। यदि न्याय न किया जाए तो भी दुराचारी लोगोंके हाथसे सज्जनोंको कष्ट पहुँचेगा। इस प्रकारके असमञ्जसमें पड़कर राजा सुरघु बहुत दुःखी हुए।

इस अवसर पर माण्डव्य नामक मुनि उधरको आ निकले। सुरघुने मुनिको प्रणाम करके उनसे अपनी मनोवेदनाकी चिकित्सा पूछी। माण्डव्य मुनिने कहा—हे राजन्! तुम्हारी यह वेदना तब तक शान्त नहीं होगी जब तक तुम आत्मज्ञानी होकर निष्काम भावसे राज्य नहीं करोगे। सांसारिक आधि और व्याधि मनुष्यको उस समय तक कष्ट देती हैं जब तक कि वह जीवन्मुक्त नहीं होता। जीवन्मुक्त हो जाने पर मनुष्य हर स्थितिमें आनन्द और शान्तिका अनुभव करता है।

यह कह कर माण्डव्य मुनि अपने स्थान पर चले गए, और सुरघुने यह विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या है। विचार करते करते वह इस निश्चय पर पहुँचे कि शरीर इन्द्रिय और मन आदि-मेंसे कोई भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब आत्माके विषय हैं, विकारवान् हैं और सदा अनुभवमें आने वाले नहीं हैं। आत्माका अनुभव सदा अविच्छिन्न रूपसे एकरस रहनेवाला है। आत्माका अभाव कोई भी कभी अनुभव नहीं करता, लेकिन इन सब वस्तुओंके अभाव का कभी न कभी अनुभव होता ही रहता है। इसलिये सदा स्व-संवेद्य आत्माका कभी कभी अनुभवमें आने वाले विषय-शरीर, इन्द्रियां और मनके साथ अहंभाव होना भ्रम मात्र है। शरीर, इन्द्रियां और मन आदि तो परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं; किन्तु आत्मा, जोकि चिन्मात्र है, अनन्त और सर्वव्यापक है। कोई वस्तु, देशकाल

और लोक लोकान्तर ऐसा नहीं है जो आत्मासे बाहर हो। आत्मा सब में है और सब पदार्थ आत्मामें हैं। सब वस्तुएँ आत्माका प्रकाश हैं। इस प्रकार सोचते २ सुरघुको आत्मानुभव होने लगा। उसको सब राज्य कार्य करते रहने पर भी आनन्द और शान्तिका भान होने लगा, और सब स्थितियोंमें समान रहनेका अभ्यास हो गया। वह जो कुछ भी करता था, निष्काम भावसे अपना धर्म समझके करता था। हानि और लाभ, यश और अपयश, मोह और शोक उसको किसी प्रकार भी स्पर्श नहीं करते थे। राज्यके सब कार्य यथास्थिति और आवश्यकतानुसार करते रहने पर भी उसके चित्तमें पूर्ण शान्ति रहती थी।

एक समय उसके यहाँ उसका मित्र परिघ नामक एक पारसी राजा भ्रमण करता हुआ आ पहुँचा। पारसी नरेश परिघ भी आत्मज्ञानी था। दोनों मित्रोंमें बड़े प्रेमसे आत्मचर्चा हुई। सबसे उत्तम बात जो सुरघुने परिघसे कही वह थी समाधिका स्वरूप। राजा परिघने सुरघुसे पूछा कि क्या आपको कभी समाधिका अनुभव हुआ है। सुरघुने उत्तर दिया कि कभी क्या उसको हर समय ही समाधिका अनुभव होता है। आत्मज्ञानी जन तो संसारके सब कार्य करते रहने पर भी समाधिमें ही रहते हैं, क्योंकि उनकी स्थिति सदा ही आत्मपदमें है। उनको सारा जगत् आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है, जगत्की कोई घटना उनको आत्मपदसे च्युत नहीं कर सकती। सारा जगत् उनको आत्मा का ही प्रकाश जान पड़ता है। कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई पड़ती जो हेय अथवा उपादेय हो। वे जगत्में रहकर सब काम करते हुए भी आत्मपद पर स्थित रहते हैं। यह ही सर्वोत्तम समाधि है। अज्ञानीका मन किसी अवस्थामें भी शान्त नहीं होता, ज्ञानीका मन सदा ही और सब प्रकारके कामोंमें लगे रहने पर भी शान्त और समाहित रहता है। निष्काम कर्म करने, शोक और मोहसे रहित रहकर संसारमें विचरने और आत्मदृष्टिसे सब वस्तुओंको देखनेका नाम समाधि है। अतः ज्ञानी सदा ही समाहित रहता है।

२५—भास और विलासका सम्वाद

जीवका परम उद्देश्य, जीवनका अन्तिम प्राप्य स्थान, मनुष्यका सर्वोत्तम ध्येय आत्मानुभवस्वरूप परमानन्दमय मुक्ति है। उसको न

जानता हुआ भी प्रत्येक जीव उसीकी तलाशमें है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार समुद्रमें ग़ोते खाने पड़ते हैं। अज्ञान-वश जीव अनात्म पदार्थोंको आत्मा समझता है, जहाँ आनन्द नहीं है वहांपर आनन्दकी कल्पना करता है, और यह समझता रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्तिसे उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाएगी, किन्तु उस वस्तुके प्राप्त करलेने पर ही उसे यह मालूम हो जाता है कि ऐसा समझना उसकी भ्रान्ति थी। क्षणभर पीछे ही उसकी फिर वही दशा होती है—किसी दूसरी अप्राप्त वस्तुकी ओर उसका मन दौड़ जाता है और वह उसको प्राप्त करनेमें अग्रसर हो जाता है। प्राप्त हो जाने पर फिर उसे यही मालूम होता है कि उसका विचार ठीक नहीं था। जब तक उसको परमानन्दके यथार्थ स्वरूपका पता नहीं लग जाता और वह उसका अनुभव नहीं कर लेता, तबतक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ बराबर होती रहती हैं। इस भ्रान्तिमय जीवनमें कभी चैन नहीं मिलती–सदा ही अशान्ति रहती है। इस सम्बन्धमें वसिष्ठ जीने रामचन्द्रजी को भास और विलासका उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है।

सह्याचल पर्वत पर अत्रि मुनिके आश्रमके समीप दो मुनि रहते थे। उनके दो पुत्र भास और विलास नामक थे। उनमें एक दूसरेके प्रति घनिष्ठ प्रेम था। एक दूसरेसे कभी भी जुदा नहीं होता था। दोनोंका रहना, खाना, पीना और सोना एक साथ होता था। इस प्रकार रहते रहते उन दोनोंके माता पिताओंकी मृत्यु हो गई। दोनों ने मिलकर मृतक-संस्कार किया। कुछ समयके पीछे दोनों देश देशान्तरमें घूमनेके लिये निकले। दोनों भिन्न दिशाओंमें गए और संसारमें ख़ूब घूमे, और नाना प्रकारके अनुभव प्राप्त किए। कुछ काल पीछे वे अकस्मात् एक ही स्थानपर आ मिले। एक दूसरेको देखकर उनको बहुत ही आनन्द हुआ। विलासने भाससे पूछा–भाई भास, आज आप बहुत दिनमें मिले हो। आपको देखकर मुझे बहुत ही खुशी हुई है। कहो इतने दिनों तक कुशलसे तो रहे? भासने उत्तर दिया—भाई विलास! इस संसारमें कौन कुशलसे है? सदाही किसी न किसी प्रकारका दुःख लगा रहता है। जबतक मनुष्यको आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तबतक कुशल कहाँ? जबतक पर-मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती तबतक कुशल कहाँ? जबतक मनुष्य

इन्द्रियोंके विषयोंके पीछे सुखकी तलाशमें दौड़ता रहता है, तबतक कुशल कहाँ? जबतक मनमें विषयोंके सुखोंकी वासना रहती है तब तक कुशल कैसी? जबतक बुद्धि सांसारिक रहती और आत्मविचार नहीं करती तबतक कुशल कहाँ? जबतक मनुष्य जीवन्मुक्त होकर नहीं विचरता तबतक कुशल कैसी? जबतक मनुष्य संसार में निष्काम भावसे अपनी स्थिति-अनुसार धर्मका पालन नहीं करता तबतक कुशल कैसी? जबतक अहंभाव है तबतक कुशल कैसे हो सकती है? जबतक जीव ब्रह्मभावको प्राप्त नहीं करलेता तबतक कुशल कैसी? भासको विलासकी बात ठीक जान पड़ी और दोनों भाइयोंने मिलकर आत्मविचार करना आरम्भ किया।

२६—वीतहव्यका वृत्तान्त

स्वयं विचार करनेसे चित्त किस प्रकार शान्त हो जाता है यह बात वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको वीतहव्यकी कथा द्वारा समझाई, जो इस प्रकार हैः—

विन्ध्याचलकी कन्दरामें वीतहव्य नामक एक तपस्वी रहता था। उसके मनमें सांसारिक विषय-भोगोंकी बड़ी तीव्र कामना थी। इसलिये उसने नानाप्रकारके काम्य कर्म किए और उनके फल भोगे, किन्तु उसके मनमें किसी प्रकार तृप्ति न हुई। हमेशा ही किसी न किसी विषयके भोग करनेकी वासना उसके मनमें रहती थी। अपनी इस स्थितिपर विचार करनेपर उसे बहुत विषाद हुआ। उसने यह निश्चय किया कि पूर्ण तृप्ति और शान्ति प्राप्त करनेका उपाय केवल निर्विकल्प समाधिका अनुभव कर लेना है। यह अनुभव प्राप्त करनेके लिये उसने एक पत्तोंकी कुटी बनाई और उसके भीतर पद्मासन लगाकर बैठ गया, और इस प्रकार विचार करने लगाः—

मैं विषयोंके पीछे क्यों दौड़ता हूँ? इसीलिये कि मैं समझता हूँ कि अमुक विषयके भोग करनेपर मुझे बहुत आनन्द मिलेगा। अनेक प्रयत्न करनेपर जब किसी प्रकार वह विषय प्राप्त हो जाता है और उसको भोग किया जाता है तो थोड़े ही काल पीछे यह अनुभव होने लगता है कि हमारा यह ख़याल ग़लत था कि उस विषयका भोग कर लेनेपर हमको परम आनन्दका अनुभव और परम तृप्तिकी प्राप्ति होगी। थोड़े ही समय पीछे हमको

उस विषयसे घृणा होने लगती है और हम उसका त्याग करना चाहने लगते हैं। यदि इस समय वह विषय हमसे दूर नहीं होता तो उसका सामीप्य ही हमको दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। कितने आश्चर्यकी बात है कि जो विषय कुछ काल पहले हमको परम आनन्दका उद्गम दिखाई पड़ता था और जिसको प्राप्त कर लेना हम अपने जीवनका ध्येय और सौभाग्य समझते थे, वही विषय प्राप्त हो जानेपर और भोग लेनेपर आनन्द रहित और दुखदायी प्रतीत होने लगता है। इस अनुभवसे यह साफ़ ज़ाहिर है कि कोई भी विषय स्वयं आनन्द अथवा दुःख गुणवाला नहीं है, ऐसा समझना हमारा भ्रम है। किसी विषयमें यदि आनन्द होता तो उसके भोग करनेपर अथवा प्राप्त कर लेनेपर हमको सदा ही आनन्दका अनुभव हुआ करता। किन्तु ऐसा कहींपर भी देखनेमें नहीं आता। देखनेमें तो यह आता है कि जो जो भोग जिस मनुष्यको प्रचुरतासे प्राप्त हैं उनमें उसे कोई आनन्द महसूस नहीं होता। वह सदा ही उन विषयोंके लिये तरसता रहता है कि जो दूसरोंको प्राप्त हैं और उसके पास नहीं हैं। दूसरे लोग उन वस्तुओंको आनन्द दायक समझते रहते हैं जो कि उसको सुलभतया प्राप्त हैं किन्तु दूसरोंके पास नहीं हैं। इसी भ्रममें पड़कर सब जीव संसार समुद्रमें ग़ोते खा रहे हैं। आज यह प्राप्त करना है, कलको इससे घृणा है; कलको वह प्राप्त करना है, परसों उससे पीछा छुड़ाना है। आख़िर इस वृथा उद्योगसे मिलता ही क्या है? मनुष्यको इस अनुभवसे अपने विचार द्वारा यही सीखना चाहिए कि आनन्द प्राप्तिके लिये विषयोंके पीछे दौड़ना भूल है। आनन्द किसी विषयके भोग द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा विचार करने पर वीतहव्यके मनमें विषयोंके प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई। अब उसका मन किसी विषय की ओर नहीं दौड़ता था। यह स्थिति हो जाने पर उसने इन्द्रियोंकी ओर ध्यान दिया और विचार करना आरम्भ किया कि इन्द्रियोंको आत्मा समझना और उनकी आवश्यकताओंको अपनी आवश्यकताएँ समझना, मनुष्यकी बड़ी भारी भूल है। सब इन्द्रियाँ मन और प्राणके साथ सम्बद्ध हुए बिना निष्क्रिय और जड़ हैं। मन यदि इन्द्रियोंके साथ सम्बद्ध होकर उनके विषयका भोग नहीं करता तो कोई भी इन्द्रिय

किसी भी विषयका ज्ञान और भोग नहीं प्राप्त कर सकती। ऐसे ही इन्द्रियोंकी सारी क्रियाएँ प्राणके आधार पर हैं। यदि किसी इन्द्रियका प्राण-शक्तिके साथ सम्बन्ध न रहे तो उस इन्द्रिय द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती। मन और प्राण ही इन्द्रियोंको चेतना और क्रिया प्रदान करते हैं। स्वयं इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। वे जड़ और अशक्त हैं किन्तु मनुष्य भूलसे उनको अपना आत्मा मान बैठता है और उनकी आवश्यकताओंको अपनी आवश्यकताएँ समझने लगता है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्यको इन्द्रियोंसे छुट्टी मिली। अब वह इन्द्रियों और उनके विषयोंके वशमें न रहा। उसने अपने आत्मभावको इनसे ऊँचे उठाकर आगे विचारना आरम्भ किया।

मन और प्राण भी कदापि आत्मा नहीं हो सकते। मन तो चञ्चल है और प्राण जड़ है, किन्तु आत्मभाव तो सदा ही स्थिर और स्वयं प्रकाश मालूम पड़ता है। क्या कभी ऐसा हुआ है कि आत्माके अनुभवमें किसी प्रकारका भी विकार मालूम पड़े ? जितना विकार है वह सब आत्माके विषयोंमें ही होता है। आत्मा जो सब विषयोंका साक्षी है सदा ही एकरूप और निर्विकार प्रतीत होता है। यदि वह मन होता तो मनका उसको ज्ञान न होता और उसको यह भी न मालूम पड़ता कि मन विकार-वान् और चञ्चल है। विकारोंका ज्ञान तभी हो सकता है जबकि कोई निर्विकार द्रष्टा उनका निरीक्षण करता हो। प्राण जड़ है। वह न अपने आपका अनुभव करता है और न किसी दूसरे विषयका। आत्माको प्राणका अनुभव होता है और प्राणकी शक्ति भी आत्माके अधीन है। इस प्रकार विचार करनेपर वीतहव्यको यह अनुभव होने लगा कि मन और प्राणसे परे और इनका द्रष्टा तथा संचालक आत्मतत्त्व है; इसमें ही स्थित होना ठीक है। बुद्धि भी जो कि मनसे कुछ अधिक स्थिर जान पड़ती है आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धिमें भी विकार होते हैं और आत्माको बुद्धिका ज्ञान होता है। मन और बुद्धि दोनों ही गहरी निद्रामें शान्त हो जाते हैं, किन्तु आत्माका अनुभव वहाँपर भी होता है। इसलिये आत्मा बुद्धिसे अधिक स्थायी, बुद्धिका द्रष्टा, और गहनतम तत्त्व है। उसमें स्थिति प्राप्त करलेनेपर ही शान्तिका अनुभव हो सकता है।

इस प्रकार विचार करते करते और आत्मतत्त्वका ध्यान करते

करते वीतहव्यको समाधि लगगई। उसकी बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर सभी स्थिर हो गए और वह इस स्थितिमें बहुत काल तक शिलावत् बैठा रहा। समाधि खुलनेपर जब उसकी चेतना जाग्रत् अवस्थामें लौटी तो उसको यह मालूम हुआ कि उसके शरीरके ऊपर एक बड़ी भारी बाँबी रची गई है, और उसके शरीर और इन्द्रियोंमें इतनी जड़ता आगई है कि वह उसको तनिक भी नहीं चला सकता। तब उसकी चेतना भीतरको लौटी और उसने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा अपने पूर्व जीवन और लोकोंका अनुभव किया। १०० वर्ष तक वह कैलाश पर्वतपर एक तपस्वी, १०० वर्ष तक एक विद्याधर, पञ्च-युगों तक इन्द्र और फिर बहुत काल तक गणेश रहा था।

वीतहव्यने अब यह सोचा कि उसका जड़ और मिट्टीसे दबा हुआ शरीर चेतन होकर मिट्टीसे स्वतन्त्र हो जाए। इसलिये उसने अपने सूक्ष्म शरीरको सूर्यमण्डलमें भेजा और वहांसे पिङ्गला नामक सूर्यकी कलाको साथ लाकर उसके द्वारा मिट्टी साफ़ कराई, और शरीर और इन्द्रियोंमें पुनः चेतनता और संचलनकी उत्पत्ति कराई। अब उसका शरीर पूर्वकी नाईं स्वस्थ और चेतन हो गया। जो अनुभव उसने निर्विकल्प समाधिमें प्राप्त किया था उसमें अपनी स्थिति करके जाग्रत् अवस्थामें ही आत्मभावसे रहने लगा। अब उसका जीवन एक जीवन्मुक्तका जीवन था। न कुछ उसके लिये उपादेय था और न हेय। न किसी वस्तुके प्रति उसको राग था, न घृणा। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोचित और शरीर और मन द्वारा शरीर और मनके करने योग्य कर्म वह शान्त रहकर करता था। उसको हर वक्त परमानन्दका अनुभव होता रहता था। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्थामें बहुत समय तक रहकर वीतहव्यके मनमें विदेहमुक्ति की कैवल्य अवस्थामें प्रवेश करनेका विचार हुआ। यह सोचकर उसने विचार करना आरम्भ किया। अपने संसार और जीवनकी एक एक वस्तुको सम्बोधन करके उसने उनको विदा किया और अपने आपको सबसे निर्मुक्त करके परम शान्त, सत्तासामान्य, तुर्यातीत, निर्वाणस्थितिमें स्थित करके सदाके लिये शान्त हो गया।

२७—काकभुशुण्डकी कथा

संसारसे मुक्त होनेके उपायका नाम योग है। वह दो प्रकारका

है। एक चित्तोपशम और दूसरा प्राणनिरोध। प्राणनिरोध द्वारा चित्तका निरोध हो जाता है और चित्तके शान्त होनेपर प्राणका निरोध हो जाता है। चित्तोपशम होनेपर आत्मानुभवका उदय हो जाता है। कुछ लोग प्राणनिरोधके मार्गपर चलकर आत्मानुभव प्राप्त करते और कुछ मनोनिरोधके मार्गपर। पहिले साधकोंको योगी और दूसरोंको ज्ञानी कहते हैं। योगियोंका वर्णन करते हुए, वसिष्ठ जीने रामचन्द्रजीको महायोगी काकभुशुण्डजीकी कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

वसिष्ठजीने कहा—एक समय मैं सूक्ष्म शरीर द्वारा इन्द्रकी सभामें गया। वहाँपर बड़े २ ऋषि और मुनि बैठे थे और नानाप्रकार-का वार्तालाप हो रहा था। होते होते चिरञ्जीवी पुरुषोंका वृत्तान्त छिड़ गया। शातातप नामके मुनिने कहा:—संसारमें सबसे अधिक चिरञ्जीवा काकभुशुण्ड मुनि हैं। सबने उत्सुकतासे पूछा वे कौन हैं और कहाँ रहते हैं? शातातप मुनि बोले:—सुमेरु पर्वतकी पद्मराग नामवाली कन्दराके शिखरपर एक कल्प वृक्ष है। उस वृक्षकी दक्षिण दिशाकी डालपर बहुतसे पक्षी रहते हैं। उन पक्षियोंमें एक महा श्रीमान् कौवा रहता है। उसका नाम भुशुण्ड है। वह वीतराग और महा बुद्धिमान् है। जितने कालसे वह जीवित है उतने कालसे कोई भी जीवित नहीं है। वह शान्त और जीवन्मुक्त है, उसके साथ बातचीत करनेसे परम आनन्दका अनुभव होता है और चित्त शान्त हो जाता है। यह बात सुनकर मेरे (वसिष्ठके) चित्तमें काकभुशुण्ड के दर्शन करनेकी महती उत्कण्ठा हुई। इन्द्रसभासे उठकर मैं सीधा सुमेरु पर्वतकी ओर चल दिया। सुमेरु पहाड़की पद्मरागनाम्नी कन्दराके शिखरपर पहुँचते ही मुझे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा। उस महा सुन्दर और सब ऋतुओंके फलफूल युक्त वृक्षके ऊपर नानाप्रकारके पक्षी बैठे आनन्दके राग अलाप रहे थे। आगे बढ़कर मैंने देखा कि उस वृक्षके एक टहनेपर अनेक कौवे बैठे हैं। वे सबके सब अचल और शान्त भावसे बैठे थे और उनके मध्यमें एक महा श्रीमान् और कान्तिमान् ऊँची गर्दन किए हुए वह कौवा विराजमान् था जो जगत्में सब जीवोंसे अधिक चिरञ्जीवी है, जिसने अनेक कल्प देखे हैं और जो सदा ही आत्मभावमें स्थित रहता है। मैं आकाशसे नीचे उतरा। मुझे देखते ही सब कौवोंमें खलबली मच गई। यद्यपि काक-

भुशुण्डजीने मुझे कभी नहीं देखा था तो भी वे अपने आप ही अपनी सर्वज्ञताके कारण समझ गए कि मैं वसिष्ठ हूँ और कुतूहलवश उनके दर्शन करने आया हूँ। उन्होंने उठकर मुझे प्रणाम किया और मेरा स्वागत किया। सङ्कल्प द्वारा उन्होंने हाथोंकी रचना करके वृक्षके पत्र तोड़ कर मेरे लिये आसन बनाकर मुझसे बैठनेकी प्रार्थना की। यद्यपि वे सब कुछ समझ गए थे और जानते थे कि मैं किस निमित्त वहाँपर गया था तो भी मुझसे बोले—हे भगवन्! आपने हम सबको दर्शन देकर कृतार्थ किया। आप कृपा करके आज्ञा दीजिए कि आप की हम क्या सेवा करें? मैंने कहा कि इन्द्रकी सभामें चिरञ्जीवियोंका वृत्तान्त चलनेपर मैंने सुना था कि आप सबसे अधिक चिरञ्जीवी हैं। इसलिये आप कृपया अपने जीवनका वृत्तान्त सुनाइये।

काकभुशुण्डजी बोले—भगवान् शिवके अधिष्ठातृत्वमें अनेक गण और शक्तियाँ हैं उनके अनेक नाम और रूप हैं। उन शक्तियोंमें-से एकका नाम अलम्बुसा है। उसका वाहन चण्ड नामक काक है। और शक्तियोंकी वाहन हंसनियाँ हैं। एक समय सब शक्तियोंने मिल कर उत्सव मनाया। उनके वाहनोंने भी उत्सव मनाया और मत्त होकर नाच और गाना किया। नाना प्रकारकी क्रीड़ा करते करते यहाँ तक हुआ कि वे सब हंसनियाँ चण्ड काक द्वारा, जो कि अलम्बुसाका वाहन था, गर्भवती हो गईं। मेरी माता ब्राह्मी शक्तिका वाहन थीं। जब शक्तियोंको यह पता चला कि उनकी वाहन हंसनियाँ गर्भवती हो गई हैं तो उन्होंने उनको कुछ दिनके लिये छुट्टी दे दी और अपने आप समाधिमें स्थित हो गईं। समय आनेपर प्रत्येक हंसनीने तीन तीन अण्डे दिए। जब उनमेंसे बच्चे निकले तो हमारे पिता चण्ड हम सबको लेकर ब्राह्मी शक्तिके पास गए और उससे हमको आशीर्वाद दिलाया। उसने हमको आशीर्वाद दिया कि हम लोग कभी भी संसारके चक्रमें नहीं पड़ेंगे; सदा आत्मभावमें स्थित रहकर जीवन्मुक्त रहेंगे; कभी भीअज्ञानके वशमें नहीं होंगे। यह कहकर उस देवीने हमको इस कल्प वृक्ष पर एकान्त वास करनेकी सलाह दी। हम लोग यहाँ आकर वास करने लगे। यहाँ पर हम लोग बहुत काल तक वास करते रहे। मेरे और सब भाई अपने सङ्कल्पके कारण विदेह मुक्तताको प्राप्त हो गए। मैं

ही अकेला अभी तक जीवित हूँ। मुझे यहाँ पर रहते रहते अनेक कल्प बीत गए। समय समय पर प्रलय आता है और फिर सृष्टिकी रचना होने लगती है। प्रलयके समय मैं अपना यह घोंसला छोड़कर धारणा-द्वारा अति सूक्ष्म बन जाता हूँ। प्रलय कालमें जब कि १२ सूर्य तप-कर भूमण्डलको जलाने लगते हैं, मैं पानीकी धारणा करके ऊपर आकाशमें चला जाता हूँ। जब बहुत ज़ोरकी आँधी चलती है और वृष्टि होती है तो मैं अग्निकी धारणा करके आकाशमें स्थित रहता हूँ। जब कि सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है तो मैं वायुकी धारणा करके जलके ऊपर तैरता हूँ। जब सारा ब्रह्माण्ड लय हो जाता है तो मैं सुषुप्ति अवस्थामें ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता हूँ, और ब्रह्माण्डकी पुनः सृष्टि तक मैं उसी अवस्थामें रहता हूँ। सृष्टि हो जाने पर मैं फिर अपने इसी घोंसलेमें आकर वास करने लगता हूँ। मेरे संकल्प-के कारण यह कल्पवृक्ष प्रत्येक सृष्टिमें उदय हो जाता है।

वसिष्ठजीने बड़ी उत्सुकतासे पूछा—आपने इतने बड़े जीवनमें क्या क्या देखा ?

भुशुण्ड जी बोले—मैंने अनेक आश्चर्य देखे हैं, उनमेंसे कुछ आपको सुनाता हूँ। एक समय पृथ्वी पर तृण और वृक्ष ही थे, और कुछ न था। एक समय ११ हज़ार वर्ष तक पृथ्वी पर भस्मके सिवाय कुछ न था। वृक्ष और तृण सब जल गए थे। एक समय ऐसी सृष्टि हुई कि जिसमें सूर्य और चन्द्रमा आदि प्रकाशक ग्रह नहीं उपजे थे। केवल सुमेरु पर्वत पर स्थित कुछ रत्नों द्वारा ही प्रकाश होता था। उस समय दिन रातकी गति कुछ नहीं जान पड़ती थी। एक समय ऐसा हुआ कि देवताओं और दैत्योंका युद्ध होकर दैत्य लोगों की विजय हुई और केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिवको छोड़कर सब देवता उनके अधीन हो गए और सारे संसारमें बीस युग तक दैत्यों-का ही अचल राज्य रहा। एक बार दो युग तक पृथ्वी पर वृक्षोंके सिवाय कुछ न था। एक समय कई युगों तक पृथ्वी पर पर्वतोंके सिवाय कुछ न था। एक बार सारे पृथ्वी मण्डल पर जलके सिवाय कुछ नहीं था। महामेरु ही जलमें खंभेकी नांई स्थित था। एक बार विन्ध्याचल पर्वत इतना बढ़ा कि सब पर्वतोंसे बड़ा हो गया और पृथ्वी मण्डलको दबाने लगा। एक समय सृष्टिमें न मनुष्य थे और न देवता आदि। एक समय सृष्टिमें ब्राह्मणोंके आचरण ख़राब हो

गए थे। वे मद्यपान और दुराचार करते थे और शूद्र लोग राज्य करते थे। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, इन्द्र, उपेन्द्र और लोकपाल मेरे सामने ही अनेक बार नष्ट हुए और उत्पन्न हुए। मैंने भगवान्‌का हिरण्यकशिपुको मारना और देवताओं और दैत्यों द्वारा समुद्रका मन्थन अपनी आँखोंसे देखा है। मैंने ऐसी सृष्टियाँ देखी हैं जिनमें विष्णुका वाहन गरुड़, शिवका वाहन बैल और ब्रह्माका वाहन हंस नहीं था। जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो, हे वसिष्ठ, आप, भरद्वाज, पुलस्त्य आदि ऋषि उपजे। फिर सुमेरु आदि पर्वत उपजे। आपके आठ जन्म मुझे याद हैं। कभी आप आकाशसे उपजे, कभी जलसे, कभी अग्निसे, कभी पवनसे। बारह बार मैंने समुद्र मन्थन देखा है। तीन बार हिरण्यकशिपुका पृथ्वीको पातालमें ले जाना देखा। छः बार परशुरामका जन्म देखा है। मैंने ऐसे ऐसे समय देखे हैं कि जब कि वेद और पुराणोंके अर्थ दूसरी ही तरह लगाए जाते थे। प्रत्येक कालके उपास्य देवता और शास्त्र और शास्त्रप्रवर्त्तक भिन्न भिन्न रूपके देखे। मुझे मालूम है कि वाल्मीकिजीने १२ बार रामायणकी रचना की है। व्यासजीने मेरे सामने ही सात बार अवतार लिया और कई बार महाभारतकी रचना की। मैंने विष्णु भगवान्‌को भक्तोंकी रक्षाके हेतु अनेक बार अवतार लेते देखा है। मुझे ११ बार रामचन्द्र रूपसे उनका अवतार लेना और १६ बार कृष्ण रूपसे भली भाँति याद है। १०० बार मेरे सामने कलियुगमें बुद्ध भगवान्‌का अवतार हुआ है। मेरी आखोंके सामने ही दो बार दक्ष प्रजापतिका यज्ञ भङ्ग हुआ। इस प्रकारकी अनेक घटनाएँ मैंने देखी हैं। उनका मैं आपसे कहाँ तक वर्णन करूँ। सृष्टि अनेक बार मेरे सामने रची गई और लय हो गई। कभी और और प्रकारकी सृष्टि होती है, कभी इसी प्रकारकी जैसी कि अब है। कभी इसके सदृश और कुछ भिन्न रूपकी होती है। मेरे रहनेका स्थान कभी सुमेरु होता है, कभी मन्द्राचल, कभी हिमालय, और कभी मालवपर्वत। किसी किसी सृष्टिमें युगोंके नियमका भंग हो जाता है। कलियुगमें सतयुग और सतयुगमें कलियुग वर्तने लगता है। नाना सृष्टियोंमें देश काल, क्रिया, प्रजा, शास्त्र, राज्य, और धर्म नाना प्रकारके ही देखनेमें आते हैं। एक समय ऐसा हुआ कि ब्रह्मा अपनी आयुके दो दिन पर्यन्त समाधिमें रहे और दो कल्प तक सृष्टिकी रचना ही नहीं हुई।

वसिष्ठजीको इस कथाको सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। बहुत देर तक फिर काकभुशुण्डजीसे उनका ज्ञान और योग सम्बन्धी वार्तालाप हुआ जिसका वर्णन आगे सिद्धान्त खण्डमें किया जाएगा।

२८—ईश्वरोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको ईश्वरके सर्वोत्तम स्वरूप और उसकी सर्वश्रेष्ठ पूजाकी विधिका उपदेश किया है।

वसिष्ठजीने कहा—हिमालय का एक शिखर कैलाश नामका है, वहाँ पर चन्द्रकलाधर भगवान् शिव वास करते हैं। मैंने वहाँ पर कुछ दिन वास करके तप और अध्ययन किया है। एक समय जब कि श्रावण बदी अष्टमीकी आधी रातको मैं समाधिसे जागा तो देखता हूँ कि दशों दिशाएँ मौन और शान्त हैं। महान् अन्धेरा संसारको घेरे हुए है और मन्द मन्द पवन चल रहा है। उसी समय महा शीतल अमृत रूपी किरणोंसे ओषधियोंको पुष्ट करता हुआ चन्द्रमा उदय हो आया। मैं अपनी कुटियामें बैठा हुआ प्रकृतिकी इस शोभाका आनन्दसे निरीक्षण कर रहा था कि यकायक बड़ी तेज़ रोशनी हुई और सारी प्रकृति चमक उठी। मेरी समझमें नहीं आया कि यह प्रकाश कहाँ से आरहा है। चारों ओर निरीक्षण करने पर पता चला कि भगवान् शिव पार्वतीके हाथमें हाथ डाले हुए मेरी कुटियाकी ओर चले आ रहे हैं। मैंने दूरसे ही मन ही मनमें उनका स्वागत किया और उनको आदर पूर्वक प्रणाम किया। उनके निकट आजाने पर उठकर उनको प्रणाम किया और पाद्य और अर्घ्य दिया और उनके बैठनेके लिये आसन बिछाया। महादेवने बैठतेही मुझसे कुशल पूछी और मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे मनमें बड़ा आनन्द हुआ। मैंने भगवान्से पूछा—हे प्रभो आप यदि मेरे ऊपर कृपा रखते हैं तो मुझे यह बलताइये कि भगवान्का स्वरूप और उसकी सर्वोत्तम प्रकारकी पूजा क्या है? शिव जी बोले :—

हे वसिष्ठ! भगवानका सर्वश्रेष्ठ रूप न विष्णु है, न शिव, न इन्द्र, न पवन, न सूर्य, न अग्नि। वह देव न देहवाला है और न चित्तरूप। असली देव अनादि और अनन्त संवित् है; आकारवान्, परिमित और परिच्छिन्न कोई वस्तु नहीं है।

वह देव सब जगह सत्ता और असत्ता रूपसे वर्त्तमान है। उसीका नाम शिव है। उसका ही तुम पूजन करो। आकारका पूजन तो उन लोगोंके लिये है जो शिव तत्त्वको नहीं जानते। रुद्रादि देवोंको पूजनेसे परिच्छिन्न और परिमित पदार्थोंकी ही प्राप्ति होती है, परन्तु अनादि और अनन्त आत्मरूप देवके पूजनेसे अलौकिक आनंदकी प्राप्ति होती है। जो लोग अलौकिक आनन्दको छोड़कर औपाधिक सुखोंके पीछे पड़ते हैं वे मन्दार वनको छोड़कर करञ्जवनमें प्रवेश करते हैं। वह ब्रह्म जो कि सारा विश्व है, देवोंका देव है। उसीकी पूजा करना श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है। न वह दूर है और न दुष्प्राप्य। वह सबके भीतर मौजूद है। जो उसको जानते हुए आकारवाले देवकी पूजा करते हैं वे बालोचित्त क्रीड़ा करते हैं। परम-कारण भगवान् शिव प्रत्येक जीवके आत्मा हैं और उनके पूजनेका तरीक़ा केवल आत्मबोध है। पुष्प धूप दीप आदि वस्तुओं द्वारा भगवान्‌की पूजा करना बालबुद्धिवाले पुरुषोंको शोभा देता है, हे वसिष्ठ! आप जैसे ज्ञानी पुरुषोंको शोभा नहीं देता। वह देव नित्य और सर्वत्र वर्त्तमान है, उसके पूजनेके लिये आह्वान और मन्त्रकी आवश्यकता नहीं है। बोधके सिवाय उसको पूजनेकी और कोई विधि नहीं है। वह देव ध्यान द्वारा ही पूजा जाता है। ध्यान ही उसका अर्घ्य और ध्यान ही पाद्य; ध्यान ही पुष्प है और ध्यान ही उपहार। ध्यानसे ही वह प्रसन्न हाता है। सब काम करते हुए, सब भोगोंके भोगते हुए, सब स्थितियोंमें रहते हुए आत्माका ध्यान करते रहनेसे ही आत्मा प्रसन्न होता है। आत्माकी अर्चना प्रत्येक मनुष्य हर स्थितिमें रहते हुए कर सकता है। अपने देहमें स्थित परम शिव-का सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते बैठते, खाते पीते, सब प्रकार के भोगोंका भोग करते हुए सदा ही ध्यान करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही जीवका परम कल्याण है।

इस प्रकार शिवजीने वसिष्ठजीको देवपूजाका स्वरूप बता-कर कहा कि अब मैं अपने स्थान पर जाना चाहता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो—यह कहकर वे पार्वतीको लेकर अपने स्थान पर चले गए और मेरे मनमें सदाके लिये चाँदना करगए। हे राम! तबसे मैं इस प्रकार की ही देवपूजा करता हूँ दूसरे और किसी प्रकार-की नहीं।

२८—अर्जुनोपाख्यान

रामचन्द्रजीको अनासक्त रहकर सब कर्मोंको करनेका उपदेश देते हुए वसिष्ठजीने कहाः—

हे राम ! भगवान् कृष्ण जिस असक्तताका अर्जुनको उपदेश देंगे उसी प्रकारकी असक्तताको प्राप्त करके तुम भी संसारमें अपना जीवन सुखसे विताओ। रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे पूछा—वह अर्जुन कब उत्पन्न होगा और भगवान् उसको किस प्रकारकी असक्तताका उपदेश देंगे ? वसिष्ठजी बोलेः—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगीमें कुछ कालके लिये तप किया करते हैं। उस अवस्थामें वे उदासीन भावसे रहते हैं। अतः यह भूमण्डल अधिक प्राणियोंसे व्याप्त हो जाता है और रहने योग्य नहीं रहता। उन दिनों पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये देवता लोग ही आवश्यकतानुसार प्राणियोंको मारते हैं। इस समय पितरोंका नायक वैवस्वत नामक यम है। इसको कुछ समय बीत जाने पर अपने पापनाशके निमित्त तप करना होगा। उस समय पृथ्वी प्राणियोंके भारसे दबकर विष्णु भगवान्‌की शरणमें जाएगी। पृथ्वीका भार उतारनेके लिये विष्णु भगवान् दो शरीरों (कृष्ण और अर्जुन) में अवतार लेगें। उनमें एक वसुदेवपुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डु पुत्र अर्जुनके नामसे प्रसिद्ध होगा। पांडुका एक और पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिरके नामसे प्रसिद्ध होगा। उसके चचाका लड़का दुर्योधन होगा। इन दोनोंमें पृथ्वीको एक दूसरेसे छीननेके लिये घोर युद्ध होगा जिसमें १८ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनका रूप धारण करके विष्णु भगवान् उस सेनाका नाश करके पृथ्वीका भार उतारेंगे। विष्णु भगवान्‌का अर्जुन रूप युद्धके आरम्भमें हर्ष शोकादि मानव स्वाभाविक दोषोंसे युक्त होगा और दोनों ओरसे सेनामें सम्मिलित अपने बन्धुओं और सम्बन्धियोंको देखकर उनको मारनेके लिये उद्यत होकर अपना धनुष नीचे रख देगा, और अपने सारथी श्रीकृष्ण रूपधारी विष्णु भगवान्‌से अपने मनकी दशाका वर्णन करेगा। श्रीकृष्ण उस समय अर्जुनको आत्मज्ञानका उपदेश देकर उसके मोहको दूर करेंगे और उसको असक्त होकर युद्ध करनेकी सलाह देंगे। श्रीकृष्ण द्वारा किए

हुए उपदेशसे अर्जुनका मोह दूर हो जाएगा और वह युद्धमें अपने शत्रुओंको परास्त करेगा। उस घोर संग्राममें बहुत सी प्रजा कट जाएगी और पृथ्वीका भार हलका होगा।

३०—शतरुद्रोपाख्यान

सारा जगत् कल्पनामय है। जीव भी अपनी कल्पना द्वारा ही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है और अपनी कल्पना द्वारा ही अपने इस बन्धनसे मुक्त होता है। जो जैसी कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वासना और कल्पना जगत्के प्रसार और जीवकी भली बुरी गतिके रहस्य हैं। इनके द्वारा ही सब कुछ होता है। इस विषयको समझाते हुए वसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीको शत-रुद्रोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

हे रामचन्द्र! प्राचीनकालमें एक बड़ा विचारशील और शुद्ध आचरण वाला तपस्वी रहता था। उसने अपने यत्न और अभ्यास द्वारा समाधिमें स्थित होनेकी शक्ति प्राप्त कर ली थी। वह अपना सारा समय प्रायः समाधिमें ही बिताता था। एक दिन, जब कि वह समाधिसे उठा ही था, उसके मनमें यह कल्पना उदय हुई कि वह एक विश्वकी रचना करे। यह कल्पना मनमें आते ही उसके संकल्पसे एक विश्वकी रचना हो गई, और उस विश्वमें वह जीवट नामका पुरुष हुआ। अब वह अपनी तपस्वीरूप-स्थितिको भूलकर अपने कल्पित विश्वमें जीवट रूपसे विचरने लगा। इस रूपमें उसने ख़ूब भोग भोगे, मद्यपान किया, और ब्राह्मणोंकी सेवा भी की। जीवटको एक दिन सोते समय स्वप्न आया और उस स्वप्नजगत्में उसे अपने ब्राह्मण होनेका भान हुआ। अब वह ब्राह्मण रूपमें वेदका अध्ययन और पाठ करने लगा। जब ब्राह्मण रूपमें उसको कुछ काल बीत गया तो उसे स्वप्न हुआ कि वह एक राजा है और उसके पास बहुत सी सेना और बहुतसे नौकर चाकर हैं। उस राजाको एक समय ऐसा स्वप्न हुआ कि वह एक महाप्रतापी चक्रवर्ती राजा है। बहुत काल तक चक्रवर्ती राजाके रूपमें रहते हुए उसे एक दिन यह स्वप्न हुआ कि वह एक देवाङ्गना है और देवताओंके बाग़में अपने पसन्द किए हुए देवताओंके साथ आनन्दसे विहार कर रही है और ख़ूब प्रसन्न है। एक समय जब कि वह काम-क्रीड़ासे थककर गहरी निद्रा-

में लीन थी तो उसे स्वप्नमें यह अनुभव हुआ कि वह एक हरिणी है। हरिणी रूपसे वह वनमें विचरने लगी। हरिणीने एक दिन स्वप्नमें अपने आपको एक हरी और कोमल बेलके रूपमें पाया। वल्लीके मनमें यह कल्पना उदय हुई कि वह एक भ्रमर है और भ्रमर रूपसे नाना प्रकारके पुष्पों और बेलोंका रस पान कर रही है। भ्रमरको एक समय स्वप्न आया कि वह कमलिनी है। एक समय एक हाथीने उस कमलिनीको तोड़कर खा लिया। उस कमलिनीके हृदयमें उस समय यह कल्पना उदय हो आई कि वह एक हाथी है। इस प्रकार नाना रूप धारण करते हुए वह ब्रह्माका हंस बना। ब्रह्मा-ने उसको उपदेश दिया जिसके द्वारा उसे आत्मज्ञान हुआ। एक समय वह हंस सुमेरु पर्वतपर उड़ा हुआ जाता था। वहाँ पर उसने रुद्रोंको देखा और उसके मनमें यह कल्पना उदय हुई कि वह रुद्र बने। निदान वह एक रुद्र बन गया। रुद्र रूपमें उसे ब्रह्मज्ञान हो गया और अपने पूर्ण ज्ञानके द्वारा उसको अपने पूर्व जन्मोंका भी स्मरण हो आया। उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह अब भी तापस रूपसे उसी स्थानपर बैठा हुआ अपने कल्पना जगत्का अनुभव कर रहा है। और इसी प्रकार वह अपने शत (सौ) रूपोंमें वर्त्तमान है। उसने सोचा कि अब वह अपने सब रूपोंको, जो कि उसने नाना कल्पना-जगतोंमें ग्रहण किए हैं, जगाए और उन सबको तत्त्वज्ञानी बनाकर मुक्त कराए। यह सोचकर वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ कि वह तपस्वीके रूपमें अपने कल्पना जगत्की रचना कर रहा है। वहाँपर पहुँचकर उसने तपस्वीको जगाया। तपस्वीको जागनेपर ज्ञान हुआ कि अभी उसके कल्पित विश्वमें उसके अनेक रूप वर्त्तमान हैं। रुद्र और तपस्वी दोनोंने जीवटको सोतेसे जगाया। तीनोंने मिलकर वेदपाठी ब्राह्मणको। चारोंने मिलकर राजाको। पाँचोंने चक्रवर्ती राजाको। इस प्रकार होते होते रुद्रके समस्त १०० रूप जाग गए। रुद्रको अपने १०० रूपमें वर्त्तमान होकर बड़ा आश्चर्य हुआ। तब रुद्रने अपने सब रूपोंको कहा कि तुम सब अपने अपने स्थानको जाओ और जब तक ये सब शरीर हैं तब तक इन सब शरीरोंके योग्य भोगोंको वासना और कामनारहित होकर भोगो। शरीर-पात होनेपर तुम सब रुद्र रूपमें आ जाओगे। उन सब शरीरोंका अन्त होनेपर वे

सब जीव रुद्र बने और कल्पका अन्त होनेपर सबको विदेह मोक्षकी प्राप्ति हुई।

रामचन्द्रजीने पूछा—हे भगवन्! यह आश्चर्य-मय घटना कैसे हुई? वसिष्ठजीने कहा—हे राम! मनमें जो संकल्प होता है वही यथा समय सत्यरूपसे प्रतीत होने लगता है। और मन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उतना ही जल्द और उतनी तीव्रतासे संकल्प घनीभूत हो जाता है। शुद्ध मन जैसा संकल्प करता है तुरन्त वैसा ही हो जाता है। इस जगत्में संकल्पके सिवाय और कुछ है ही नहीं। जितने नाम और रूप हैं वे सब संकल्पकी ही रचनाएँ हैं। कल्पित पदार्थ भी संकल्प करने लगते हैं। अज्ञानियोंका संकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा नियमित होता है, ज्ञानियोंका अपने विचार द्वारा। इस कथामें ब्राह्मणने राजाका रूप इस लिये धारण किया था कि वह राज-भोगोंकी इच्छा करने लगा था। राजा चक्रवर्ती राजा इसलिये बना कि उसने उस रूपमें ज्यादा आनन्द समझा था। चक्रवर्ती राजाको सुन्दर स्त्रियोंके भोगको कामना रहती थी, इसलिये वह देवाङ्गना बना। देवाङ्गना हरिणी इस वास्ते बनी कि उसमें हरिणीकी जैसी आँखों की वासना थी। हरिणी बेल इसलिये बनो कि उसको सदा उसीकी चाहना थी। बेल इस कारण भ्रमर बनी कि उसकी वृत्ति भ्रमर रूप पर स्थिर हो गई थी। भ्रमर कमलिनी इस वास्ते बना कि उसके मनमें सदा ही कमलिनीका ध्यान रहता था। कमलिनी हाथी इसलिये बनी कि हाथीने जब उसको तोड़ा तो उसकी वृत्तिमें हाथीका ही रूप स्थिर था। इसी प्रकार, हे राम, जो जिस रूपका ध्यान करता है वह उसी रूपको धारण करेगा। यह अटल नियम है। जो जिस वस्तुको निरन्तर चाहता है, या जिस वस्तुका जिसको ध्यान रहता है, वह अवश्य ही वही हो जाता है। योगियों और शुद्ध मन वालोंका संकल्प शीघ्र ही सिद्ध होता है। योगी लोग अपने आप अपनी अवस्थामें स्थित रहते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं। विष्णु भगवान् क्षीर समुद्रमें रहते हुए ही पृथ्वी मंडल पर अवतार लेकर भूमिका भार उतारते हैं। सहस्रबाहुने घर पर बैठे-बैठे यह कल्पना की कि वह मेघ होकर बरसे। वहाँ पर तो वह राजाके रूपमें रहा और दूसरी जगह मेघ रूपसे बरसने लगा। वह अपने घर बैठा हुआ अपने राज्यमें चोरादि दुष्टजनोंको पकड़कर उनको दण्ड दे देता था।

योगिनीजन स्वर्ग लोकमें रहती हैं तो भी पृथ्वी पर दिखाई पड़ती हैं। इन्द्र स्वर्गके आसन पर स्थित रहते हुए भी पृथ्वी पर यज्ञका भाग लेनेके लिये आते हुए दिखाई देते हैं। कृष्ण भगवान् सहस्रों रूपसे अपनी सहस्रों रानियोंको प्रसन्न किया करते हैं।

रामचन्द्रजीने पूछा—हे भगवन्! क्या और कोई पुरुष भी ऐसा है जो इस समय ही अनेक रूपोंमें वर्त्तमान हो। वसिष्ठजी बोले—आज रातको मैं समाधिमें बैठकर देखूँगा कि इस समय शतरुद्रकी नाईं किसी पुरुषका अनुभव है अथवा नहीं। कल तुमको बतलाऊँगा। अगले दिन वसिष्ठजीने कहा कि उत्तर दिशामें यहाँसे बहुत दूर जिन नामक एक देश है। वहाँपर दीर्घदृक् नामका एक तपस्वी है। आज उसे २१ दिन समाधिमें बैठे हो गए हैं। उसने इतने समयमें सहस्रों जन्मोंका अनुभव कर लिया है और वे सब जन्म उसको एक साथ ही प्रत्यक्ष हो रहे हैं, और वह उन सब जन्मोंमें इस समय विचरण कर रहा है। इतना सुनकर राजा दशरथने कहा कि यदि ऐसा है तो मैं अपने दूत भेजकर उस देशमें उस योगीका पता चलवाकर उसको जगवाऊँ। वसिष्ठजी बोले—हे राजन्! इस समय वह योगी ब्रह्माका हंस बनकर जीवन्मुक्त हो गया है और उसका भौतिक देह मृतक हो गया है। यह बात उसके शिष्योंको भी अभी मालूम नहीं है। इसलिये अब उसको जगाया नहीं जा सकता। जब कुछ दिन बाद उसके शिष्य उसका द्वार खोलेंगे तो उसको मरा हुआ पाएँगे। रामचन्द्रजीको यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

३१—वेतालोपाख्यान

आत्मज्ञानीको संसारमें कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता—इस बातको समझाते हुए वसिष्ठजीने श्री रामचन्द्रजीको वेतालोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

दक्षिण दिशामें मन्दराचल पर्वतकी एक कन्दरामें महा भयानक आकार वाला एक वेताल रहता था। वह मनुष्योंको खा कर अपना पेट भरता था। एक समय उसके सामने एक साधु आगया। उसको भी उसने मार कर खाना चाहा, किन्तु साधुने उसे यह समझाया कि मनुष्योंको मारकर पेट भरना बड़ा भारी पाप है जिसका बुरा और दुःखदायी परिणाम उसको भुगतना पड़ेगा।

वेतालकी समझमें साधुकी बात आगई। उसने सोचा कि मनुष्य यदि सचमुचमें मनुष्य अर्थात् मननशील और ज्ञानवान् जीव है, तो अवश्य ही उसे मारना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसे मनुष्यसे किसी दूसरेको हानि नहीं पहुंचती, बल्कि उपकार होता है। लेकिन मूर्ख मनुष्यसे तो पशु ही कहीं भले—क्योंकि उनसे दूसरे जीवोंको इतनी हानि नहीं पहुंचती जितनी कि मूर्ख मनुष्योंसे। इसलिये वेतालने यह सोचा कि अब वह अज्ञानी मनुष्योंका ही भक्षण करेगा ज्ञानी मनुष्योंका नहीं। कौन ज्ञानी है कौन अज्ञानी—इस बातको जाननेके लिये उसने एक प्रश्नावली तय्यार की। एक समय कई दिनका भूखा वेताल अपना पेट भरनेके लिये रात्रिमें बाहर निकला। उसकी उस देशके राजासे भेंट हो गई जो कि रात्रिको अपने राज्यमें वीर-यात्रा कर रहा था। वेतालने राजासे ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी कई प्रश्न इस बातकी जाँच करनेके लिये पूछे कि वह अज्ञानी है या ज्ञानी। राजा ब्रह्मज्ञानी था—उसने वेतालके सब प्रश्नोंका तृप्तिजनक उत्तर दे दिया। वेतालको बड़ा आनन्द हुआ और वह एकान्तमें जाकर समाधिमें स्थित हुआ, और आत्म पदको प्राप्त करके वेताल शरीरको त्याग कर मुक्त हो गया। इस प्रकार ज्ञानीजन अपनी रक्षा और दूसरोंका उद्धार करते हैं।

३२—भगीरथोपाख्यान

संसारमें किस प्रकार निर्मम, निरपेक्ष और अनासक्त भावसे मुक्त जीवन बिताना और यथास्थिति संसारके सभी काम करना चाहिए—इस सम्बन्धमें श्री वसिष्ठजीने श्री रामचन्द्रजीको भगीरथ की कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

राजा भगीरथकी जब युवा अवस्था थी उसके मनमें यह विचार उदय हुआ कि यह जीवन सर्वथा ही असार है। दिन पर दिन वे ही भोग भोगे जाते हैं किन्तु कभी तृप्ति नहीं होती। कोई ऐसा सुख नहीं है जो दुःखरहित हो। कोई ऐसा भोगका विषय नहीं है जो भोगने पर उतना ही अच्छा जान पड़े जितना कि वह प्राप्त होनेसे पूर्व प्रतीत होता है। संसारमें कोई वस्तु भी सार नहीं दिखाई पड़ती। धन, दारा और पुत्र, जिनमें हमारी इतनी अधिक ममता है, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको प्राप्त कर लेने पर हमारे मनमें शान्ति

और सुखका अनुभव होता हो। तब फिर किस लिये हम लोग इन वस्तुओंके पीछे पड़े रहते हैं? क्यों इनकी प्राप्तिमें ही अपने जीवन की सब शक्ति लगाते हैं? इसलिये कि हमने कभी इनकी असारता पर विचार ही नहीं किया है। विचार उदय हो जाने पर ये सब वस्तुएँ असार और विषवत् जान पड़ती हैं। भोगोंमें सुख और शान्ति—जिनकी हम सबको चाह है—तलाश करना ऐसा ही है जैसा कि मृगतृष्णाके जलसे प्यास बुझा लेनेकी आशा।

इस प्रकार विचार करते करते राजाको संसारके भोगोंके प्रति घृणा हो गई और अपना परम और सत्य ध्येय जाननेकी इच्छा हुई। इस अवस्थामें वे अपने गुरु त्रितुल ऋषिके आश्रमपर गए। अपने मनके विचारोंको भगीरथने गुरुके समक्ष रक्खा। त्रितुल भगीरथके विवेक और वैराग्यको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले— परम आनन्द और परम शान्ति, जो कि मनुष्यजीवनके उद्देश्य हैं, विषय भोगोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते। उनके प्राप्त करनेके लिये सब विषयोंका और उनके भोगोंका त्याग करना चाहिए। देह और इन्द्रियोंमें आत्माभिमान, स्त्री पुत्रादिकमें सङ्ग, इष्टकी इच्छा और अनिष्ट से द्वेष—ये सब त्यागकर आत्मचिन्तन, आत्मध्यान और आत्मपदमें स्थितिके लिये प्रयत्न करनेसे ही परमानन्द और परम शान्तिकी सिद्धि होती है। जो जिस वस्तुकी तीव्र वासना करता है वह उसीको प्राप्त करता है—इसलिये भोगोंके विषयोंकी वासनाका त्याग करके आत्मपदके प्राप्त करनेकी वासना करो। उस पदको प्राप्त कर लेनेपर फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता। उस पदमें स्थित होनेपर कोई दुःख नहीं रहता। उस पदमें स्थित होनेपर उस अक्षय और अनन्त आनन्दका अनुभव होता है जिसके आगे संसारके सब सुख कुछ भी नहीं। क्षण भर भी उस आनन्दका अनुभव कर लेनेपर मनुष्य संसार-के सब सुखोंको—जिनका परिणाम सदा ही दुःख है—भूल जाता है।

त्रितुल ऋषिकी यह बातें सुनकर भगीरथने आत्मपद प्राप्त करनेका पक्का इरादा कर लिया। घर आकर सब ओरसे ध्यान हटा-कर आत्मचिन्तन करने लगा और धीरे धीरे सब वस्तुओंका त्याग करने लगा। थोड़े ही समयमें उसने अपने सब धन, और राज्यपाट-का त्याग कर दिया। केवल एक धोती और अंगोछा लेकर घरसे निकलकर वनमें विचरने लगा। वहाँ पर विचरते विचरते आत्म-

चिन्तन और आत्मध्यान करते करते उसको आत्मज्ञान हो गया, और परम आनन्द और परम शान्त आत्मपदमें उसकी अविचलित रूपसे स्थिति हो गई। अब उसको न किसी वस्तुकी इच्छा थी, और न किसीसे द्वेष था। सारे जगत्को वह आत्ममय ही देखता था। किसी के प्रति न उसे मोह था और न घृणा। सबसे समता और प्रेमका व्यवहार था। अब उसको संसारमें और वनमें रहना एक सा ही था। उसने देश देशान्तरमें भ्रमण करना आरम्भ किया। एक समय वह भ्रमण करता हुआ उस देशमें गया जहाँका वह कभी राजा था। वहाँ उसने भिक्षा मांगी, और ऐसा करनेपर उसके मनमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं आया। लोगोंके बहुत कहनेपर भी उसने राज्य करनेकी ज़रा भी इच्छा न की। भ्रमण करते करते उसकी अपने गुरु त्रितुलसे भेंट हो गई और कुछ कालतक खूब आत्म-चर्चा हुई। स्वर्गलोकसे सिद्धोंने आकर उसकी पूजा की और देवताओंने सब प्रकारके ऐश्वर्य उसको देना चाहा किन्तु उसने किसीकी भी इच्छा न की। बहुत सी अप्सराएँ उसके सामने आकर उसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगीं किन्तु उसके मनमें किसी भी भोगकी अभिलाषा उदय न हुई, क्योंकि उसकी स्थिति उस परम आनन्दमें थी जिसके आगे संसारके सब सुख लेशमात्र हैं।

एक समय जब कि भगीरथ एक देशमें भ्रमण कर रहा था, उस देशके राजाका देहान्त हो गया था। मन्त्री और प्रजा किसी सुयोग्य राजाकी तलाशमें फिर रहे थे। साधुके वेषमें भगीरथको देखकर मंत्रीने उसके लक्षणोंसे पहिचान लिया कि यह पुरुष राजा बनाने योग्य है। उसने भगीरथसे राजा बननेकी प्रार्थना की। भगीरथने लोकोपकारके लिये, अपनी किसी प्रकारकी हानि या लाभ न जानते हुए राजा होना स्वीकार कर लिया—और अति उत्तम रीतिसे राज्य किया। भगीरथके राजा होनेकी ख़बर दूर तक फैल गई। इस समय उस राज्यकी जिसपर वह पहिले राज्य करते थे बड़ी ख़राब दशा थी। चारों ओरसे शत्रुओंने आक्रमण कर रक्खा था। वहाँकी प्रजाने दुखी होकर भगीरथके पास ख़बर भेजी। भगीरथने शत्रुओंको भगाकर अच्छा राज्य स्थापित किया। दोनों राज्योंपर निःसङ्ग और निर्मोह रूपसे राज्य करता रहा। राज्य करते करते एक समय उसको यह ख़याल आया कि उसके साठ हज़ार पितर, कपिल ऋषिके भस्म

किए हुए, अभीतक सद्गतिको प्राप्त नहीं हुए; उनको सद्गति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि भूमण्डलपर गङ्गा बहने लगे। यह सोचकर उसने तप किया और तपके प्रभावसे वह श्री गङ्गाजीको पृथ्वीमण्डल पर ला सका जिसकी कथा सब लोग जानते हैं। आत्मस्थित पुरुष ही संसारमें दुष्करसे दुष्कर कार्य कर सकते हैं।

३३—रानी चुडालाकी कथा

चुडालाका उपाख्यान भी योगवासिष्ठके सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानोंमेंसे है। इसके द्वारा वसिष्ठजीने श्री रामचन्द्रजीको यह बतलाया है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने और योगाभ्यास करके सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करनेमें स्त्रियोंका उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुषोंका। आध्यात्मिक सिद्धि केवल पुरुषोंका ही ध्येय नहीं है बल्कि प्राणिमात्र-का। यदि स्त्रीकी आत्मज्ञानमें स्थिति हो जाए तो वह पुरुषोंको उसी प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करा सकती है जैसे कि एक पुरुष दूसरेको। इस उपाख्यान द्वारा रामचन्द्रजीको वसिष्ठजीने आत्मपद प्राप्तिका सच्चा मार्ग और आत्मज्ञानीके रहन सहनका ढङ्ग भी दिखलाया है। उपाख्यान इस प्रकार है:—

पहले द्वापर युगमें मालव देशमें शिखिध्वज नामका एक बहुत सुन्दर, बलवान् और प्रतापी राजा राज्य करता था। उसका विवाह सुराष्ट्र देशकी एक राजकन्यासे, जो कि बहुत सुन्दर, विदुषी और चतुर थी, हुआ था। रानीका नाम चुडाला था। राजा और रानीमें एक दूसरेके प्रति घनिष्ठ प्रेम और आकर्षण था। दोनों ही अपनी युवा अवस्थामें थे। किसी प्रकारके सुखकी कमी नहीं थी। खूब आनन्दसे जीवनके सभी प्रकारके भोग भोगते थे। दोनों ही विचार-शील थे। सब प्रकार भोग भोगते भोगते उनके मनमें यह विवेक उत्पन्न हुआ कि हमारे पास संसारका सारा ऐश्वर्य और सारे भोगों-को भोगनेके साधन हैं। हम लोग सब प्रकारके भोगोंका बार बार आस्वादन कर चुके हैं। इनके भोगनेमें हमारा बहुतसा जीवन व्यतीत हो चुका है और शरीरकी शक्ति भी क्षीण होती जा रही है, किन्तु हृदयमें तृप्ति और शान्ति नहीं है। क्या मनुष्यजीवन इसी लिये है कि सदा ही वह शरीर और इन्द्रियोंके सुखोंके अनुभव करनेमें लगा रहे और फिर भी उसको किसी स्थायी सुख, किसी

प्रकारकी तृप्ति और शान्तिका अनुभव न हो ? विषयोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले सभी सुख क्षणिक और दुःखमें परिणत होनेवाले हैं। कौनसा ऐसा सुख है जो चिरस्थायी हो ? जो भोग प्राप्त नहीं हैं उनकी इच्छा होती रहती है, जो प्राप्त हैं उनमें सुखका अनुभव नहीं होता, बल्कि उनसे घृणा होने लगती है। क्या कोई ऐसा सुख नहीं है जो स्थायी हो, जिसको प्राप्त कर लेनेपर वह सदा ही बना रहे और उससे कभी घृणा न हो ? क्या कोई ऐसी तृप्ति भी है जिसको प्राप्त कर लेनेपर फिर किसी विषयके भोगकी वासना न रह जाए ?

यह सोचकर उनको संसारके सब विषय और भोगोंसे विरक्ति हो गई, और उन्होंने अपने राज्यके बड़े बड़े विद्वानोंको बुलाकर यह पूछा कि मनुष्यके जीवनका क्या लक्ष्य है और उसको कैसे शान्ति और तृप्ति प्राप्त हो सकती है ? विद्वानोंने कहा—महाराज ! आत्मज्ञान हो जानेपर मनुष्यको परमशान्ति और परमतृप्तिका अनुभव होता है; वही प्राप्त कर लेना मनुष्यजीवनका लक्ष्य है। आत्मज्ञानमें स्थित हो जानेपर ही परमानन्दका अनुभव होता है। उस आनन्दके सामने संसारके सब विषयोंके भोगके सुख कुछ भी नहीं हैं। आत्मपदमें स्थित मनुष्य सदा ही तृप्त और सुखी रहता है। वह न किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी वांछा करता और न किसीसे घृणा करता है।

राजा और रानी दोनोंने आत्मज्ञान प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया। रानी राजासे अधिक बुद्धिमती, चतुर और उद्योगशील थी। उसका विचार सूक्ष्म और निश्चयात्मक था। थोड़े ही समयमें उसे आत्मज्ञान हो गया। आत्मज्ञान होने पर उसके मुख पर प्रसन्नता और अलौकिक सौंदर्यकी झलक आ गई। दिन पर दिन उसका सौंदर्य, तेज और आनन्द बढ़ने लगा। अभी राजाको आत्मज्ञान नहीं हुआ था। वह न समझ सका कि रानी इतनी प्रसन्न और प्रफुल्लित क्यों रहती है। रानीने राजाको बतलाया कि उसके हृदयमें अलौकिक आनन्दका प्रकाश हो गया है। अब उसे सारा जगत् आनन्दमय ही दिखाई दे रहा है। राजाकी समझमें रानीकी बात नहीं आती थी। क्योंकि जिसने आत्मानन्दका स्वयं अनुभव नहीं किया वह नहीं जान सकता कि आत्मानन्द क्या है। रानीने अपने स्वामीको आत्मानुभव प्राप्त करनेमें सहायता देनेका बहुत यत्न किया; किन्तु राजाने उसकी बातोंकी विशेष परवाह न की। वह उसको स्त्री समझकर

उससे उपदेश लेनेमें अपना अपमान समझता था। रानीने योगमार्ग द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं और राजाको उनका प्रदर्शन कराया, तौ भी राजाने उससे आत्मज्ञान सम्बन्धी शिक्षा न लेनी चाही। उसके मनमें यही मिथ्याभिमान बना रहता था कि पुरुष स्त्रीसे अधिक समर्थ और चतुर होता है; उसको स्त्री क्या सिखा सकती है। राजाने अनेक यत्न किए किन्तु उसको आत्मज्ञान न हुआ। अब राजाने यह निश्चय कर लिया कि वह राजपाटको छोड़कर वनमें जाकर रहेगा और वहाँपर आत्मज्ञान प्राप्त करेगा। रानीने बहुत समझाया कि आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये उसे वनमें जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वन तो उन लोगोंको जाना चाहिए जिनके घरमें नाना प्रकारके विघ्न, संकट और झंझट होते हों। उनको तो घरमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं है। ऐसा कहने पर भी राजाकी समझमें न आया कि वह वनको न जाय। एक रात्रिको जब कि रानी चुड़ाला गाढ़ निद्रामें थी, चारों ओर अँधेरा और शान्ति छाई थी, राजा वीरयात्राके बहाने घरसे निकल कर चल दिया। चलते चलते बहुत दूर जाकर एक वनमें रहने लगा। वहाँपर रहकर उसने कुछ दिनों तक नाना प्रकारके साधन किए और फिर तीर्थ यात्रा की, किं तु किसी प्रकार भी उसको आत्मानुभव नहीं हुआ। इधर जब रानीकी आँख खुली और उसने राजाको अपनी शय्या पर न पाया तो उसने समझ लिया कि राजा राजको त्याग करके वनको चले गए। उसने बड़े शान्तभावसे सोचा कि अब क्या करना चाहिए। राज्यमें राजाके चले जानेकी खबर सुनकर खलबली पड़ जाएगी और अराजकता फैल जानेसे बहुतसे मनुष्योंको हानि और दुःख पहुँचेगा। इसलिये उसने अपने आप राज्य करनेका इरादा कर लिया और लोगोंको यह खबर न होने दी कि राजा वनको चले गए हैं। सुबह उठते ही रानीने मंत्रियों और सब कर्मचारियोंके सामने घोषणा कर दी कि राजा कुछ कालके लिये दूसरे देशोंकी यात्रा करने गए हैं और रानीको राज्य करनेका अधिकार दे गए हैं। चुडालाने राज्यका सब काम बहुत अच्छी तरह करना आरम्भ कर दिया। राज्यका काम ठीक करके रानीने यह पता लगाना चाहा कि अब राजा कहाँ पर हैं। योग की सब सिद्धियाँ तो उसे प्राप्त हो ही चुकीं थीं। समाधिमें बैठकर उसने राजाके निवासस्थानका पता

चला लिया। आकाश मार्गसे सूक्ष्म शरीर द्वारा उड़कर ठीक उस स्थान पर पहुँच गई जहाँ कि राजा रहता था। अब भी राजा की वही दशा है, न उसके चित्तमें शान्ति है और न उसको आत्मज्ञानही हुआ है। रानीको उसके ऊपर बहुत करुणा आई और उसने विचार किया कि किसी प्रकार राजाको आत्मज्ञान प्राप्त कराना चाहिए। यह सोचकर कि राजा यदि उसको पहचान गया तो उसके उपदेश-का उसके ऊपर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा चुडालाने एक ऋषिपुत्रका रूप धारण कर लिया और उसके सामने उस रूपसे प्रकट हुई। राजा अपने समीप एक बहुत सुन्दर युवा और तेजवान् ऋषिको आते देख-कर बहुत प्रसन्न हुआ। अतिथिका सब प्रकारसे आदर और सत्कार करके राजाने उससे पूछा—महाराज! आप कौन हैं और कहाँसे आ रहे हैं? ऋषिने कहा—महाराज! मैं देवर्षि नारदका पुत्र कुम्भज हूँ। देवलोकमें रहता हूँ, पृथ्वीतल पर भ्रमण करनेकी इच्छासे यहाँ पर आगया हूँ। आपको इस विजन वनमें रहते देखकर मुझे आपसे मिलने और वार्तालाप करनेकी उत्कण्ठा हो आई। राजाने पूछा—महाराज! यदि मेरी धृष्टता क्षमा करें तो आपसे यह पूछता हूँ—आप देवर्षि नारदजीके पुत्र कैसे हैं? उन्होंने तो कभी विवाहही नहीं किया। कुम्भजने कहा—एक समय की बात है कि नारदजी ने सुमेरु पर्वतपर कुछ समयके लिये समाधि लगाई थी। जब समा-धिसे जागे तो क्या देखते हैं कि पर्वतके नीचे गङ्गामें उर्वशी आदि अनेक सुन्दर अप्सराएं स्नान क्रीड़ा कर रही हैं और उनका एक एक अङ्ग और भाव मोहनेवाला है। उनको देखतेही नारदजीके शरीरमें काम-का वेग बिजलीकी नाईं दौड़ गया और उनका वीर्य स्खलित होगया। उसको उन्होंने एक घड़ेमें रख दिया और उसमें दूध भर दिया। कुछ काल पीछे उस घड़ेसे मेरा जन्म हुआ। इसी कारण मेरा नाम कुम्भज पड़ा। राजाको कुम्भजके प्रति बहुत प्रेम और श्रद्धा होगई और उसने उससे मित्रता करनी चाही। दोनोंमें मित्रता होगई। कुम्भज प्रतिदिन राजाके पास आकर उससे वार्तालाप कर जाता था। इस प्रकार रानी राज्य भी करती और कुम्भजके वेषमें वह राजाके साथ भी रहती थी। कुम्भजके वेषमें उसने राजाको आत्म-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बातें सुनाईं और साधनकी विधियाँ बतलाईं। राजाको धीरे धीरे आत्मज्ञान होने लगा। आत्मज्ञानके परिपक्व हो जानेपर

उसकी स्थिति आत्मभावमें होगई, और वह जीवन्मुक्त होगया। अब उसके मुखपर सदैव प्रसन्नता रहती थी। हर्ष और शोकसे वह परे था। किसी कारणसे भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी। हर हालतमें वह खुशहाल रहता था। उसके लिये अब न कुछ हेय था और न उपादेय। वह सदा आत्मानन्दमें मग्न रहता था। संसारके किसी सुखकी न उसे वासना थी और न किसी दुःखसे वह दुःखी होता था।

रानीने अब उसकी परीक्षा करनी चाही। एक दिन कुम्भज बड़ा दुःखी और शोकातुर होकर राजाके पास आया। राजाने पूछा, मित्र! आज आपका मन क्यों इतना उदास है? आप तो आत्मज्ञानी हैं, आपको शोक क्यों हुआ? कुम्भज बोले, महाराज! क्या कहूँ, मुझे कहते भी लाज मालूम पड़ती है। मैं जब देवलोकसे आपके पास चला आ रहा था तो मुझे दुर्वासा ऋषि नाना प्रकारके भूषण और वस्त्र धारण किए हुए रास्तेमें मिले। मुझे उनका विचित्र वेष देखकर हँसी आ गई, और हास्य-भावसे मैंने कहा कि महाराज आप तो आज स्त्री मालूम पड़ते हैं। यह सुनकर उनको क्रोध आ गया, और उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं प्रत्येक रातको स्त्री बन जाया करूँगा। मुझे इस बातसे इतनी लज्जा मालूम पड़ती है कि मेरा चित्त अब देवलोकको भी जानेको नहीं करता। आजसे शापवश रात्रीमें मुझे स्त्री होना पड़ेगा। महाराज! यही कारण है जिससे मैं दुःखी हूँ। राजाने कहा, ऋषे! इसमें क्या हानि है? पुरुष हुआ तो क्या, और स्त्री हुई तो क्या? दोनों ही एक समान हैं। न कोई बुरा है और न कोई भला। शरीर ही तो स्त्री या पुरुष है, न कि आत्मा। जो जिस स्थितिमें होता है उसको उसीमें प्रसन्न रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मज्ञानी हो सकते हैं। रानीको यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब रात्रीमें वह एक अत्यन्त सुन्दर स्त्रीके रूपमें राजा के पास रहती थी और दिनमें कुंभजके रूपमें। दोनोंमें इतनी गहरी मित्रता थी कि दोनों साथ खाते और साथही सोते थे, किन्तु राजाके मनमें किसी प्रकारका विकार न होता था। एक दिन कुम्भजने राजा से कहा—महाराज! जब मैं रात्रीके समय स्त्री होता हूँ तो मुझे स्त्रियोचित इच्छाएँ होती हैं, और मेरे शरीरमें कामका वेग इतना अधिक हो जाता है कि बिना पुरुषके सङ्ग किए मैं दुःखी रहती हूँ। राजाने

कहा--जब तक शरीर है और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, आवश्य ही शरीर और इन्द्रियोंके स्वाभाविक भोगोंके भोगनेकी आवश्यकताएँ रहती हैं; ज्ञानी मनुष्यको उनका विरोध करना और उनको बलपूर्वक दबाना नहीं चाहिए। शरीर और इन्द्रियोंके उचित आवश्यकतानुसार भोगों के भोगनेसे आत्माकी क्या हानि और न भोगनेसे आत्माका क्या लाभ? इसलिये, हे कुम्भज! यदि स्त्री रूपमें आपको स्त्रीसम्बन्धी इच्छा होती है तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिये तुम किसी अपने मनको पसन्द आने वाले योग्य पुरुषकी तलाश करलो और उसकी पत्नी बन जाओ; ताकि तुम्हारा मन शान्त रहे और शरीरका वेग उसको चंचल न बनावे। कुम्भज बोला-महाराज आप मेरे इतने प्रिय मित्र हैं, आपकी और मेरे मनकी वृत्ति एकसी ही है आपको मेरा प्रेम है और मुझे आपका प्रेम है। विद्वान् लोग यह कहते हैं कि जो सुख समान मनोवृत्ति वाले स्त्री पुरुषोंके सङ्ग रहनेमें होता है वह संसारके सब आनन्दोंसे बढ़कर है। इसलिये यदि मेरे लिये संसारमें कोई भी उचित भर्ता है तो आप हैं। राजाने कहा यदि तुम ऐसा समझते हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मेरी इसमें न कोई हानि है और न कोई लाभ। ऐसा होनेसे यदि तुमको सुख मिलता है तो ऐसा ही सही। पूर्णमासीको सायंकालमें मदनिका (जो कि कुम्भजके स्त्री रूपका नाम था) और राजाने अपना शास्त्र की विधिसे विवाह कर लिया; और अब वे दोनों रात्रीमें पति और पत्नीके रूपसे रहने लगे। लेकिन राजाके मनमें किसी प्रकारका भी विकार न उत्पन्न हुआ। आत्मामें वही शान्ति और परम आनन्द रहता था। शरीर और इन्द्रियाँ अपने अपने स्वाभाविक कार्य करते थे। उसको इनमें ज़राभी आत्माभिमान न था। रानीको यह देखकर कि अब राजाकी आत्मपदमें निश्चल स्थिति है बड़ी प्रसन्नता हुई। इस बीचमें भी वह अपने राज्य की देख भाल करती रहती थी। सूक्ष्म शरीर द्वारा वह अपने राजको उड़ जाया करती थी और कर्मचारियोंके कामोंकी देखभाल कर लिया करती थी।

अब उसने राजाके जीवन्मुक्त होनेकी एक और परीक्षा ली। उसने अपने योगबलसे स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्रकी रचना की। इन्द्र अपने साथ देवताओंको लेकर राजाके सामने आकर उपस्थित होकर कहने लगे--महाराज! आप स्वर्ग लोकमें

चलिए और वहाँ पर नाना प्रकारके भोग और ऐश्वर्य भोगिए। राजाने कहा, हे देवराज! मुझे तो सब ओर स्वर्गही दिखाई पड़ता है! मेरे मनमें परम तृप्ति है और मेरे आत्मामें परम आनन्द है। मुझे स्वर्गके किसीभी भोगकी इच्छा नहीं है।

कुछ दिन पीछे रानीने राजाकी एक और परीक्षा ली—सायंकालके समय, जब कि राजा संध्यावन्दनके लिये गङ्गाके तीरपर गए थे, उसने अपने योगबलसे एक बहुत सुन्दर और तेजवान् युवककी रचना की। राजाके वापिस होनेके समय वह युवक और मदनिका दोनों एक दूसरेके साथ प्रेम व्यवहार कर रहे थे, और एक दूसरेके साथ गाढ़ आलिङ्गनमें होकर संसारको और परिस्थितिको भूल गए थे। राजाने अपनी कुटियापर आकर यह दृश्य देखा और देखते ही बाहर चले आए जिससे कि युवक और मदनिकाके प्रेमालिङ्गनके सुखमें किसी प्रकारका विघ्न न हो। मदनिका तुरन्त उठकर बाहर आई और राजाके सामने दीन भावसे खड़ी होकर अपने आचरण की क्षमा माँगने लगी—महाराज, मैं अपराधिनी हूँ! क्षमा कीजिए! मैं स्त्री हूँ, और स्त्री में पुरुषसे अष्टगुणा काम होता है; इस लिये मेरी वृत्ति इस पुरुषको देखकर उसकी ओर खिंच गई। राजा-बोले—मदनिके! मेरे हृदयमें तुम्हारे प्रति किसी प्रकारका भी क्रोध नहीं है। संसारके जितने प्राणी हैं वे सब सुख प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, और परस्पर इच्छित स्नेहसे संसारमें बहुत आनन्द मिलता है। इस लिये तुमने ऐसा किया तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। मुझे कुछ शोक नहीं हैं। केवल आजसे पीछे मैं तुम्हें अपनी वधूकी हैसियतसे नहीं रक्खूँगा। क्योंकि समाजमें इस प्रकारका काम निंद्य समझा जाता है। आजसे तुम मेरे साथ पहिलेकी नाईं मित्रकी हैसियतसे सुख पूर्वक रहो। राजाके इस प्रकारके समभावको देखकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसी समय मदनिकाके रूपका त्याग करके चुडालाके रूपमें राजाके सामने प्रकट हो गई। राजाको चुडालाको देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ काल तक तो उसे विश्वास ही न हुआ और अपने ज्ञानको भ्रम समझता रहा। चुडालाने जब सब हाल कह सुनाया, तब राजाको उसके चुडाला होनेका विश्वास हुआ। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुए, और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। रानीके कहनेसे अब राजा अपनी राजधानीको

वापिस आकर जीवन्मुक्त रहते हुए राज्य करने लगे। बहुत काल तक भली भाँति राज्य करके, प्रजाको सुखी करके विदेह मुक्त हो गए।

इस कथाको सुनकर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। वसिष्ठजीने कहा—हे राम! स्त्रियोंको निरादरकी दृष्टिसे न देखो। जो अच्छे कुलकी स्त्रियाँ होती हैं वे अपने पतिको संसार सागरसे पार करनेमें मदद करती हैं:—

मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥१॥
शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम्।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तृणां कुलयोषितः ॥२॥
सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम्।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥३॥
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः।
लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ॥४॥

अर्थात्—अनादि, अनन्त मोहसागरमें गिरे हुए अपने पतिको उद्योगशालिनी कुलाङ्गनाएं पार उतारती हैं ॥१॥ शास्त्र, गुरु, मंत्र आदि साधन उस मोह सागरसे पार करनेमें इतने समर्थ नहीं हैं जितनी कि स्नेहसे भरी हुई कुलाङ्गनाएं ॥२॥ वे अपने पतिकी सखा, बन्धु, मित्र, भृत्य, गुरु, धन, सुख, शास्त्र, घर और दास सब कुछ हैं ॥३॥ इसलिये सदा, सब प्रकारसे, इनकी पूजा करनी चाहिए क्योंकि इनके ऊपर ही इस लोक और परलोकका सुख पूर्णतया निर्भर है ॥४॥

३४—किराटोपाख्यान

किराटकी कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको इस बातका उपदेश दिया कि मनुष्यको सदा और सब कामोंमें उद्योगशील होना चाहिए। किसी वस्तुको भी अवहेलनाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिए। छोटे छोटे कामोंमें भी अपनी पूरी शक्तिका उपयोग करना चाहिए। ऐसा करनेसे कभी कभी छोटे छोटे कामों द्वारा बड़ी बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

विंध्याचलकी घाटीमें एक बहुत धनवान् किन्तु कृपण किराट रहता था। एक समय जब कि वह एक घने जङ्गलके बीचको कहीं

जा रहा था उसकी जेबसे कहीं एक कौड़ी निकल पड़ी। जब उसे यह मालूम हुआ तो वह उस कौड़ीको ढूँढने लगा। चारों ओर कौड़ीको ढूँढते ढूँढते उसे तीन दिन बीत गए। जिन लोगोंको यह मालूम हुआ कि एक कौड़ीके लिये किराट इतना व्यग्र हो रहा है वे उसकी हंसी उड़ाने लगे। किन्तु उसने किसीके हंसनेकी परवाह न की। और अपनी खोई हुई कौड़ीको ढूँढता ही रहा। देवयोगसे उसकी निगाह एक चमकती हुई चिन्तामणि पर जा पड़ी। उसको देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कई दिनोंके परिश्रमका फल उसे चिन्तामणि पानेसे मिल गया। यदि वह कौड़ीके खोए जानेकी परवाह न करता और उसको तुच्छ समझकर आगे चलता होता, तो उसे चिन्तामणिकी प्राप्ति न होती।

३५—मणिकाचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा चुडाला रानीने अपने स्वामी राजा शिखिध्वजको यह समझाया था कि मनुष्यको जो जो उत्तम पदार्थ और साधन अपने घरपर सुलभतया प्राप्त हों उनकी अवहेलना करके दूसरी जगहोंपर और और पदार्थों और साधनोंके पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा करनेसे जो मनुष्यको प्राप्त है वह तो नष्ट हो ही जाता है, दूसरी वस्तुएँ और साधन भी नहीं मिलते। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह उन वस्तुओं और साधनोंका जो उसे सुलभतया प्राप्त हैं, सदुपयोग करे और अप्राप्त वस्तुओं और साधनोंकी तलाशमें मारा मारा न फिरे।

एक बहुत उद्योगी और धनसम्पन्न पुरुषने चिन्तामणि रत्नकी प्रशंसा सुन रक्खी थी। उसके मनमें चिन्तामणिके प्राप्त करनेकी तीव्र वासना उदय हुई। वह चिन्तामणिकी तलाशमें घरसे बाहर निकला। थोड़ी ही दूर जाने पर उसको चिन्तामणि नामक रत्न मिल गया। चूँकि वह रत्न उसे अपने घरके पास ही और बिना किसी प्रयत्न किए हुए मिला था, उसको उसके चिन्तामणि होनेका विश्वास नहीं हुआ। उसने तो यह सुन रक्खा था कि चिन्तामणि रत्न बहुत प्रयत्न और खोज करनेपर मिलता है, और बड़े भाग्यवान् मनुष्यको ही मिलता है। अतएव उसने उस वस्तुके चिन्तामणि होनेमें सन्देह किया और उसे काँच समझकर फेंककर चिन्तामणिकी खोजमें आगे

बढ़ा। देश देशान्तरोंमें फिरा, पर कहीं उसको चिन्तामणि न मिली। अब उसको जहाँ तहाँ काँचके टुकड़े ही मिलते थे लेकिन चिन्तामणि कहीं नहीं मिलती थी।

३६—हस्तिकोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा कुंभज वेषधारिणी रानी चुड़ालाने अपने स्वामी शिखिध्वजको यह उपदेश दिया था कि मनुष्यको कोई काम अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। जिस कामको करना है उसको पूर्णतया करना चाहिए। यदि कुछ शेष रह जाता है तो पीछे हानि पहुँचाता है। दूसरी बात उसने यह भी बतलाई कि मनुष्यको अपना भविष्य अपनी वर्त्तमानकालकी क्रियाओं द्वारा सुधारना चाहिए। वर्त्तमानकी छोटी छोटी ग़लतियाँ भविष्यमें विस्तारको प्राप्त होकर मनुष्यको हानि पहुँचाती हैं।

विंध्याचलके जङ्गलमें बहुत दीर्घकाय, बलवान्, सुन्दर और बड़े बड़े दाँतों वाला एक हाथी रहता था। उसको देखकर एक महावतने उसको पकड़नेका विचार किया। उसने उसको पकड़नेके अनेक यत्न किए। एक समय सोते हुए हाथीको उसने अपनी बुद्धिके बलसे लोहेकी ज़ंजीरोंमें जकड़ ही लिया, और अपने आप उसके ऊपर सवार होकर उसको उठाकर चलाने लगा। हाथीको जब अपनी इस दशाका ज्ञान हुआ तो उसके क्रोध और व्यथाका कोई अन्त न रहा। तीन दिन तक वह चिल्लाता हुआ अपने शरीरको इस रीतिसे अंगड़ाइयाँ देता रहा कि उसका बंधन टूट जाए। ऐसा ही हुआ; वह बन्धनसे मुक्त हो गया, और उसने महावतको नीचे गिरा दिया। महावत भयभीत हो मुरदेकी नाईं निष्क्रिय होकर नीचे पड़ा रहा। हाथीके मनमें उसके ऊपर कुछ करुणा आ गई, और कुछ उसने यह सोचा कि अब तो वह मुक्त हो ही गया, महावतको वहीं पड़ा छोड़कर भाग निकले। हाथीने यह बड़ी भारी भूल की। यद्यपि उस समय यह भूल बहुत छोटी सी जान पड़ती थी, भविष्यमें उसे अपनी इस भूलका बहुत कड़ुआ परिणाम सहन करना पड़ा। जब हाथी भाग गया तो महावत प्रसन्न होकर उठा और उसने हाथीको दूसरी बार पकड़नेका इरादा कर लिया। कई दिन तक उस वनमें घूमते घूमते उसने हाथीका पता लगा लिया। जिस

जङ्गलमें वह रहता था और जिस मार्गसे वह बहुधा जाया आया करता था, उस मार्गमें एक दिन महावतने एक बहुत गहरा गड्ढा खुदवा कर तृणोंसे उसे आच्छादित करके ऐसा बना दिया कि हाथीको वहाँ पर कोई सन्देह न हो। हाथी जब उस मार्गसे नदीमें पानी पीने गया तो धड़ामसे गड्ढेमें गिर गया, और अनेक यत्न करने पर भी न निकल सका। कई रोज़ तक वहाँ पर पड़ा रहा और भूखके कारण दीन और कृश हो गया। अन्तको महावतने अपनी बुद्धिके बलसे उसे बाँध कर निकाला और अपने वशमें कर लिया। यदि वह बलवान् हाथी उस महावतको उस समय जब कि वह उसके आगे पड़ा हुआ था जीवित न छोड़ देता तो उसका भविष्य इतना दुःखदायी न होता।

३७—कचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह समझाया कि असली त्याग, जिससे मनुष्यको निर्वाणपद मिलता है, वस्तुओं और घरबारका त्याग नहीं है, बल्कि अहङ्कार और ममताका त्याग है। वासनाके त्यागसे सब कुछ त्यक्त हो जाता है, और वासनाके रहते हुए सब कुछ त्याग देने पर भी किसी वस्तुका भी त्याग नहीं होता।

एक समय देवगुरु बृहस्पतिका विद्वान् पुत्र कच अपने पिताके पास गया। साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनके समीप बैठ गया। पिताकी आज्ञा होनेपर उसने उनसे पूछा कि महाराज यह बतलाइए कि मनुष्यका परम कल्याण क्या करनेसे होता है। बृहस्पतिने उत्तर दिया—सर्वत्यागसे। कच यह सुनकर अपने स्थानको वापिस आ गया, और एक एक वस्तुका त्याग करने लगा। वर्षों तक ऐसा करने पर भी उसके चित्तमें शान्ति और उसे परमानन्दकी प्राप्ति न हुई। तब फिर वह पिताके पास गया और उनसे उसने अपने सर्वत्यागकी कथा कह अपने मनकी दशाका वर्णन किया। बृहस्पतिने कचको समझाया, बेटा! सर्वत्यागका अर्थ यह नहीं है कि एक एक वस्तुको छोड़ते चले जाओ और उससे न कोई काम लो और न कुछ सम्बन्ध ही रक्खो। संसारमें जब तक जीवन है तब तक ऐसा होना असम्भव है। बाह्य त्यागका नाम त्याग नहीं है। किसी वस्तुको मनसे त्याग

देने ही का नाम त्याग है। इसलिये मनको ऐसा बनालो कि उसमें संसारकी किसी वस्तु और इन्द्रियोंके विषयके भोगोंके लिये कोई वासना न रहे। यही सच्चा त्याग है, और इसीका नाम सर्वत्याग है। इसी त्यागसे मनुष्यका परम कल्याण होता है। कचने ऐसाही किया और वह जीवन्मुक्त हो गया।

४०—इक्ष्वाकुकी कथा

संसार चक्रसे बाहर निकलनेके उपायोंका वर्णन करते हुए वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको इक्ष्वाकु और मनुका सम्वाद सुनाया जो इस प्रकार है:—

हे राम! तुम्हारे आदि पुरुष इक्ष्वाकु राजा जिस प्रकार मुक्त हुए थे उसकी कथा सुनो। एक समय इक्ष्वाकु राजाके मनमें यह प्रश्न उठा कि इस जरा और मरण रूपी संक्षोभ वाले सुख दुःखयुक्त संसारसे बाहर निकलनेका क्या उपाय है? बहुत दिनों तक इस प्रश्न पर विचार करते रहने पर भी उनकी समझमें कुछ न आया। एक दिन दैवयोगसे ब्रह्मलोकसे भगवान् मनुका आगमन हुआ। इक्ष्वाकुने उनका यथायोग्य आदर सत्कार किया और अवसर पाकर उनसे वही प्रश्न किया। मनु बहुत प्रसन्न हुए और बोले—हे राजन्! जो कुछ यह जगत् दीख रहा है वह सब देखने वालेके मनकी अवस्था पर ही निर्भर है। जब तक मनमें संकल्प विकल्प उठते हैं और दृश्य पदार्थोंकी वासना है, तभी तक जगत्का अनुभव होता है, और जब आत्मपदमें स्थित होनेकी वासना होगी और मनुष्य उसमें स्थित होनेका प्रयत्न करेगा, तब जगत्का भान नहीं होगा। आत्मदर्शन न शास्त्र द्वारा होता है और न गुरु द्वारा। आत्मा ही के द्वारा शुद्ध बुद्धिसे आत्मा देखा जाता है। शरीर इन्द्रियाँ और मन आदिमें बहुत कालसे आत्मबुद्धि हो रही है। वहाँसे उसको हटाकर आत्मामें स्थिर करनी चाहिए। यह सिद्धि भी क्रमशः ही प्राप्त होती है। इस सिद्धिके प्राप्त कर लेनेका ही नाम योग है। इस योगकी सात भूमिकाएँ हैं:—सबसे पहिले मुमुक्षुको शास्त्र और सज्जनोंकी सङ्गतिमें रहकर अपनी बुद्धिको शुद्ध और तेज़ करना चाहिए। जिसकी बुद्धि निर्मल और सूक्ष्म नहीं है वह आत्मलाभ कैसे प्राप्त कर सकता है? योगकी दूसरी भूमिकाका नाम 'विचारणा' है। जब बुद्धि आत्मविचार

करने योग्य हो जाय तो मनुष्यको आत्माका क्या स्वरूप है, जगत्में क्या सार है, मनुष्यका क्या परम ध्येय है, इत्यादि प्रश्नों पर बार बार विचार करना चाहिए। तीसरी भूमिका 'असङ्गभावना' है। धीरे धीरे मनुष्यको सब दृश्य पदार्थोंसे असक्त होना चाहिए। किसी भी विषयसे सङ्ग नहीं रहना चाहिए, क्योंकि जिस विषयमें सङ्ग होता हो उसी विषयसे मनुष्य बँध जाता है। चौथी भूमिकाका नाम है 'विलापनी'। इस अवस्थामें योगी अपनी सब वासनाओंका त्याग कर देता है और धीरे धीरे उसकी सारी वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। 'आनन्दरूपा' नामक पाँचवीं अवस्था वह है जब कि योगी शुद्ध संवित्-रूप हो जाता है और आनन्दमें निमग्न रहता है। इस स्थितिमें योगी जीवन्मुक्त होकर संसारमें विचरता है और देखनेवालोंको ऐसा जान पड़ता है कि वह जागता हुआ भी सोता ही रहता है। छठी अवस्थाका नाम है 'स्वसंवेदनरूपा'। इस अवस्थामें योगी सच्चिदानन्द रूप हो जाता है और उसकी स्थिति सोते हुए मनुष्य जैसी हो जाती है। उसको संसारका कोई अनुभव ही नहीं होता, सदा ही वह आत्मानन्दमें लीन रहता है और उसको आत्माका ही निरन्तर भान होता है। यह अवस्था जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या चारोंसे परेकी है। इसका ही नाम मुक्ति है। सातवीं अवस्थाका नाम 'परिप्रौढ़ा' है। उस अवस्थामें परम निर्वाणकी सिद्धि होती है। उसका जीवित योगी अनुभव नहीं करते। शरीर पात होनेपर ही योगी उस अवस्थामें प्रवेश करते हैं। उसीको विदेह मुक्ति भी कहते हैं। मनुसे योगकी भूमिकाओंका वर्णन सुनकर इक्ष्वाकु बहुत प्रसन्न हुए और उनके ब्रह्मलोक चले जानेपर अपने आप इन भूमिकाओं वाले योग मार्गपर चलने लगे।

४१—तुर्यावस्था-स्थित मुनिकी कथा

मनु द्वारा किए हुए इस उपदेशको सुनकर रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे पूछा—महाराज! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन अवस्थाओंको तो मैं जानता हूँ। इनके अतिरिक्त जो चौथी अवस्था मनुने बतलाई, वह कैसी अवस्था है। उसमें स्थित रहते हुए मनुष्यकी कैसी दशा और कैसा व्यवहार होता है—यह मुझे कोई दृष्टान्त देकर समझाइए। वसिष्ठजीने कहा—अहंभाव और अनहंभाव, सत् और असत् दोनों भावोंको छोड़ कर असक्त, सम और स्वच्छ स्थिति-

का नाम चौथी (तुर्या) स्थिति है। उस अवस्थामें चित्तका संकल्प शान्त और जगत्का भाव विलीन हो जाता है, जीवन्मुक्ति इसी स्थितिमें स्थित होनेका नाम है। इसको न जाग्रत और न स्वप्न कह सकते हैं, क्योंकि इसमें संकल्पका अभाव होता है; और न सुषुप्ति कह सकते हैं, क्योंकि इसमें जड़ता नहीं होती। इसमें स्थित रहनेवालेकी क्या दशा होती है इसको समझानेके लिये मैं तुम्हें एक मुनिका दृष्टान्त सुनाता हूँ—

एक व्याधने एक महा गहन वनमें एक मृगका पीछा किया, और उसे एक बाण भी मार दिया। मृग बहुत तेज़ीसे भाग निकला और व्याधके हाथ न आया। मृगकी खोज करते-करते व्याध एक स्थानपर जहाँ कि एक मुनि बैठा था आया। मुनिको प्रणाम करके व्याधने उनसे पूछा कि क्या इधरको कोई बाण-भिन्न मृग गया है। मुनि बोले—हे व्याध! मैं तो नहीं कह सकता कि इधरको कौन आता जाता है, क्योंकि मैंने अपने आपको इन्द्रियों और मनसे हटा कर आत्मामें स्थित कर लिया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें समभावसे वर्तमान जो चौथी अवस्था है उसमें मेरी स्थिति है। संसारमें क्या हो रहा है मुझे कुछ पता नहीं है। मेरे लिये संसार है ही नहीं। यह सुनकर व्याधको बहुत आश्चर्य हुआ और वह मुनिको प्रणाम करके चला गया।

४२—एक विद्याधरकी कहानी

विद्याधरोपाख्यान द्वारा रामचन्द्रजीको वसिष्ठजीने यह समझाया कि कितना ही शास्त्रका अध्ययन और विचार किया जाय, जबतक मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें लानेका प्रयत्न नहीं करता, उसे आत्मज्ञान कभी नहीं हो सकता।

वसिष्ठजीने कहा—हे राम! एक बार मैंने काकभुशुण्डजीसे यह पूछा कि संसारमें कोई ऐसा पुरुष भी है जिसकी आयु बहुत दीर्घ हो गई हो और फिर भी उसने आत्मानुभव न प्राप्त किया हो। भुशुण्डजीने कहा—हाँ, वसिष्ठजी! एक विद्याधर ऐसा था जिसने कि ४ कल्पतक जीवित रहनेपर भी आत्मानुभव प्राप्त नहीं किया था। बहुत समयतक वह विद्याधर शास्त्रोंका अध्ययन करता रहा, किन्तु उसको आत्मज्ञान न हुआ। मेरा नाम सुनकर वह मेरे पास

आया और मुझसे पूछने लगा कि शास्त्रका इतने दिनोंतक अध्ययन कर लेनेपर भी क्यों उसके चित्तमें शांति नहीं आई और उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ, आत्मानन्दमें स्थिति तो दूर रही? काकभुशुण्डजीने उस विद्याधरको अपने आश्रममें कुछ दिन रहनेकी सलाह दी। विद्याधरके वहाँपर रहते हुए भुशुण्डजीने यह मालूम कर लिया कि उसको आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ। कारण यह था कि विद्याधरके हृदयमें इन्द्रियोंके भोगोंकी अनेक वासनाएँ सुप्त रूपसे मौजूद थीं, वे ही उसके मनको शान्त नहीं होने देती थीं। भुशुण्डजीने उसको मनके विकारोंको दूर करने और सुप्त वासनाओंको जाग्रत करके ज्ञान द्वारा उनका उच्छेद करनेकी योगकी युक्तियाँ बतलाईं। इस रीतिसे जब विद्याधरने अपना मन निर्मल और शुद्ध कर लिया तो उसको अब थोड़े ही समयमें आत्मज्ञान होकर परमानन्दकी प्राप्ति हुई, और वह जीवन्मुक्त होकर आनन्दसे रहने लगा।

४३—इन्द्रकी कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रको बतलाया कि परमाणु परमाणुके भीतर अनन्त और अपार सृष्टियाँ हैं। जो जीव उनका अनुभव करते हैं उनके लिये ही वे सृष्टियाँ सत्य हैं, दूसरोंको उनकी सत्ताका ज्ञान नहीं होता—

एक समय देवताओं और दैत्योंमें घोर युद्ध हुआ। देवता लोग हार गए। उनका स्वामी इन्द्र अपनी जान बचानेके लिये भाग निकला। उसने अपनी रक्षाके लिये संसारमें कोई स्थान न पाया। तब उसने योगविद्या द्वारा अपने शरीरको अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर सूर्यकी एक किरणमें प्रवेश किया। उस अत्यन्त सूक्ष्म किरणके भीतर भी उसको ऐसा ही संसार दिखाई पड़ा जैसा कि बाह्य ब्रह्माण्डमें था। उस जगतमें उसने अपने मनसे एक साम्राज्यकी रचना की और उसका राजा बन गया। इस प्रकार उसने उस जगत्में बहुत दिनोंतक राज्य किया। उसके पुत्र और पौत्र आदिने भी उसी जगतमें राज्य किया। बहुत काल पीछे उसके वंशमें एक राजाने आत्मज्ञान प्राप्त किया और उसको विराट् ज्ञान भी हुआ। उस ज्ञानमें यह भेद खुला कि उसका एक बहुत पहला पूर्वज इन्द्र था जो भागकर सूर्यकी किरणमें प्रवेश कर गया था।

४४—मङ्कीकी कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह बतलाया कि जब मनुष्यको विवेक और वैराग्य होने पर उसका मन, निर्मल और विचारवान् हो जाता है तो थोड़ेसे ही उपदेशसे उसको आत्मज्ञान हो सकता है।

वसिष्ठजीने कहा कि एक बार जब कि वे अज राजाके यज्ञमें पुरोहित बनकर जा रहे थे उनको रास्तेमें एक ब्राह्मण मिला जिसका नाम मङ्की था। बात करते करते वसिष्ठजीको ज्ञात हुआ कि वह ब्राह्मण बहुत विरक्त और विवेकी है किन्तु अभी तक उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ। वसिष्ठजीने उसे आत्मज्ञानका उत्तम अधिकारी पाकर मार्गमें चलते चलते ही आत्मज्ञानका उपदेश दिया। मङ्कीके हृदयमें वसिष्ठजी-का उपदेश घर कर गया; और उसको तुरन्त ही आत्मानुभव हो गया।

४५—मनोहरिणका उपाख्यान

इस उपाख्यानमें वसिष्ठजीने मनकी उपमा मृगसे दी है और समाधिकी उपमा वृक्षकी ठण्ढी छायासे। जिस प्रकार कि ऊसर भूमिमें 'मृगतृष्णा' के जलकी तलाशमें प्यासा मृग धूपमें भटकता फिरता रहता है और कहींपर उसे किसी घने पेड़की छाया मिल जाती है और उसका दुःख शांत हो जाता है, उसी प्रकार व्यथित मनको संसार-रूपी ऊसर भूमिमें आनन्दकी वृथा खोज करते और दौड़ते रहनेपर कभी कभी समाधिका आनंद मिल जाता है। उस मनोमृग-का स्वरूप कैसा है यह यहाँपर बतलाया है:—

आत्मरूपी चर्मके अपहरणार्थ कामक्रोधादि व्याधोंसे अनुगत, असार, अनेकताकार शरीररूप कंटकोंके कुञ्जोंमें जर्जरीभूत मुख वाला, वासनारूप पवनसे प्रेरित संसार-वनमें दौड़ता हुआ, अन्तः-करणमें तृष्णारूपी दाहसे युक्त, अहंतारूपी मृगतृष्णाकी नदीकी ओर दौड़ता हुआ, संपत्तिरूपी लताओंमें पैरोंके उलझ जानेसे अनेक कंटकोंसे बेधित शरीर वाला, तृष्णारूपी नदीमें तृषा, शोक और मोहादि तरङ्गोंसे बहा हुआ, अनेक व्याधिरूप दुष्ट व्याधोंके दुःखोंसे पलायमान, विषयोंसे उत्पन्न दुःखरूपी बाणोंसे बेधित, पूर्वकालके दुःखोंके संस्कार रूपी पत्थरोंसे प्रहारित; स्वर्ग नरकादि ऊँचे नीचे स्थानोंमें संपात और निपातसे चकित, अपने बुद्धिरचित

अनेक आचार, सम्प्रदायों और परमात्माकी मायासे भ्रमित, इन्द्रिय रूपी ग्राममें आकर भागनेमें तत्पर, भयङ्कर कामरूपी गजेन्द्रकी गर्जनासे घबराया हुआ, विषय रूपी अजगरोंकी महा विषरूपी फुंकारसे मूर्छित, कामिनी रूपी भूमि पर विषय रूपी रससे मूर्च्छित पड़ा हुआ कोपरूपी दावानलसे दग्ध, अनेक अभिलाषारूपी मच्छरोंसे तङ्ग आया हुआ, भोगोंके लोभमें प्रमोद रूपी शृगालोंसे भगाया हुआ; अपने कर्मसे उत्पन्न दरिद्रतारूपी व्याघ्रसे पीड़ित; पुत्र कलत्र आदिके मोहरूपी कुहरेसे अंधा, नीच कामोंरूपी गड्ढों-में गिरनेसे भग्न शरीरवाला, मृत्युरूपी व्याघ्रसे सुखपूर्वक खाए जाने योग्य यह मनरूपी मृग संसारमें भटकता फिरता है।

४६—पाषाणोपाख्यान

पाषाणोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह समझाया कि सारा विश्व कल्पनाकृत है और कल्पना द्वारा इस विश्वके भीतर भी दूसरे विश्वोंकी रचना की जा सकती है। यह कहानी स्वयं वसिष्ठजीके अनुभवमें आई हुई घटना की है।

एक समय वसिष्ठजीकी इच्छा किसी एकान्त स्थानमें रहकर ध्यान करनेकी हुई। संसारमें चारों ओर विघ्नबाधाओंको देखकर उन्होंने आकाशमें ध्यानके योग्य स्थान ढूँढा। किन्तु वहाँ पर भी उनको नाना प्रकारके शब्दोंके स्पन्दन अनुभवमें आए। इसलिये उन्होंने शून्य लोकमें प्रवेश किया। वहाँ पर अपने सङ्कल्प द्वारा एक कुटियाकी रचना करके उसमें आसन लगाकर ध्यान लगाना आरंभ किया, और तुरन्त ही समाधिमें प्रविष्ट हो गए। समाधिमें प्रवेश होकर उन्होंने नाना प्रकारके लोकोंमें भ्रमण किया जो कि बहुत सूक्ष्म और विचित्र प्रकारके थे। कुछ समय पीछे जब कि वे समाधि से जागे तो उनके कानोंमें एक बहुत सरस और मनोहर गानेका शब्द सुनाई पड़ा। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस शून्य लोकमें शब्द कहाँसे सुनाई पड़ा। आकाश-धारणा द्वारा उनको ज्ञात हुआ कि वह सरस और मनोहर गान एक सुन्दर और तरुण रमणीका है। वसिष्ठजीको उस रमणीको देखनेकी उत्सुकता हुई, और तुरन्त वह स्त्री वसिष्ठजीके सामने उपस्थित होगई। वसिष्ठजीके पूछने पर उसने बत-लाया कि उसका निवास स्थान उनके एक कल्पित जगत्में है। वसि-

ष्ठजी द्वारा कल्पित जगत्में पृथ्वीके ऊपर एक पहाड़ है, उस पहाड़के एक पत्थरके भींतर वह तरुणी और उसका पति रहते हैं। तरुणी अपने पतिके मनकी कल्पना द्वारा उत्पन्न हुई थी। लेकिन उसके पतिने अभी तक उसको स्त्रियोचित आनन्द प्रदान नहीं किया था। इसी कारण वह महादुःखी थी। इस दुःखको सहन न करनेके कारण उसने संसारके सब भोगोंकी आशा छोड़कर आत्म-ज्ञानकी शरण लेनी चाही; किन्तु उसको ज्ञान उत्पन्न करानेवाला कोई नहीं मिला। इसलिये वह स्त्री वसिष्ठजीसे प्रार्थना करने लगी कि वे उसको और उसके स्वामीको आत्मज्ञानका उपदेश करके दुःखसे मुक्त करें।

वसिष्ठजीको यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और इसकी सत्यताकी जाँच करनेके लिये वे अपने संकल्पके जगत्में पृथ्वीके ऊपर स्थित पहाड़के उस पत्थरको देखने चल दिए जिसमें कि वह देवी और उसका स्वामी वास करते थे। वसिष्ठजीने उस जगत्में प्रवेश किया और उस जगत्के ब्रह्मासे मिले। जब कि वसिष्ठजी उस ब्रह्मासे मिलने गए तभी वह ब्रह्मा निर्विकल्प समाधिमें बैठनेवाला था। वसिष्ठजीसे मिलते ही वह ब्रह्मा समाधिमें वैठ गया और वह जगत् जिसमें वह शिला थी, और जिसमें वह तरुणी और उसका स्वामी ब्राह्मण रहता था, तुरन्त ही क्षीण हो गया। वसिष्ठजीने उस जगत्की प्रलय अपनी आँखोंसे देखी और अपने आप वे उससे बचकर चले आए। यह सब अनुभव वसिष्ठजीने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा ही किया था। अब वह सूक्ष्म शरीर शून्यलोकमें स्थित कुटीमें वर्त्तमान अपने स्थूल शरीरमें प्रवेश करनेके लिये वहाँपर जब वापिस आया, तो उसने देखा कि उस कुटियामें कोई एक सिद्ध रहने लगा और वसिष्ठका शरीर वहाँ नहीं रहा। यह देखकर वसिष्ठजीने वहाँपर रहनेका संकल्प ही त्याग दिया और स्वर्गलोकमें जाकर रहनेका निश्चय कर लिया। उनके शून्यलोकमें वास करनेके संकल्पके क्षीण होते ही उनके संकल्प द्वारा रचित कुटी भी क्षीण हो गई, और उसके क्षीण होते ही उस सिद्धका शरीर जो कि उस कुटीमें था, पृथ्वीमण्डलपर गिर पड़ा। वसिष्ठजी-ने सिद्धको अपना सब हाल कहा और दोनों सिद्धलोकमें जाकर रहने लगे।

४७—विपश्चित् की कथा

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह उपदेश किया कि मनुष्यकी वासना और संकल्प ही उसके पुनर्जन्मोंको निश्चित करते हैं।

जम्बूद्वीपमें ततमिति नामकी एक नगरी थी उस पर विपश्चित् नामका एक राजा राज्य करता था। एक समय उसके राज्य पर चारों दिशाओंसे शत्रुओंने आक्रमण कर दिया। राजाको आक्रमणकी सूचना मिलते ही बहुत दुःख हुआ। उसने अग्नि देवताको प्रसन्न करके वर प्राप्त करनेके लिये अपने शरीरकी यज्ञकी आगमें आहुति दे दी। अग्नि देवने प्रसन्न होकर वर मांगनेको कहा तो विपश्चित्ने यह वर माँगा कि चारों ओरसे आक्रमण करने वाले शत्रुओंका सामना करनेके लिये उसके एकके स्थान पर चार शरीर हो जाएँ। अग्निदेवने 'एवमस्तु' कहा। अब एकके बजाय चार विपश्चितोंने शत्रुओंके साथ घोर युद्ध किया और उनको हरा कर भगा दिया। अपने बल पर विश्वास हो जाने पर अब चारों विपश्चित् चार दिशाओंमें दिग्विजय करनेको चल दिए। वे नाना देशोंमें गए और उनको विजय करके आगे बढ़े। बहुतसे देशोंको विजय करके चारोंने चारों दिशाओंमें अपना अपना साम्राज्य स्थापित किया। कुछ काल तक राज्य करके वे अपने अपने मृत्युकाल आनेपर उन शरीरों को छोड़कर जन्म जन्मान्तरोंको प्राप्त हो गए। वसिष्ठजीने रामको उनके कुछ जन्मोंका भी हाल सुनाया और यह भी बतलाया कि उनमेंसे एक इस समय राजा दशरथकी पशुशालामें एक मृगके शरीरमें वर्त्तमान है। यह मृग राजा दशरथको त्रिगर्त देशके राजाने भेंट किया था। यह सुनकर रामचन्द्र जी को बहुत आश्चर्य हुआ। रामचन्द्र जीने उस मृगको उसी समय सभामें मँगवाया, और वसिष्ठजीसे अपने कथनको प्रमाणित करनेकी प्रार्थना की। वसिष्ठजीने तुरन्त ही अपने संकल्प द्वारा एक अग्निकुण्डकी रचना की और मृगको उसमें प्रविष्ट कराया। मृगदेह भस्म हो जानेपर अग्निकुण्डसे एक मनुष्य निकला और सभामें आकर बैठ गया। उसने अपनी स्मृतिके अनुसार वसिष्ठजीके कथनका समर्थन किया और अपने अनेक जन्मोंकी कथा सुनाई।

४८—वटधाना राजकुमारोंकी कथा

विपश्चित्‌की कथा समाप्त हो जानेपर विश्वामित्रजीने इस विषयपर एक कथा सुनाई कि संसारका अनन्त विस्तार है इसका अन्त किसीने नहीं पाया। जितनी दूर जाओ उतना ही आगे फैला हुआ संसार दीख पड़ता है।

वटधाना नामका एक देश है। उसके राजाके तीन पुत्र थे। उन तीनोंके मनमें यह वासना उदय हुई कि इस जगत्‌के अन्तका पता चलाया जाय। यह सोचकर वे तीनों घरसे चल दिए। उनको भ्रमण करते हुए १७ लाख वर्ष हो चुके हैं लेकिन अभी तक उन्हें संसारका अन्त नहीं मिला।

४९—शवोपाख्यान

विपश्चित राजाके अग्निकुण्ड जनित शरीरने (४७वें उपाख्यानमें) जिसकानाम भास था, अपने अनेक जन्मोंका अनुभव सुनाते हुए एक कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

एक समय उसने एक बहुत बड़ी वस्तु आकाशसे पृथ्वी पर गिरती देखी। ऐसा जान पड़ता था कि एक पूरा ब्रह्माण्ड टूटकर गिर रहा है। पृथ्वी पर पड़ते ही उसने पृथ्वीके बहुत बड़े भागको ढक लिया और बहुतसे जीव जन्तुओंका नाश कर दिया। उसके गिरते ही चण्डी देवी प्रकट हुई और उसने उस विशाल वस्तुको छिन्न भिन्न करके उसका नाश किया। विपश्चित्‌की समझमें जब यह न आया कि वह वस्तु क्या थी तो उसने अपने इष्टदेव अग्निका आह्वान किया। अग्निने प्रकट होकर विपश्चित्‌को उस वस्तुका वृत्तान्त सुनाया :—

एक समय एक बधिकने एक वनवासी मुनिको बहुत कष्ट दिया। मुनिने उसको मच्छर हो जानेका शाप दिया। वह मच्छरकी योनिमें पैदा हो गया। मच्छरके मरने पर वह मृग हुआ और फिर व्याध हुआ। व्याधकी योनिमें उसे किसी मुनिने उपदेश दिया कि विना ब्रह्मज्ञानी हुए उसका कल्याण नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये मुनिने व्याधको पहिले तप करनेकी अनुमति दी। तप करके जब व्याधका चित्त शुद्ध होगया तो उसने मुनिसे यह प्रश्न किया कि सङ्कल्प जगत् और वाह्य जगत्‌में समन्वय कैसे हो सकता है? मुनिने प्रश्नका उत्तर देते हुए अपना एक अनुभव सुनाया जो ऐसा था :—

एक समय मैंने एक मनुष्यको सोते हुए देखा। मेरे मनमें यह उत्सुकता हुई कि मैं यह जान जाऊँ कि वह पुरुष अपने स्वप्न जगत्में क्या क्या अनुभव कर रहा है। धारणाशक्ति द्वारा मैंने अपने आप को सूक्ष्म बनाया और मैं उसके संकल्प-संसारमें प्रविष्ट हो गया। मैंने वहाँ पर एक अनन्त जगत् देखा और उसमें मैं विचरण करने लगा। उस जगत्में मैंने सृष्टि और प्रलय भी देखी। मैं अपने असली स्वरूपको भूलकर वहाँ पर रहने लगा और ऐसा अनुभव किया कि मैं उस जगत्में १०० वर्ष तक रहा। उस जगत्में वर्त्तमान एक मुनि-ने मुझे मेरे असली रूपकी याद दिलाई। तब मैं उस सोते हुये पुरुष के संकल्प-जगत् (स्वप्न जगत्) से बाहर आया। तब मुझे यह अनु-भव हुआ कि मैं उसके संकल्प जगत्में केवल क्षणभर रहा था।

मुनिकी यह बात व्याधकी समझमें नहीं आई। मुनिने कहा कि अब फिर एक बार तप करो और यह वर माँगो कि तुम्हारा शरीर ब्रह्माण्ड जैसा विशाल हो जाय। तब तुमको अपने भीतरी ब्रह्माण्डका अनुभव होगा। व्याधने तप किया और ब्रह्माण्ड जैसा विशाल शरीर प्राप्त किया। जब उसका जीव इस शरीरको छोड़कर चला गया तो यह ब्रह्माण्ड समान विशाल देह शव होकर गिरा। अग्निदेवने विप-श्चित्से कहा कि यह दीर्घकाय वस्तु वही शव था। इस शरीर-को छोड़कर वह जीव सिन्धु राजा बना और अपने मन्त्रियोंके द्वारा आत्मज्ञानका उपदेश पाकर निर्वाणको प्राप्त हुआ।

५०—शिलोपाख्यान

शिलोपाख्यान केवल एक दृष्टान्त मात्र है। इसमें वसिष्ठ जीने रामचन्द्र जीको ब्रह्मकी शिलासे उपमा देकर यह समझाया है कि जिस प्रकार एक शिलामें अव्यक्त रूपसे संसारकी सभी प्रतिमाएँ वर्त्तमान रहती हैं उसी प्रकार ब्रह्ममें भी अव्यक्त रूपसे संसारके सभी व्यक्त पदार्थ वर्त्तमान रहते हैं।

५१—ब्रह्माण्डोपाख्यान

ब्रह्माण्डोपाख्यानमें वसिष्ठ जीने रामचन्द्र जीको यह बतलाया है कि ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कैसे होती है, और इस उत्पत्तिका वर्णन स्वयं ब्रह्माने उनसे कैसे किया था। यह बात आगे चलकर सिद्धान्त प्रकरण में वर्णन की जाएगी।

५२—ऐन्दवोपाख्यान

ऐन्दवोपाख्यान पहिले कही हुई इन्दू ब्राह्मणके लड़कोंकी कथा (न० ८) की ही पुनरावृत्ति है।

५३—बिल्वोपाख्यान

बिल्वोपाख्यान भी एक दृष्टान्त ही है जिसमें ब्रह्मकी एक बिल्व फलसे उपमा देकर वसिष्ठ जीने रामचन्द्र जीको यह समझाया है कि जिस प्रकार एक बिल्व फलके भीतर अनेक वस्तुएं वर्त्तमान हैं उसी प्रकार ब्रह्मके भीतर भी अनन्त पदार्थ वर्त्तमान हैं।

५४—तापसोपाख्यान

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजीसे कहा—भगवन्! कुछ दिन हुए हमारी पाठशालामें विदेह नगरका वासी कुन्ददन्त नामक एक ब्राह्मण आया था। उसने अपनी देखी हुई एक आश्चर्यमय घटना सुनाई थी जो इस प्रकार है:--कुन्ददन्त एक समय कहीं जा रहा था। मार्गमें उसने एक तपस्वीको एक वृक्ष पर उलटा लटकते देखा। उसे उसको देख कर बहुत आश्चर्य हुआ। पूछने पर तपस्वीने कुन्ददन्तको बतलाया कि वह तब तक तप करता रहेगा जबतक कि उसे सप्त द्वीपका राजा बननेका वर न मिल जाय। कुन्ददन्त इस तपका फल जाननेके लिये वहीं रहने लगा। कुछ दिनके पीछे वहाँ पर सूर्यमण्डलसे एक दिव्य पुरुष आया और उसने उस तपस्वीको वर दिया कि वह अगले जन्म में सप्त द्वीपका राजा हो जायगा। वर पाते ही तपस्वीने अपना तप समाप्त किया। कुन्ददन्तसे उसने कहा कि इसी प्रकार उसके सात भाई भी सप्तद्वीपके राजा होनेके लिये तपस्या कर रहे हैं। कुन्द दन्त और वह दोनों मिलकर उनको देखनेके लिये चले। सबसे मिलने पर यह मालूम हुआ कि उनको भी अगले जन्ममें सप्तद्वीपके राजा होनेका वर मिल गया है। उधर उन आठों भाइयोंकी स्त्रियोंने तप किया और प्रत्येकने यह वर लिया कि मरनेपर उनके स्वामियोंके जीव उनके घरोंसे बाहर नहीं जाने पाएंगे। कुन्ददन्तको यह सब वृत्तान्त जानकर आश्चर्य हुआ और उसने उस तपस्वीसे पूछा कि सप्तद्वीपका राज्य एक समयमें ही सब भाइयोंको कैसे मिल जायगा और सबके सब सप्तद्वीपके राजा होते हुए अपनी स्त्रियोंके घरोंके भीतर कैसे रहेंगे। सबकी वासनाओंमें इतना विरोध है कि

वे एक ही समय पर पूरी नहीं हो सकतीं। पर सबको ही उनकी वासनाओंके पूरे होनेका वर मिल चुका है। उस कदम्ब तापसने कुन्ददन्त ब्राह्मणसे कहा—इसका रहस्य केवल वसिष्ठ जी ही जानते हैं। वे ही इसको समझा सकते हैं। इस लिये आपको अयोध्या जाना चाहिए और वहां पर वसिष्ठ जीसे इस घटनाका रहस्य समझना चाहिए। रामने कहा—अब वह ब्राह्मण अयोध्यामें आगया है और आपसे मिल कर अपनी शंकाको निवृत्त कराना चाहता है। वसिष्ठजीने कुन्ददन्तको बुलवा लिया और श्री रामचन्द्रजीके सामने ही उसकी सब शंकाओंकी निवृत्ति कर दी।

५५—काष्ठवैवधिकोपाख्यान

यह उपाख्यान योगवासिष्ठका अन्तिम उपाख्यान है। इसके द्वारा वसिष्ठ जीने रामचन्द्रजीको यह समझाया कि यद्यपि गुरु और शास्त्र द्वारा ही ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता तो भी गुरुका बार बार उपदेश सुननेसे और शास्त्रका बार बार चिन्तन करनेसे कभी न कभी आत्मज्ञान हो ही जाता है।

एक अति दीन किन्तु पुरुषार्थी लकड़हारा था। वह प्रति दिन जङ्गलमें जाकर लकड़ियां एकत्रित करके लाया करता था और उनको बेच कर अपना और अपने बाल बच्चोंका पेट पालन करता था। बहुत दिन ऐसा करते रहने पर उसको एक दिन चिन्तामणि मिल गई। उसको पाकर उसका सब दरिद्र दूर हो गया और सब कामनाएँ पूरी हो गईं। इस प्रकार शास्त्र और गुरुके उपदेशका सेवन करते रहने पर कभी कभी आत्मानुभव हो जाता है।

८—योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्त

पाठक यहाँतक इन बातोंसे भलीभाँति परिचित हो गए होंगे कि श्रीयोगवासिष्ठका आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें कितना ऊँचा स्थान है, यह ग्रन्थ कब लिखागया होगा, इसकी लेखशैली कैसी है, इसके कौन कौनसे संक्षेप हो चुके हैं, इसमेंसे कितने उपनिषद् बन गए, इसके सम्बन्धमें अबतक किस किसने क्या क्या लिखा है, इसमें किस विषयकी चर्चा है और उसको प्रतिपादन करनेके लिये कौन कौनसे उपाख्यान सुनाए गए हैं। अब लेखकने पाठकोंके समक्ष इस ग्रन्थरत्नके दार्शनिक सिद्धान्तोंके रखनेका इरादा किया है। यह महाग्रन्थ एक अथाह और विशाल समुद्रके समान है। इसमें अनन्त बहुमूल्य रत्न मौजूद हैं। जितनी बार इसमें गोता लगाया जाए उतना ही थोड़ा है। बहुत लोग इसमें गोते लगाते रहते हैं और अनेक रत्न एकत्रित करते और उनके उपभोगका आनन्द लेते रहते हैं। उनमेंसे कुछ ऐसे भी हैं जो अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त रत्नोंका उपभोग करनेके लिये दूसरोंको निमंत्रित करते हैं। जबसे यह ग्रन्थ बना है ऐसा होता आ रहा है और भविष्यमें भी ऐसा होता रहेगा। लेखकने जो रत्न अपने कई वर्षके प्रयत्नसे इस महासागरमें से इकट्ठे किए हैं वे सब "श्री वासिष्ठदर्शन" नामक ग्रन्थके रूपमें आध्यात्मिक पाठकोंकी भेंट हैं, जो कि यू. पी. गवर्नमेण्टकी "प्रिंस आफ़ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट्स" पुस्तकमाला में क्वीन्स संस्कृत कालेज, बनारसके प्रिंसिपल पं० गोपीनाथ कविराजजीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित हो रहा है। इसका एक सार "वासिष्ठ दर्शन-सार" नामक पुस्तिका हिन्दी अनुवाद सहित सन् १९३२ में लेखकने प्रकाशित कराई थी। यहाँपर हम पाठकोंको उसी 'वासिष्ठ दर्शन' नामक संस्कृत ग्रंथके आधार पर योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे परिचित कराना चाहते हैं।

१—जीवनमें दुःख और अशान्तिका साम्राज्य

यह ऊपर बताया जा चुका है कि श्री रामचन्द्रजी जब शैशवावस्था पार कर चुके और युवावस्थामें प्रविष्ट हुए तो उनके

मनमें जीवन और संसारकी दशापर विचार उदय हुआ। चारों ओर आँखें खोलकर और विचार करके देखनेपर उन्हें ज्ञात हुआ कि जीवन दुःख और अशान्तिमय है। संसारमें कुछ भी सार नहीं है। जीवनका लक्ष्य कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता और किसी स्थितिमें भी आनन्द और शान्तिका अनुभव नहीं होता। इस विचारके कारण वे आशाहीन, निराशावादी और खिन्नमना हो गए थे। वसिष्ठजीने उनसे अपने विचार प्रकट करनेको कहा तो उन्होंने संसार और जीवनकी असारताका सविस्तार वर्णन किया। यह वर्णन इतनी सुन्दर भाषामें और इतना भाव पूर्ण है कि संसारके साहित्यमें जर्मन लेखक और तत्त्वज्ञ शोपेनहारके लेखोंको छोड़कर इसकी तुलना कहींपर शायद ही मिले। यहाँपर हम उसमेंसे कुछ श्लोकोंका संग्रह करके पाठकोंके सामने स्वतन्त्र हिन्दी अनुवाद सहित रखते हैं। रामचन्द्र जीके सारे उद्गारोंका सार यही है कि संसार अनित्य, असार, क्षणभंगुर और मायामय है। मनुष्य-जीवन भी क्षणिक है और इसमें प्राप्त होनेवाले सभी भोग दूरसे देखनेसे ही मधुर जान पड़ते हैं, परन्तु भोग लेनेपर दुःखजनक और मृत्युको निकट बुलानेवाले हैं; इसलिये समझदार आदमीको उनसे विरक्ति होनी चाहिए।

(अ) संसारमें सर्वत्र दोष ही दिखाई पड़ते हैं :—

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ?
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वम् कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ?
(१।२७।३१)

कौनसी ऐसी दृष्टि है जिसमें दोष न हो ? कौनसी ऐसी दिशा है जिसमें दुःखकी दाह न हो ? कौन ऐसी उत्पन्न वस्तु है जो नाशवान् न हो ? कौनसी क्रिया है जो कपटसे रहित हो ? अर्थात् संसारमें जिधर देखो दोष ही दिखाई पड़ते हैं; सब ओर दुःख, नाश और कपटका साम्राज्य है।

(आ) यहां पर कुछ भी स्थिर नहीं है :—

यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम् ।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन्स्वप्नसङ्गमसन्निभम् ॥१॥ (१।२८।१)
अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसञ्चयाः ।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्गवदनारतम् ॥२॥ (१।२८।१०)

वातान्तर्दीपकशिखालोलं जगति जीवितम्।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये ॥३॥ (१।२८।११)
प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दिनैः।
सदैकरूपं भगवन्किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ॥४॥ (१।२८।३२)
बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥५॥ (१।२८।३७)
क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादिताम्।
क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटवन्मनः ॥६॥ (१।२८।३८)
इतश्चान्यदितश्चान्यदितश्चान्यदं विधिः।
रचयन्वस्तुनायाति खेदं लीलास्विवार्भकः ॥७॥ (१।२८।३९)

हे ब्रह्मन्! जो कुछ यह स्थावर जङ्गम (जड़ चेतन) जगत् दीख पड़ता है वह सब स्वप्नके समागमके समान अस्थिर है। बाल्यावस्था अनित्य है, युवावस्था अनित्य है, यह शरीर भी अनित्य है, और द्रव्यका संग्रह अनित्य है। संसारके सारे पदार्थ निरन्तर तरङ्गके समान पूर्वभावको त्यागकर दूसरे भावको ग्रहण करते रहते हैं। हवामें रक्खे हुए दीपककी शिखाके समान चञ्चल (क्षणभङ्गुर) इस संसारमें जीवन है; और तीनों लोकके पदार्थोंकी शोभा बिजलीकी चमकके समान क्षणिक है। हे भगवन्! इस संसारमें एक रूपमें स्थिर कोई भी पदार्थ नहीं है। वही मनुष्य पहले किसी और रूपमें था, कुछ दिनोंमें ही दूसरे रूपका हो जाता है। जब अपने शरीरमें ही एकरूपता नहीं है तो बाह्य पदार्थोंका क्या विश्वास? बाल्यावस्था थोड़े दिनोंमें बीत जाती है; यौवनकी शोभा भी थोड़े ही दिन रहती है; फिर कुछ दिनोंके लिये बुढ़ापा आता है। जैसे नट क्षणक्षणमें वेष बदलकर अपनी लीलाएँ दिखाता है, यह मन भी क्षणमें आनन्दित होता है, क्षणमें शोकयुक्त होता है और क्षणमें ही शान्त हो जाता है। सृष्टिकर्ता, बालककी नाईं, अपनी बनाई हुई वस्तुसे ऊब जाता है; सदा ही यहांपर कुछ और वहां पर कुछ उत्पन्न करता ही रहता है; उसी वस्तुको क्षणमें कुछ और दूसरे क्षणमें कुछ और बनाता रहता है।

(इ) जीवनकी दुर्दशा :—

आयुरत्यन्तचपलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः।
तारुण्यं चातितरलं बाल्यं जड़तया हतम् ॥ १ ॥ (१।२६।९)

कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥ २ ॥ (१।२६।१०)
शत्रवश्चेन्द्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम् ।
प्रहरत्यात्मनैवात्मा मनसैव मनो रिपुः ॥ ३ ॥ (१।२६।११)
वस्त्ववस्तुतया ज्ञातं दत्तं चित्तमहंकृतौ ।
अभाववेधिता भावा भावान्तो नाधिगम्यते ॥ ४ ॥ (१।२६।१४)
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी ।
नीयते केवलं क्वापि नित्यं भूतपरम्परा ॥ ५ ॥ (१।२६।२२)
सर्व एव नरा मोहाद्दुराशापाशपाशिनः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥ ६ ॥ (१।२६।४१)
तृष्णालताकाननचारिणोऽमी शाखाशतं काममहीरुहेषु ।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥ ७ ॥
(१।२७।७)
पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथान्ते यत्रातिरम्या विषमूर्च्छनैव ॥ ८ ॥
(१।२७।११)
पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥ ९ ॥
(१।२७।१८)

आयु अत्यन्त चपल है, मृत्यु सर्वथा क्रूर है; युवावस्था अत्यन्त ही चञ्चल है; और बाल्यावस्था अज्ञानमें ही नष्ट हो जाती है। सब लोग चिन्तासे कलङ्कित हो रहे हैं। सब बन्धुजन संसारकी बेड़ियां हैं; जितने भोग हैं वे सब महारोग हैं; और तृष्णा केवल मृगतृष्णा है। अपनी इन्द्रियाँ ही अपने शत्रु हैं। सत्य भी असत्यता को प्राप्त हो गया है; आत्मा ही आत्माको हनन करता है और मन ही मनका दुश्मन हो रहा है। जो वस्तु जैसी है उसको किसी दूसरे ही प्रकारसे जाना जाता है। अहंकारमें मन लगा रहता है। सब भावरूप पदार्थ अभावको प्राप्त होते हैं, और इन सब भावोंका क्या अन्तिम लक्ष्य है उसका कुछ पता ही नहीं। सारे भाव आने और जाने वाले (उत्पत्ति और नाशशील) हैं। विषयोंकी भावना ही संसारसे सबको बाँधती है। न जाने ये सब प्राणी कहाँ ले जाए जा रहे हैं। सब मनुष्य मोहके वश हुए, दुःखदायी आशाओंकी फांसीमें

बन्धे हुए, और दोषरूपी झाड़ोंमें अटके हुए मृगोंके समान, जीवन रूपी जङ्गलमें नष्ट हो रहे हैं। तृष्णारूपी लताके वनमें विचरने वाले, मन रूपी मर्कट काम रूपी वृक्षोंकी अनेक शाखाओं पर भ्रमण करके कालक्षेप करते हैं, और कहीं कुछ भी फल नहीं पाते। हे तात! पुत्र, स्त्रियाँ और धन, जिनको मनुष्य भ्रान्त बुद्धिसे रसायन तुल्य समझता है, कुछ भी उपकार नहीं करते; अन्तमें ये सब अतिरम्य वस्तुएँ विष द्वारा प्राप्त मूर्च्छा की नाईं दुःखदाई होती हैं। जिस प्रकार वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न होकर शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार विवेकहीन लोग जन्म लेकर कुछ दिन बाद कहीं चले जाते हैं।

(ई) कालका सब ओर साम्राज्य है:—

न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः॥ (१।२३।४)
किं श्रिया किं च राज्येन किं देहेन किमीहितैः।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥२॥ (१।१८।३७)
ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्प इवानिलम्।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरां नीत्वाऽजरं वपुः ॥३॥ (१।१६।६)

जैसे विशाल समुद्रको बड़वानल ग्रास कर जाता है, वैसे ही इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती जिसको यह सर्वभक्षी काल न खाता हो। लक्ष्मीसे क्या? राज्यसे क्या? शरीरसे क्या? और मनोरथोंसे क्या? थोड़े ही समयमें काल इन सबको काट डालता है। यह महाक्रूर आचरणवाला काल तरुण शरीरोंको बुढ़ापे तक पकाकर निरन्तर ऐसे भक्षण करता है जैसे सर्प वायुको।

(उ) जीवनमें सुख कहाँ है?

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसन्ततिः।
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च ॥ १ ॥ (१।१२।७)
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः।
आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः ॥ २ ॥ (१।६२।८)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम्।
जीवितं मरणायैव बत माया विजृम्भितम् ॥ ३ ॥ (३।९३।३)

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥ ४ ॥ (५।२२।३)
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ ५ ॥ (६/२।६।८)
सर्वस्या एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् । (५।५९।६)
मालिन्यं दुःखमप्येव ज्वालाया इव कज्जलम् ॥ ६ ॥ (४।५९।७)
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेसु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ ७ ॥ (५।९।४१)
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसा सरसवैरस्या लुठन्त्येषु न को हतः ॥ ८ ॥ (६/२।९३।२९)
भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक्स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ ९ ॥ (६/२।९३।७५)
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥१०॥ (६/२।९३।७८)
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥११॥ (५।९।५२)

यह संसारका प्रवाह क्या सुखदायक है? यहाँपर प्राणी मरनेके लिये उत्पन्न होता है और उत्पन्न होनेके लिये ही मरता है। संसारकी जितनी चेष्टाएं हैं वे सब चंचल हैं और विभव कालमें प्राप्त जितने विषय भोग हैं वे आपत्तिके मूल और पापजनक हैं। सब सम्पत्तियां आपत्तिरूप हैं, सुख केवल दुःखके लिये है और जीवन मरणके लिये है। देखो मायाका क्या विस्तार है। मुझे कोई भी भोग सुखदायी नहीं दिखाई देता, क्योंकि सब भोग तभी तक रमणीय मालूम पड़ते हैं जबतक उनपर विचार-दृष्टि नहीं पड़ती। निश्चय ही सब भोग विनाशशील हैं। सारे भोग भयंकर परिणामवाले, शीघ्रही विकारयुक्त, क्षणभङ्गर, संसारमें फँसानेवाले और केवल आरम्भमें विना विचारे रमणीय मालूम पड़नेवाले हैं। जिस प्रकार अग्निज्वालाका अन्त कालिमामें होता है, उसी प्रकार सब सुखाशाओंका अन्त दुःखमय है। जितने वर्त्तमान पदार्थ हैं उन सबके सिरपर नाश अवश्य स्थित है, सब रमणीय पदार्थोंके सिरपर अरम्यता और सुखोंके ऊपर दुःख स्थित है। तब फिर मैं किस वस्तुकी शरण लूँ? सारे भोगके विषय विषके समान दुःख देनेवाले हैं, स्त्रियां मोहका

उत्पादन करनेवाली हैं, और सारे रस सरस पुरुषोंमें भी विरसता उत्पन्न करनेवाले हैं। फिर इनमें रमण करता हुआ कौन नष्ट नहीं होता ? विषयोंके भोग ज़हरीले सर्पोंके फणोंके समान हैं; स्पर्श मात्र से ही काट लेते हैं और क्षण क्षणमें देखते देखते नाशको प्राप्त होते रहते हैं। सारी सम्पत्तियां और ललनाओंका सौन्दर्य तरङ्गोंके समान क्षणभंगुर है, सर्पके फण रूप छत्रकी छायाके समान उनमें कौन बुद्धिमान रमण कर सकता है। यह संसार संपूर्ण दुःखोंका उद्भव स्थान है, भला इसमें रहते हुए सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

(ऊ) मोहान्धता :—

असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः ।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव ॥१॥ (१।१२।११)
न केन चिद्विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः ।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् ॥२॥ (१।१२।१२)
किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः ।
मुधैव हि वयं मोहात्संस्थिता बद्धभावनाः ॥३॥ (१।१२।१३)

अत्यन्त खेदकी बात है कि हम मूढ़ बुद्धि वाले झूठे सुखसे इस प्रकार खिंचे जा रहे हैं जैसे कि मृगतृष्णाके जलसे मूढ़ मृग वनमें दूर खिंचे चले जाते हैं। यद्यपि किसीने हमको बेचा नहीं तथापि हम इस प्रकार स्थित हैं जैसे कि बिके हुए (ग़ुलाम)। बड़े अफ़सोसकी बात है कि यह जानते हुए भी कि यह सब मायामय है हम लोग मूढ़ हो रहे हैं। इस प्रपञ्चमें विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंकी क्या हैसियत है (अर्थात् बहुत थोड़े और क्षणिक हैं) ! हम लोग फ़िज़ूल ही उनकी ओर आशा लगाए रहते हैं।

(ए) लक्ष्मीनिन्दा :—

न श्रीः सुखाय भगवन्दुःखायैव हि वर्धते ।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥१॥
(१।१३।१०)

मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं कदर्थसाध्या क्षणभङ्गुरा च ।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मीः ॥२॥
(१।१३।२२)

हे भगवन् ! लक्ष्मीकी वृद्धि सुखके लिये नहीं, केवल दुःखके

लिये ही होती है। इसकी रक्षा भी नाशका कारण है, जैसे कि सुरक्षित विषलता भी मृत्युका कारण होती है। लक्ष्मी स्त्रीके समान मनोहर रूप धारण करके चित्तकी वृत्तिको खींचती है; दुष्ट कर्मोंके करनेपर प्राप्त होती है और क्षण भङ्गुर (जल्द नष्ट होने वाली) है; सर्पोंकी पंक्तिकी नाईं अपने असली रूपको लपेटे रहती है और पुराने कुँएमें उत्पन्न हुई फूलोंकी बेलके समान (बाहरसे सुन्दर किन्तु भीतरसे दुर्गन्ध वाली) है।

(ऐ) आयुनिन्दा:—

पेलवं शरदीवाभ्रमस्नेह इव दीपकः।
तरङ्गक इवालोलं गतमेवोपलक्ष्यते ॥१॥ (१।१४।६)
प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनारतम्।
आखुनेव जरच्छ्वभ्रं कालेन विहन्यते ॥२॥ (१।१४।१६)
स्थिरतया सुखभासितया तया
सततमुज्झितमुत्तमफल्गु च।
जगति नास्ति तथा गुणवर्जितम्
मरणभाजनमायुरिदं यथा ॥ (१।१४।२३)

शरत्कालके बादल, तेलरहित दीपक और तरङ्गके समान, आयु चञ्चल और नष्टप्राय है। जिस प्रकार प्रति दिन शनैः शनैः खेद रहित होकर कोई चूहा बिलको छेदता रहता है, उसी प्रकार काल भी आयुको निर्दयतासे प्रति दिन शनैः शनैः काटता रहता है। स्थिरता और सुखके अनुभवसे सदा रहित, सब गुणोंसे वर्जित, मृत्युका पात्र, आयुके समान संसारमें और कोई तुच्छ वस्तु नहीं है।

(ओ) चित्तकी चञ्चलता:—

चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्तानिचयचञ्चुरम्।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी यथा ॥१॥ (१।१६।१०)
चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥२॥ (१।१६।२२)

जिस प्रकार सिंह पिञ्जरेके भीतर कहीं पर स्थिर नहीं रहता, इधर उधर डोलता ही रहता है, उसी प्रकार मन, अपनी चञ्चल वृत्ति के कारण और चिन्ताओंके समूहसे लदा हुआ, कभी भी स्थिर नहीं होता। अपने विषयोंकी ओर चित्त इस फुरतीसे दौड़ता है जैसे कि

पक्षी अपने खाद्य मांसकी ओर, और क्षणभरमें ही उनसे इस प्रकार विरक्त हो जाता है जैसे कि बालक खेलसे। अर्थात् मनमें ज़रासी भी स्थिरता नहीं है।

(औ) तृष्णाकी जलन :—

तृष्णाभिधानया तात दग्धोऽस्मि ज्वालया तथा।
यथा दाहोपशमनमाशङ्के नामृतैरपि ॥ १ ॥ (१।१७।११)
कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यसंशिनी।
दशत्यपि मनाक्स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥ २ ॥ (१।१७।१७)
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तापि फलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ ३ ॥ (१।१७।२९)
सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ ४ ॥ (१।१७।३२)
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥ ५ ॥ (१।१७।३९)
हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः ॥ ६ ॥ (१।१७।१)
दृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम्।
मुह्यते रौति पतति तृष्णयाभिहतो जनः ॥ ७ ॥ (५।१५।१०)
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैका हि न जीर्यते ॥ ८ ॥ (६।९३।२६)

हे तात! तृष्णा रूपी अग्नि मुझे इस प्रकार जला रही है कि मुझे सन्देह है कि अमृतसे भी यह दाह शान्त नहीं हो सकती। कुटिल, कोमल स्पर्शवाली, विषयरूपी दुःखदायक विष देनेवाली यह काली सर्पिणी रूपी तृष्णा छूने मात्रसे (अर्थात् मनमें आते ही) काट लेती है। यह तृष्णा रूपी चञ्चल बन्दरी अलङ्घ्य स्थान पर भी पैर रखती है, तृप्त होने पर भी और फलोंकी इच्छा रखती है, और किसी एक स्थान पर क्षण भर भी नहीं ठहरती। संसारके सब दोषोंमें तृष्णा ही सबसे अधिक दुःख देनेवाली है, यह अन्तः पुरमें सुरक्षित पुरुषको भी संकटमें डाल देती है (क्योंकि जहाँ मनमें किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी तृष्णा उत्पन्न होगई दुःखका अनुभव आरम्भ हो गया)। जरा मरण और दुःख इन सबकी पिटारी और

शारीरिक और मानसिक दुःखोंको नित्य देनेवाली वेश्याके समान तृष्णा है। जिस समय चित्त रूपी आकाशमें हृदयमें अन्धेर करने वाली दुरन्त तृष्णा रूपी रात्रि छा जाती है तभी सर्व प्रकारके दोष-रूपी उल्लुओंकी पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। तृष्णाका मारा हुआ मनुष्य देखनेमें दीन, नष्ट हृदय, ओजरहित हो जाता है, नीचताको प्राप्त होता है, मोहित होता है, रोता है और गिर जाता है। बूढ़ा होने पर प्राणीके केश तथा दान्त आदि सभी चीज़ें जीर्ण हो जाती हैं, केवल एक तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती। (इस कारणसे उसे और अधिक दुःख होता है, क्योंकि भोगोंकी तृष्णा रहते हुए भी भोगोंके भोगनेकी शक्ति नहीं रहती)।

(अं) देहकी अरम्यता :—

समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम्।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ १ ॥ (१।१८।३४)
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥ २ ॥ (१।१८।३८)
बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिगस्तु धिगस्तु पुनः पुनः ॥ ३ ॥ (१।१८।५२)

सब रोगोंका स्थान, झुर्रियोंसे खुकड़ा हुआ, सब मानसिक-व्याधियोंके सूक्ष्म बीजोंसे भरा हुआ, यह शरीर मुझे अच्छा नहीं लगता। हे मुने! बाहर और भीतर रक्त और मांससे भरपूर इस नाशवान् शरीरमें कौनसा सौन्दर्य है? जो लोग शरीर और जगत्की स्थितिके स्थिर होनेमें विश्वास करते हैं उन मोहरूपी मदिरासे उन्मत्त जनोंको वारवार धिक्कार है।

(अः) बाल्यावस्थाकी दुर्दशा :—

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता।
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्तते ॥ १ ॥ (१।१९।२)
ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गर्त्त इव कौशिकाः ॥ २ ॥ (१।१९।१०)

अशक्ति, आपत्तियां, तृष्णा, मूकता, मूढ़ बुद्धि, वस्तुओंकी अभिलाषा, चञ्चलता, (वस्तुओंके न प्राप्त होनेपर) दीनता, ये सब दोष बाल्यावस्थामें मौजूद होते हैं। जितने दोष हैं, जितने दुराचार

हैं और जितने भयंकर परिणामवाले रोग हैं वे सब बाल्यावस्थामें इस प्रकार मौजूद रहते हैं जैसे खराब गड्ढोंमें उल्लू रहते हैं।

(क) यौवनावस्थाके दोषः—

निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम्।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते॥ १॥ (१।२०।८)
आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम्।
वेश्यास्त्रीसङ्गमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते॥ २॥ (१।२०।१३)
सुनिर्मलापि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी॥ ३॥ (१।२०।१८)

निमेष मात्रके लिये प्रकाश होनेवाली, चञ्चल मेघोंके गर्जन युक्त बिजलीकी चमकके समान, क्षणिक यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। बिना विचारे और थोड़े समयके लिये अच्छे लगनेवाले और शुद्धभावोंसे रहित वेश्याके साथ सङ्गके समान, यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार निर्मल, विस्तीर्ण और पवित्र नदी भी वर्षा ऋतुमें मलीन हो जाती है उसी प्रकार बुद्धि यौवनावस्थामें मलीन हो जाती है।

(ख) स्त्रीनिन्दाः—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यंत्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्॥ १॥ (१।२१।१)
त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम्।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ २॥ (१।२१।२)
आपातरमणीयत्वं कल्पते केवलं स्त्रियाः।
मन्ये तदपि नास्त्यत्र मुने मोहैककारणम्॥ ३॥ (१।२१।८)
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ ४॥ (१।२१।१२)
पुष्करकेसरगौराङ्गी नरमारणतत्परा।
ददात्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता विषलता यथा॥ ५॥ (१।२१।१६)
मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानमिव दन्तिनाम्।
पुंसां मंत्र इवाहीनां बन्धनं वामलोचना॥ ६॥ (१।२१।२१)
सर्वेषां दोषरत्नानां समुद्गिकयाऽनया।
दुःखश्रृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ ७॥ (१।२१।२३)

नाड़ी, हड्डी और ग्रन्थि आदिसे बनी हुई नारी रूपी मांसकी पुतलीके चञ्चल शरीर रूपी पिञ्जरेमें कौन सी सुन्दर वस्तु है ? चर्म, मांस, रक्त अश्रुजल और नेत्र—इनको अलग अलग विचार करके देखो और सोचो कि स्त्रीके शरीरमें क्या रमणीय है ? तब फिर क्यों फ़िजूल ही, लोग मोहित होते हैं ? हे मुने ! स्त्रीकी रमणीयता विचाररहित कल्पनामें ही है और मेरी समझमें तो उतनी भी नहीं है। स्त्रीके सौन्दर्यका एकमात्र कारण मोह है। ऊपरसे सरस मालूम पड़ने वाली पर भीतरसे नीरस स्त्रियाँ दूरसे ही जलाने वाली नरककी अग्निका कठोर और बढ़िया ईंधन हैं। कान्ता वह विषकी लता है जो कि फूलके केशरके समान गौर अङ्ग वाली, पुरुषके मारनेके लिये सदा उद्यत, और उन्मत्तताकी दीनता पैदा करने वाली है। जैसे घोड़ोंके लिये अस्तवल, और हाथियोंके लिये उनके बांधनेका खंभा और सर्पोंके लिये मंत्र बन्धनका कारण हैं, उसी प्रकार स्त्रियाँ पुरुषोंके बन्धनका कारण हैं। सर्व दोष रूपी रत्नोंकी पिटारी, और सदा दुःख देने वाली बेड़ीके समान स्त्रीसे मुझे कुछ मतलब नहीं।

(ग) भोगोंकी नीरसता :—

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु
भोगेषु नाहमलिपक्षतिचञ्चलेषु।
ब्रह्मन् रमे मरणरोगजरादिभीत्या
शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥ १ ॥ (१।१२।३६)

हे ब्रह्मन् ! बिना विचारे ही रमणीय मालूम पड़नेवाले, पार करनेमें अशक्य, भ्रमरके पंखोंके समान चञ्चल भोगोंमें मैं मृत्यु, रोग और वार्धक्यके भयसे रमण नहीं करना चाहता। अपने प्रयत्नसे मैं परम पदको प्राप्त करके शान्त होना चाहता हूँ।

(घ) बुढ़ापेकी निन्दा :—

जरामार्जारिका भुंक्ते यौवनाखुं तथोद्धता।
परमुल्लासमायाति शरीरामिषगर्धिनी ॥ १ ॥ (१।२२।२५)
न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे।
ते जराजीर्णराक्षस्या पश्याशु विजिता मुने ॥ २ ॥ (१।२२।३१)
हिमाशनिरिवाम्भोजं वात्येव शरदम्बुदम्।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥ ३ ॥ (१।२२।२)

किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण जरागतेनापि हि जीव्यते यत्।
जरा जगत्यामजिता जनानां सर्वैषणास्तात तिरस्करोति ॥ ४ ॥
(१।२२।३८)

शरीररूपी मांसको खानेवाली वृद्धावस्था रूपी बिल्ली यौवनरूपी चूहेको भक्षण करके बहुत प्रसन्न होती है। जो योद्धा कभी रणमें किसीसे नहीं जीते गए और जो पर्वतकी कन्दराके भीतर सुरक्षित रहते हैं, उनको भी वृद्धावस्थारूपी राक्षसी सरलतासे जीत लेती है। जैसे हिमका वज्र कमलको और जाड़ेकी हवा सरदीके बादलको और नदी तीरपर खड़े वृक्षको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार बुढ़ापा शरीरको नष्ट कर देता है। हे तात! उस बुरे और कठिनाईसे जिए जाने वाले जीवनसे क्या लाभ, जिसमें बुढ़ापा आ जानेपर भी जीना पड़े? हे तात! किसीसे भी न जीता गया यह बुढ़ापा मनुष्योंकी सभी अभिलाषाओंका तिरस्कार करता रहता है।

(ङ) जीवनकी असारता :—

पातः पक्वफलस्यैव मरणं दुर्निवारणम्।
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ १ ॥ (६/१।७८।३–४)
शैलनद्यारय इव संप्रयात्येव यौवनम्।
इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ॥ २ ॥ (६/१।७८।५–६)
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः।
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ॥ ३ ॥ (६/१।७८।६–७)
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम्।
रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः ॥ ४ ॥ (६/१।७८।७–८)

पक्के फलके गिरनेके समान मरण अनिवार्य है। आयु प्रतिक्षण इस प्रकार चली जा रही है जैसे कि हथेलीपरसे पानी। यौवन पहाड़ी नालोंकी नाईं तेज़ीसे भागा जा रहा है। जीर्ण स्थिति वाला यह जीवन इन्द्रजालके दृश्यके समान असत्य है। सुख इतनी जल्दी भाग जाते हैं जितनी जल्दी धनुषसे छोड़े हुए बाण। चित्त दुःखों (को सुख समझकर उन) की ओर इस प्रकार दौड़ता है जिस प्रकार कि गिद्ध मांस की ओर। बरसाती बुलबुलोंकी नाईं यह जीवन क्षणभङ्गुर है, और विचार करनेपर सारा व्यवहार केलेके खंभेकी नाईं असार जान पड़ता है।

(च) सब प्रकारका अभ्युदय असार है :—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ १ ॥ (४।४६।३)
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वसवानिह ॥ २ ॥ (४।४६।४)

धन और दारा आदि रम्य वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर हर्षका क्या अवसर है ? मृगतृष्णाकी नदीमें बाढ़ आनेपर भी क्या प्यासे पुरुषोंको कुछ आनन्द हो सकता है ? धन और दारा आदि वस्तुकी वृद्धि होनेपर आनन्द नहीं मानना चाहिए, दुःख मानना चाहिए; क्योंकि मोहकी मायाके बढ़नेपर किसीको भी समाश्वासन नहीं मिलता ।

(छ) संसार-जनित दुःखकी असहनीयता :—

क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्तोऽस्म्यहं मुने ।
संसारव्यवहारोत्थं नाशाविषयवैशसम् ॥ १ ॥ (१–२९–१७)

हे मुने ! आरेके दाँतोंसे चीरा जाना मैं सहनकर सकता हूँ, परन्तु संसारके व्यवहारसे उत्पन्न आशा और विषयों द्वारा प्राप्त दुःखको मैं नहीं सह सकता ।

(२) रामचन्द्रजीके प्रश्न :—

अतोऽतुच्छमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
किं तत्स्थितिपदं साधो यत्र शोको न विद्यते ॥ १ ॥ (१।३०।११)
किं तत्स्यादुचितं श्रेयः किं तत्स्यादुचितं फलम् ।
वर्तितव्यं च संसारे कथं नामासमञ्जसे ॥ २ ॥ (१।३०।२०)
केन पावनमंत्रेण दुःसंसृतिविषूचिका ।
शाम्यतीयमनायासमायासशतकारिणी ॥ ३ ॥ (१।३०।२४)
कथं शीतलामन्तरानन्दतरुमञ्जरीम् ।
पूर्णचन्द्र इवाक्षीणां भृशमासादयाम्यहम् ॥ ४ ॥ (१।३०।२५)
क उपायो गतिः का वा का चिन्ता कः समाश्रयः ।
केनेयमशुभोदर्का न भवेज्जीविताटवी ॥ ५ ॥ (१।३१।६)
संसार एव निवहे जनो व्यवहरन्नपि ।
न बन्धं कथमाप्नोति पद्मपत्रे पयो यथा ॥ ६ ॥ (१।३०।१७)

अयं हि दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः ।
कथं स्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ॥ ७ ॥ (१।३१।८)
दृष्टसंसारगतिना दृष्टादृष्टविनाशिना ।
केनैव व्यवहर्तव्यं संसारवनवीथिषु ॥ ८ ॥ (१।३१।११)
रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः ।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम् ॥ ९ ॥ (१।३१।१२)
व्यवहारवतो युक्त्या दुःखं नायाति मे यथा ।
अथवाऽव्यवहारस्य ब्रूत तां युक्तिमुत्तमाम् ॥ १० ॥ (१।३१।१७)

इसलिये हे साधो ! आयास रहित, उपाधि रहित भ्रम रहित, वह कौनसी सत्य स्थिति है जिसमें शोक न हो ? क्या उचित श्रेय है, क्या उचित प्राप्ति योग्य फल है ? इस असमञ्जस संसारमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये ? कौनसे पवित्र मंत्रसे यह संसार रूपी विषूचिका, जो कि अनेक कष्ट दे रही है, शान्त हो सकती है ? आनन्दरूपी वृक्षकी मञ्जरीके सदृश और पूर्ण चन्द्रमाके समान भरपूर आन्तरिक शान्तिको मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? कौनसा ऐसा उपाय है, कौनसा ऐसा मार्ग है, कौनसा ऐसा विचार है, कौनसा ऐसा आश्रय है कि जिसके द्वारा यह जीवनरूपी जङ्गल दुःखदायी न हो ? संसारके प्रवाहमें पड़कर व्यवहार करता हुआ भी आदमी कमलके पत्तेके ऊपर पड़े हुए जलके समान, कैसे बन्धनको प्राप्त न हो (वह साधन बताओ) । यह दग्ध (जला) संसार, जहांपर कि निरन्तर दुःख ही दुःख है, सर्वथा नीरस होने पर भी किस प्रकार, मूर्खताको ग्रहण किए विना, सुस्वादु बनाया जा सकता है (अर्थात् कैसे मनुष्य ज्ञानी होता हुआ भी संसारमें स्वाद ले सके) ? इस संसार रूपी वनके रास्तोंपर उस पुरुषकी नाईं कैसे व्यवहार करें जिसने कि संसारकी गतिको अच्छी तरह जान लिया हो और जिसने इस लोक और परलोक दोनोंके भोगोंकी वासनाओंको नाश कर दिया हो ? संसार रूपी समुद्रमें रहनेवाले जन्तुको किस प्रकार राग द्वेष आदि महा रोग, भोगोंके समूह और समृद्धि न दुःख पहुंचाएँ ? मुझे वह उत्तम युक्ति बतलाओ जिससे कि मुझे संसारमें दुःख न हो—चाहे वह युक्ति संसारमें व्यवहार करते हुए बने या संसारका व्यवहार त्याग कर बने।

२—दुःख-निवृत्तिका उपाय

रामचन्द्रजीके मुखसे जीवनकी दुर्दशाका हाल सुनकर वसिष्ठ जीने समझ लिया कि रामचन्द्रजी आत्मज्ञानके सर्वोत्तम अधिकारी हैं। इसलिये उन्होंने रामचन्द्रजीको उस आध्यात्मिक विद्याका उपदेश देना आरम्भ किया जो कि उन्होंने सृष्टिकर्ता ब्रह्माके मुखसे जगत्‌के कल्याणके लिये सुनी थी।

(१) दुःखका कारण संसारका राग है:—

विषमो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति, असिरिव च्छिनत्ति, कुन्त इव वेधयति, रज्जुरिवावेष्टयति, पावक इव दहति, रात्रिरिवान्धयति, अशंकितपरिपतितपुरुषान्पाषाण इव विवशीकरोति, हरति परज्ञां नाशयति स्थितिं, पातयति मोहान्धकूपे, तृष्णा जर्जरीकरोति, न तदस्ति किञ्चिद्दुःखं संसारी यन्न प्राप्नोति। (२।१२।४)

संसारका राग बहुतही दुःखदायी है, यह सांपकी नांई डंसता है, तलवारकी नांई काटता है, भालेकी नांई बींधता है, रस्सीकी नांई लपेट लेता है, आगकी नांई जलाता है, जो इसमें शंका रहित होकर गिरते हैं उनको पत्थरकी नांई दबा देता है, बुद्धिको हर लेता है, स्थिरताको नष्ट कर देता है, मोहके अन्धेरे कुंएमें डाल देता है, तृष्णासे मनुष्यको जर्जर कर देता है। ऐसा कोई दुःख नहीं है जो संसारी (संसारसे राग रखनेवाला) न सहन करता हो।

(२) अज्ञानीको ही दुःख होता है:—

इयं संसारसरणिर्वहत्यज्ञप्रमादतः।
अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढ़ानि च ॥१॥ (६।६।३३)

यह संसाररूपी प्रवाह अज्ञानीकी ही मूर्खतासे चल रहा है। अज्ञानीको ही घोर दुःख सुख होते हैं।

(३) ज्ञानसे ही दुःखकी निवृत्ति होती है:—

संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम्।
अज्ञं संमोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत् ॥१॥ (२।११।६९)

प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाधयः ।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥२॥ (२।११।४१)
ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम् ।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥३॥ (२।११।३६)
निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥४॥ (२।१०।२१)
संसारोत्तरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः ॥५॥ (२।१०।२२)

संसाररूपी विषका वृक्ष, जो कि सब आपत्तियोंका देनेवाला है, अज्ञानीको ही दुःख देता है। इसलिये, अज्ञानको हमेशा यत्न करके नष्ट करना चाहिए। जिस प्रकार वर्षासे भीगे हुए वनको अग्निकी ज्वालाएं नहीं जला सकतीं, उसी प्रकार मानसिक दुःख भी ज्ञानीको, जिसने जो कुछ जानने योग्य है जान लिया है और युक्त दृष्टि प्राप्त करली है, वेदना नहीं दे सकते। ज्ञानयुक्ति रूपी नौका द्वारा बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार-समुद्रसे निमेषमात्रमें ही पार हो जाते हैं। निर्वाण नामवाला परमानन्द, जिसको प्राप्तकर लेने पर मनुष्यका पुनर्जन्म और मरण नहीं होता, ज्ञानसे ही प्राप्त होता है। संसारसे पार होनेका एकमात्र उपाय ज्ञान है; तप दान, तीर्थ आदि उपाय नहीं हैं।

(४) आत्मज्ञानसे ही परम शान्ति प्राप्त होती है:—

करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा ।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति ॥१॥ (५।५७।३४)
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते ॥२॥ (५।७५।४६)
ज्ञायते परमात्मा चेद्राम दुःखस्य संततिः ।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥३॥ (३।७।१७)

चाहे त्रिभुवनका राज्य मिल जाए, चाहे मेघ या जलके भीतर कोई प्रवेश करले, आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बिना किसीको भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। जो अपना कल्याण चाहता हो उसको चाहिए कि आत्मज्ञानके लिये प्रयत्नशील हो, क्योंकि सब दुःखोंका नाश आत्मानुभवसे होता है। यदि परम आत्माका ज्ञान हो जाए तो सारे

दुःखका प्रवाह इसप्रकार नष्ट हो जायगा, जिसप्रकार विषका प्रभाव खतम होतेही विषूचिका रोगशान्त हो जाता है।

(५) ब्रह्मा द्वारा प्राप्त ज्ञानका उपदेश :—

इदमुक्तं पुराकल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ॥१॥ (२।१०।९)
पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम् ॥२॥ (२।३।१)

वसिष्ठजीने कहा—यह ज्ञान जो कि सब दुःखोंका क्षय करनेवाला और बुद्धिको परम सान्त्वना देनेवाला है मुझे कल्पके पूर्वमें परम उपदेशक ब्रह्माने दिया था। जो ज्ञान सृष्टिके आदिमें लोकके कल्याणके निमित्त मुझे ब्रह्माने दिया था वही मैं अब (हे रामचन्द्र) तुमको देता हूँ।

३—जीवनमें पुरुषार्थका महत्व

(१) पुरुषार्थ द्वारा ही सब कुछ प्राप्त होता है :—

अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः ।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते ॥१॥ (३।६।१४)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥२॥ (३।९२।८)
न किञ्चन महाबुद्धे तदस्तीह जगत्त्रये ।
यदनुद्वेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥३॥ (६/२।१५७।३८)
सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥४॥ (२।४।८)
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात् ।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेदर्धान्निवर्तते ॥५॥ (२।४।१२)
यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक् ।
न तु तूष्णीं स्थितेनेह केनचित्प्राप्यते फलम् ॥६॥ (२।७।१९)
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥७॥ (६/२।१६२।१८)

यहाँ पर (संसारमें) सब दुःखोंका क्षय करनेके लिये पुरुषार्थ (मनुष्यके यत्न) के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। संसाररूपी कोशमें ऐसा कोई रत्न नहीं है जो शुद्ध पुरुषार्थसे किए हुए शुभ कर्म द्वारा न प्राप्त हो सके। हे महाबुद्धिवाले राम! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेगरहित पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न किया जा सके। हे रघुनन्दन! सब कुछ सदा ही सबसे इस संसारमें अच्छी भाँति किए हुए पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो जिस पदार्थके पानेकी इच्छा करता है और उसको प्राप्त करनेके लिये क्रमशः यत्न करता है, वह उसको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है, यदि बीचमें प्रयत्नको न छोड़ दे। यहाँ पर चुपचाप बैठे रहने से कुछ प्राप्त नहीं होता, जो जो जैसा जैसा यत्न करता है वैसा वैसा ही फल पाता है। आत्मा ही आत्माका मित्र है आत्मा ही आत्माका

शत्रु है। यदि आत्मा ही आत्माकी रक्षा नहीं करता तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(२) पराधीनताकी निन्दा :—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः ॥ १ ॥ (२।६।२-७)
कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने।
यः स्थितो दृष्टमुत्सृज्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः ॥ २ ॥ (२।६।२९)
ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामञ्च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥ ३ ॥ (२।७।३)
दैवायत्तमिति मन्यन्ते ये हतास्ते कुबुद्धयः।
इति प्रत्यक्षतो दृष्टमनुभूतं श्रुतं कृतम् ॥ ४ ॥ (२।५।२९)
ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः।
तैस्तैः किमिव लोकेऽस्मिन्वद दैवं प्रतीक्ष्यते ॥ ५ ॥ (२।७।१७)

जो मनुष्य यह समझता है कि वह ईश्वरका भेजा हुआ ही स्वर्ग या नरकमें जाता है वह सदा ही पराधीन रहता है; ऐसा मनुष्य पशु है इसमें कोई सन्देह ही नहीं। जो यह समझकर कि उसको कोई दूसरा ही प्रेरित करता है दृष्ट (प्रयत्न) को छोड़ बैठता है वह अधम मनुष्य दूरसे ही त्याग देने योग्य है। जो उद्योगको छोड़कर भाग्य (तक़दीर) के ऊपर भरोसा करते हैं वे अपने ही दुश्मन हैं और धर्म, अर्थ और काम सबको नष्ट कर देते हैं। जो कुबुद्धि लोग यह समझते हैं कि सब कुछ भाग्यके आधीन है वे नाशको प्राप्त होते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें, अनुभवमें और सुननेमें आती है। जो लोग शूर हैं, उन्नति करनेवाले हैं, ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, बतलाओ उनमेंसे कौन इस संसारमें भाग्यको प्रतीक्षा करता है।

(३) दैव (भाग्य) कोई वस्तु नहीं है :—

दैवं नाम न किञ्चन ॥ १ ॥ (२।५।२८)
दैवं न विद्यते ॥ २ ॥ (२।८।१३)
दैवमसत्सदा ॥ ३ ॥ (२।८।११)
दैवं न किञ्चित्कुरुते केवलं कल्पनेदृशी ॥ ४ ॥ (२।९।३)

मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः ।
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥ ५ ॥ (२।८।१६)
न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना ।
स्पन्दाच्च फलसंप्राप्तिस्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ६ ॥ (२।८।८)
दैवमाश्वासनमात्रं दुःखे पेलवबुद्धिषु ।
समाश्वासनवागेषा न दैवं परमार्थतः ॥ ७ ॥ (२।८।१५)

दैव (भाग्य) कुछ नहीं है। दैव है ही नहीं। दैव सदा ही असत् है। दैव कभी कुछ नहीं करता; यह केवल कल्पना मात्र है कि दैव कुछ करता है। दैव मूर्ख लोगोंकी कल्पना है; इस कल्पनाके भरोसे रहकर वे नाशको प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् (अक्लमन्द) लोग पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करके अच्छे पद प्राप्त करते हैं। संसारमें मृत शरीरके सिवाय सभीमें क्रिया दिखाई पड़ती है और उचित क्रिया द्वारा ही फल प्राप्ति होती है; इसलिये दैवकी कल्पना निरर्थक है। दैवकी कल्पना कम बुद्धि पुरुषोंको दुःखके समय आश्वासन देनेके लिये है। आश्वासनवाक्यके सिवा दैव परमार्थरूपसे कोई वस्तु नहीं है।

(४) दैव शब्दका यथार्थ प्रयोग :—

पुरुषार्थफलप्राप्तिर्देशकालवशादिह ।
प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥ १ ॥ (२।७।२१)
सिद्धस्य पौरुषेणेह फलस्य फलशालिना ।
शुभाशुभार्थसम्पत्तिर्दैवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥ (२।९।४)
भावी त्ववश्यमेवार्थः पुरुषार्थैकसाधनः ।
यः सोऽस्मिँल्लोकसंघाते दैवशब्देन कथ्यते ॥ ३ ॥ (२।९।६)
यदेव तीव्रसंवेगाद् दृढं कर्म कृतं पुरा ।
तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते ॥ ४ ॥ (२।९।१६)
प्राक्कर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते । (२।६।४)
प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते ॥ ५ ॥ (२।६।३५)
यथा यथा प्रयत्नः स्याद्भवेदाशु फलं तथा ।
इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ ६ ॥ (२।६।२)

देश और कालके अनुसार, देरीमें अथवा शीघ्र ही, किए हुए पुरुषार्थके फलकी प्राप्तिका नाम दैव है। फल देनेवाले पुरुषार्थ

द्वारा शुभाशुभ अर्थ-प्राप्ति रूप फल-सिद्धिका नाम ही दैव है। जो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही प्राप्त होने वाली वस्तु है वह इस संसारमें दैव कहलाती है। जो कर्म दृढ़तासे और तीव्र प्रयत्नसे पूर्वकालमें किया जा चुका है वही इस समय दैव नामसे पुकारा जाता है। पूर्वकृत कर्म (पुरुषार्थ) के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नहीं है; पूर्व कृत पुरुषार्थ ही का नाम दैव है। जैसा जैसा कोई प्रयत्न किया जाता है वैसा वैसा ही वह फल देता है। इस लिये पुरुषार्थ ही सत्य है, उसीको दैव कहा जा सकता है।

(५) वर्तमानकालके पुरुषार्थकी दैवपर प्रबलता :—

द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।
य एव बलवान्स्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥ १ ॥ (२।६।१०)
ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रिया यथा।
अद्यैव प्राक्तनीं तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान्भव ॥२॥(६/२।१५७।२९)
ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्।
सर्वदा पुरुषस्पन्दस्तत्रानुद्वेगवाञ्जयी ॥ ३ ॥ (२।६।१८)
द्वयोरद्यतनस्यैव प्रत्यक्षाद्बलिता भवेत्।
दैवं जेतुं यतो यत्नैर्बालो यूनेव शक्यते ॥ ४ ॥ (२।६।१९)
परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्णयन्।
शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥ ५ ॥ (२।५।९)
प्राक्तनः पुरुषार्थोऽसौ मां नियोजयतीति धीः
बलादधस्पदीकार्या प्रत्यक्षादधिका न सा ॥ ६ ॥ (२।५।१५)
तावत्तावत्प्रयत्नेन यतितव्यं सुपौरुषम्।
प्राक्तनं पौरुषं यावदशुभं शाम्यति स्वयम् ॥ ७ ॥ (२।५।११)

दोनों पुरुषार्थ (पूर्वकृत जिसका नाम दैव है और वर्त्तमान कालका पुरुषार्थ) दो मेंढोंके समान एक दूसरेके साथ लड़ते हैं, जो उनमें अधिक बलवाला होता है वही विजय पाता है। जैसे कलका बिगड़ा हुआ काम आजके प्रयत्नसे सुधर जाता है उसी प्रकार अबका किया पुरुषार्थ पूर्वके लिए हुए पुरुषार्थको सुधार सकता है; इस लिये मनुष्यको कार्यशील होना चाहिए। अधिक बली होने पर अबका पुरुषार्थ पूर्वकालके पुरुषार्थको और पूर्वकालका पुरुषार्थ अबके पुरुषार्थको दबा लेता है; हमेशा ही पुरुषका किया हुआ प्रयत्न

विजय पाता है; जो उद्वेग रहित होकर पुरुषार्थ करता है वही विजय पाता है। यह तो प्रत्यक्षमें ही सिद्ध है कि पूर्वकालके कर्मकी अपेक्षा आजकलका किया हुआ कर्म अधिक बलवान् है; इसलिये दैवको अबका पुरुषार्थ इस प्रकार जीत लेता है जैसे कि बच्चेको युवक। इसलिये परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर शुभ कर्म द्वारा पूर्वकालके अशुभ कर्मोंपर विजय पाओ। बलपूर्वक इस विचारको दूर करो कि पूर्वकालका कर्म (दैव) तुमको किसी ओर प्रेरित कर रहा है। अबके पुरुषार्थसे किसी प्रकार भी पूर्वका पुरुषार्थ बलवान् नहीं है। मनुष्यको इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे उसके पूर्वकालके अशुभ कर्म शान्त हो जावें।

(६) सत्पुरुषार्थ :—

उच्छास्त्रं शास्त्रितं द्विविधं पौरुषं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥ १ ॥ (२।५।४)
तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः।
प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत्॥ २ ॥ (२।६।२४)

पुरुषार्थ दो प्रकारका होता है—एक शास्त्रानुसार और दूसरा शास्त्रविरुद्ध। प्रथमसे परमार्थकी प्राप्ति होती है और दूसरेसे अनर्थकी। इसलिये शास्त्रों और सज्जनोंके सत्सङ्गसे युक्त पुरुषार्थका आश्रय लेकर बुद्धिको निर्मल करके संसार समुद्रको पार करो।

(७) आलस्य-निन्दा :—

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद्बहुधनको बहुश्रुतो वा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
सम्पूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च॥ १ ॥ (२।५।३०)

यदि जगत्में आलस्यरूपी अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता। आलस्यके कारण ही यह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी निर्धन और मूर्ख (मनुष्यके रूपमें पशु) लोगोंसे भरी पड़ी है।

———

४—साधकका जीवन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवनके सभी दुःख अज्ञान जनित हैं। और ज्ञानसे, विशेषतः आत्मज्ञानसे, सब दुःखोंका नाश और परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये परम पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि, बिना पुरुषार्थके यहाँपर किसी भी अर्थकी प्राप्ति नहीं होती। अब वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको यह बतलाया कि आत्मज्ञान द्वारा दुःखोंसे मोक्ष पाने और परमानन्दके अनुभवकी सिद्धिके लिये किस प्रकारके पुरुषार्थकी आवश्यकता है।

(१) चित्तशुद्धि :—

सबसे पहली बात जो साधकको करनी चाहिये वह है मनकी शुद्धि। क्योंकि बिना चित्तके शुद्ध हुए उसमें आत्माका प्रकाश नहीं होता। मन शुद्ध हुए बिना न शास्त्र ही समझमें आते हैं और न गुरुके वाक्य; आत्मानुभव होना तो दूर रहा। इसलिये कहा है :—

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च।
तथा सज्जनसङ्गेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥१॥ (५।५।१४)
वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥२॥ (५।२१।११)
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम्।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा ॥३॥ (५।५।५)
मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते।
कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥४॥ (६/१।१०१।१०)
यान्ति चेतसि विश्रान्तिं विमला देशिकोक्तयः।
यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥५॥ (६/१।१०१।१३)
वासनात्मसु यातेषु मलेषु विमले सखे।
यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीषुर्यथा बिसे ॥६॥ (६/१।१०१।१४)

हे राम! सबसे पहले शास्त्रोंके श्रवणसे, सज्जनोंके सत्सङ्गसे और परम वैराग्यसे मनको पवित्र करो। वैराग्य, शास्त्र और उदारता आदि

गुण रूपी यत्नसे, आपत्तियोंको मिटानेके लिये, अपने आप ही मनको ऊपर उठाना चाहिए। शास्त्राध्ययन, सज्जनोंके सङ्ग और शुभ कर्मोंके करने से जिनके पाप दूर हो गए हैं उनकी बुद्धि दीपकके समान चमकने वाली होकर सार वस्तुको पहचानने योग्य हो जाती है। जब भोगोंकी वासनाएँ त्याग देनेपर, इन्द्रियोंकी कुत्सित वृत्तियोंके रुक जानेपर, मन शान्त हो जाता है तब ही गुरुकी शुद्ध वाणी मनमें प्रवेश करती है, जैसे कि केसरके जलके छींटे श्वेत और धुले हुए रेशम पर ही लगते हैं। जब मनमेंसे वासना रूपी मल दूर हो गया तभी कमलदण्डमें तीरकेसमान गुरुके वाक्य हृदयमें प्रवेश करते हैं।

(२) मोक्षके चार द्वारपाल:—

चित्तशुद्धिके लिये साधकको चार साधनोंका या उनमेंसे कुछका आश्रय लेना चाहिए। इन्हींको वसिष्ठजीने मोक्षके द्वारपाल कहा है:—

सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा।
एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥ १ ॥ (२।१२।१९)
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ (२।१६।५८)
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्ष· राजग्रहे तथा ॥ ३ ॥ (२।१२। ६०)

शम, सन्तोष, साधु सङ्ग और विचार ये चार संसार समुद्रसे मनुष्यके पार उतरनेके उपाय हैं। मोक्षके—शम, सन्तोष, साधुसङ्ग और विचार–ये चार द्वारपाल हैं। इनका या इनमेंसे तीन या दोका सेवन करनेसे ये मोक्ष रूपी राजमहलका दरवाज़ा खोल देते हैं।

(अ) शम:—

शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जन्तुषु।
सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥ १ ॥ (२।१३।६०)
यः समः सर्वभूतेषु भावि कांक्षति नोज्झति।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥२॥ (२।१३।७३)
अमृतस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥३॥ (२।१३।७७)

न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः ।
न च व्याघ्रभुजङ्गा वा द्विषन्ति शमशालिनम् ॥४॥ (२।१३।६६)

शमयुक्त सज्जनके भीतर, जो कि सब जीवोंके प्रति मित्रताका भाव रखता है, परम आत्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है। शान्त (शमयुक्त) उसको कहते हैं जो अपनी इन्द्रियोंको जीतकर सब प्राणियोंके साथ एक-सा वर्ताव करता है; न किसी वस्तुका त्याग करता है और न किसी भविष्यमें होनेवाली वस्तुकी आकांक्षा करता है। शान्त उसको कहते हैं जिसकी अमृत बरसानेवाली सौभाग्य-शालिनी प्रेमपूर्ण दृष्टि सब लोगोंके प्रति समान भावसे पड़ती है। शमयुक्त पुरुषको पिशाच, राक्षस, दैत्य, व्याघ्र, सर्प और शत्रु कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता।

(आ) सन्तोष :—

आशावैवश्यविवशे चित्ते संतोषवर्जिते ।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥१॥ (२।१५।९)
सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः ।
राजानमुपतिष्ठन्ति किंकरत्वमुपागताः ॥२॥ (२।१५।१६)
अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य संप्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः स संतुष्ट इहोच्यते ॥३॥ (२।१५।६)

जिस प्रकार मलीन शीशेमें मुखका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार आशाओंके वशीभूत सन्तोषरहित चित्तमें ज्ञानका प्रकाश नहीं होता। सन्तुष्ट आदमीकी सेवामें महा ऋद्धियाँ इस प्रकार उपस्थित होती हैं जिस प्रकार राजाकी सेवामें राजाके नौकर चाकर। संतुष्ट वह कहलाता है जो अप्राप्त वस्तुकी वाञ्छाको छोड़कर प्राप्त वस्तुमें समभावसे वर्तता है और जिसको कभी भी खेद और हर्षका अनुभव नहीं होता।

(इ) साधु-सङ्ग :—

साधुसङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥१॥ (२।१६।९)
यः स्नातः शीतसितया साधुसङ्गतिगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥२॥ (२।१६।१०)

नीरागाश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोऽनघ ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ॥३॥ (२।१६।११)

सज्जनोंका सङ्ग इस लोकमें सन्मार्गका दिखानेवाला और हृदयके अन्धकारको दूर करनेवाला ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश है। जो सत्सङ्गति रूपी शीतल और निर्मल गङ्गामें स्नान करता है उसको किसी तीर्थ, दान, तप और यज्ञसे क्या करना है। यदि राग-रहित, गत-सन्देह, और हृदयकी गांठें खुल गई हैं जिनकी ऐसे, साधु लोग विद्यमान हैं तो हे पापरहित राम! फिर किसी तीर्थ पर जानेकी अथवा तप करने की क्या आवश्यकता है?

(ई) विचारः—

न विचारादृते तत्त्वं ज्ञायते साधु किञ्चन। (२।१४।५२)
विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि ॥१॥ (२।१४।५३)
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः।
न्यायेनति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥२॥ (२।१४।५०)
कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥३॥ (२।५८।३२)

बिना विचार किए कोई भी तत्त्व अच्छी तरह नहीं जाना जाता। विचारसे ही तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञानसे आत्मामें शान्ति आती है। मैं कौन हूँ? संसार नामक यह दोष कैसे उत्पन्न हो गया है? इन बातोंका न्याय-पूर्वक सोचना विचार कहलाता है। मैं कौन हूँ? यह जगत कैसे उत्पन्न हो गया? जन्म और मरण कैसे होते हैं? इन सब बातों पर अपने अन्दर विचार करके तुम महत्त्वको प्राप्त होगे।

५—स्वानुभूति ही आत्मज्ञानका 'प्रमाण' है

दर्शन-ग्रन्थोंमें सबसे प्रथम चर्चा 'प्रमाण' सम्बन्धी हुआ करती है। 'प्रमाण' उस साधनका नाम है जिसके द्वारा हमको किसी विषयकी प्रमा (अर्थात् सत्य ज्ञान) होती है। ऐसे साधन कौन कौनसे और कितने हैं इस विषयपर दार्शनिकोंमें बहुत ही मतभेद पाया जाता है। भारतवर्षमें भिन्न भिन्न दार्शनिकोंने १ से लेकर १० प्रमाण तक स्वीकार किए हैं (उनका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये देखिए हमारी पुस्तक—Elements of Indian Logic इनमेंसे ३ प्रमाण मुख्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रत्यक्ष उस प्रमाणका नाम है जिसमें ज्ञात विषय हमारी इन्द्रियोंके द्वारा जाना जाय। अनुमान उसे कहते हैं जिसमें ज्ञात विषय हमारी इन्द्रियोंसे साक्षात् सम्बद्ध न हो किन्तु उस विषयका अस्तित्व किसी दूसरे इन्द्रिय गोचर विषयसे सम्बद्ध हो। यह सम्बन्ध पूर्वकालमें दोनों सम्बद्ध विषयोंका साथ साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे ही जाना जाता है। शब्द उस प्रमाणका नाम है जब कि हमको किसी विषयका, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान-ज्ञान न होते हुए भी, किसी विश्वस्त पुरुषके कहने मात्रसे ज्ञान हो। विश्वस्त पुरुषके कथन मात्रसे जो ज्ञान होता है उसका नाम शब्द-ज्ञान है। शब्द प्रमाणमें 'शास्त्र' भी अन्तर्गत हैं। बल्कि कुछ दार्शनिकोंके मतानुसार तो केवल 'शास्त्र' को ही शब्द प्रमाण समझना चाहिए क्योंकि शास्त्रके वाक्य ही विश्वसनीय हैं और कोई वाक्य नहीं। पाश्चात्य दार्शनिकोंने भी ज्ञान प्राप्तिके तीन प्रमाण माने हैं जिनके नाम प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द हैं; किन्तु वहाँ पर शब्दको इतना महत्व नहीं दिया गया है जितना कि भारतवर्षमें। यहाँ तो कुछ लोगोंके लिये शास्त्रका इतना महत्व है कि उसके आगे प्रत्यक्ष और अनुमानका टका नहीं उठता। यदि निष्पक्ष विचार किया जाए तो सब प्रमाणोंमें प्रत्यक्षका ही महत्व अधिक जान पड़ता है। प्रत्यक्षके ऊपर ही अनुमान निर्भर है। शब्द भी तभी विश्वसनीय है जब कि कहनेवालेको स्वयं विषयका प्रत्यक्ष हो

चुका हो; नहीं तो शब्दका कोई मूल्य नहीं है। अनुमान और शब्द दोनों ही प्रत्यक्षके आधीन हैं और प्रत्यक्षके बिना अन्धे हैं। जिस विषयका किसीको कभी स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ उसका उसको अनुमान और शब्द द्वारा कभी ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये योगवासिष्ठकारने **प्रत्यक्षको ही परम प्रमाण माना है :—**

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः श्रुणु ॥ (२।१९।१६)

जैसे समुद्र सब जलोंका अन्तिम स्थान है वैसे ही सब प्रमाणों-का आधार एक प्रत्यक्ष ही यहाँ पर माना गया है उसको सुनो।

योगवासिष्ठकारका प्रत्यक्ष चार्वाक दर्शनवालोंका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही नहीं है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा तो केवल इन्द्रिय-गोचर विषयों–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका ही ज्ञान होता है। न्याय दर्शन वालोंने इस प्रकारके इन्द्रिय-प्रत्यक्षको बाह्य-प्रत्यक्ष कहकर और एक दूसरे प्रकारका प्रत्यक्ष भी माना है जिसके द्वारा मनकी वृत्तियों–सुख दुःख आदि–का ज्ञान होता है। उसका नाम उन्होंने आन्तर प्रत्यक्ष रक्खा है। आजकलके पाश्चात्य दार्शनिकोंने–विशेषतः फ्रांसके दार्शनिक वर्गसोंने एक तीसरे प्रकारका प्रत्यक्ष बतलाया है जिसमें आत्माको आत्माका अनुभव होता है। यह प्रत्यक्ष जिसको हम आत्मानुभव या स्वानुभूति कह सकते हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष या मनःप्रत्यक्षसे भिन्न और गहनतर अनुभव है। इसका वर्णन करना कठिन है। केवल यही कह सकते हैं कि इसी का नाम ज्ञान अथवा अनुभव है। यह सब प्रकारके ज्ञानोंमें अनुस्यूत रहता है। **योगवासिष्ठकारका प्रत्यक्ष** यही प्रत्यक्ष है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

सर्वाक्षसारमध्यक्षं वेदनं विदुरुत्तमाः।
नूनं तत्प्रतिपत्सिद्धं तत्प्रत्यक्षमुदाहृतम् ॥ (२।१९।१७)
अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाविधम्।
प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः ॥ (२।१९।१८)
स एव संवित्स पुमानहन्ताप्रत्ययात्मकः।
स ययोदेति संवित्या सा पदार्थ इति स्मृता ॥ (२।१९।१९)

जो सब इन्द्रियोंका अध्यक्ष और सार जिसका अनुभव स्वयं सिद्ध है और जिसको 'वेदन' कहते हैं उसको ही प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुभूतिका,

वेदनका यथाविधि ज्ञानका ही नाम प्रत्यक्ष है। उसीको हम जीव कहते हैं। उसको ही संवित् कहते हैं और उसीको अहंप्रत्ययवाला पुरुष कहते हैं। उसमें जो जो संवित्ति उदय होती है उसीका नाम पदार्थ है।

परम आत्माका ज्ञान केवल इसी अनुभव द्वारा होता है। अनुमान और शास्त्र द्वारा नहीं हो सकता। जिसने आत्माका अनुभव नहीं किया वह अनुमान और शास्त्र द्वारा कभी भी आत्माका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता:—

अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नानुभूयते।
अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते॥ (५।६५।५३)
नात्मास्त्यनमया राम न चाप्तवचनादिना।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः॥ (५।७३।१५)
न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया स्वस्थया धिया॥ (६/१।११८।४)
तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनानुभूयते।
अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते॥ (६/२।५२।२८)

जिस प्रकार अपने अनुभव बिना खाँड क्या वस्तु है यह नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार स्वानुभूति बिना आतमाका स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आत्माका ज्ञान न अनुमानसे होता है और न आप्त वचन (शब्द) से। आत्माका पूर्णतया और सर्वप्रकारसे प्रत्यक्ष सदा स्वानुभूति द्वारा होता है। शास्त्र और गुरु आत्माका दर्शन नहीं करा सकते। उसका दर्शन तो केवल अपने आप ही अपनी स्वस्थ बुद्धि द्वारा ही होता है। आत्माका अनुभव केवल उसको ही होता है जो उसका प्रत्यक्ष करता है, जो उसमें स्थित है और उसमें लीन हो गया है। और लोग तो केवल शास्त्रोंके वाक्यों द्वारा ही उसका वर्णन कर सकते हैं।

आत्मानुभव कब होता है?

अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितेऽन्तः।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा स्वमनुभूयत एव देवदेवः॥ (५।६४।५४)

उस सम्पूर्ण अनन्त आतमतत्त्वका जो कि चर और अचर (जड़ चेतन) सभीका आत्मा है और देवोंका देव है तब अनुभव होता है जब कि यह अत्यन्त चञ्चल चित्त बाह्य पदार्थोंसे पूर्णतया विरक्त होकर अपने भीतर शान्त होकर स्थित हो जाए।

अनुभव द्वारा ज्ञात विषयका कुछ ज्ञान **दृष्टान्त** द्वारा ही दूसरे व्यक्तिको दिया जा सकता है अन्यथा नहीं। यही कारण है कि योग-वासिष्ठमें दृष्टान्तोंकी प्रचुरता है। बिना दृष्टान्त अज्ञात विषयका ज्ञान किसीको भी नहीं कराया जा सकता। पूर्ण ज्ञान और यथार्थ ज्ञान तो आत्मानुभवसे ही होता है, तो भी दृष्टान्त द्वारा अज्ञानीको उस विषयका कुछ ख़याल हो जाता है। इसलिये दार्शनिकोंको दृष्टान्तोंका उपयोग करना चाहिए और उच्च-कोटिके दार्शनिक ऐसा करते भी हैं। इसीलिये योगवासिष्ठमें कहा है :—

दृष्टान्तेन विना राम नापूर्वार्थोऽवबुध्यते।
यथा दीपं विना रात्रौ भाण्डोपस्करणं गृहे॥ (२।१८।५१)
येनेहानुमतेऽर्थे दृष्टेनार्थेन बोधनम्।
बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः॥ (२।१८।५०)

जिस प्रकार बिना दीपकके रात्रिमें घरके भीतरके बर्तन-भांडेका ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार दृष्टान्तके बिना अपूर्व (पहिले न जाने हुए) पदार्थका ज्ञान नहीं होता। जब कि किसी अनुभूत पदार्थका दूसरे व्यक्तिको उसके जाने हुए पदार्थ द्वारा ज्ञान कराया जाता है तो उस पदार्थको जिसके द्वारा ज्ञान होता है दृष्टान्त कहते हैं।

दृष्टान्त और उस पदार्थकी जिसका दृष्टान्त द्वारा ज्ञान कराया जाता है सब प्रकारसे समानता नहीं होती केवल कुछ अंशमें ही समानता होती है। इसलिये **दृष्टान्तका सदा ही एक अंश—वह जिसमें कि साम्य है—ध्यानमें रखना चाहिए:—**

उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता।
अङ्गीकार्यावबोधाय धीमता निर्विवादिना॥ (२।१८।६४)
एकदेशसधर्मत्वादुपमेयावबोधनम्।
उपमानं करोत्यङ्ग दीपोऽर्थप्रभया यथा॥ (२।१८।६६)

विवाद न करनेवाले बुद्धिमान् श्रोताको ज्ञान प्राप्तिके निमित्त उपमान (दृष्टान्त) की उपमेयसे एक अंशमें समानता अङ्गीकार करनी चाहिए। उपमेय (जिस विषयका दृष्टान्त द्वारा ज्ञान हो) का ज्ञान उपमान द्वारा एक ही अङ्गमें समानता द्वारा होता है, जैसे दीपककी समानता विषयज्ञानसे एक ही अङ्ग (प्रकाश) में होती है।

———

६—अद्वैत

जिधर आँख उठाकर देखिए संसारमें भिन्न भिन्न नाना प्रकारकी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओंसे कुछ निराली ही है और अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। इस प्रकार संसारमें अनन्त वस्तुएं और व्यक्ति हैं। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति संसारका ज्ञान प्राप्त करनेकी है। ज्ञान प्राप्त करनेका साधन बुद्धि है। बुद्धिका स्वभाव दृश्य अनन्त नाना और भिन्न पदार्थोंमें सादृश्य और एकताको खोजना है। अन्यथा मनुष्यको संसारका ज्ञान ही होना असम्भव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुका वैयक्तिक स्वरूप इतना निराला है कि उसके अतिरिक्त और कोई उसको न समझ ही सकता है और न उसका वर्णन कर सकता है। इसीलिये मनुष्यने अपनी ज्ञानपिपासाको शान्त करनेके लिये वस्तुओंके निरालेपनकी उपेक्षा करके उनके उस रूपको जानना अपना ध्येय बना लिया है जो कि सब वस्तुओंमें एक सा है। साधारण ज्ञान, विज्ञान और दर्शन—जो कि मनुष्यके ज्ञानके क्रमशः तीन प्रस्थान हैं—सभीका उद्देश अनेकतामें एकता, भिन्नतामें समानता, और नवीनतामें परिचितत्वको खोजना है। साधारण ज्ञानने सभी वस्तुओंका जातियोंमें वर्गीकरण करके इस उद्देश्यकी पूर्ति की। रसायन विज्ञानने संसारकी सभी वस्तुओंको ९२ प्रकारके भौतिक तत्त्वोंके भिन्न भिन्न मेलोंसे बना हुआ समझा। वर्तमान भौतिक विज्ञानकी खोजके अनुसार समस्त संसार विद्युत्कणोंसेही बना है। दार्शनिकोंने भी अनेकता और भिन्नताको कतिपयता और समानताके रूपमें समझनेका प्रयत्न किया है। ग्रीस देशके दार्शनिक डिमोक्रीटसने जगत्को समान रूपवाले अनन्त परमाणुओंकी ही रचना समझा। एम्पिडोक्लिसका कहना है कि संसारमें केवल चार तत्त्व हैं--पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—जो कि आकर्षण और विकर्षणके वशीभूत होकर जगत्की रचना कर रहे हैं। भारतमें नैयायिकों और वैशेषिकोंके मतके अनुसार संसारमें केवल ९ पदार्थ--पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक्

काल, मन और आत्मा हैं। जगत्के सारे पदार्थ इन्हीं तत्त्वोंसे मिल कर बने हैं। सांख्यदर्शनके अनुसार जगतमें केवल दो ही तत्त्व हैं–प्रकृति और पुरुष। जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब प्रकृतिके रूपान्तर अथवा परिणाम हैं और जितने चेतन जीव हैं वे सब द्रष्टा पुरुष हैं। मनुष्यकी बुद्धिकी ज्ञान-पिपासा सारे जगत्के अनन्त और भिन्न भिन्न पदार्थोंको दो तत्त्वोंमें वर्गीकरण करके भी शान्त नहीं हुई। बुद्धि सदा एकत्वकी खोजमें रहती है और बिना एकत्वको प्राप्त किए तृप्त नहीं होती। बुद्धिकी इस एकत्व-पिपासाकी शांति अद्वैतवादमें होती है। अद्वैतवादियोंके मतमें संसारमें दो अथवा बहुतसे तत्त्व नहीं है। समस्त संसार एक ही तत्त्वका भिन्न भिन्न रूपमें प्रकट होनेका नाम है। योगवासिष्ठकार अद्वैतवादी हैं। यहांपर हम संक्षेपसे यह बतलाना चाहते हैं कि योगवासिष्ठके अद्वैतका क्या स्वरूप है।

संसारके सब पदार्थ एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं, बिना अद्वैतके सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जो वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं उनके भीतर एक ही तत्त्व वर्तमान होता है। द्रष्टा और दृश्यका भी एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। और द्रष्टा और दृश्यमें किसी प्रकारकी **एकता हुए बिना द्रष्टाको दृश्यका अनुभव होना असम्भव है :—**

ऐक्यं च विद्धि सम्बन्धं नास्त्यसावसमानयोः। (३।१२१।४२)
न संभवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः।
न परस्परसंबन्धाद्विनानुभवनं मिथः॥ (३।१२१।३७)

सम्बन्ध एकताका सूचक है। असमान वस्तुओंमें कभी संबन्ध नहीं हो सकता। विषम वस्तुओंमें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और सम्बन्ध बिना एक वस्तुको दूसरी वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता।

दृश्य पदार्थ भी द्रष्टाकी जातिके ही हैं—अर्थात् वे भी चिन्मय ही हैं :—

सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति।
अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्वनिश्चयः॥ (६।२५।१४)
बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते।
नाबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यथा॥ (६।२५।१२)

यदा चिन्मात्रमेवेयं दृष्टिदर्शनदृश्यदृक् ।
तदानुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ (६/२।३८।८)
मृण्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयादितया चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ (६/२।२५।११)
सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम् ।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णवः ॥ (६/२।२५।१७)
एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवाम्बुधिः ।
तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव वीचिभिः ॥ (६/१।१०४।५४)

सजातीय पदार्थ ही एकताको प्राप्त हो सकते हैं, अतएव परस्पर ज्ञान एकत्वका निश्चय कराता है। बोधसे जानी हुई वस्तु बोधमात्र ही है। बोध अबोधको नहीं जान सकता। द्रष्टाको दर्शनका अनुभव इस कारणसे ही होता है कि द्रष्टा दर्शन और दृष्टि सभी चिन्मात्र हैं। जिस प्रकार मिट्टीके सभी बर्तनोंमें मिट्टी वर्तमान है, उसी प्रकार सब चेत्य पदार्थोंमें चित्-तत्त्व वर्तमान है, कोई पदार्थ भी चित् बिना नहीं है। जगत्के सभी पदार्थ बोध-मात्र हैं। बोध ही सबमें फैला है; जैसे कि हवाके झोंके हवा हैं और समुद्र जल ही जल है। जैसे समुद्रका जल लहरोंके रूपमें प्रकट होता है उसी प्रकार सारी बुद्धियोंमें एक ही तत्त्व प्रकट हो रहा है।

७—कल्पनावाद

अद्वैतवादियोंके मतानुसार समस्त विश्वमें एक ही तत्त्व है, दो या बहुतसे स्वतन्त्र और भिन्न सत्तावाले तत्त्व नहीं हैं। वह तत्त्व जड़ाद्वैतवादियोंके अनुसार जड़ प्रकृति और चेतनाद्वैतवादियोंके अनुसार चेतन ब्रह्म है। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं वे सब इसी एक तत्त्वके नाना नाम और रूप हैं। योगवासिष्ठके अनुसार भी संसारके समस्त पदार्थ जो हमको चारों ओर दिखाई पड़ते हैं चिन्मात्र ब्रह्मके ही अनन्त नाम-रूप हैं। चिन्मात्र ब्रह्म और उसके नाना नाम-रूपोंके सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिये यहाँपर कोई भी जड़ पदार्थ नहीं है; जो कुछ भी है वह चेतन आत्माका ही परिमित, अस्थिर और परिवर्तनशील रूप विशेष है। चेतन और चेतनके स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव हमको अपने ही भीतर हो सकता है, और कहीं नहीं। बाह्य पदार्थोंमें हम चेतनको दृश्य रूपमें देखते हैं और दृश्यका हमारा ज्ञान इतना पूर्ण और सत्य नहीं हो सकता जितना कि आत्मा और उसके अनन्त नाम रूपोंका, जिनका अनुभव हमारे भीतर होता है। इसलिये दृश्य पदार्थोंको पूर्णतया और यथार्थ रूपसे जाननेके लिये हमको उन्हें आत्मा और उसके आन्तर नामरूपवाले विकारोंकी ही परिभाषामें समझना होगा। यदि गहरा विचार करके देखा जाए तो हमको अपने आत्मा अथवा मन और उसके विकारोंके अतिरिक्त और किसी पदार्थका ज्ञान कभी होता ही नहीं। बाह्य पदार्थ भी जब तक कि हमारे मनके संवेदनात्मक विकारोंका रूप धारण करके हमारे अनुभवमें नहीं आते, उनका हमको ज्ञान कभी नहीं हो सकता हमारी संवेदनाएँ और ज्ञान कहाँ तक मनोमय हैं और कहाँ तक पदार्थोंके रूपको बतलाती हैं यह कहना सर्वथा असम्भव है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे वैयक्तिक चेतनमें संवेदन उत्पन्न करनेके कुछ कारण व्यक्तिसे बाहरके पदार्थ हो सकते हैं। परन्तु यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता कि वे कारण स्वयं

चेतन अथवा चेतनकी विकृतियाँ नहीं है। चेतनके विकारोंको समझना यदि हो तो मन और उसकी कल्पनाओंको समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त हमारे अनुभवमें और कोई चेतनकी विकृति नहीं आती। यदि संसारमें चेतन आत्मा और उसकी विकृतियों (नाना नाम रूपों) के सिवाय कुछ भी नहीं है तो यही कहना सत्य होगा कि संसारके सब पदार्थ आत्मा तथा मनकी कल्पनाएँ ही हैं। इसके अतिरिक्त संसारमें और कोई पदार्थ नहीं है। चेतनाद्वैतको माननेका यही परिणाम है। इसलिये ही योगवासिष्ठकारने सारे जगत्को कल्पनामय कहा है। उसका यह मत निराला होते हुए भी हास्यास्पद नहीं कहा जा सकता। संसारके बड़े बड़े दार्शनिक नाना मार्गों द्वारा इसी मतपर आये हैं। भारतमें बौद्धोंके विज्ञानवाद, पाश्चात्य देशोंके बड़े बड़े तत्त्वज्ञ, बर्कले, काण्ट, हेगल आदिने इसी प्रकारके मतका समर्थन किया है। यहाँपर हम संक्षेपसे योगवासिष्ठके कल्पनावादका उसके अनेक अङ्गोंमें वर्णन करते हैं:—

(१) संसारके सब पदार्थ कल्पनामय हैं:—

समस्तं कल्पनामात्रमिदम् (६/२।२१०।११)
विश्वं नानास्त्येव मननादृते। (३।४०।५७)
मनो मननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। (४।११।२३)
रूपालोकमनस्कारतत्ताकालक्रियात्मकम्।
कुम्भकारो घटमिव चेतो हन्ति करोति च॥ (५।४८।५२)
सर्वं संकल्परूपेण चिच्चमत्कुरुते चिति।
स्वप्नपत्तननिर्माणपातोत्पातनवज्जगत्॥ (६/१।३२।१६)
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
संकल्पकचितं सर्वमेव स्वप्नवदात्मनः॥ (३।१०१।३५)
धाराकणोर्मिफेणश्रीर्यथा संलक्ष्यतेऽम्भसः।
तथा विचित्रविभवा नानातेयं हि चेतसः॥ (३।११०।४८)

यह सारा संसार कल्पनामात्र है। मनन (मनके कार्य) के अतिरिक्त संसार कुछ नहीं है। तीनों जगत् मनके मननसे ही निर्मित हैं। इस रूप (विषय) आलोक (संवेदन) मनस्कार (मनका विचार) तत्ता (पदार्थका तात्त्विक रूप), काल और क्रिया वाले जगत्को मन इस प्रकार बनाता और तोड़ता है जैसे कि कुम्हार घड़ेको।

चित्त अपने भीतर इस सारे संसारको संकल्पके रूपमें रचता और समेटता है, जैसे कि स्वप्नके संसारको। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशायें--ये सब आत्माके संकल्पसे इस प्रकार बने हैं जैसे कि स्वप्न बनता है। जिस प्रकार जलके धारा, कण, लहर और फेन आदि रूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार यह सब नानाता चित्तका ही विचित्र विभव है।

(२) देश और काल भी कल्पित ही हैं :—

देशकालाभिधानेन राम संकल्प एव हि।
कथ्यते तद्वशाद्यस्माद्देशकालौ स्थितिं गतौ ॥ (३।११०।५९)

संकल्प ही देश और कालके नामसे पुकारा जाता है क्योंकि संकल्पसे ही देश और कालका अस्तित्व होता है।

(३) देश और कालका परिमाण मनके ऊपर निर्भर है :—

मनोरथे तथा स्वप्ने संकल्पकलनासु च।
गोष्पदं योजनव्यूहः स्वासु लीलासु चेतसः ॥ (३।१०३।१३)
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ (३।६०।२०)
कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ (३।६०।२६)
दुःखितस्य निशा कल्पः सुखितस्यैव च क्षणः।
क्षणः स्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः ॥ (३।६०।२२)
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः।
जीवितं यद्विरिञ्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥ (३।६०।२५)
विष्णोर्यज्जीवितं राम तद्वृषाङ्कस्य वासरः।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥ (३।६०।२६)
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रे तथा ह्यभूत्।
कान्ताविरहिणामेकं वासरं वत्सरायते ॥ (३।२०।५१)

मनोरथ, स्वप्न, संकल्प आदि चित्तकी लीलाओंमें गोष्पद (गौके पैर रखने योग्य परिमाणवाला स्थान) योजनका विस्तार धारण कर लेता है। निमेषमें यदि चित्त कल्पकी कल्पना कर लेता है तो वह निमेष कल्प हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यदि कल्पमें निमेषकी कल्पना कर लेता है तो कल्प निमेष ही हो जाता

है चिति-तत्त्वका स्वभाव ही ऐसा है। दुःखित व्यक्तिको रात भरमें कल्पका अनुभव होता है और सुखीको क्षणका। स्वप्नमें क्षण कल्प हो जाता है और कल्प क्षण। ब्रह्माका एक मुहूर्त मनुकी पूरी आयु होती है। ब्रह्माकी सारी आयु विष्णुका एक दिन होता है। विष्णुका सारा जीवन-समय शिवजीका एक दिन होता है। चित्तके ध्यानमें लीन हो जाने पर न दिनका अनुभव होता है न रात्रिका। हरिश्चन्द्रने एक रात्रिमें ही बारह वर्षका अनुभव किया था। प्रिया-विरहसे पीड़ित पुरुषोंके लिये एक रात एक वर्षके समान बीतती है।

(४) कल्पनाके अतिरिक्त पदार्थोंमें और कोई द्रव्य नहीं है:—

यादृगर्थं जगद्रूपं तत्रैवोदेति तत्क्षणात्।
न देशकालदीर्घत्वं न वैचित्र्यं पदार्थजम्॥ (३।४।१९)
यथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम्।
तथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्गावभासनम्॥ (३।२०।२९)
यथाभावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः।
अभ्यासजनितं भाति नास्त्येकं परमार्थतः॥ (३।२६।५२)
असदेवाङ्ग सदिव भाति पृथ्व्यादिवेदनात्।
यथा बालस्य वेतालो नाभाति तदवेदनात्॥ (३।२६।४५)
स्वप्ने नगरमूर्वी वा शून्यं खातं च बुध्यते।
स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याप्यर्थक्रियां नृणाम्॥ (३।२६।४८)
त्रस्तक्षीवार्धनिद्राश्च नौयानाश्च सदैव खे।
वेतालवनवृक्षादि पश्यन्त्यनुभवन्ति च॥ (३।२६।५१)

देश कालका परिमाण और पदार्थोंकी विचित्रताएँ सब वास्तवमें कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। जगत्में जो भी पदार्थ हैं वे क्षण भरमें (कल्पनासे) उदय हो जाते हैं। जिस प्रकार क्षण और कल्प केवल ज्ञानमात्र हैं, उसी प्रकार जगत् और सृष्टिका अनुभव भी ज्ञानमात्र है। पदार्थोंका स्वरूप पारमार्थिकतया कुछ भी नहीं है। अभ्यासद्वारा जैसी उनकी भावना दृढ़ हो जाती है वे वैसे ही अनुभवमें आते हैं। स्वयं कुछ न होते हुए भी वेदनासे पृथ्वी आदि पदार्थ कुछ जान पड़ते हैं, जैसा कि बालकको भूत न होते हुए भी भूत दिखाई पड़ता है। भावना न होने से नहीं दिखाई देता। स्वप्नमें शून्य स्थानमें भी नगर

और पृथ्वी दिखाई पड़ती है। स्वप्नकी असत् स्त्री भी पुरुषोंको सचमुचकी स्त्रीके समान सुख देती है। शून्य स्थानमें भी दुःखी, नशेवाला आधी नींदवाला, नावपर सवार व्यग्र चित्तवाला मनुष्य वेताल, वन और वृक्षादि वस्तुओंका अनुभव करता है और उनको प्रत्यक्ष देखता है।

(५) संसारके अटल नियम और स्थिरता भी कल्पित हैं:—

नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशी स्वप्नसंविदि।
यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियंत्रणा॥ (६/२।१४८।२०-२१)
स्वप्ने निमग्नधीर्जंन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा।
सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा॥ (६/२।६१।२९-३७)

स्वप्नज्ञानमें नियति और अनियतिका क्या रूप है? स्वप्नमें जो वस्तुएँ जिस क्रमसे उदय हो गई वही उनकी नियति है। इसी प्रकार जगत्में भी है। स्वप्नमें जिस प्रकार जीव स्थिरताका अनुभव करता है उसी प्रकार इस संसारमें भी करता है। अर्थात् दोनोंमें ही नियति और स्थिरता कल्पित हैं।

(६) कल्पना ही जड़ताका रूप धारण कर लेती है:—

मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति।
देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः॥ (६/२।५२।११)
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः।
अत्राधिभौतिकभ्रान्तिरसत्यैव पिशाचिका॥ (६/२।६८।३४)
वास्तवेन तु रूपेण भूम्याद्यात्माधिभौतिकः।
न शब्देन न चार्थेन सत्यात्मा शशशृङ्गवत्॥ (३।१७।१६)
आतिवाहिक एवायं त्वादृशैश्चित्तदेहकः।
आधिभौतिकताबुद्ध्या गृहीतश्चिरभावनात्॥ (३।२१।५४)

हमारी रायमें यह ठीक नहीं जान पड़ता कि जिस प्रकार गुड़ आदिके मेलसे मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार शरीरमें भी चेतना उत्पन्न हो जाती है। हमारा मत तो यह है कि हमारा शरीर विज्ञानजन्य है जैसे कि स्वप्नमें होता है। वास्तवमें देहमें ज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। सारे भौतिक पदार्थोंका असली रूप

मानसिक ही है। भौतिकता रूपी भूत तो भ्रममात्र है। वस्तुतः पृथ्वी आदि पदार्थोंमें भौतिकताका लेशमात्र भी नहीं है। भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही शशश्रृङ्गके समान असत् हैं। मानसिक देह ही अति कालकी भावनाके अभ्यासके भौतिक शरीरका रूप धारण करती हुई मालूम पड़ने लगती है।

(७) द्रष्टा और दृश्यका अनन्यत्व

द्रष्टा चेत और दृश्य पदार्थोंका सम्बन्ध इस प्रकारका है :—

किञ्चित्प्रचलिता भोगात्पयोराशेरिवोर्मयः। (३।९४।२०)
स्वतेजःस्पन्दिताभोगाद्दीपादिव मरीचयः॥ (३।९४।२१)
स्वमरीचिबलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव। (३।९४।२२)
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रबिम्बादिवांशवः॥ (३।९४।२३)
यथा विटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः। (३।९४।२४)
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव॥ (३।९४।२५)
निर्झरादमलोद्यानात्पयसामिव बिन्दवः। (३।९४।२६)
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा॥ (३।९४।२७)
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा। (३।९४।२८)
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः॥ (३।९४।२९)
सर्वा दृश्यदृशो द्रष्टुर्व्यतिरिक्ता न रूपतः। (३।९४।२९)
पद्माक्षे पद्मिनीवान्तर्मनोहृद्यस्ति दृश्यता॥
मनोदृश्यदृशौ भिन्ने न कदाचन केनचित्। (३।३।३६)

जैसे जलकी राशिसे चञ्चल लहरें, हिलते हुए रोशन चिरागसे उसकी किरणें, जलती हुई अग्निसे अपनी रोशनीके बलसे फेंकी हुई चिनगारियाँ, चन्द्रमाके बिम्बसे उसकी मन्दारकी मञ्जरीके समान किरणें, वृक्षसे उसकी फूल पत्तियोंकी विचित्र शोभा, सोनेसे उसके बने हुए कटक, अङ्गद और केयूर आदि गहने, साफ़ और चमकदार झरनेसे उसके जलकण, आकाशसे घटाकाश, स्थाली (थाली) आकाश और रन्ध्राकाश आदि, जलसे उसके भँवर, लहर, फेन और बूँदें, सूर्यकी ज्योतिसे मृगतृष्णाकी नदियाँ, भिन्न होते हुए भी स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्रष्टासे सब दृश्यपदार्थ और उनके ज्ञान भिन्न होते हुए भी स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं। मन और दृश्य कभी किसी प्रकार

भी एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं। जैसे पद्मादलके भीतर पद्मिनी रहती है, उसी प्रकार मनके भीतर दृश्यता रहती है।

(८) द्रष्टाके भीतरसे ही दृश्यका उदय होता है:—

यथा रसः पदार्थेषु यथा तैलं तिलादिषु।
कुसुमेषु यथाऽऽमोदस्तथा द्रष्टरि दृश्यधीः॥ (३।१।४३)
यत्रतत्रस्थितस्यापि कर्पूरादेः सुगन्धिता।
यथोदेति तथा दृश्यं चिद्धातोरुदरे जगत्॥ (३।१।४४)
यथा चात्र तव स्वप्नः संकल्पश्चित्तराज्यधीः।
स्वानुभूत्यैव दृष्टान्तस्तथा ह्यस्ति दृश्यभूः॥ (३।१।४५)
यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः॥

जैसे पदार्थोंमें रस, तिलादि वस्तुओंमें तेल, फूलोंमें सुगन्ध होती है, वैसे ही द्रष्टामें दृश्यज्ञान रहता है। कर्पूरादि सुगन्धवाले पदार्थों से जिस प्रकार सुगन्धका उदय होता है, उसी प्रकार चेतनके भीतर से जगत्‌का उदय होता है। जैसे तुम्हारे अपने अनुभवमें स्वप्न, संकल्प और मनोराज्यका उदय होता है वैसे ही हृदयके भीतर दृश्य जगत्‌का उदय होता है। जैसे बीजके भीतर देशकालके अनुरूप अङ्कुर वर्तमान रहता है, वैसे ही मन भी अपने भीतर देह और दृश्य-ज्ञानका प्रकाश करता है।

(९) स्वप्न और जाग्रत्‌में भेद नहीं है:—

यदि दृश्यका द्रष्टासे इस प्रकारका सम्बन्ध है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है तो फिर स्वप्न-जगत् और वास्तविक जगत्—अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें ज्ञात जगत्—में क्या भेद है। वसिष्ठजीके मतके अनुसार कोई विशेष भेद नहीं, दोनोंमें घनिष्ठ समानता है।

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः॥ (४।१९।११)
स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्त्वमृच्छति।
अस्थैर्याज्जाग्रदेवास्ते स्वप्नस्तादृशबोधतः॥ (४।१९।१२)
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिशब्द्यते।
अद्य रात्रौ चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यभिधीयते॥ (६।५५।९)

इदं जाग्रदयं स्वप्न इति नास्त्येव भिन्नता।
सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्यानुभूतितः॥ (६।२।१६१।२४)
नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्रत्ययो यथा।
मृत्वामुत्रप्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा॥ (६।२।१६१।२५)
कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीह धीः।
वर्तमानानुभवनसाम्यात्तुल्ये तयोर्द्वयोः॥ (६।२।१६१।२६)
बाह्ये तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः।
न जाग्रत्स्वप्नयोर्ज्यायानेकोऽपि यमयोरिव॥ (६।२।१६१।२७)
आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं यथा।
अनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि॥ (६।२।१६१।२९)
उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नः स्मर्यन्ते बहवो यथा।
तथैव बुद्धैः स्मर्यन्ते सिद्धैर्जन्मशतान्यपि॥ (६।२।१६१।३०)
यथा स्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः।
स्वप्ने पुरमसद्भाति सर्गादौ भात्यसज्जगत्॥ (३।२७।५०)

जाग्रत् और स्वप्नमें इसके सिवाय कि एक स्थिर अनुभवका नाम है और दूसरा अस्थिरका, और कोई भेद नहीं है। सदा और सर्वत्र दोनों दशाओंका अनुभव समान है। स्वप्नके समय स्वप्न भी स्थिर रहनेके कारण जाग्रत् ही प्रतीत होता है। जाग्रत् भी अस्थिर रूप से जाने जाने पर स्वप्न ही प्रतीत होने लगता है। सर्गके आदिमें चित् का (चेतन ब्रह्म अथवा आत्माका) स्वप्न जाग्रत् कहलाता है और सर्गके रहते हुए किसी रात्रिमें अनुभव किया हुआ स्वप्न स्वप्न कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टिसे देखने पर जाग्रत् और स्वप्नमें कोई भेद नहीं है। दोनोंका अनुभव सर्वथा समान ही है। स्वप्नसे जागकर जैसे यह प्रतीति होती है कि जो अनुभव किया था वह वैसा नहीं है, जैसा कि अनुभव किया था, उसी प्रकार यहाँ मरकर दूसरे लोकमें जन्म लेने पर जाग्रत्का अनुभव भी ऐसा ही प्रतीत होता है। जाग्रत् और स्वप्नमें और सब प्रकारकी समानता है, केवल अधिक और अल्प समय तक अनुभूत होनेका भेद है। जाग्रत् और स्वप्नमें कौनसा अधिक महत्त्व-का है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनोंमें ही बाह्य वस्तुकी प्रतीति आदि बातें समानरूपसे अनुभवमें आती हैं। जिस प्रकार एक जीवनमें अनेक स्वप्नोंका अनुभव होता है, उसी प्रकार जब तक जीवको निर्वाण नहीं प्राप्त होता और वह अज्ञानका जीवन बिताता है,

तब तक जीवको अनेक जाग्रत् अवस्थाओंका अनुभव होता है। जिस प्रकार हम लोग उत्पन्न होकर नष्ट हुए स्वप्नोंको याद कर लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी सिद्ध लोग भी अनेक जन्मोंको याद कर सकते हैं। इसलिये जैसा स्वप्न है वैसा ही जाग्रत् है इसमें कोई शक नहीं है। स्वप्नमें स्वप्नगर असत्य होता हुआ प्रतीत होता है और जाग्रत्में यह जगत्।

(१०) जगत्का अनुभव भी स्वप्न ही है:—

रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं स्वात्मकं स्थितम्॥ (६/२।६२।२७)
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा।
यथैव तेषां देहादि तथास्माकमिदं स्थितम्॥ (६/२।६२।२७)
यथा स्वप्ने धराध्वाद्रिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः।
तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः॥ (६/२।६२।२९)
यथा स्वप्ने नृभिर्युद्धकोलाहलगमागमाः।
असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा॥ (६/२।६२।३०)
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारा युष्मदादिकः।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः॥ (६/२।६२।४०)
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा॥ (६/२।६२।४४)
एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवत्स्थितम्।
रञ्जयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम्॥ (३।५२।२४)
दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं विद्धहन्तादिसंयुतम्॥ (३।४२।८)

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश रूप (विषय) आलोक (विषयज्ञान) और मनस्कार (विषयकी मानसिक प्रतिमा) के रूपोंमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार यह सब दृश्य जगत् भी वस्तुतः चिदाकाशका ही विकास है। शरीर, स्थान और इन्द्रिय आदिकी वास्तविक सत्ता का क्या प्रमाण है? जैसे स्वप्नमें देहादिके अनुभवका उदय होता है वैसे ही इस जगत्में भी होता है। जैसे स्वप्नके पदार्थ—पृथ्वी, सड़कें, पहाड़ और मैदान आदि—चिदाकाश ही के नाम हैं, वैसे ही मैं, तुम और वह और यह संसार चिदाकाश ही हैं। जैसे स्वप्नमें मनुष्यकी लड़ाई, झगड़े, शोर और आना—जाना वास्तवमें न होते हुए भी

अनुभवमें आते हैं, वैसे ही संसारका हाल है। स्वप्नके द्रष्टा हमारे तुम्हारे समान साकार जीव हैं, जगत्स्वप्नका द्रष्टा शुद्ध चिदाकाश स्वयं है। चिदाकाश इस जगत्को स्वप्नकी नाईं बिना किसी वास्तविक आधार, उपादान और सामानके ही न वर्तमान होते हुए देखता है। इसी प्रकार यह सब जगत् न होता हुआ भी होता हुआ दिखाई पड़ता है और मिथ्या होता हुआ भी स्वप्नके विषयभोगकी तरह द्रष्टा को आनन्द देता है। यह अहंतादिसे युक्त विश्व एक बहुत बड़ा स्वप्न ही समझना चाहिए।

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठकारके मतानुसार जगत्का अनुभव स्वप्नके अनुभवके सदृश है। यही नहीं बल्कि समस्त विश्व एक दीर्घ स्वप्न ही है। यदि ऐसी बात है तो अब एक यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि यह विश्व-स्वप्न किसका स्वप्न है? किसी एक मुझ जैसे जीवका अथवा किसी ईश्वरका? माण्डूक्य उपनिषद्की व्याख्या करनेवाले श्री गौड़पादाचार्यने भी अपनी माण्डूक्यकारिकामें इस प्रश्नको उठाया है। वे पूछते हैं—

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः?

—माण्डूक्यकारिका, २।११

अर्थात्, कौन इन भिन्न भिन्न विश्वगत वस्तुओंका द्रष्टा है और कौन इनकी कल्पना करता है? पाश्चात्यदर्शनमें भी, जबसे बर्क्ले नामक तत्त्वदर्शीने यह अकाट्यतया सिद्ध कर दिया कि जगत्के सारे पदार्थ मानसिक संवेदन ही हैं, यह प्रश्न बार बार उठता चला आ रहा है कि विश्वके पदार्थ किसके संवेदन हैं। किसी जीव विशेष के अथवा सब जीवोंकी कल्पना करनेवाले किसी ईश्वरके। कुछ लोगोंका कहना है कि प्रत्येक जीवका विश्व अपनी कल्पनाकी कृति है, इस मतका नाम 'वैयक्तिक कल्पनावाद' है। दूसरे लोगोंका कहना है कि विश्वप्रपञ्च ईश्वरकी कल्पना है और प्रत्येक जीव उस प्रपञ्च का स्रष्टा न होकर केवल द्रष्टा ही है। इस मतका नाम 'समष्टि-कल्पनावाद' है। जीवकी दृष्टिसे तो इस प्रकारके कल्पनावादको बाह्यार्थवाद कहनेमें कोई हानि नहीं है होती, क्योंकि विश्व कल्पित होते हुए भी जीवके लिये बाह्यरूपसे वर्त्तमान होकर उसकी दृष्टिमें आता है। योगवासिष्ठकारका मत इस सम्बन्धमें क्या है यह कहना बड़ा कठिन जान पड़ता है, क्योंकि कहीं तो वैयक्तिक-

कल्पनावादको समर्थन करनेवाले वाक्य पाए जाते हैं और कहीं ईश्वरीय कल्पनावादके पोषक वाक्य मिलते हैं। दोनों मतोंके समन्वय करनेवाले वाक्य भी कहीं कहींपर हैं। इसलिये हम यहाँपर पाठकोंके सामने तीनों प्रकारके वाक्योंको उद्धृत करके योगवासिष्ठ-कारका मत पाठकोंको समझानेका प्रयत्न करते हैं—

(११) प्रत्येक जीवका विश्व अलग अलग है और वह जीवही उस विश्वकी सृष्टि करता है:—

चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति॥ (६।१३९।१)
प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिमत्॥ (३।४०।२९)
प्रत्येकमुदितो राम नूनं संसृतिखण्डकः।
रात्रौ सैन्यनरस्वप्नजालवत्स्वात्मनि स्फुटः॥ (४।११।२७)
पृथक्प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः। (३।४०।२९)
यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि चेतति॥ (६।१३।४)
न किञ्चिदपि जानाति निजसंवेदनादृते। (३।५५।६१)
स्वसंज्ञानुभवे लीनास्तथा स्थावरजङ्गमाः॥ (३।५५।६२)
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलम्।
महाचितेः स्फुरन्त्यर्करुचीव त्रसरेणवः॥ (३।२७।२९)
जगल्लक्षसहस्राणि यत्रासंख्यान्यणावणौ।
अपरस्परलग्नानि काननं ब्रह्म नाम तत्॥ (४।१८।६)

चित्त (जीव) ही जगत्की सृष्टि करनेवाला है वह जिस वस्तुकी जैसी कल्पना करता है वह सत्, असत् अथवा सदसत् रूप से वैसेही उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक चित्तमें इस प्रकारकी सृजन-शक्ति है। हे राम! जैसे रातको सोते हुए अनेक सैनिकोंके मनमें अनेक स्वप्न-जगत् पृथक्-पृथक् उदित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रत्येक जीवका संसार उसके भीतर अलग अलग उदित होता है। जगद्भ्रम प्रत्येक जीवको पृथक् पृथक् होता है और जिसको जो अनुभव होता है वह उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। इस प्रकार सब जड़ चेतन जीव अपने अपने ज्ञानके दायरेके भीतरके विश्वमें लीन रहते हैं। परब्रह्मके परमाणु परमाणुके भीतर अनन्त सृष्टियाँ इस प्रकार हैं जैसे सूर्यकी किरणोंमें अनेक त्रसरेणु दिखाई पड़ते हैं। जैसे किसी

वनमें सहस्रों गुञ्जाफल (घुँघुचीके गुच्छे) एक दूसरेसे बिलकुल अलग अलग लटके रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्ममें अणु अणुके भीतर अनेक सृष्टियाँ हैं।

(१२) ब्रह्मा जगत्की सृष्टि करता है और सारे जीव ब्रह्मासे उत्पन्न होते हैं:—

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनादिप्रजापतिः।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाऽद्यापि स्थिता स्थितिः॥ (३।५५।४७)
संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ। प्रजापतिः।
तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत्॥ (६/२।१८६।६५)
आदिसर्गे जगद्भ्रान्तिर्यथेयं स्थितिमागता।
तथा तदा प्रभृत्येवं नियतिः प्रौढिमागता॥ (३।२१।४६)
निर्झरादमलोद्योतात्पयसामिव बिन्दवः। (३।९४।२६)
सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः॥ (३।९४।२५)

सृष्टिके आदिमें स्वप्नपुरुषकी तरह ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। वह ब्रह्मा अबतक उसी प्रकार स्थित है। यह सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ ब्रह्मा (प्रजापति) जैसा जैसा संकल्प करता है वैसी वैसी ही सृष्टि होती चली जाती है। यह जगत् उसी ब्रह्माकी कल्पना है। जैसे सर्गके आदिमें यह विश्व-भ्रान्ति उदित होती है वैसी ही वह अभी तक स्थित है और नियत रूपसे चल रही है। जैसे किसी झरनेसे पानीकी बूँदें गिरती हैं उसी प्रकार ब्रह्मासे सब जीवोंकी सृष्टि होती है।

(१३) ब्रह्माकृत विश्व और जीवकृत विश्वोंमें क्या सम्बन्ध है:—

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः। (६/२।२८।४)
ब्रह्मपुर्यष्टकस्यादावर्थसंविद्यथोदिता।
पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा॥ (६/१।५१।२)
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दः पदार्थानां हि बिम्बकम्।
प्रतिबिम्बितमेतस्मायत्तद्यापि संस्थितम्॥ (३।५५।४८)
अन्योऽन्यमेव पश्यन्ति मिथः संप्रतिबिम्बितात्। (३।५३।२५)
अस्माकं त्वं स्वप्ननरस्तव स्वप्ननरा वयम्॥ (६/२।१५१।१०)

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवत्स्थितम् । (६/२।१५४।११)
कदाचित्प्रतिभैवैकैव बहूनामपि जायते ।
तथा हि बहवः स्वप्नमेकं पश्यन्ति मानवाः ॥ (३।४९।११)
संसारे विपुले स्वप्ने यथा सत्यमहं तव ।
तथा त्वमपि मे सत्यं सर्वं स्वप्नेष्विति क्रमः ॥ (३।४२।२०)

हमारे मतमें विज्ञानवाद और बाह्यार्थवादमें कोई असामञ्जस्य नहीं। जिस प्रकार सर्गके आदिमें ब्रह्मामें विश्वके पदार्थोंकी संवेदनाका उदय होता है उसी प्रकार सब जीवोंके मनमें पदार्थोंकी संवेदनाका उदय होता है। ब्रह्माके मनमें जो पदार्थसंवित् उदित होती है उसीका प्रतिबिम्ब जीवोंके मनमें उदित होता है और उदित होकर स्थिर रहता है। चूंकि जीवोंकी सृष्टि ब्रह्माकी सृष्टिका प्रतिबिम्ब है इसलिये एक विश्वका ज्ञान दूसरेको होती है। इस रीतिसे मैं तुम्हारे स्वप्नका व्यक्ति हूँ, तुम मेरे स्वप्नके व्यक्ति हो। सब एक दूसरेके स्वप्न-जगत्में वर्तमान हैं। जैसे कभी कभी एक ही विचार बहुतसे आदमियोंके मनमें आ जाता है और एक ही स्वप्न बहुतसे आदमी देख लेते हैं, वैसे ही इस विशाल संसार में मैं तुम्हारे स्वप्नमें सत्य हूँ और तुम मेरे स्वप्नमें।

८—जगत्

योगवासिष्ठके कल्पनावादका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। अब यहाँपर दृश्य जगत्के विषयमें वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीको जो बातें बतलाईं उनका उल्लेख किया जाता है।

(१) जगत्के अनेक नाम :—

योगवासिष्ठमें दृश्यजगत्को अनेक नामोंसे पुकारा है। उनमेंसे कुछ ये हैं—जगत्, दृश्य, संसृति (संसार), महत्तम (गहन अन्धेरा), मोह, माया, अविद्या, बन्ध, त्वं अहं इत्यादिकी मिथ्या भावना (मैं, तू का मिथ्या व्यवहार)।

जगत्त्वमहमित्यादि मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते।
यावदेतत्सम्भवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ (३।१।२३)
अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः॥ (३।१।२०)

'मैं' और 'तुम' आदि भेदकी मिथ्या भावना, जगत् और दृश्य कहलाती है। जब तक इसका अनुभव होता है तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त होता। इस भावनाको सर्वज्ञ ऋषियोंने अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह और महान्धकार आदि अनेक नामोंसे पुकारा है।

(२) जीव-परम्परा :—

इस दृश्यजगत्की अनेक विशेषताओंमेंसे एक विचित्र विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक दृश्य वस्तु स्वयं द्रष्टा भी है। जो स्वयं किसी मन अथवा जीवकी कल्पना है वह स्वयं और वस्तुओंकी कल्पना करनेकी सामर्थ्य रखती है, और उनको उसी प्रकार अपनी कल्पनासे रचती है जिस प्रकार वह स्वयं किसी दूसरे जीव द्वारा कल्पना की गई है।

स्वयं स्वभाव एवैष चिद्घनस्य सुस्फुटम्।
यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि॥ (६/२।२०८।२७)

चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयात्मना ।
अप्येकसारास्तिष्ठन्ति नानाकारस्वभावगाः ॥ (६/२।२०८।२८)
यो यो नाम यथा ग्रीष्मे कल्कस्वेदाङ्गवेल्कृमिः ।
यद्यद्दृश्यं शुद्धचित्त्वं तज्जीवो भवति स्वतः ॥ (४।१९।३)

ब्रह्मका यह स्वभाव ही है कि इसमें जो कुछ भी कल्पित होता है उसके अनेक अवयव भी ब्रह्मके साथ एकात्म होनेके कारण नाना प्रकारके जीवोंके रूपमें स्थित होकर उसी प्रकार कल्पना करने लगते हैं। प्रत्येक दृश्य पदार्थ स्वयं इस प्रकार जीव हो जाता है जैसे गरमीके मौसिममें प्राणियोंके शरीरके मैल और पसीनेसे उत्पन्न हुई वस्तुएँ स्वयं प्राणी बन जाती हैं ।

(३) सृष्टिके भीतर अनन्त सृष्टियोंकी परम्परा :—

जीव जिस सृष्टिकी कल्पना करता है उस सृष्टिके भीतरके अनेक पदार्थ भी जीव होकर अनेक सृष्टियोंकी कल्पना करते हैं और उनके भीतरके अनेक पदार्थ दूसरी अनेक सृष्टियोंकी कल्पना करते हैं। इस प्रकार यह सिलसिला अनन्त रूपसे जारी है ।

सर्गं सर्गे पृथग्रूपं सन्ति सर्गान्तराण्यपि । (४।१८।१६)
तेष्वप्यन्तःस्थसर्गौघाः कदलीदलपीठवत् ॥ (४।१८।१७)
चिद्घनैकात्मत्वाज्जीवान्तर्जीवजातयः ।
कदलीदलवत्सन्ति कीटा इव धरोदरे ॥ (४।१९।२)
त्रिजगच्चिदणावन्तरस्ति स्वप्नपुरं यथा ।
तस्याप्यन्तश्चिदणवस्तेष्वप्येकैकशो जगत् ॥ (५।५२।२०)
आकाशे परमाण्वन्तर्द्रव्यादेरणुकेऽपि च । (३।४४।३४)
जीवाणुर्यत्र तत्रेदं जगद्वेत्ति निजं वपुः ॥ (३।४४।३५)
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ (६/२।५९।३)
जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ (६/२।२२।२६)
परमाणुनिमेषाणां लक्षांशकलनास्वपि ।
जगत्कल्पसहस्राणि सत्यानीव विभान्त्यलम् ॥ (३।६२।१)
तेष्वप्यन्तस्तथैवान्तः परमाणु कणं प्रति ।
भ्रान्तिरेवमनन्ताहो इयमित्यवभासते ॥ (३।६२।२)

अणावणावसंख्यानि तेन सन्ति जगन्ति खे।
तेषान्तान्व्यवहारौघान्संख्यातुं क इव क्षमः॥ (६।१७६।६)

प्रत्येक सृष्टिके भीतर नाना प्रकारकी अनेक दूसरी सृष्टियाँ हैं; उनके भीतर और दूसरी; उनके भीतर और अनेक; इस प्रकार यह सिलसिला केले के तनेकी भाँति चलता ही रहता है। जिस प्रकार पृथ्वीके भीतर नाना प्रकारके जीवजन्तु रहते हैं और जिस प्रकार केलेके तनेमें पत्तेके भीतर दूसरा पत्ता और उसके भीतर दूसरा पत्ता रहता है, उसी प्रकार एक जीवके भीतर दूसरे अनेक जीव, और उनके भीतर और दूसरे—इस प्रकारका सिलसिला चलता ही रहता है—क्यों सब कुछ चिद्घन (ब्रह्म) है। चित्के एक परमाणुके भीतर जिस प्रकार स्वप्नको त्रिलोकी होती है उसी प्रकार आकाशमें अनन्त द्रव्योंके अनन्त परमाणुओंके भीतर भी नाना प्रकारके जगत् हैं। जहाँ जहाँ भी जीवाणु वर्त्तमान है वहीं पर वह जगत्का अपने निज अङ्गकी नाईं अनुभव करता है। इस प्रकार प्रत्येक अणु के भीतर अनन्त सृष्टियोंका सिलसिला है और होता रहता है। प्रत्येक परमाणु के एक क्षुद्र टुकड़ेके भी लाखवें भागके भीतर हज़ारों जगत् प्रत्यक्ष सत्य भावसे दिखाई देते हैं। (आधुनिक भौतिक विज्ञानको भी यह ज्ञात हो गया है कि प्रत्येक परमाणुके भीतर सौर मण्डलकी नाईं जगत् है) उन जगतोंके परमाणुओंके भीतर भी इसी प्रकार दृश्य जगत् है। यह कितने आश्चर्यकी बात है। पर यह सत्य है कि ऐसा है। इस आकाश में अणु अणुके भीतर जगत् हैं। उनके सब हालचाल कौन सुना सकता है?

(४) अनन्त अदृष्ट जगत्:—

एक जीवकी सृष्टिका दूसरे जीवको प्रायः ज्ञान नहीं है; इस कारणसे ब्रह्माण्डकी अनन्त सृष्टियोंका ज्ञान जीवोंको नहीं है। केवल अपनी ही सृष्टिका प्रत्येक जीवको ज्ञान होता है। दूसरे जीवोंकी सृष्टियां उसके लिये नहीं के बराबर हैं, क्योंकि वह उनको देख ही नहीं सकता।

प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च॥ (६।६३।१२)

अन्योऽन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ (६/२।६२।१३)
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव ।
महारम्भानुसृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ (६/२।५९।१०)
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
सैनिकस्वप्नजालानि ज़ातानीव महान्त्यपि ॥ (६/२।५९।३४)
संकल्पनगरं सत्यं यथा संकल्पितं प्रति ।
सदेहं वा विदेहं वा नेतरं प्रति किंञ्चन ॥ (३।२१।४५)

प्रत्येक जीवके भीतर बहुत सी नाना प्रकारकी एक दूसरीके प्रति अज्ञात सृष्टियां उदय हो रही हैं। एक सृष्टिके भीतर क्या है इसका ज्ञान दूसरी सृष्टिको उसी प्रकार नहीं है कि जिस प्रकार गलते हुए एक बीजको दूसरे बीजके भीतरकी सृष्टिका ज्ञान नहीं होता। (प्रत्येक बीजके भीतर तदनुरूप सृष्टि सूक्ष्म रूपसे होती है। जब वह पृथ्वीमें पड़कर गलने लगता है तो उसकी सूक्ष्म सृष्टि स्थूल रूप धारण करने लगती है। उस समय भी एक बीजकी सृष्टिका दूसरे बीजको कोई अनुभव नहीं होता); जैसे एक ही समय सोते हुए मनुष्योंके भीतर अनेक प्रकारके व्यवहारोंसे युक्त स्वप्न जगत् वर्त्तमान होते हुए भी एक दूसरेके प्रति शून्य हैं; और जिस प्रकार रणक्षेत्रमें सोनेवाले सिपाहियोंके अनेक स्वप्न जगत् (जिन सबमें प्रायः संग्राम ही होते रहते हैं एक दूसरेके प्रति अज्ञात हैं। ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्डकी अनन्त सृष्टियोंका ज्ञान एक दूसरीको नहीं है)। संकल्प नगर केवल उसीके प्रति सत्य होता है जो उस जगत्में संकल्पित होता है—चाहे वह सदेह (स्थूल)हो चाहे विदेह (सूक्ष्म), दूसरेके प्रति नहीं। (यही हाल इस जगत्में वर्त्तमान जीवोंका भी है)।

(५) सब कुछ सदा सब जगह है:—

यद्यपि दूसरे जीवोंके दृश्य जगतोंका ज्ञान हमको प्रायः नहीं होता तो भी यदि हम चाहें तो विश्वके समस्त पदार्थोंका सब स्थानों-का सब कालमें अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि संसारके सभी पदार्थ ब्रह्ममय हैं और ब्रह्म सदा सब जगह पूर्णरूपसे विद्यमान है।

ब्रह्म सर्वगतं तस्माद्यथा यत्र यदोदितम् ।
भवत्याशु तथा तत्र स्वप्नशक्त्यैव पश्यति ॥ (३।५२।४२)

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि । (६/२।१५९।४१)
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदास्ति तथा परे ॥ (६/२।१३।२८)
सर्वत्र सर्वशक्तित्वाद्यत्र या शक्तिरुन्नयेत् ।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः ॥ (३।५२।४)

क्योंकि ब्रह्म सब जगह है इसलिये कहीं भी किसी वस्तुका उदय हो सकता है, और स्वप्नशक्ति द्वारा उसका अनुभव होता है। इस प्रकार परम ब्रह्ममें जो कि सर्व वस्तुओंका अन्तिम स्वरूप है सदा ही सब जगह, सर्व रूपसे, सब कुछ वर्तमान रहता है। ब्रह्ममें सब पदार्थ शक्तिरूपसे रहते हैं। जहाँ जिस पदार्थके अनुभवकी तीव्र भावना होती है वहींपर वह पदार्थ प्रकट हो जाता है।

(६) नाना प्रकारकी विचित्र सृष्टियां :—

यह न समझ लेना चाहिए कि सब जगह और सब कालमें इसी प्रकारकी सृष्टिकी रचना होती है जैसी कि हम अनुभव कर रहे हैं। किसी कल्पमें किसी प्रकारकी सृष्टि और किसीमें किसी दूसरे प्रकारकी सृष्टि होती है :—

अनन्तानि जगन्त्यस्मिन्ब्रह्मतत्त्वमहाम्बरे
अम्भोधिवीचिजलवन्निमज्जन्त्युद्भवन्ति च ॥ (४।१७।१४)
भूयो भूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वप्स्विव वीचयः ।
अत्यन्तसदृशाः केचित्केचिदर्धसमक्रमाः ॥ (६/१।६६।२३)
केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा । (६/१।६६।२४)
सर्वासां सृष्टिराशीनां चित्राकारविचेष्टिताः ॥ (४।४७।२७)
दैवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ (६/२।५९।३२)
कदाचित्सृष्टयः शार्व्यः कदाचित्पद्मजोद्भवाः ।
कदाचिदपि वैष्णव्यः कदाचिन्मनुनिर्मिताः ॥ (४।४७।८)
भूरभून्मृण्मयी काचित्काचिदासीद्दृषन्मयी ॥ (४।४७।१२)
आसिद्धेममयी काचित्काचित्ताम्रमयी तथा ।

इस ब्रह्मरूपी महा आकाशमें अनन्त प्रकारके अनन्त जगत् इस प्रकार उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं जैसे कि समुद्रमें लहरें। जलमें तरङ्गोंके समान सृष्टियोंमें नाना प्रकारके विकार होते रहते हैं। उनमेंसे कुछ समान रूपके, कुछ आधे समान क्रमवाले, कुछ

थोड़ी ही समानतावाले और कुछ बिल्कुल ही निराले ढङ्गके होते हैं। सब सृष्टियोंकी बातें विचित्र प्रकारकी होती हैं। किसी सृष्टिमें देवता लोग ही रहते हैं, किसीमें मनुष्य ही, किसीमें दैत्य लोग होते हैं, किसीमें केवल कीड़े मकोड़े ही। किसी सृष्टिको शिव उत्पन्न करता है, किसीको ब्रह्मा, किसीको विष्णु और किसीको मनु। किसी सृष्टिमें धरातल मिट्टीका होता है, किसीमें पत्थरका, किसीमें सोनेका, किसीमें तांबेका।

(७) जीवोंकी सृष्टि और प्रलयका पुनः पुनः होना :—

जीवौघाश्चोद्भविष्यन्ति मधाविव नवाङ्कुराः।
तत्रैव लयमेष्यन्ति ग्रीष्मे मधुरसा इव॥ (५।९५।१०)
तिष्ठन्त्यजस्रं कालेषु त एवान्ये च भूरिशः।
जायन्ते च प्रलीयन्ते परस्मिञ्जीवराशयः॥ (३।९५।११)
उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम्।
स्वत एव पदे यान्ति विलयं जीवराशयः॥ (४।४३।४४)

जैसे चैत्रके महीनेमें नये अङ्कुर उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्म ऋतुमें सब रस सूख जाते हैं उसी प्रकार जीवगण उत्पन्न होते हैं और जहांसे उत्पन्न हुए थे उसीमें लय हो जाते हैं। परम तत्त्वसे जीवगण उत्पन्न होते हैं और कुछ समय स्थिर रहकर उसीमें लीन हो जाया करते हैं। समय समयपर ब्रह्मसे उदय होकर, और नाना प्रकारके शरीरोंका अनुभव करके जीवगण उसीमें अपने आप ही लीन हो जाया करते हैं।

(८) कल्पके अन्तमें सब कुछ नष्ट हो जाता है :—

पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमायुषः॥ (६।२१३।५)
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किञ्चिदवशिष्यते॥ (६।२१३।६)
नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमापि परिणश्यति।
ससर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात्॥ (६।२१३।७)
ब्रह्मविष्णिवन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम्।
तेषामप्यविकल्पान्ते नामापीह न विद्यते॥ (६।२१३।८)

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ (३।१।१०)
शाम्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा ।
यथा जाग्रद्धियौ स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥ (६/२।२१३।१५)
यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने क्वाशु गच्छति ।
शान्तं तथा जागृद्दृश्यं न जाने क्वाशु गच्छति ॥ (६/२।२१३।१६)

हे पुत्र ! जैसे सुषुप्तिमें प्रवेश करनेके समय साराका सारा स्वप्न-जगत् नष्ट हो जाता है वैसे ही यह सारा दृश्य-जगत् (प्रलय कालमें) नष्ट हो जाता है । पृथ्वी, पहाड़, दसों दिशाएँ, सब क्रियाएँ, काल, क्रम आदि सब बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं—कुछ भी बाक़ी नहीं रहता । जगत्के द्रष्टाके नष्ट हो जानेपर सब जगत्—सारे प्राणी और आकाश—नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदिका भी, जो कि कारणोंके भी कारण हैं, कल्पके अन्तमें नाम तक नहीं रहता । जिस प्रकार सुषुप्तिके समय स्वप्नका दृश्य अनुभवमें नहीं आता वैसे ही कोई भी जड़ चेतन दृश्य पदार्थ कल्पके अन्तमें नहीं दिखाई पड़ता । जैसे जाग्रत् अवस्थामें स्वप्नका और स्वप्नावस्थामें जाग्रत्का पता नहीं लगता वैसे ही जगत् भी प्रलयमें पूर्णतया शान्त हो जाता है । शान्त होनेपर जैसे स्वप्नका पता नहीं चलता कि कहां गया वैसे ही प्रलय हो जानेपर जगत्का पता नहीं चलता कि कहां गया ।

(९) प्रलयकालमें केवल ब्रह्म ही शेष रहता है :—

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ॥ (३।१।११)
ब्रह्मास्ते शान्तमजरमनन्तात्मैव केवलम् । (३।२।३६)
शून्यं नित्योदितं सूक्ष्मं निरुपाधि परं स्थितम् ॥ (३।२।३७)

प्रलयके समय अत्यन्त गहन शान्ति रहती है । न तेज रहता है और न अन्धेरा, जो कुछ भाव पदार्थ रहता है वह अव्यक्त है । उसका कोई भी वर्णन नहीं किया जा सकता । वह शान्त, अजर, अनन्त, शून्य, सूक्ष्म, निरुपाधि, सदा प्रकाशमान, केवल परमात्मा ब्रह्म है ।

(१०) दृश्य जगत्की उत्पत्तिका क्रम :—

जगत् स्वप्नकी नाईं कल्पनामय है । इसका उदय और अस्त स्वप्न जगत्के उदय और अस्तके समान है । नाना प्रकारकी सृष्टियाँ हैं

और उनके उदय होनेके नाना प्रकारके क्रम हैं। ये सब बातें ऊपर कही जा चुकी हैं। अब यह देखना है कि योगवासिष्ठके अनुसार हमारी वर्त्तमान सृष्टिका उदय किस क्रमसे होता है—

सुषुप्तं स्वप्नवद्भाति भाति ब्रह्म सर्गवत्।
सर्वात्मकं च तत्स्थानं तावत्क्रमं शृणु॥ (३।१२।२)
शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत्।
जगच्छक्त्यात्मनाऽऽत्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम्॥ (६/१।११।३७)
स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम्।
यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवानिलः॥ (६/१।११४।१५)
तदात्मनि स्वयं किञ्चिच्चेत्यतामिव गच्छति।
अगृहीतात्मकं संविदहंमर्षणपूर्वकम्॥ (३।१२।४)
भाविनामार्थकलनैः किञ्चिदूहितरूपकम्।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाति बोधनम्॥ (३।१२।५)
ततः सा परमा सत्ता सचेतश्चेतनोन्मुखी।
चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिल्लभ्यतया तथा॥ (३।१२।६)
घनसंवेदना पश्चाद्भाविजीवादिनामिका।
संभवत्यात्तकलना यदोज्झति परं पदम्॥ (३।१२।७)
सत्तैव भावनामात्रसारा संसरणोन्मुखी।
तदा वस्तुस्वभावेन त्वनुत्तिष्ठति तामिमाम्॥ (३।१२।८)
समन्तरमेवास्याः खसत्तोदेति शून्यता।
शब्दादिगुणबीजं सा भविष्यदभिधार्थदा॥ (३।१२।९)
अहंतोदेति तदनु सह वै कालसत्तया।
भविष्यदभिधार्थेन बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः॥ (३।१२।१०)
चिदहं तावती व्योमशब्दतन्मात्रभावनात्।
खतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं भवत्यलम्॥ (३।१२।१३)
तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः परमात्मनः।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणः॥ (३।१२।१५)
असम्प्राप्ताभिधाचारा चिज्जवात्प्रस्फुरद्वपुः।
सा चैव स्पर्शतन्मात्रं भावनाद्भवति क्षणात्॥ (३।१२।१८)
पवनस्कन्धविस्तारं बीजं स्पर्शौघशाखिनः।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्सम्प्रसरिष्यति॥ (३।१२।१९)

तत्रैव चिद्विलासेन प्रकाशोऽनुभवाद्भवेत् ।
तेजस्तन्मात्रकं तत्तु भविष्यदभिधार्थकम् ॥ (३।१२।२०)
तत्सूर्याग्निविजृम्भादि बीजमालोकशाखिनः ।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२१)
भावयन्स्तनुतामेव रसस्कन्ध इवाम्भसः ।
स्वदनं तस्य सङ्घस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ (३।१२।२२)
भाविवारिविलासात्मा तद्बीजं रसशाखिनः ।
अन्योऽन्यस्वदने तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२३)
भविष्यद्रूपसङ्कल्पनामासौ कल्पनात्मकः ।
संकल्पात्मगुणैर्गन्धतन्मात्रत्वं प्रपश्यति ॥ (३।१२।२४)
भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशाखिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२५)
चिता विभाव्यमानानि तन्मात्राणि परस्परम् ।
स्वयं परिणतान्यन्तरम्बूनीव निरन्तरम् ॥ (३।१२।२६)
तथैतानि विमिश्राणि विविक्तानि पुनर्यथा ।
न शुद्धान्युपलभ्यन्ते सर्वनाशान्तमेव हि ॥ (३।१२।२७)
संवित्तिमात्ररूपाणि स्थितानि गगनोदरे ।
भवन्ति वटजालानि यथा बीजकणान्तरे ॥ (३।१२।२८)
प्रसवं परिपश्यन्ति शतशाख स्फुरन्ति च ।
प्रमाण्वन्तरे भान्ति क्षणात्कल्पीभवन्ति च ॥ (३।१२।२९)
विवर्तमेव धावन्ति निर्विवर्तानि सन्ति च ।
चिद्बेधितानि सर्वाणि क्षणात्पिण्डीभवन्ति च ॥ (३।१२।३०)

जिस प्रकार सुषुप्त आत्मा ही स्वप्नरूपसे व्यक्त होता है उसी प्रकार सबका आत्मा और जगत्का आधार ब्रह्म ही जगत्-रूपसे व्यक्त होता है । जिस क्रमसे होता है अब वह सुनिये । ब्रह्म अपने आप ही अपने आपमें जगत्को उत्पन्न करनेवाली शक्तिके रूपसे वर्त्तमान रहता है । और वह शक्ति बिना किसी अन्य हेतुके अपना कार्य करती है जैसे कि चमकदार पत्थर (हीरे) की किरणें चमकती हैं । वायु अपनी स्पन्दशक्तिकी नाईं, जब परमात्मा अपनी संकल्प-शक्तिको आप ही उत्तेजित करता है, तब वह स्वयं ही चेत्यता (objectivity) अर्थात् विषयरूपताको प्राप्त हो जाता है। यह स्थिति अहंभाव उत्पन्न होनेसे पूर्व उस समयकी है जब कि परमा-

त्माको संकल्पके कारण अपने स्वरूपका भान नहीं रहता। उस समय सब जगह आकाशसे सूक्ष्म वह शुद्ध बोध फैल जाता है जिसमें कि आगे प्रकाशमें आनेवाले नाम और रूपोंकी संभावना और आशा रहती है। तब वह परमसत्ता सचेत होकर चेतनताकी ओर उन्मुख होकर कुछ भावात्मक रूप धारण करके "चित्" कहलानेके योग्य हो जाती है। तब वह अपने परम स्वरूपको छोड़कर सृष्टिकी कल्पना-को अपने भीतर रखकर पीछे जीवादि संज्ञाको धारण करने वाली तीव्र चेतनताको प्राप्त होती है। तब संसारको रचनेकी ओर प्रवृत्त हुई भावनासे भरपूर जिस वस्तुका वह ध्यान करती है उसका स्वभाव प्राप्त करके वह वही हो जाती है। तब उससे शून्य आकाशका, जो कि शब्द आदि गुणोंका बीज है और जिससे भविष्यमें अनेक प्रकारके शब्दोंका विकास होगा, उदय होता है। तब काल और अहंकारका उदय होता है। अहंकार जगत्का मुख्य बीज है क्योंकि इससे ही भविष्यमें उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुओंका उदय होता है। आकाश और शब्दकी तीव्र भावनाके कारण शून्य आकाश घना होकर शब्दतन्मात्रा हो जाता है। उस शब्दतन्मात्रारूपी परमात्मासे जिसके कि सब शब्द और अर्थ विकासमात्र हैं सारे जगत्की सृष्टि होती है। वही शब्दतन्मात्रा जिसके भीतर जीवकी स्पन्द-शक्ति कार्य कर रही है, और जो अभीतक नाम और क्रियाके रूपमें व्यक्त नहीं हुई है, तीव्र भावनाके कारण स्पर्शतन्मात्राका रूप धारण कर लेती है। उस स्पर्शतन्मात्रासे सब प्रकारके वायु, जो कि सब प्रकारके स्पर्शोंके बीज हैं, उदय होते हैं। उसीसे सारे प्राणियोंकी क्रियाओंका उदय होता है। उसमें चित्की क्रिया होनेसे प्रकाशका अनुभव होकर रूप तन्मात्राका उदय होता है जो कि सब प्रकारके प्रकाशोंका बीज है और जिससे सूर्य और अग्नि आदिका विकास होता है। रूपतन्मात्रा-से रूपके अनेक भेद होकर जगत्का उदय होता है। पतलेपनकी भावनासे उससे रसस्कन्धका उदय होता है जिसके स्वादको रस-तन्मात्रा कहते हैं। वह रसतन्मात्रा सब रसोंका बीज है। उसीसे आगे उत्पन्न होनेवाले सब जलोंका उदय होता है और सारे स्वादोंके संसारकी सृष्टि होती है। रसतन्मात्रासे कल्पना द्वारा गन्धतन्मात्रा-का उदय होता है। वह गन्धतन्मात्रा आकारवाले सब पदार्थोंका बीज है और इसीसे सब धरातलोंका उदय होता है। चित् द्वारा विभाजित

होनेसे ये सब तन्मात्राएँ एक दूसरीके रूपमें परिणत हो जाती हैं और फिर एक दूसरीसे अलग अलग मिलकर मिश्र रूपमें प्रकट होती हैं। शुद्ध रूपमें प्रलयसे पूर्व कहीं दिखाई नहीं पड़ती। वे आकाशके उदरमें सूक्ष्म संवित्के रूपमें रहती हैं और इस प्रकार स्थूलताको धारण कर लेती हैं जैसे कि वटका वीज वटके वृक्षका रूप धारण कर लेता है, परमाणुके भीतर ही अपनी वृद्धिका अनुभव करती हैं, सैकड़ों शाखाओंमें प्रसार करती हैं और क्षणसे कल्पका रूप धारण कर लेती हैं। चित्से व्याप्त वे सब क्षणमें स्थूल रूप धारण कर लेती हैं और नानारूपोंमें परिणत हो जाती हैं और कभी विना परिणामके ही स्थित रहती हैं। (भावार्थ)

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि शुद्ध ब्रह्म अपने ही संकल्पसे अपने आपको वाह्यजगत्के रूपमें परिणत कर लेता है। अपने ही संकल्प द्वारा वह क्रमसे सूक्ष्म नाम रूपोंमें और फिर नाना प्रकारके स्थूल नाम रूपोंमें प्रकट होकर जगत्की सृष्टि करता है।

(११) तीन आकाशः—

जगत्में तीन प्रकारके आकाश हैं—एक भूताकाश, दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। चिदाकाश सबसे सूक्ष्म है।

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने॥ (३।१७।१०)
देशदेशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि॥ (३।१७।१२)
तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्।
सर्वात्मकं पदं तत्त्वं त्वं तदाप्नोष्यसंशयम्॥ (३।१७।१३)
चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
विद्ध्येतत्त्रयमेकं त्वमविनाभावनावशात्॥ (३।४०।१९)

आकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश—ये तीन आकाश (सर्वव्यापक पदार्थ) हैं। इनमें चिदाकाश सबसे सूक्ष्म है। (ज्ञान के क्षेत्र में) एक विषयसे दूसरे विषयकी प्राप्तिके मध्यमें जिस अवकाशका क्षणभरके लिये अनुभव होता है उसको चिदाकाश समझो। यदि उस चिदाकाशमें समस्त संकल्पोंसे रहित हो कर स्थित हो जाओ तो उस परमपदको प्राप्त हो जाओगे जो कि परमतत्त्व और सबका

आत्मा है। भेदभावनाको त्यागकर आकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश तीनोंको एक ही समझना चाहिये।

(१२) नियति :—

जगत्में सारे व्यवहार नियमित रूपसे होते दिखाई पड़ते हैं और प्रत्येक वस्तुका स्वभाव निश्चित है। इसका कारण यह है कि जगत्की सृष्टिके आदिमें प्रजापतिने जगत्के ठीक चलनेके निमित्त वस्तुओंका स्वभाव निश्चित कर दिया है और प्रलयपर्यन्त प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्वभावके अनुकूल कार्य करती रहती है—

आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम्।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति संपद्यते परम्॥ (२।६२।९)
अवश्यंभवितव्यैषा त्विदमित्थमितिस्थितिः।
न शक्यते लङ्घयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः॥ (३।६२।२६)
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि॥ (५।८९।२६)
सर्गादौ या यथा रूढा संवित्कचनसंततिः।
साऽद्याप्यचलितन्यायेन स्थिता नियतिरुच्यते॥ (३।५४।२२)
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमितिस्थितेः ।
आतृणापद्मजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता॥ (६।३७।२२)

सृष्टिके आदिमें परमात्मा अपने अनन्त और विचित्र (नाना प्रकारवाले) रूपको इस प्रकार नियमित कर लेता है कि "ऐसा होनेपर ऐसा होना चाहिये"—इस नियमका नाम नियति है। "यह वस्तु इस प्रकारका व्यवहार करेगी" अथवा "यह ऐसी है"—यह नियम अटल है और अवश्य होनेवाला है। इसका उल्लंघन रुद्रादि देवतातक भी नहीं कर सकते। कोई भी—चाहे वह शिव हो अथवा विष्णु, चाहे सर्वज्ञ हो अथवा बहुत बड़ा ज्ञानी हो—नियतिको नहीं बदल सकता। सृष्टिके आदिमें जो रचना जिस नियमसे होने लगती है वह सदा ही आजपर्यन्त उसी नियमके अनुसार चल रही है। महाशिवतक इस नियमसे नियन्त्रित होते हैं। इसका नाम इसी कारणसे नियति है कि तृणसे लेकर ब्रह्मातकका व्यवहार इसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

(१३) नियतिका आरम्भ अकस्मात् घटनाओंसे ही होता है :—

जगत्में कार्य-कारण रूपी नियतिका चारों ओर साम्राज्य है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। लेकिन यह कार्य-कारण संतति अकस्मात् ही आरम्भ हो जाती है। और एक बार आरम्भ होकर अटल रूपसे स्थित हो जाती है :—

नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि। (६/१।१४८।२०)
यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियंत्रणा॥ (६/१।१४८।२१)
एवमस्या मुधाभ्रान्तेः का सत्ता कैव वासना।
कावावस्था काच नियतिः काऽवश्यंभावितोच्यताम्॥ (२।६०।७)

स्वप्नमें नियति अनियतिका क्या स्वरूप है? स्वप्नमें जब जैसा अनुभव हो जाए वही उस समय नियत ज्ञात होता है। इसी प्रकार इस दृश्य जगत् रूपी मिथ्या भ्रान्तिकी क्या स्थिति, क्या अवस्था, क्या नियति, और क्या अवश्यंभाविता (ऐसे होना ही चाहिये इस प्रकारका नियम) कही जा सकती है? अर्थात् जो जिस समय जैसे हो गया वही नियत जान पड़ता है।

(१४) नियति पुरुषार्थकी विरोधी नहीं है :—

बहुधा लोग ऐसा सोचा करते हैं कि यदि संसारमें सब बातें नियमित हैं और कार्य-कारण नियम अटल है तो फिर पुरुषार्थ करनेसे ही क्या होगा? जो होना है वही होगा, फिर हाथ पैर पीटनेकी क्या अवश्यकता है? वसिष्ठ जीके मतानुसार ऐसा सोचना ठीक नहीं है वे स्पष्टतया कहते हैं—

पौरुषं न परित्याज्य मेतामाश्रित्य धीमता।
पौरुपेणैव रूपेण नियतिर्हि नियामिका॥ (३।६२।२७)

इस प्रकारकी दृष्टिका आश्रय लेकर बुद्धिमान् आदमीको पुरुषार्थका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियति पुरुषार्थके रूपसे ही जगत्की नियंत्रणा करती है। (अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा ही नियति सफल होती है। पुरुषार्थ और नियतिमें कोई विरोध नहीं "पुरुषार्थ द्वारा फलकी प्राप्ति होती है" यह भी नियतिका ही एक अङ्ग है।

यदि उचित कारण पुरुषार्थ द्वारा उपस्थित नहीं किये जायेंगे तो भला इच्छित फल कैसे प्राप्त हो सकेंगे)।

(१५) प्रबल पुरुषार्थ कभी कभी नियतिको भी जीत लेता है :—

नियतिं यादृशीमेतत्सङ्कल्पयति सा तथा।
नियतानियतान्कांश्चिदर्थाननियतानपि ॥ (५।२४।३१)
करोति चित्तं तेनैतच्चित्तं नियतियोजकम्।
नियत्यां नियतिं कुर्वन्कदाचित्स्वार्थनामिकाम् ॥ (५।२४।३२)
जीवो हि पुरुषो जातः पौरुषेण स यद्यथा। (५।२४।३५)
संकल्पयति लोकेऽस्मिन्स्तत्तथा तस्य नान्यथा ॥ (५।२४।३६)

यह मन जिस प्रकारकी नियतिकी कल्पना करता है वह उसी प्रकार कभी नियत और कभी अनियत पदार्थोंकी कल्पना करती है। इस प्रकारसे यह मन अपने संकल्पित पदार्थोंकी नांई नियतिका भी कल्पना करने वाला है। नियतिको भी कभी अनियति बना देता है। यह जीव अपने पुरुषार्थके कारण ही पुरुष कहलाता है। वह जैसा जैसा संकल्प करता है संसारमें वैसा ही होता है अन्यथा प्रकारसे नहीं (अर्थात्—वास्तविक कर्ता जीवका संकल्प ही है। नियति नहीं। नियति तो नियमित रूपसे प्रकट होनेका नाम है। नियति सृष्टिका नियम है। सृष्टि करने वाली नहीं है)।

१—मन

योगवासिष्ठमें जितना वर्णन मन और उसकी शक्तियोंका किया गया है उतना और किसी वस्तुका नहीं। व्यक्त जगत्‌में मनसे बढ़कर शक्तिशाली कोई पदार्थ नहीं है। मन ही जगत्‌की सृष्टि करता है, मन ही सब प्रकारके दुःख सुखोंका उत्पादक है। मनके हाथमें ही बन्ध और मोक्ष है। मन ही जगत् हो जाता है—मन ही वासना रहित होनेपर ब्रह्म हो जाता है। योगवासिष्ठका सारा ज्ञान केवल मनोविज्ञान ही है। यहांपर हम इसका कुछ वर्णन करते हैं :—

(१) मनका स्वरूप :—

सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते।
यथा द्रवत्वात्सलिलं यथा स्पन्दोऽनिलात् ॥ (३।४।४३)
यत्र संकल्पनं तत्र तन्मनोऽङ्ग तथा स्थितम्।
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केचन ॥ (३।४।४४)
परस्य पुंसः सङ्कल्पमयत्वं चित्तमुच्यते। (५।१३।८०)
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥ (३।४।४२)
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः।
सङ्कल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥ (३।९६।३)
सम्पन्ना कलानाम्नी संकल्पानुविधायिनी।
अवच्छेदवती वाग्रा हेयोपादेयधर्मिणी ॥ (५।१३।५६)
तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति नित्यशः।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥ (३।१।१६)
चिन्निःस्पन्दो हि मलिनः कलङ्कविकलान्तरम्।
मन इत्युच्यते राम न जडं न च चिन्मयम् ॥ (३।९६।४१)
चितो यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम्।
चिद्भागोऽत्राजडो भागो जाड्यमत्र हि चेत्यता ॥ (३।९१।३७)
जडाजडदशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम्।
पश्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ॥ (३।९६।४०)

जडाजडं मनो विद्धि संकल्पात्म बृहद्वपुः ।
अजडं ब्रह्मरूपत्वाजडं दृश्यात्मतावशात् ॥ (३।९१।३१)
नाहं वेदावभासात्मा कुर्वाणोऽस्मीति निश्चयः ।
तस्मादेकान्तकलनस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥ (३।९६।४)
मनो हि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी ।
क्रिया तद्भावितारूपं फलं सर्वोऽनुधावति ॥ (३।९६।१)
नहि दृश्यादृते किञ्चिन्मनसो रूपमस्ति हि ॥ (३।४।४८)
स्वयमेवान्यतया दृष्ट्वा चितिर्दृश्यतया वपुः ।
निर्विभागाप्येकभागाभं भ्रमतीव भ्रमातुरा ॥ (३।९१।४०)
शाश्वतेनैकरूपेण निश्चयेन विना स्थितिः ।
येन सा चित्तमित्युक्ता तस्माज्जातमिदं जगत् ॥ (३।९६।३९)
दृश्यानुभवसत्यात्म न सद्भावे विलासि यत् ।
कटकत्वं यथा हेम्नि तथा ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ (३।९१-३२)
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
सर्वत्रैव स्थितं चैतद्विद्धि राम यथा नभः ॥ (३।४।३९)
आतिवाहिकदेहात्मा मन इत्यभिधीयते ।
आधिभौतिकबुद्धिं तु स आधत्ते चिरस्थितेः ॥

संकल्प करनेका नाम मन है; मन संकल्पसे भिन्न कुछ नहीं है—जैसे जल द्रवत्व (पतलेपन) से और वायु स्पन्दनसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जहाँ संकल्प है वहीं मन है। मन संकल्प से भिन्न कभी किसी प्रकार नहीं है। विषयोंका चित् (आत्मा) में उदय होना ही मन है। परम पुरुष (आत्मा) के संकल्पमय होनेका नाम ही चित्त (मन) है। अनन्त, सर्वशक्तियुक्त महान् आत्माके संकल्प शक्ति द्वारा रचे हुए रूपका नाम मन है। ब्रह्मकी यह संकल्पानुसार कार्य करनेवाली कलना नामवाली शक्ति अवच्छेद युक्त (परिमित रूपवाली) और त्याग और ग्रहण करनेवाली है। (अर्थात् इसका कार्य किसी ख़ास पदार्थको प्राप्त करना और किसका त्याग करना है। यह अनन्त परमतत्त्वको विषय न करती हुई उसको अनेक पदार्थोंके रूपमें विभाजितसा करती रहती है और उन कल्पित पदार्थोंमें किसीको अच्छा और किसीको बुरा निर्धारित करती रहती है)। वह मन (नामक शक्ति) अपने आप ही स्वतंत्रता-पूर्वक नित्यप्रति संकल्पोंकी रचना करता रहता है, उसीके द्वारा

यह विस्तृत मायाका जाल (जगत्) तना जाता है। आत्माका यह मलीन और कलङ्कवाला (भीतर मैलवाला क्योंकि शुद्ध स्वरूपसे च्युत हो गया है) स्पन्दन, जो मन कहलाता है, न सर्वथा जड़ ही है और न चेतन। आत्माकी इस विषयकी ओर दौड़नेवाली कलनाका आत्मभाव तो चेतन है, चेत्य अंश (विषय भाग) जड़ है। मलीन चित् (आत्मा) का स्वयं कल्पना किया हुआ जड और चेतन दोनों स्वरूपवाला रूप मन कहलाता है—वह कभी जड़ और कभी चेतन हो जाता है। (ब्रह्मका वह) महान् स्वरूप जो कि संकल्पात्मक है ब्रह्मरूपसे चेतन है और दृश्य रूपसे जड़ है। जब अपने स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूपका विस्मरण होकर कर्तृत्वपनका ही निश्चय रहता है और ध्यान केवल एक विषयकी ओर ही रहता है उस समय आत्माका रूप मन होता है। मन भावना मात्र है, भावना स्पन्द धर्मवाली होती है, और क्रियाकी कल्पना करती रहती है जो कि किसी न किसी फलके रूपमें परिणत होनेके लिये दौड़ती रहती है—अर्थात् किसी पदार्थकी रचना करती है। दृश्यके अतिरिक्त मनका और कोई रूप नहीं है। स्पन्दनके लिये उत्सुक चित् (आत्मा) भ्रमित सी हो कर अपने आपको दृश्य रूपसे अन्य सी अनुभव करती हुई विभाजित न होते हुए भी अपने एक भाग जैसे रूपको धारण कर लेती है। अपने नित्य एक स्वरूपको भूल कर जो चिति (चेतन स्वरूप आत्मा) की स्थिति है उसका नाम चित्त (मन) है—उससे ही इस जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। मन यद्यपि ब्रह्ममें इस प्रकार स्थित है जैसे कि सोनेमें कङ्कण तो भी वह दृश्यके अनुभवको सत्य समझनेके कारण अपने सत्-भाव (ब्रह्मभाव) का आनन्द नहीं ले पाता (अर्थात् विषयोंकी ओर प्रवृत्ति रहनेके कारण विषयोंकी नाईं ही अपनेको क्षणभङ्गुर समझता है, नित्य नहीं जानता)। वास्तवमें मन जो कि सत्-रूप ही है (अर्थात् आत्मा ही है) न बाहर है और न हृदयके भीतर है। वह तो आकाशकी नाईं सर्वत्र स्थित है। मन सूक्ष्म आकारवाला है, स्थूल भावको वह अधिक समयतक भावना करते रहनेसे प्राप्त होता है।

इस समस्त वर्णनका सार यह है कि मन अनन्त, अपार, पूर्ण, सर्वशक्तिमान् ब्रह्मकी जगत्-निर्माण करनेवाली, दृश्यका अनुभव प्राप्त करनेको उत्सुक, स्पन्द शक्तिका, उस स्थितिमें स्थित होती हुई का

नाम है जबकि वह अपने आपका व्यक्त रूपसे अनुभव करती है और ब्रह्ममें स्थित होते हुए भी अपने आपको भिन्न समझकर जगत्का निर्माण करती है। जगत्का निर्माण वह कल्पना द्वारा करती है। कल्पना द्वारा ही वह अपने आपको दृश्य पदार्थोंके आकारमें देखती है। इसी कारण उसे जड और चेतन दोनों ही कहा है।

(२) मन और ब्रह्मका भेद :—

चेत्येन रहिता यैषा चित्तद्ब्रह्म सनातनम्।
चेत्येन सहिता यैषा चित्सेयं कलनोच्यते॥ (५।१३।५३)
किञ्चिदामृष्टरूपं यद्ब्रह्म तच्च स्थितं मनः।
कल्पना सत्सदैवैतत्सदिवोपस्थिता हृदि॥ (५।१३।५४)
यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः।
तथात्मनश्चितो रूपं भावयन्त्याः स्वमांशिकम्॥ (३।४२।१८)
वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते।
शून्यत्वखत्वोपमयोश्चिन्मात्राहंत्वयोस्तथा॥ (६/१।९६।१९)

चेत्य (दृश्य) से रहित चित् (आत्मा) सनातन ब्रह्म है। वही चित् (आत्मा) चेत्य (दृश्य) युक्त यह मन कहलाता है। वह ब्रह्म ही दृश्य भावसे किञ्चित् स्पर्श हो जानेपर मन हो जाता है। मन हृदयकी कल्पनाके समान सत् और असत् रूप है। जिस प्रकार सोने और उससे बने हुए कङ्कणादि गहनोंमें एक विलक्षण भेदका सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और उसके मनरूपी भावनात्मक रूपमें एक विलक्षण भेदका सम्बन्ध है। चिन्मात्र आत्मा और अहङ्कार (मन) में इस प्रकार तनिक भी भेद नहीं है जैसे कि वायुमें और उसके स्पन्दनमें और आकाशमें और शून्यत्वमें नहीं है।

(३) मनके अनेक नाम और रूप :—

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत्॥ (३।९६।४३)
चित्राधिकारवशतो विचित्रा विकृताभिधाः।
यथा याति नरः कर्मवशाद्याति तथा मनः॥ (३।९६।४४)
यथैव पुरुषः स्नानादानादिकाः क्रियाः।
कुर्वंस्तत्कर्तृवैचित्र्यमेति तद्वदिदं मनः॥ (३।९६।५५)

विचित्रकार्यवशतो नामभेदेन कर्तृता ।
मनः सम्प्रोच्यते जीववासनाकर्मनामभिः ॥ (३।९६।५६)

जैसे एक ही नट (नाटकका पात्र) अनेक रूप धारण कर लेता है वैसे ही भिन्न भिन्न कामोंको करते समय मन भी अनेक नाम और रूपोंको धारण कर लेता है। जैसे एक ही मनुष्य अनेक अधिकारों (पदों) पर कार्य करते हुए अनेक नाम और रूपोंको धारण करता है वैसे ही मन भी अनेक प्रकारके कार्य सम्पादन करते हुये अनेक नामरूपवाला होता रहता है। जैसे एक ही मनुष्य स्नान, दान, ग्रहण आदि अनेक क्रियाओंको करते समय विभिन्न प्रकारका हो जाता है वैसे मन भी भिन्न भिन्न प्रकारकी क्रियाओंको करते समय विभिन्नताको प्राप्त होता है। नानाप्रकारकी क्रियायें करते समय मनके अनेक नाम होते हैं—कभी यह जीव कहलाता है, कभी वासना, और कभी कर्म इत्यादि। नीचे मनके कुछ नाम और रूपों का वर्णन है :—

(अ) मन :—

गतेव कलङ्कत्वं कदाचित्कल्पनात्मकम् ।
उन्मेषरूपिणी नाना तदैव हि मनः स्थिता ॥ (५।९६।१७)

परम चित् (शुद्ध चेतन आत्मा) जब स्पन्दनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूपको धारण करके विषय (दृश्य) से गर्भित होती है तब वह मन होती है।

(आ) बुद्धि :—

भावनानुसंधानं यदा निश्चित्य संस्थिता ।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिरियत्ताग्रहणक्षमा ॥ (३।९६।१८)
इदमित्थमितिस्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ (६/२।१८८।५)

वही परम चित् जब एक परिमित रूपको धारण करके विषयोंकी भावना करके यह अमुक विषय है वह अमुक—इस निश्चयको धारण करलेती है तब बुद्धि कहलाती है। यह पदार्थ इस प्रकारका है—इस स्पष्टज्ञानके कारण इसका नाम बुद्धि है।

(इ) अहङ्कार :—

अस्मीतिप्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते । (६/२।१८८।६)

यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वयम् ।
अहंकाराभिमानेन प्रोच्यते भवबन्धनी ॥ (३।९६।१९)

"मैं हूँ" इस भावनाके होनेपर वह अहङ्कार कहलाती है। जब कि वह मिथ्या अभिमानके कारण अपने आप ही अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाकर संसारके वन्धनमें पड़ जाती है तो उसका नाम अहङ्कार होता है।

(ई) चित्त :—

इदं त्यक्त्वेदमायाति बालवत्पेलवा यदि ।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते ॥ (३।९६।२०)

जब वह बालककी नाईं चञ्चल कलना बिना विचारे ही एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयका चिन्तन करती रहती है तब वह चित्त कहलाती है।

(उ) कर्म :—

यदा स्पन्दैकधर्मत्वात्कर्तुर्या शून्यशंसिनी ।
आधावति स्पन्दफलं तदा कर्मेत्युदाहृता ॥ (३।९६।२१)

स्पन्दन (क्रिया) ही जिसका एक स्वभाव है ऐसी वह कलना अपने भीतर शून्यताका अनुभव करके जब क्रियाद्वारा प्राप्त होनेवाले किसी फलकी ओर दौड़ती है तब वह कर्म कहलाती है।

(ऊ) कल्पना :—

काकतालीययोगेन त्यक्त्वैकघननिश्चयम् ।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ॥ (३।९६।२२)

जब वह कलना अकारण ही (अर्थात् अकस्मात्) अपने पूर्व प्राप्त विषयकी उपेक्षा करके अप्राप्त इच्छित विषयोंकी कल्पना करने लगती है तब उसका नाम कल्पना होता है।

(ए) स्मृति :—

पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चयैः ।
यदैवेहां विधत्तेऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृता ॥ (३।९६।२४)

पूर्व कालमें किसी वस्तुका अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो किन्तु उसका निश्चयके साथ जब ऐसा ध्यान आये कि यह वस्तु पूर्व कालमें अनुभूत हो चुकी है तब मन स्मृति कहलाता है।

(ऐ) वासना :—

यदा पदार्थशक्तीनां संभुक्तानामिवाम्बरे ।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ॥ (६।९६।२४)
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ (५।९१।२९)

जब किसी ऐसे पदार्थकी इच्छा, जिसका भोग अभीतक वास्तवमें नहीं, केवल मन ही में हुआ हो, इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसके सामने और किसी वस्तुकी इच्छा न रहे, तब मन वासना कहलाता है। आगे पीछेका विचार छोड़कर जब किसी वस्तुको प्राप्त करनेकी दृढ़ भावना होती है उसको वासना कहते हैं।

(ओ) अविद्या :—

अस्त्यात्मतत्त्वं विमलं द्वितीया दृष्टिरङ्किता ।
जाता ह्यविद्यमानैव तदाविद्येति कथ्यते ॥ (३।९६।२५)
बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः । (६/२।१८८।८)
अविद्येवमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी ॥ (६/२।१६०।१३)

वास्तवमें शुद्ध आतमतत्त्व ही एक पदार्थ है। जब वस्तुतः विद्यमान न होते हुए भी आत्मासे अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्वका भान होने लगे तब इसका नाम अविद्या है। इसको अविद्या इसलिये कहते हैं कि ज्ञान होनेपर यह विद्यमान नहीं रहती (अर्थात् ज्ञान हो जानेपर आतमतत्त्वके अतिरिक्त और किसी वस्तुका भान नहीं होता)। यह अविद्या अनन्त प्रकारकी है और नानाप्रकारके भ्रमोंकी उत्पादक है।

(औ) मल :—

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्प्यते ॥ (३।९६।२६)

नानाप्रकारकी मिथ्या कल्पनाओं द्वारा परमपदको भुलाकर आत्माकी हानि करानेके कारण इसका नाम मल होता है।

(अं) माया :—

सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वाऽसत्त्वमञ्जसा ।
सत्तासत्ताविकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ॥ (३।९६।२९)

सत्ताको असत्ता अथवा सदसत्ता (सत् और असत् दोनों) बनानेकी सामर्थ्य होनेसे इसको माया कहते हैं ।

(अ:) प्रकृति :—

सर्वस्य दृश्यजालस्य परमात्मन्यलक्षिते ।
प्रकृतत्वे भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते ॥ (३।९६।२८)

परमात्माका ज्ञान न होने पर, इस दृश्य संसारके सब भावोंका कारण होनेके कारण यह प्रकृति कहलाती है ।

(क) ब्रह्मा इत्यादि :—

स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
कैश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति ॥ (६।१८८।१७)
कैश्चित्सनातनाभिख्यः कैश्चिन्नारायणाभिधः ।
कश्चिदीश इति ख्यातः कश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥ (६।१८८।१८)

सृष्टि करनेमें लगा हुआ मन कभी ब्रह्मा कहलाता है, कभी विराट्, कभी सनातन, कभी नारायण, कभी ईश्वर और कभी प्रजापतिः ।

(ख) जीव :—

जीवनाच्चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते । (६।१८८।४)
चेतनं राम संसारे जीव एष पशुः स्मृतः ॥ (३।७।७)

जीने और चेतन होनेके कारण ही यह जीव कहलाता है। संसारमें चेतन पदार्थका नाम जीव और पशु है ।

(ग) आतिवाहिक देह :—

एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
आतिवाहिकदेहोत्त्या समुदाह्रियते बुधैः ॥ (६।१८८।९)

यह सादि और सान्त, आकार रहित और अनामय कलना आतिवाहिक देह कहलाती है ।

(घ) इन्द्रिय :—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा विमृश्य च ।
इन्द्रमानन्दयति तेनेन्द्रियमिति स्मृतम् ॥ (३।९६।२७)

इसको इन्द्रिय इस लिये कहते हैं कि सुनकर, छूकर, देखकर,

भोग कर, सूंघकर और विचार कर यह आत्माको, जो कि इस शरीरका इन्द्र (राजा) है, आनन्द देता है।

(ङ) पुर्यष्टक :—

प्रौढसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम्। (६/१।१८८।७)

पक्के संकल्पोंसे भरपूर होनेके कारण इसको पुर्यष्टक कहते हैं।

(च) देह, पदार्थ आदि :—

देहभावनया देहो घटभावनया घटः। (६/१।५०।१७)

शरीरकी भावना होनेपर यह शरीर बन जाता है और घट आदि पदार्थों की भावनासे यह घट आदि पदार्थ हो जाता है।

(छ) इस विषयमें योगवासिष्ठका अन्य दर्शनोंसे मतभेद :—

चितेश्चेत्यानुपातिन्या गतायाः सकलङ्कताम्।
प्रस्फुरद्रूपधर्मिण्या एताः पर्यायवृत्तयः॥ (३।९६।३१)
अहंकारमनोबुद्धिदृष्टयः सृष्टिकल्पनाः।
एकरूपतया प्रोक्ता या मया रघुनन्दन॥ (३।९६।३८)
नैयायिकैरितरथा तादृशैः परिकल्पिताः।
अन्यथा कल्पिताः सांख्यैश्चार्वाकैरपि चान्यथा॥ (३।९६।४९)
जैमिनीयैश्चार्हतैश्च बौद्धैर्वैशेषिकैस्तथा।
अन्यैरपि विचित्रैस्तैः पाञ्चरात्रादिभिस्तथा॥ (३।९६।५०)

ऊपर वर्णन किये हुये ये सब—मन, बुद्धि, अहंकार आदि—स्पन्दयुक्त कलङ्कको प्राप्त, दृश्यकी ओर प्रवृत्त चिति (आत्मा) के अनेक नाम हैं। यहां पर जो ये सब नानाप्रकारकी कल्पनाएँ—अहंकार, मन, बुद्धि आदि—एक ही वस्तुके नानरूप बतलाए गये हैं, वे न्याय, सांख्य, चार्वाक, मीमांसा, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, पाञ्चरात्र आदि दूसरे दर्शनोंमें भिन्न भिन्न रीतिसे वर्णन किये गये हैं।

(४) जीव अहंभाव को कैसे धारण करता है :—

जीवोऽहंकृतिमादत्ते संकल्पकलयेद्धया।
स्वयैतया घनतया नीलिमानमिवाम्बरम्॥ (३।६४।१४)
तदेव घनसंवित्त्या यात्यहन्तामनुक्रमात्।
वहन्यणुः स्वेन्धनाधिक्यात्स्वां प्रकाशतामिव॥ (३।६४।१२)

अहंभावो हि दिक्कालव्यवच्छेदी कृताकृतिः ।
स्वयं संकल्पवशतो वातस्पन्द इव स्फुरन् ॥ (३।६४।१५)

संकल्प शक्तिके जागृत हो जानेपर संकल्पकी स्थूलताके कारण जीव इस प्रकार अहंभावको धारण कर लेता है जैसे कि आकाश नीलिमाको। जैसे अग्निका छोटा सा कण इन्धनकी अधिकता होनेपर विशाल प्रकाशको धारण कर लेता है वैसे ही जीव भी स्थूल संवेदनके कारण अहंभावको धारण कर लेता है। जिस प्रकार वायु अपने भीतरकी शक्तिसे ही संचालित होने लगता है वैसे ही अपने ही संकल्पके कारण जीव अहंभावको, जो कि आकारवान् होकर आत्माको देश और कालमें परिमित कर देता है, धारण कर लेता है।

(५) जीव शरीर कैसे बनता है:—

जीवाकाशस्त्विमं देहं यथा विन्दति तच्छृणु ।
जीवाकाशः स्वयमेवासौ तस्मिंस्तु परमेश्वरे ॥ (३।१३।१८)
अणुतेजःकणोऽस्मीति स्वयं चेतति चित्तया ।
यत्तदेवोच्छूनमिव भावयत्यात्मनाम्बरे ॥ (३।१३।१९)
असदेव सदाकारं संकल्पेन्दुर्यथा न सन् ।
तमेव भावयन् द्रष्टृदृश्यरूपतया स्थितः ॥ (३।१३।२०)
एक एव द्वितामेति स्वप्ने स्मृतिबोधवत् ।
किञ्चित्स्थौल्यमिवादत्ते ततस्तारकतां विदन् ॥ (३।१३।२१)
यथाभावितमात्रार्थभाविताद्विश्वरूपतः ।
स एव स्वात्मा सततोऽप्ययं सोऽहमिति स्वयम् ॥ (३।१३।२२)
चित्तात्प्रत्ययमाधत्ते स्वप्ने स्वामिव पान्थताम् ।
तारकाकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा ॥ (३।१३।२३)
स्वप्नसंकल्पयोः संविद्धेस्येतज्जीवकोऽणुके ।
स्वरूपतारकान्तस्थो जीवोऽयं चेतति स्वयम् ॥ (३।१३।२६)
तदेतद्बुद्धिचित्तादिज्ञानसत्तादिरूपकम् ।
जीवाकाशः स्वतस्तत्र तारकाकाशकोशगम् ॥ (३।१३।२७)
प्रेक्षेऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रसरतीव खे ।
ततो रन्ध्रद्वेनैव भाविबाह्याभिधं पुनः ॥ (३।१३।२८)

येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति ।
येन स्पृशति सा वै त्वग्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ॥ (३।१३।२९)
येन जिघ्रति तद्घ्राणं स स्वमात्मनि पश्यति ।
तत्तस्य स्वदनं पश्चाद्रसना चोल्लसिष्यति ॥ (३।१३।३०)
स्पन्दते यत्स वायुश्चेष्टा कर्मेन्द्रियव्रजम् ।
रूपालोकमनस्कारजातमित्यपि भावयन् ॥ (३।१३।३१)
आतिवाहिकदेहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ॥ (३।१३।३२)
मनोबुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ (६/१।५१।५०)
आतिवाहिकदेहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ।
स्वकल्पनान्त आकारमण्डं संस्थं प्रपश्यति ॥ (३।१३।३४)

जीवाकाश (निराकार आत्मा) स्थूल देह भावको जिसप्रकार धारण करता है वह सुनो। परम ब्रह्ममें स्वयं ही इस प्रकारकी एक कल्पनाका उदय होता है कि मैं प्रकाशका एक केन्द्र हूँ। इस केन्द्रका नाम जीव है। अपनी भावना द्वारा वह केन्द्र दीर्घ आकारको धारण करने लगता है। कल्पनाके चन्द्रमाके समान वह सत्य न होता हुआ भी प्रतीत होता है। आकारकी भावनासे वह केन्द्र द्रष्टा और दृश्य रूपको धारण कर लेता है। जैसे मनुष्य स्वप्नमें अपनी ही मृत्युका अनुभव कर लेता है वैसे ही जीव केवल द्रष्टा होते हुए भी दृश्य भावको प्राप्त हो जाता है। एक ही जीव द्विरूपताको धारण करता है। अपने प्रकाश-केन्द्रमें स्थित होकर द्विरूपताको प्राप्त होकर वह जीव कुछ स्थूलताका अनुभव करने लगता है। जैसी जैसी वह भावना करता है वैसे वैसे ही दृश्य पदार्थ उसके चारों ओर उपस्थित हो जाते हैं। दीर्घकाल तक यह भावना करनेसे कि मैं कुछ हूँ उसमें अहम्भावका उदय हो जाता है। जैसे कि अपने चित्तकी कल्पनासे जीव स्वप्नमें अपने आपको मुसाफ़िरके रूपमें देखता है उसी प्रकार कल्पना द्वारा वह जीव अपनेको सूक्ष्म और भविष्यमें शरीर कहलानेवाले आकारमें अनुभव करता है। अपने आपको सूक्ष्म शरीरके रूपमें जीव इस प्रकार देखता है जैसे कि स्वप्न और सङ्कल्पमें। विभु आत्मा इस प्रकार अपने आप ही सूक्ष्मरूप धारण करके अपनी सत्ता, ज्ञान, बुद्धि और चित्त आदि अवस्थाओंका अनुभव करता है। देखनेकी भावनासे ज़ब वह आकाशमें गमन करता है तव पीछे आँखोंके रूपमें

परिणत होनेवाले दो रन्ध्रों (छेदों) का, जिनके द्वारा जीव देख सके, उदय होता है। इसी प्रकार जिस करण द्वारा वह छू सके वह त्वचा, जिसके द्वारा वह सुन सके वह कान, जिसके द्वारा वह सूँघ सके वह नाक, जिसके द्वारा वह वस्तुओंका स्वाद ले सके वह जिह्वा (जीभ) वन जाता है; इसी प्रकार स्पन्दन करनेके लिये प्राण और नानाप्रकारकी क्रियाओंको करनेके लिये कर्मेन्द्रियोंका उदय होता है। इस प्रकार विषय (रूप), विषय ज्ञान (आलोक) और विषयका प्रत्यय (मनस्कार) तीनों आत्माकी भावनासे ही उदय होते हैं। मन, बुद्धि, अहङ्कार और पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध) की तन्मात्राएँ—ये सब मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं। पुर्यष्टक ही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है। आतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा, जो कि सूक्षम रूपवाला है, अपनी कल्पनामें अपनेको स्थूल अण्डाकार देहमें स्थित अनुभव करने लगता है।

(६) जीवका बन्धन अपने आपका बनाया हुआ है :—

स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः॥ (४।४३।३)
स्वसङ्कल्पानुसन्धानात्पाशैरिव नयन्वपुः।
कष्टमस्मिन्स्वयम्बन्धमेत्यात्मा परितप्यते॥ (४।४५।३२)
स्वसङ्कल्पिततन्मात्रज्वालाभ्यन्तरवर्ति च।
परां विवशतामेति शृंखलाबद्धसिंहवत्॥ (४।४२।३४)
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम्।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम्॥ (४।४२।३१)

अपनी वासनाओंके द्वारा प्राप्त दशाके वशीभूत होनेके कारण जीव नानाप्रकारके बन्धनोंमें बन्धे हुए हैं। कितने खेदकी बात है कि अपने संकल्पोंके पीछे दौड़नेके कारण आत्मा अपने आपको बन्धनके पाशोंमें बांधकर दुःखी होता है। अपने ही संकल्पों द्वारा रचे हुए विषयोंकी अग्निमें पड़कर जीव ऐसा बेवस हो रहा है कि जैसे संकलोंसे बन्धाहुआ सिंह। नानाप्रकारकी शक्तियोंसे युक्त चित्त घनीभूत अहंभावको प्राप्त होकर अपनी इच्छासे ही इस

प्रकार बंधनको प्राप्त होता है, जैसे कि रेशमका कीड़ा अपने आप ही अपने बनाये हुए जालमें फंस जाता है।

(७) बीजनिर्णय :—

संसारका बीज क्या है? इसके उत्तरमें वसिष्ठ जी कहते हैं :—

अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम्।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि राघव॥ (५।९१।८)
भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम्।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम्॥ (५।९१।१०)
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना॥ (५।९१।१४)
आमोदपुष्पवत्तैलतिलवच्च व्यवस्थिते।
वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना॥ (५।९१।५३)
वासनाप्राणपवनस्पन्दयोरनयोर्द्वयोः। (५।९१।६३)
संवेद्यं बीजमित्युक्तं स्फुरतस्तौ यतस्ततः॥ (५।९१।६४)
यदा संकल्प्य संकल्प्य संवित्संविदते वपुः।
तदास्य जन्मजालस्य सैव गच्छति बीजताम्॥ (५।९१।८९)
अथास्याः संविदो राम सन्मात्रं बीजमुच्यते।
संविन्मात्रादुदेत्येषा प्राकाश्यमिव तेजसः॥ (५।९१।९८)
विशेषं संपरित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम्।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः॥ (५।९१।१०२)
सत्तासामान्यमात्रस्य या कोटिः कोविदेश्वर।
सैवास्य बीजतां याता तत एव प्रवर्त्तते॥ (५।९१।१०९)
सत्तासामान्यपर्यन्ते यत्तत्कलनयोज्झितम्।
पदमनाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते॥ (५।९१।११०)
तन्न किञ्चिच्च यत्तदस्तीव नास्ति च।
तत्तद्दृश्यमदृश्यं च तदस्मि न चास्मि च॥ (३।९१।१२०)

हे राघव संसाररूपी वृक्षका बीज यह शरीर है जिसके भीतर अंकुरकी नाईं शुभ और अशुभ अनेक क्रियायें बिना दिखलाई दिये होती रहती हैं। इस शरीरका बीज चित्त है जो कि अपनी इच्छाओंके अनुसार चलनेवाला, भाव और अभावकी दशाका उद्गम और दुःख-रूपी रत्नोंकी पिटारी है। वृत्तिरूपी लताको धारण करनेवाले चित्त-

रूपी वृक्षके दो वीज हैं—एक प्राणका स्पन्दन और दूसरी दृढ़ भावना। वासना और प्राणस्पन्दन दो अलग वस्तुयें नहीं हैं, दोनोंका इस प्रकार प्रस्पर सम्वन्ध है जैसे कि सुगन्ध और फूलका और तेल और तिलका। वासना विना प्राणस्पन्दन और प्राणस्पन्दन विना वासनाके नहीं रह सकती। वासना और प्राणस्पन्दन दोनोंका वीज विषय-ज्ञान है जिसके होनेपर ही इन दोनोंका उदय होता है। जव कि वार वार संकल्प करनेसे चितिमें शरीरका भान होने लगता है तो चिति ही इस जन्म-मरण रूपी विस्तारका वीज हो जाती है। चितिका वीज सत्तामात्र है क्योंकि सत्तासंवित्‌से चिति इस प्रकार उदय होती है जैसे कि अग्निसे चमक। सत्तामात्र उस अवस्थाका नाम है जिसका एक और अनन्त स्वरूप विना किसी विशेषण और संकल्पके स्थित रहता है। सत्ताका वीज वह अवस्था है जो केवल सत्तासामान्य है। इससे ही सत्ताका उदय होता है। सत्तासामान्यमें किसी प्रकारकी कोई कल्पना नहीं है; न उसका कोई आदि है और न अन्त। न उसका कोई बीज है न उसे किसी नामसे पुकार सकते हैं। न वह सत् है और न असत्, न वह दृश्य है और न अदृश्य, न अहंकारयुक्त और न अहंकाररहित।

यहाँपर यह सिद्धान्त है कि संसारमें जो कुछ भी दिखाई देता है उसका कारण रहित परमकारण परमब्रह्म है जिसका कोई नाम और आकार नहीं है; जो भाव और अभाव सवसे परे है। उसे यहां पर सत्तासामान्य कहा है। सत्तासामान्यसे सत्तामात्रका; सत्ता-मात्रसे चितिका; चितिसे विषय-संवेदनका, विषय-संवेदनसे वासना और क्रियाका; वासना और क्रियासे चित्तका; चित्तसे शरीरका; और शरीरसे संसारका उदय होता है। शरीर न हो तो संसारका अनुभव नहीं हो सकता।

(८) जीवोंकी संख्या अनन्त है :—

एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनयोहिता
ब्रह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः॥ (४।४३।१)
असंख्याताः पुरा जाता जायन्ते चापि वाद्य भोः।
उत्पतिष्यन्ति चैवाम्बुकणौघा इव निर्झरात्॥ (४।४३।२)

अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणि॥ (४।४३।४

इस प्रकार संसारकी भावनासे युक्त, चितिके रूपान्तर जीव कल्पित आकारवाले ब्रह्मासे लाखों और करोड़ोंकी संख्यामें अथवा असंख्य तादादमें, भूत, वर्त्तमान और भविष्यमें उत्पन्न होते हैं; जैसे कि झरनेसे जलके कण। जैसे जलके ऊपर सदा ही अनेक बुलबुले उठा करते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सब देश और कालमें अनन्त जीव उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं।

(६) जीवकी सात अवस्थायें :—

बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। (३।११७।११)
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुपुप्तकम्॥ (३।११७।१२)

जीवका मोह सात प्रकारका है :— बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् तथा सुपुप्ति।

(अ) बीजजाग्रत् :—

प्रथमे चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः। (३।११७।१३)
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम्।
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते॥ (३।११७।१४)

सृष्टिके आदिमें चितिका जो नाम रहित और निर्मल चिन्तन— जिसको भविष्यमें होनेवाले जीवादि नामोंसे पुकारा जा सकता है और जिसमें जाग्रत् अवस्थाका अनुभव बीजरूपसे स्थित होता है— उसे बीजजाग्रत् कहते हैं।

(आ) जाग्रत् :—

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम। (३।११७।१५)
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात्॥ (३।११७।१६)

परब्रह्मसे तुरन्त उत्पन्न हुए जीवका यह ज्ञान कि "यह मैं हूं" "यह मेरा है" जाग्रत् कहलाता है—इसमें पूर्व कालकी कोई स्मृति नहीं होती।

(इ) महाजाग्रत् :—

अयं सोहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः। (३।११७।१६)
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन्॥ (३।११७।१७)

पहिले जन्मोंमें उदय हुआ और दृढ़ताको प्राप्त हुआ यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है" महाजाग्रत् कहलाता है।

(ई) जाग्रत्स्वप्न :—

अरूढमथ वा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्। (३।११७।१७)
यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते॥ (३।११७।१८)
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः । (३।११७।१८)
अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं स्वप्नो अनेकविधो भवेत्॥ (३।११७।१९)

जाग्रत् अवस्थाका मनोराज्य (भ्रम) चाहे वह दृढ़ हो गया हो अथवा न हुआ हो—जब कि उसमें तन्मयता हो जावे अर्थात् जब जीव उसमें इतना मग्न हो जावे कि उसे कल्पनाके बजाय सत्य समझने लगे—जाग्रत्-स्वप्न कहलाता है। वह कई प्रकारका होता है—जैसे एक चन्द्रमाकी जगह दोका भान; सीपके स्थानपर चान्दीका भान, रेगिस्तानमें मृगतृष्णाकी नदीका भान आदि।

प्रचलित भाषामें इस प्रकारके ज्ञानको भ्रम कहते हैं। इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत् दशामें होता है इसलिये इसका नाम जाग्रत्स्वप्न है।

(उ) स्वप्न :—

अल्पकालं मया दृष्टमेवं नो सत्यमित्यपि। (३।११७।१९)
निद्राकालानुभूतेऽर्थे निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः।
स स्वप्नः कथितस्तस्य महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि॥ (३।११७।२०)

महाजाग्रत् अवस्थाके भीतर निद्राके समय अनुभव किये विषयके प्रति जागने पर जब इस प्रकारका भाव हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समयके लिये ही हुआ था—उस ज्ञानका नाम स्वप्न है।

(ऊ) स्वप्नजाग्रत् :—

चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद्वपुः । (३।११७।२०)
स्वप्नो जाग्रत्तया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः॥ (३।११७।२१)
अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत्॥ (३।११७।२२)

जब अधिक समयतक जाग्रत् अवस्थाके स्थूल विषयोंका और स्थूल देहका अनुभव न हो तो स्वप्न ही जाग्रत्के समान होकर महा-

जाग्रत्सा मालूम पड़ने लगता है। स्थूल शरीरके मौजूद रहते हुए अथवा न रहते हुए जब इस प्रकारका अनुभव होता है उसे स्वप्न जाग्रत् कहते हैं।

(ऊ) सुषुप्ति :—

षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः। (३।११७।२२)
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः॥ (३।११७।२३)
एते तस्यामवस्थायां तृणलोष्टशिलादयः। (३।११७।२३)
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणुप्रमाणिनः॥ (३।११७।२४)

पूर्वोक्त ६ अवस्थाओंसे रहित—भविष्यमें दुःख देनेवाली वासनाओंसे युक्त—जीवकी अचेतन (जड़) स्थितिका नाम सुषुप्ति है। उस अवस्थामें संसारके तृण, मिट्टी, पत्थर आदि सब ही पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे वर्त्तमान रहते हैं।

(१०) जीवोंके सात प्रकार :—

ते स्वप्नजागराः केचित्केचित्संल्पजागराः।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिरजाग्रत्स्थिताः परे॥ (६/२।५०।२)
घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः॥ (६/२।५०।३)

जीव सात प्रकारके होते हैं :—

स्वप्नजागर, संकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, घनजागर, जाग्रत्स्वप्न, और क्षीणजागर।

(अ) स्वप्नजागर :—

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः॥ (६/२।५०।५)
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत्।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीवकाः स्वप्नजागराः॥ (६/२।५०।६)
क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा वयम्॥ (६/२।५०।७)
तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः॥ (६/२।५०।८)

जब कि ऐसा हो कि किसी पूर्व तथा अन्य कल्पके जगत्में रहने

वाले जीव सोते हुए स्वप्न देखें और उनका स्वप्न इस जगत्के रूपमें स्थित हो जाए तो वे जीव स्वप्नजागर कहलाते हैं (अर्थात् वे जीव जिनका स्वप्न दूसरोंके लिये जाग्रत् जगत् है)। इस प्रकार यदि कभी और कहीं सोते हुये जीवोंका स्वप्न हमारे लिये जाग्रत् अवस्थाका विषय हो और हम उनके स्वप्नके व्यक्ति हों, तो उन जीवोंको जिनका स्वप्न संसार हमारे लिये जाग्रत्संसार बन जाता है स्वप्नजागर जीव कहते हैं।

(आ) संकल्पजागर :—

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
अनिद्रालव एवान्तः संकल्पैकपराः स्थिताः॥ (६/२।५०।१४)
ध्यानाद्विलुठिता वाथ मनोराज्यवशानुगाः।
सङ्कल्पदार्ढ्यमापन्ना गलिताग्रानुभूतयः॥ (६/२।५०।१५)
संकल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयांशतः।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि संकल्पजागराः॥ (६/२।५०।१७)

जब कि किसी पूर्व कल्प अथवा अन्य जगत्में रहनेवाले जीव बिना सोये, ध्यानसे च्युत होकर, संकल्पमें रत और मनोराज्यमें निमग्न हो जाएँ और इतने मग्न हो जाएँ कि उनको अपने जाग्रत्-संसारका कुछ भी ज्ञान न रहे, और उनका संकल्प ही अंशतः या पूर्णतया जाग्रत्भावको धारण कर ले, और उनकी बाहरकी सब चेष्टायें शान्त हो जायेंगी, तो वे संकल्प जागर कहलाते हैं।

(इ) केवलजागर :—

प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः।
प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पत्य विकासिनः॥ (६/२।५०।१९)

बृद्धिशील ब्रह्मासे उदय होनेपर प्रथम ही जन्मवाले जीव जो आगे विकासको प्राप्त होंगे—केवल जागर कहलाते हैं।

(ई) चिरजागर :—

भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः।
कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः॥ (६/२।५०।२०)

वे ही (केवल जागर) जीव कार्य कारणके नियमके नुसार दूसरे जन्मोंमें प्राप्त होकर प्रौढ होनेपर चिरजागर कहलाते हैं।

(उ) घनजागरा :—

त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्तु घनतां गताः ॥ (६/२।५०।२१)

चिरजागर जीव पाप कर्मोंके वश होकर स्थावरादि जड़ अवस्थाको प्राप्त होकर स्थूल दशामें स्थित होनेपर घनजागर कहलाते हैं।

(ऊ) जाग्रत्स्वप्न :—

येतु शास्त्रार्थसत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ (६/२।५०।२२)

जो जीव शास्त्र तथा सज्जन-सङ्ग द्वारा बोध प्राप्त कर लेनेपर जाग्रत् दशाको स्वप्नके समान समझने लगते हैं वे जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं।

(ए) क्षीणजागर :—

येतु संप्राप्तसंबोधा विश्रान्ता परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ (६/२।५०।२३)

जो जीव ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर परम पदमें शान्तिको प्राप्त कर लेते हैं, जिनके लिये जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंका अनुभव क्षीण हो चुका है और जो चौथी भूमिका (तुर्यावस्था) में स्थित रहते हैं वे क्षीणजागर कहलाते हैं।

(११) जीवोंकी पन्द्रह जातियाँ :—

सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणोंके और शुभाशुभ कर्मोंके आधारपर संसारके सब जीवोंको वसिष्ठजीने १५ जातियोंमें विभक्त किया है। वे ये हैं :—

(१) इदंप्रथमता :—

इदंप्रथमतोत्पन्नो योऽस्मिन्नेव हि जन्मनि ।
इदंप्रथमतानाम्नी शुभाभ्याससमुद्भवा ॥ (३।९४।३)
शुभालोकाश्रया सा च शुभकार्यानुबन्धिनी । (३।९४।३)

जो जीव उत्पन्न होते ही प्रथम जन्ममें ही शुभ कामोंके करनेके कारण और शुभ अभ्यासके द्वारा उत्तम लोकोंमें जानेके योग्य हो जाते हैं उनकी जातिका नाम "इदंप्रथमता" है।

(२) गुणपीवरी :—

सा चेद्विचित्रसंसारवासना व्यवहारिणी। (३।९४।३)
भवैः कतिपयैर्मोक्षमित्युक्ता गुणपीवरी ॥ (३।९४।४)

यदि वह (इदंप्रथमता) जाति विचित्र संसारके विषयोंकी वासनाओंमें फँस जानेपर भी कुछ जन्मोंके पश्चात् मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य हो तो उसे गुणपीवरी (गुणोंसे भरी हुई स्थूल) कहते हैं।

(३) ससत्वा :—

तादृक्फलप्रदानैककार्याकार्यानुमानदा । (३।९४।४)
तेन राम ससत्त्वेति प्रोच्यते सा कृतात्मभिः ॥ (३।९४।५)

जो जाति शुभ अशुभ कर्मोंको समझकर मोक्षदायक शुभ कर्मोंका आश्रय लेती है वह आत्मानुभवी पुरुषों द्वारा ससत्त्वा (सत्त्व गुण सम्पन्न) कहलाती है।

(४) अधमसत्त्वा :—

अथ चेच्चित्रसंसारवासनाव्यवहारिणी। (३।९४।५)
अत्यन्तकलुषा जन्मसहस्रैर्ज्ञानभागिनी ॥ (३।९४।५)
तादृक्फलप्रदानैकधर्माधर्मानुमानदा ।
असावधमसत्त्वेति तेन साधुभिरुच्यते ॥ (३।९४।५)

जो जाति संसारके अनेक विषयोंकी वासनाके अनुसार कार्य करनेपर बहुत मलीन हो जाती है और हज़ारों जन्म बाद जिसमें धर्म और अधर्मके पहिचाननेकी बुद्धि होकर मोक्षदायक धर्मपर चलनेकी प्रवृत्ति होती है उसे साधुलोग अधमसत्त्वा कहते हैं।

(५) अत्यन्त तामसी :—

सैव संख्यातिगानन्तजन्मवृन्दादनन्तरम्। (३।९४।७)
संदिग्धमोक्षा यदि तत्प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ (३।९४।८)

यदि किसी जातिके लिये अनगिन और अनन्त जन्मोंके पश्चात् भी मोक्ष पाना संदिग्ध (संदेहयुक्त) हो तो उसे अत्यन्त तामसी कहते हैं।

(६) राजसी :—

अनद्यतनजन्मा तु जातिस्तादृशकारिणी। (३।९४।८)
योत्पत्तिर्मध्यमा पुंसो राम द्वित्रिभवनान्तरा ॥ (३।९४।९)
तादृक्कार्या तु सा लोके राजसी राजसत्तम ॥ (३।९४।९)

राजसी वह जाति कहलाती है जो मध्यम प्रकारकी हो और जो दो तीन जन्मोंके अनन्तर ही राजस प्रकारके कर्म करना आरम्भ करदे।

(७) राजससात्त्विकी :—

अविप्रकृष्टजन्मापि सोच्यते कृतबुद्धिभिः।
सा हि तन्मृतिमात्रेण मोक्षयोग्या मुमुक्षुभिः॥ (३।९४।१०)
तादृक्कार्यानुमानेन प्रोक्ता राजससात्विकी॥ (३।९४।११)

राजससात्विकी वह जाति कहलाती है जो यद्यपि जन्मसे शुद्ध न होते हुए भी जीवनमें ऐसे काम करे कि शरीरकी मृत्युके पश्चात् उसे मोक्ष मिल सके। उसके शुभ कामोंके कारण ही उसे राजस सात्त्विकी कहते हैं।

(८) राजसराजसी :—

सैव चेदितरैरल्पैर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी। (३।९४।११)
तादृशी ही सा तज्ज्ञैः प्रोक्ता राजसराजसी॥ (३।९४।१२)

ज्ञानी लोग उस जातिको राजसराजसी कहते हैं जिसका जन्म अशुभ स्थितिमें हो किन्तु उसके काम ऐसे हों कि थोड़ेसे जन्मके पीछे उसे मोक्ष प्राप्त हो सके।

(९) राजसतामसी :—

सैव जन्मशतैर्मोक्षभागिनी चेच्चिरैषिणी। (३।९४।१२)
तदुक्ता तादृगारम्भा सद्भी राजतामससी॥ (३।९४।१३)

जिस जातिका जन्म अशुभ स्थितिमें हुआ हो और उसकी इच्छायें इतनी अधिक हों कि उसे सैकड़ों जन्मोंके पीछे मोक्ष-प्राप्तिकी संभावना हो उसको सन्त लोग राजसतामसी कहते हैं।

(१०) राजस अत्यन्ततामसी :—

सैव संदिग्धमोक्षा चेत्सहस्रैरपि जन्मनाम्। (३।९४।१३)
तदुक्ता तादृशारम्भा राजसात्यन्ततामसी॥ (३।९४।१४)

जिस जातिका जन्म शुभ स्थितिमें न हुआ हो और उसके कर्म भी ऐसे हों कि उसके लिये हज़ारों जन्म तक मोक्षकी सम्भावना न हो उसे राजस अत्यन्त तामसी कहते हैं।

(११) तामसी :—

भुक्तजन्मसहस्रा तु योत्पत्तिर्ब्रह्मणो नृणाम् ।
चिरमोक्षा हि कथिता तामसी सा महर्षिभिः ॥ (३।९४।१५)

ब्रह्मासे उत्पन्न हुए हज़ारों जन्म बीत गये हों जिस जातिके और जिसको अभी मोक्ष प्राप्त करनेमें भी बहुत समय लगे, उस जीव जातिको ऋषि लोग तामसी कहते हैं ।

(१२) तामससत्त्वा :—

तज्जन्मनैव मोक्षस्य भागिनी चेत्तदुच्यते । (३।९४।१५)
तज्ज्ञैस्तामससत्त्वेति तादृशारम्भशालिनी ॥ (३।९४।१६)

जन्म लेते ही यदि कोई जाति ऐसे काम करने लगे कि वह मोक्ष प्राप्त करने योग्य हो जावे तो उसे तामससत्त्वा कहते हैं ।

(१३) तमोराजसी :—

भवैः कतिपयैर्मोक्षभागिनी चेत्तदुच्यते । (३।९४।१६)
तमोराजसरूपेति तादृशैर्गुणबृंहितैः ॥ (३।९४।१७)

जिस जातिके ऐसे गुण हों कि वह कुछ जन्मके पीछे मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य हो उसे तमोराजसी कहते हैं ।

(१४) तामसतामसी :—

पूर्वजन्मसहस्राढ्या पुरोजन्मशतैरपि । (३।९४।१७)
मोक्षयोग्या ततः प्रोक्ता तज्ज्ञैस्तामसतामसी ॥ (३।९४।१८)

जिस जातिके हज़ारों जन्म पहिले हो चुके हैं और अभी सैकड़ों और होकर जिसे मोक्षका अधिकार होगा, उसे ज्ञानी लोग तामस-तामसी कहते हैं ।

(१५) अत्यन्त तामसी :—

पूर्वं तु जन्मलक्षाढ्या जन्मलक्षैः पुरोऽपि चेत् । (३।९४।१८)
संदिग्धमोक्षा तदसौ प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ (३।९४।१९)

जिस जातिके लाखों जन्म पहिले हो चुके हों और लाखों होने-पर भी जिसके मोक्ष प्राप्त करनेमें सन्देह हो उसे यत्यन्त तामसी कहते हैं ।

(१२) सब जीव ब्रह्मासे उत्पन्न होते हैं:—

वसिष्ठजीके मतमें जीव अनादि और अनन्त नहीं हैं । उनकी

उत्पत्ति और लय दोनों ही होते हैं। जीवोंका उदय ब्रह्मासे, जो कि परम ब्रह्मका सृष्टिकारक आकार है, होता है। ब्रह्मासे जीवोंका उद्गम कैसे होता है, उसका योगवासिष्ठमें बहुत सुन्दर और साहित्यिक वर्णन है। उसका दिग्दर्शन मात्र हम यहाँ कराते हैं:—

सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः। (३।९४।१९)
किञ्चित्प्रचलिता भोगात्पयोराशेरिवोर्मयः॥ (३।९४।२०)
स्वतेजःस्पन्दिता भोगाद्दीपादिव मरीचयः। (३।९४।२१)
स्वमरीचिवलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव॥ (३।९४।२२)
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रविम्वादिवांशवः। (३।९४।२३)
यथा ।वटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः॥ (३।९४।२४)
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव। (३।९४।२५)
निर्झरादमलोद्योतात्पयसामिव विन्दवः॥ (३।९४।२६)
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा। (३।९४।२७)
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा॥ (३।९४।२८)
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः। (३।९४।२९)
शीतरश्मेरिव ज्योत्स्ना स्वालोक इव तेजसः॥ (३।९४।३०)
सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः। (३।९४।२५)

सब जीवोंकी उत्पत्ति ब्रह्मासे इस प्रकार होती है जैसे कि हिलते हुए जलसे लहरोंकी; दीपककी रोशनीसे उसकी किरणोंकी; जलती हुई आगकी लटासे चिनगारियोंकी; चन्द्रमाके बिम्बसे मन्दारकी मञ्जरीके समान किरणोंकी; वृक्षसे उसकी चित्रविचित्र शोभाकी; सोनेसे कड़े, अङ्गद और केयूरादि गहनोंकी; साफ़ और चमकदार झरनेसे जलकणोंकी; आकाशसे घटाकाश, थालीआकाश और रन्ध्राकाश आदि छोटे छोटे आकाशोंकी; जलसे भँवरों, लहरों, बून्दों और बौछारोंकी; सूर्यकी प्रभासे मृगतृष्णाकी नदियोंकी; चन्द्रमासे चान्दनीकी और रोशनीसे उसकी चमककी।

(१३) सब जीवोंको उत्पत्ति और लय एक ही नियम से होते हैं :—

यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा। (३।६७।६९)
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक्संवेदनात्क्षयः॥ (३।६७।६८)

जिस प्रकार ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार कीड़ेकी होती

है; और ब्रह्मासे लेकर चींटी तक सब जीवोंका लय केवल सद्ज्ञान द्वारा ही होता है।

(१४) संसारके सब पदार्थोंके भीतर मन है :—

एतच्चित्तशरीरत्वं विद्धि सर्वंगतोदयम्। (३।४०।२०)
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।
तथान्तःसंस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना॥ (६/१।१०।१९)
चिच्छक्तिर्वासना बीजरूपिणी स्वापधर्मिणी।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु॥ (६/१।१०।२३)
बीजेषूल्लासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु।
द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च॥ (६/१।१०।२४)
प्राणीवीर्यरसान्तस्था संविज्जङ्गममाततम्।
तनोति लतिकान्तस्थो रसः पुष्पफलं यथा॥ (६/२।२८।१८)

संसारकी सब ही वस्तुओंके भीतर चित्त (मन) वर्तमान है। जड़ पदार्थोंके भीतर भी वासना ऐसे मौजूद है जैसे कि बीजके भीतर पुष्प आदि और मिट्टीमें घड़ा। स्थावर (जड़) पदार्थोंके भीतर भी वासनाओंकी बीजरूपी चित्-शक्ति सोती हुई अवस्थामें उनके रसके रूपमें सदा वर्तमान रहती है। यह शक्ति बीजोंमें उल्लासके रूपमें, जड़ पदार्थोंमें जड़ताके रूपमें, द्रव्योंमें द्रव्यभावसे और कड़ी वस्तुओंमें काठिन्यके रूपमें प्रगट होती है। जिस प्रकार लताके भीतर रहनेवाला रस, फूल और फलके आकारमें विकसित होता है, उसी प्रकार प्राणियोंके वीर्यके रसके भीतर वास करती हुई यह चिति सब चेतन वस्तुओंका विकास करती है।

१०—मनकी अद्भुत शक्तियाँ

ऊपर यह बतालाया जा चुका है कि मन सर्वशक्तिमय, सर्वगत, और अनन्त परमब्रह्मका ही एक कल्पनात्मक आकार है। मनका ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है; मन और ब्रह्म दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं। ब्रह्म ही मनका आकार धारण करता है। इसलिये मनमें भी ब्रह्मकी नाईं अनन्त और अपार शक्तियाँ हैं। यहाँपर योगवासिष्ठके अनुसार मनकी अनेक प्रकारकी शक्तियोंका उल्लेख किया जाता है।

(१) मन सर्वशक्तिसम्पन्न है :—

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः। (३।९१।४)
स्वरूपं सर्वकर्तृत्वं च शक्तत्वं मनसो मुने ॥१॥ (३।९१।१६)
मनो यदनुसंधत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्। (३।९२।१८)
यथैतद्भावयेत्स्वान्तं तथैव भवति क्षणात् ॥२॥ (३।९१।५२)
प्रतिभासमुपायाति यद्यदस्य हि चेतसः।
तत्तत्प्रकटतामेति स्थैर्यं सफलतामपि ॥३॥ (३।९१।१७)

मन जगत्के रचनेवाला है, मन ही स्वयं पुरुष है। मनमें सब प्रकारकी शक्तियाँ हैं और मन सब कुछ कर सकता है। मन जिस वस्तुके प्राप्त करनेका इरादा कर लेता है उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। मन अपने भीतर जैसी भावना करता है क्षण भरमें वैसा ही हो जाता है। जो कल्पना चित्तके अन्दर उदय होती है वही बाह्य जगत्में स्थिर और फलयुक्त होकर प्रकट होती है।

(२) मनमें जगत्को रचनेकी शक्ति है :—

तत्संकल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत्।
संकल्पयति संकल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ (६।११४।१७)
विश्वबीजमहंत्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशादिजगजठरपादपः ॥ (६।७।११)
चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ (६।१२९।१)

अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रियः ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नविभ्रमभूमयः ॥ (३।११०।४६)
कल्पं क्षणीकरोति क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनस्तदायत्तमतो देशकालक्रमं विदुः ॥ (३।१०३।१४)

मनका स्वभाव संकल्प है। जैसे जगत्‌की मन कल्पना करता है संकल्प द्वारा वैसा ही जगत् निर्मित हो जाता है। अहंभाव (मन) को ही जगत्‌का बीज समझना चाहिये। इस बीजसे ही पहाड़, समुद्र, पृथ्वी और नदियोंवाले जगत्-रूपी वृक्षकी उत्पत्ति होती है। चित्त ही जगत्‌का उत्पादक है। वह जैसा जैसा संकल्प करता है उसीके अनुसार—सत्, असत् अथवा सदसत्—जगत्‌की उत्पत्ति होती रहती है। जाग्रत्, स्वप्न और भ्रम आदि सब अवस्थाएँ इस प्रकार मनके रूपान्तर हैं जैसे कि पत्ते, बेल, फूल, फल आदि अङ्कुरके रूपान्तर होते हैं। देश और कालका विस्तार और क्रम भी मनके ही आधीन हैं। मन ही कल्पको क्षण बना देता है और क्षणको कल्प।

(२) मन जगत्‌की रचनामें पूर्णतया स्वतंत्र है :—

तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति देहकम् ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्विततेन वितन्यते ॥ (३।४।७९)

मन अपने आप ही स्वतंत्रतापूर्वक शरीरकी रचना करता है। देहभावको धारण करके वह जगत्‌रूपी इन्द्रजालकी रचना करता है।

(४) प्रत्येक मनमें इस प्रकारकी शक्ति है :—

प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिकम् ।
पृथक्प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः ॥ (३।४०।२९)

प्रत्येक चित्तमें इस प्रकारकी जगत्‌के उत्पादन करनेकी शक्ति है। प्रत्येक चित्तमें जगत्‌रूपी भ्रमका उदय पृथक् पृथक् होता है।

(५) जीवमें सब कुछ प्राप्त करनेकी अनन्त शक्ति है :—

सर्वं सम्पादयत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् । (३।४५।१२)
प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥ (३।४५।१३)
जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति तत्फलदा नित्यं तस्य तस्य तथा तथा ॥ (३।४५।१४)

यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयत्नं चिरम् ।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥ (३।४५।१८)
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत् ॥ (३।४५।१९)
स्वसंविद्यत्नादन्यन्न किञ्चित्कदाचन ।
फलं ददाति तेनाशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (३।४५।२०)
स्वया वासनया लोको यद्यत्कर्म करोति यः ।
स तथैव तदाप्नोति नेतरस्येह कर्तृता ॥ (४।१३।११)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥ (३।९२।८)

जीव जो कुछ चाहता है वह सब अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। प्रत्येक जीवमें चित्-शक्ति (आत्माकी अनन्त और अपार शक्ति) वर्त्तमान है। जीवमें जिस जिस प्रकारकी शक्तिका उदय होता है उसी उसी प्रकारका फल उसको प्राप्त होता है। जीव जैसा प्रयत्न करता है यथा समय उसका फल मिलता रहता है। कभी तपके रूपमें, कभी देवताके रूपमें, स्वयं आत्मा ही आत्माकी इच्छायें अकस्मात् पूरी कर देता है। अपने ही प्रयत्नके सिवाय कभी और कोई हमको सिद्धि देनेवाला नहीं है। इसलिये जो कुछ प्राप्त करना चाहते हो उसके लिये प्रयत्न करो। अपनी वासनासे प्रेरित होकर जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है। यहाँ दूसरा कोई हमारे भाग्यका निर्माण करनेवाला नहीं है। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सत्कर्म और शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती हो।

(६) विषयोंका रूप हमारे चिन्तनके आधीन है :—

यथा भावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता । (३।५६।३०)
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ (३।५६।३१)
येन येन यथा यद्यद्यथा संवेद्यतेऽनघ ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥ (३।६०।१६)
अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसम्वित्तिवेदनात् ॥ (३।६०।१७)
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति ।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ (३।६०।२०)

कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ (३।६०।२१)
मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम्। (३।६०।२७)
कटु चायाति माधुर्यं मधुरत्वेन चिन्तितम् ॥ (३।६०।२८)
मित्रबुद्ध्या द्विषन्मित्रं रिपुबुद्ध्या रिपुः सुहृत्। (३।६०।२८)
भवतीति महाबाहो यथासंवेदनं जगत् ॥ (३।६०।२९)
वेदनात्पीतमानीलं शुक्लं वाप्यनुभूयते।
आपद्धदुत्सवः खेदं करोति परिमोहितः ॥ (३।६०।३२)
शून्यमाकीर्णतामेति वेदनात्स्वप्नदृक्ष्विव। (३।६०।३१)
असद्यक्षो विमूढानां प्राणानपकर्षति ॥ (३।६०।३३)
वेदनात्स्वप्नवनिता जाग्रतीव रतिप्रदा।
यद्यथा भासमायातं तत्तथा स्थिरतां गतम् ॥ (३।६०।३४)
यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्।
तत्तथैवानुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ (६/२।१००।३)
यं यं निश्चयमादत्ते संवित्स्वदृढनिश्चया।
तथा तथा भवत्येषा फलयुक्तस्वभावतः ॥ (६/२।१४८।५)

संसारके सब पदार्थोंका रूप हमारे चिन्तनपर निर्भर है। चिन्तन करते करते असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीत होने लग जाता है। जिस वस्तुका जिस भावसे चिन्तन किया जाता है वह वस्तु उसी प्रकारसे अनुभवमें आने लगती है। सदा अमृतरूपसे चिन्तन करनेसे विष भी अमृत हो जाता है और सदा मित्रभावसे चिन्तन करनेसे शत्रु भी मित्र हो जाता है। निमेषमात्र समय भी कल्पभावसे चिन्तन करनेपर अवश्य ही कल्पके समान अनुभूत होने लगता है। इसी प्रकार यदि कल्पकी निमेषभावसे चिन्तना की जाए तो ज़रूर ही कल्प निमेषके समान हो जाता है। आत्माका प्रभाव ही ऐसा है। कटुभावसे चिन्तन करनेपर मीठी वस्तु भी कडवी मालूम होने लगती है और मीठाईके चिन्तनसे कडवी वस्तुएँ मीठी मालूम पड़ने लगती हैं। मित्र बुद्धिसे शत्रु मित्र हो जाता है और शत्रु बुद्धिसे मित्र शत्रु बन जाता है। जैसा हमारा विचार वैसा हमारा जगत्। चिन्तन द्वारा पीली वस्तु नीली अथवा श्वेत मालूम पड़ने लगती है, और उत्सवको भी आपत्ति समझ कर मूढ़ मनुष्य शोक करने लगता है। स्वप्नकी भाँति शून्य स्थान भी भरा हुआ जान पड़ने लगता है और मौजूद न होता

हुआ भी भूत मूर्खोंके प्राण ले लेता है। केवल चिन्तनके द्वारा ही स्वप्नकी स्त्री जाग्रत्की स्त्रीके समान रति-सुख देती है। जिसके मनमें जैसी चिन्तना उदय हो जाती है वह वैसा ही अनुभव किया करता है। जैसा ख़याल जिसके मनमें दृढ़ हो जाता है वह उसको प्रत्यक्ष-रूपसे वैसा ही अनुभव किया करता है। दृढ़ निश्चयवाला आत्मा जैसा जैसा चिन्तन करता है वैसा वैसा फल प्राप्त करता है।

(७) जैसी दृढ़ जिसकी भावना वैसा ही फल—

दृढभावनया चेतो यद्यथा भावयत्यलम्। (४।२१।५६)
तत्तत्फलं तदाकारं तावत्कालं प्रपश्यति ॥ (४।२१।५७)
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा। (४।२१।५७)
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥ (४।२१।५८)
यादृशं भावमादत्ते दृढाभ्यासवशान्मनः।
तथा स्पन्दाख्यकर्माख्यप्रथाशाखा विमुञ्चति ॥ (४।२१।२०)
तथा क्रिया तत्फलतां निष्पादयति चादरात्।
ततस्तमेव चास्वादमनुभूयाशु बध्यते ॥ (४।२१।२१)
यं यं भावमुपादत्ते तं तं वस्त्विति विन्दति।
तत्तच्छ्रेयोऽन्यन्नास्तीति निश्चयोऽस्य च जायते ॥ (४।२१।२२)
धर्मार्थकाममोक्षार्थं प्रयतन्ते सदैव हि।
मनांसि दृढभिन्नानि प्रतिपत्त्या स्वयैव च ॥ (४।२१।२३)
न निम्बेक्षू कटुस्वादू शीतोष्णौ नेन्दुपावकौ।
यद्यथा परमाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत् ॥ (४।२१।३३)
दृढाभ्यासो य एवास्य जीवस्योदेत्यविघ्नतः।
सोऽत्यन्तमरसेनापि तमेवाश्वनुधावति ॥ (६/१।६३।२८)
मनो निर्मलसत्वात्म यद्भावयति यादृशम्।
तत्तथाशु भवत्येव यथावर्तो भवेत्पयः ॥ (४।१७।४)
जीवो यद्वासनाबद्धस्तदेवान्तः प्रपश्यति। (४।१७।२६)
भावनैव स्वमात्मानं देहोऽयमिति पश्यति ॥ (६/१।६३।३३)
यथा वासनया जन्तोर्विषमप्यमृतायते।
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ (३।५६।३१)
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति। (६/१।५१।३)
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाख्यं विद्धि संवेदनं स्वकम् ॥ (६/१।५१।४)

दृढ़ भावना युक्त होकर मन जिस वस्तुकी जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकारमें, उतने ही समय तक, और उसी प्रकारका फल देनेवाला अनुभव होता है। यहाँपर किसी वस्तुको न सत्य कह सकते हैं और न असत्। जिसने जिसको दृढ़ निश्चयके साथ जैसा समझ लिया है उसे वह वैसा ही दिखाई पड़ता है। दृढ़ अभ्यासके द्वारा जो मनुष्य अपने मनमें जिस प्रकारके भावको स्थिर कर लेता है उसी प्रकारकी उसकी वासनायें और क्रिया होने लगती हैं। बड़े शौकसे वह उसी प्रकारकी क्रियायें करने लगता है, और उनके अनुसार अपनी भावनाके अनुरूप फल पाकर उसका आस्वादन करके उसमें बँध जाता है। मनुष्य प्रत्येक वस्तुका रूप अपनी भावनाके अनुरूप ही देखता है। क्या क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या नहीं—इस प्रकारका निश्चय भी भावना द्वारा ही होता है। दृढ़ निश्चय-वाले मन अपनी भावनाके अनुसार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं। जैसी भावनाका दृढ़ अभ्यास हो जाता है वैसा ही अनुभव होने लगता है; स्वयं तो न नीम कडवा है और न गन्ना मीठा, न आग गरम, और न चन्द्रमा शीतल। जिस विचारका जीवके हृदयमें दृढ़ अभ्यास हो जाता है वही विचार—चाहे वह कितना ही दुखदाई क्यों न हो—बार बार उदय होता है और जीवको अपनी ओर खींचता रहता है। शुद्ध मन जिस वस्तुकी जैसी भावना करता है वह वस्तु उसी प्रकारकी तुरन्त ही हो जाती है; जैसे जलमें भँवर उत्पन्न हो जाता है। जीव अपने भीतर उसी प्रकारकी वस्तुओंका अनुभव करता है जैसी वासनाओंसे वह बँधा हुआ है। भावनाके कारण ही वह अपने आपको शरीर समझने लगता है। वासनाके प्रभावसे ही जीवके लिये विष अमृत हो जाता है और असत्य पदार्थ भी सत्य हो जाता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसका अनुभव होता है। इन्द्रियाँ और उनके विषय सब ही जीवके अपने ख़यालसे ही बने हैं।

(८) अभ्यासका महत्व :—

पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते।
पुरुषार्थः स एवेह तेनास्ति न विना गतिः ॥ (६।६७।४३)
योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्नभसो रसात्।
भवेत्तन्मयमेवान्तराबालमिव लक्ष्यते ॥ (६।६७।२०)

आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ (६/२।६७।३०)
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत्खमभ्येति पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ (६/२।६७।३१)
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥ (६/२।६७।३२)
दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजेनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ (६/२।६७।४४)

किसी कामको बार बार करनेका नाम अभ्यास है; उसीको पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके विना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं होती। शुद्ध चित् (आत्मा) का उसी प्रकारका आकार दृढ़ हो जाता है जैसे आकारका उसमें अभ्यास होता है—यह बात बालक तक भी जानते हैं। भावनाके अभ्याससे सूक्ष्म शरीर, जो कि वास्तवमें शुद्ध चिदाकाश (आत्मा) है, आधिभौतिक (स्थूल) भावको ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार आधिभौतिक (स्थूल) देह भी सूक्ष्म धारणाके अभ्याससे पक्षीके समान आकाशमें गमन करने लगता है। अभ्यासका इतना महत्व है। बराबर अभ्यास (यत्न) करनेसे नामुमकिन (असम्भव) भी मुमकिन (सम्भव) हो जाता है; शत्रु मित्र हो जाते हैं; और विष अमृत हो जाता है। यत्न नामवाले अपने ही पुरुषार्थसे, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्यको संसारमें कामयाबी होती है; किसी दूसरे साधनसे नहीं।

(६) मनके दृढ़ निश्चयकी शक्ति :—

न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद्रोधयितुं क्षमः ॥ (३।८८।१८)
यो बद्धपदतां यातो जन्तोर्मनसि निश्चयः ।
स तेनैव विना ब्रह्मन्नान्येन निवार्यते ॥ (३।८८।१९)
बहुकालं यदभ्यस्तं मनसा दृढनिश्चयम् ।
शापेनापि न तस्यास्ति क्षयो नष्टेऽपि देहके ॥ (३।८८।२०)
वीरं मनो भेदयितुं मनागपि न शक्यते । (३।८९।३८)
का नाम ता महाराज कीदृश्यः कस्य शक्तयः ॥ (३।८९।३८)
याभिर्मनांसि भिद्यन्ते दृढनिश्चयवन्त्यपि । (३।८९।३९)

मनके दृढ़ निश्चयको मिटाने या रोकनेकी किसीमें शक्ति नहीं

है। जिसके मनमें जो निश्चय दृढ़ हो गया है उसको उसके सिवाय और कोई नहीं हटा सकता। बहुत समय तक जो बात किसीके मनमें गहरे तौरपर बैठ गई है वह शरीरके नष्ट होनेपर या शाप द्वारा भी नहीं मनसे हटती। दृढ़ निश्चयवाले वीर मनको अपने निश्चयसे भङ्ग करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। किसकी ऐसी शक्ति है जो मनको अपने दृढ़ निश्चयसे हटा सके?

(१०) जैसा मन वैसी गति :—

यथा संवित्तथा चित्तं सा तथावस्थितिं गता।
परमेण प्रयत्नेन नीयतेऽन्यदशां पुनः॥ (३।४०।१३)
चित्तायत्तमिदं सर्वं जगत्स्थिरचरात्मकम्।
चित्ताधीनवतो राम बन्धमोक्षावपि स्फुटम्॥ (३।९८।३)

जैसा जिसका विचार वैसा ही उसका मन, और जैसा मन वैसी ही उसकी स्थिति होती है। उस स्थितिको दूसरी दशामें लानेके लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जड़ और चेतन समस्त जगत् चित्तके ही आधीन है। हमारा बन्धन और मुक्ति भी चित्तके हाथमें हैं।

११—दुःख सुख भी चित्तके आधीन हैं:—

मनःप्रमादाद्वर्धन्ते दुःखानि गिरिकूटवत्।
तद्वशादेव नश्यन्ति सूर्यस्याग्रे हिमं यथा॥ (३।९९।४३)
सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासु कलनासु च।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम्॥ (३।११५।२४)
मनः कर्मफलं भुङ्क्ते शुभं वाऽशुभमेव वा।
अतश्चित्तं नरं विद्धि भोक्तारं सुखदुःखयोः॥ (३।११५।२४)
सर्वेषामेव देहानां सुखदुःखार्थभाजनम्।
शरीरं मन एवेह न तु मांसमयं मुने॥ (४।१३।८)
यस्त्वकृत्रिम आनन्दस्तदर्थं प्रयतैर्नरैः।
मनस्तन्मयतां नेयं येनासौ समवाप्यते॥ (४।२१।३४)

मनकी मूर्खतासे दुःख पहाड़की चोटीकी नाईं बढ़ते हैं और मनके द्वारा ही दुःखोंका इस प्रकार नाश हो जाता है जैसे कि सूर्यके उदय होनेपर पालेका। सब दुःख, सुख और अवस्थाओंका बनानेवाला और भोगनेवाला मन ही है। मनुष्य मनोमय है अर्थात् जैसा किसीका मन वैसा ही वह मनुष्य होता है। शुभ या अशुभ कर्मोंका

करनेवाला मन ही है; इसलिये सुख दुःखका भोगनेवाला मनुष्य मन ही है। हाड मांससे बना हुआ शरीर सुख दुःखोंके भोगनेवाला नहीं है—सब शरीरोंमें मन ही को सुख या दुःखका अनुभव होता है। जो अलौकिक आनन्द मोक्ष दशामें अनुभवमें आता है उसके प्राप्त करनेके लिये भी पुरुषार्थी लोग मनकी ही साधना करते हैं, क्योंकि उसकी सिद्धि भी मनके शुद्ध होनेपर ही हो सकती है।

(१२) जीवकी परिस्थितियाँ उसके मनको रची हुई हैं :—

इदं चित्तेच्छयोदेति लीयते तदनिच्छया। (४।४५।२३)
दीर्घस्वप्नं तथैवेदं विद्धि चित्तोपपादितम्॥ (४।४५।२४)
या येन वासना यत्र सतेवारोपिता यथा।
सा तेन फलसूस्तत्र तदेव प्राप्यते तथा॥ (३।८६।१०)
स्वेनैव चित्तरूपेणे कर्मणा फलधर्मिणा।
सङ्कल्पैकशरीरेण नानाविस्तरशालिना॥ (३।९६।८)
इदं ततमनेकात्म मायामयमकारणम्।
विश्वं विगतविन्यासं वासनाकल्पनाकुलम्॥ (३।९६।९)

यह हमारा दृश्य जगत् चित्तकी इच्छाओं द्वारा निर्मित है और इच्छाओंके न रहनेपर लीन हो जाता है। चित्त द्वारा रचा हुआ यह एक महान् स्वप्न है। जहाँपर जिसने जैसी इच्छा दृढ़ कर ली है वहीं पर वह उसी प्रकारसे फल देती है। यह नानाप्रकारके अनगिन पदार्थोंवाला और तत्त्वरहित संसार वासनाके अनुसार नानाप्रकारके विस्तारको धारण करनेवाले और फल प्राप्त करनेवाले संकल्पात्मक मनके कर्म द्वारा रचा हुआ है।

(१३) शरीर भी मनका ही बनाया हुआ है :—

मनसेदं शरीरं हि वासनार्थं प्रकल्पितम्।
कृमिकोशप्रकारेण स्वात्मकोश इव स्वयम्॥ (४।४५।७)
करोति देहं संकल्पात्कुंभकारो घटं यथा॥ (४।११।१९)
योऽयं मांसास्थिसंघातो दृश्यते पाञ्चभौतिकः।
मनोविकल्पनं विद्धि न देहः परमार्थतः॥ (४।१३।९)
स्वप्नसंकल्पजालेन यथान्यैव जगत्स्थितिः।
तथैवेयं हि संकल्पकलना काचिदेव हि॥ (६/१।२८।३०)

प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः।
तथैव दृश्यते देहस्तथाऽऽकृत्युदयेन सः॥ (६।२८।३४)
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते॥ (३।८९।३)
यन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव॥ (४।२१।१६)

जैसे रेशमका कीड़ा अपने रहनेके लिये अपने आप ही अपना कोश तैयार कर लेता है वैसे ही मनने भी यह शरीर अपनी वासनाओंकी पूर्त्ति करनेके लिये बनाया है। मन शरीरको अपने सङ्कल्पों द्वारा इस प्रकार बनाता है जैसे कि कुम्हार घड़ेको। यह जो हड्डी और मांसका पञ्चभूतोंसे बना हुआ पुतला दिखाई पड़ता है वह शरीर नहीं है बल्कि मनकी कल्पना द्वारा की हुई एक रचना है। जैसे स्वप्न-जगत्में सब पदार्थ सङ्कल्प द्वारा रचे जाते हैं वैसे ही इस जाग्रत् अवस्थाके जगत्में भी सब वस्तुएँ (शरीर भी) सङ्कल्प द्वारा बनाई जाती हैं। यह शरीर क्या है—केवल पूर्वकालकी, अभ्यास द्वारा दृढ़ हुई, वासनाओंकी एक आकारवाली मूर्त्ति। देहभावनासे मनको देहत्वका अनुभव होता है और देहभावनासे स्वतन्त्र हो जानेपर देहके धर्मोंका मनको अनुभव नहीं होता। अर्थात् जब तक हम अपने आपको भौतिक शरीर मानते हैं तब तक हमको शरीरके धर्म्मोंका अनुभव होता है; किन्तु जब हम शरीरभावसे ऊँचे चढ़ कर अपनेको मन और आत्मा समझने लगते हैं तब हम शरीरके धर्म्मोंसे मुक्त हो जाते हैं; उस समय हमें शरीरके सुख दुःखोंका अनुभव नहीं होता; और इस प्रकारकी भावनाके धीरे धीरे परिपक्व हो जानेपर हम भौतिक शरीर नहीं धारण करते। जैसे जिस प्रकारकी गन्ध हवामें छोड़ दी जाती है हवा उसी प्रकारकी गन्धवाली हो जाती है; इसी प्रकार जैसे विचार किसीके मनमें होते हैं उसका शरीर उसी प्रकारका आकार धारण करता रहता है।

(१४) मानसो चिकित्सा

शरीर मनका बनाया हुआ है और मन द्वारा ही इसकी वृद्धि और तबदीली होती रहती है। शरीरके सब रोग विचार और जीवनकी अशुद्धिके कारण होते हैं। उनके दूर करनेका सबसे उत्तम उपाय

विचारों और जीवनको शुद्ध करना है। जब मन शुद्ध और पवित्र होता है और वासना उच्च कोटिकी होती है तब शरीर निरोग और सुन्दर रहता है। ये सब विचार आजकलके समयमें "क्रिश्चियन साइंस" के नामसे पाश्चात्य देशोंमें बहुत प्रचलित होते जा रहे हैं और बहुत ही नवीन और महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, किन्तु भारतवर्ष-में इस प्रकारके विचार सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थे। योगवासिष्ठ इस प्रकारके विचारोंकी अनुपम निधि है। इसलिये यहाँपर वसिष्ठ जीके मानसी चिकित्सा सम्बन्धी कुछ विचारोंको उद्धृत किया जाता है:—

(अ) आधि और व्याधि :—

आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम्।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते॥ (६/१।८१।१२)
देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम्।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः॥ (६/१।८१।१४)
इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः।
आधयः सम्प्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव॥ (६/१।८१।१६)
भृशं स्फुरन्तीष्विच्छासु मौर्ख्ये चेतस्यनिर्जिते।
दुरान्नाभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च॥ (६/१।८१।१७)
दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च।
दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च॥ (६/१।८१।१८)
क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वान्नाडीनां रन्ध्रसंततौ।
प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते॥ (६/१।८१।१९)
दौस्थित्यकारणं दोषाद्व्याधिर्देहे प्रवर्तते॥ (६/१।८१।२०)

दुःखके दो कारण हैं—एक आधियाँ और दूसरी व्याधियाँ। उनके दूर होनेसे सुख होता है और ज्ञान द्वारा उनकी सम्भावना दूर होनेका नाम मोक्ष है। शरीरके दुःखोंका नाम व्याधि है और मान-सिक दुःखोंका नाम आधि है। दोनों मूर्खतासे उत्पन्न होती हैं और तत्वज्ञानसे दोनोंका क्षय हो जाता है। गहरे मोहमें डालनेवाले मान सिक रोग अज्ञानसे और "यह वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है यह नहीं हुई है" इस प्रकारके मानसिक विचारोंसे ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे वर्षा-ऋतुमें मेंह बरसता है। देहके रोगोंकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है:—

जब कि अज्ञानके कारण मनुष्यका मन उसके वसमें नहीं होता और उसमें नानाप्रकारकी तीव्र वासनायें उठती हैं, तो मनुष्य उनको पूरा करनेके वास्ते अखाद्य द्रव्योंको खाने लगता है, अगम्य (बुरे) स्थानोंमें जाने लगता है, अनुचित समयपर और अनुचित तरहके काम करने लगता है, दुष्ट पुरुषोंके सङ्गमें बैठने लगता है, और अपने मनमें खोटे भावोंको स्थान देने लगता है। ऐसा होनेपर उसकी नाड़ियाँ ठीक ठीक प्रकारसे काम करना छोड़ देती हैं। कुछ नाड़ियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती हैं और कुछ अधिक शक्तिवाली हो जाती हैं जिससे उनके द्वारा जीवन शक्ति (प्राण) का शरीरके भीतर समान वहाव नहीं रहता और प्राणशक्तिके सञ्चारमें उचित सङ्गठनका ह्रास हो जाता है। ऐसा होनेसे शरीरकी स्थिति डावाँडोल हो जाती है, और उसमें नानाप्रकारके दोष उत्पन्न होकर दुःख देनेवाले अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(अ) आधिसे व्याधिकी उत्पत्ति :—

चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्। (६/१।८१।३०)
संक्षोभात्साम्यमुत्सर्ज्य वहन्ति प्राणवायवः॥ (६/१।८१।३२)
असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम्। (६/१।८१।३३)
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्॥ (६/१।८१।३४)
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसञ्चारदुष्क्रमात्॥ (६/१।८१।३५)
तथान्नानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाश्रयम्। (६/१।८१।३६)
यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तः शरीरके॥ (६/१।८१।३७)
तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः। (६/१।८१।३७)
एवमाधेर्भवेद्व्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति॥ (६/१।८१।३८)

चित्तमें गड़बड़ होनेसे अवश्य हीं शरीरमें गड़बड़ होती है। शरीरमें जब संक्षोभ होता है तो प्राणोंके प्रसारमें विषमता आ जाती है, और प्राणोंकी गतिमें विकार होनेसे नाड़ियोंके परस्पर सम्बन्धमें खराबी उत्पन्न हो जाती है। कुछ नाड़ियाँ तो शक्तिसे अधिक पूर्ण हो जाती हैं और कुछ खाली हो जाती हैं। प्राणोंकी गतिमें खराबी पैदा होनेसे अन्नका पाचन ठीक नहीं होता—कभी अन्न अच्छी तरह नहीं पचता, कभी कम पचता है और कभी अधिक पचता है। प्राणोंके यन्त्रमें अन्न पहुँच कर वहाँपर जमा होकर और सड़ कर अनेक प्रकारके

रोगोंको उत्पन्न करने लगता है। इस प्रकार मानसिक रोगोंसे शरीरके रोगोंकी उत्पत्ति होती है और उनके नाश होनेपर इनका भी नाश हो जाता है।

(इ) आधिके क्षय होनेपर व्याधिका क्षय :—

आधिक्षयेणाधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम्। (६/१।८१।२४)
शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया॥ (६/१।८१।४०)
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम्। (६/१।८१।४०)
आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव॥ (६/१।८१।४१)
सत्त्वशुद्ध्या वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः।
जरयन्ति तथान्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति॥ (६/१।८१।४२)
यन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव॥ (४।२१।१६)

आधियों (मानसिक रोगों) के क्षीण हो जानेपर उनसे उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ (शारीरिक रोग) भी मिट जाती हैं। शुद्ध और शुभ कर्मोंके करनेसे और सज्जनोंके सङ्गसे मन इस प्रकार निर्मल हो जाता है जैसे कि साणपर चढ़ानेसे सोना, और चित्तके शुद्ध हो जानेपर शरीरमें आनन्द (निरोगता) का सञ्चार होने लगता है। जीवनके शुद्ध होनेपर प्राणोंकी गति ठीक ठीक रीतिसे होने लगती है और शरीरमें अन्नका पाचन ठीक ठीक होने लगता है, जिससे कि शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मनके जैसे विचार होते हैं देह उन्हींके अनुसार चलती है और उसी प्रकारकी हो जाती है; जैसे हवा वैसी ही हो जाती है जैसी गन्ध उसमें छोड़ दी जाए।

(ई) मन्त्र-चिकित्सा :—

मन्त्रोंके अक्षरोंमें भी उसी प्रकार शरीरपर असर करनेकी शक्ति है जैसे कि दवाइयोंमें। किन्तु मन्त्रोंका प्रभाव भावना द्वारा होता है।

यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतक्यः स्वभावतः।
भावनावशतः कार्यं तथा यरलवादयः॥ (६/१।८१।३९)

जैसे हरीतकी (हर्र) का स्वभाव ऐसा है कि उसके खानेसे शरीरमें दस्त लग जाते हैं वैसे ही भावना (दृढ़ विश्वास) द्वारा मन्त्रोंके अक्षर (य र ल व आदि) भी शरीरपर असर करते हैं।

(उ) मूल आधि :—

द्विविधो व्याधिरस्ति सामान्यः सार एव च ।
व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ (६/१।८१।२३)
प्राप्तेनाभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः । (६/१।८१।२४)
आत्मज्ञानं विना सारो नाधिर्नश्यति राघव ॥ (६/१।८१।२५)
आधिव्याधिविलासानां राम साराधिसंक्षयः ।
सर्वेषां मूलहा प्रावृण्नदीव तटवीरुधाम् ॥ (६/१।८१।२६)

रोग दो प्रकारके हैं—एक सामान्य और दूसरा मूल । सामान्य रोग उनको कहते हैं जो कि लौकिक जीवनमें दिखाई पड़ते हैं। संसारमें जन्म लेना मूल रोग है (क्योंकि जबतक जीव संसारमें जन्म लेता रहेगा तबतक तो उसे कभी न कभी कोई न कोई रोग लगेगा ही । रोगोंसे पूरी निवृत्ति जन्म-मरणके चक्करसे बिल्कुल ही छूट जानेपर होती है) लौकिक रोगोंकी शान्ति तो यथोचित वस्तु प्राप्त हो जानेपर हो जाती है, किन्तु जो मूल रोग है, उसकी शान्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं होती । जीवनकी सब आधियाँ (मानसिक रोग) और व्याधियाँ (शारीरिक रोग) मूल आधि (अज्ञान) के नाश होनेपर ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसे कि नदीके किनारे उत्पन्न होनेवाली बेलें वर्षाऋतुमें नदीकी बाढ़से नष्ट हो जाती हैं ।

(ऊ) जीवनको सुखी और निरोग रखनेका उपाय :—

मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥ (३।८९।३)
न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद्बोधयितुं क्षमः ॥ (३।८८।१८)
यन्मनोनिश्चयकृतं तद्द्रव्यौषधिदण्डनैः । (३।९१।४)
हन्तुं न शक्यते जन्तोः प्रतिबिम्बमणेरिव ॥ (३।९१।५)
पौरुषं स्वमवष्टभ्य धैर्यमालम्ब्य शास्वतम् ।
यदि तिष्ठत्यगम्योऽसौ दुःखानां तदनिन्दितः ॥ (३।९२।१४)
आधयो व्याधयश्चैव शापाः पापदृशस्तथा ।
न खण्डयन्ति तच्चित्तं पद्मघाताः शिलामिव ॥ (३।९२।२५)

भावाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम् ।
विमृश्यात्मनि तिष्ठामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।१०)
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
इति चिन्ता न मे तेन चिरं जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।१२)
प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।१६)
किमद्य मम सम्पन्नं प्रातर्वा भविता पुनः ।
इति चिन्ताज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।१८)
जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।१९)
अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः ।
इति ब्रह्मन्न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।२०)
आहरन्विहरन्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्नुच्छ्वसन्स्वपन् ।
देहोऽहमिति नो वेद्मि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ (६/२।२६।२२)
अपरिचलया शक्त्या सुदृशा स्निग्धमुग्धया ।
ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।२५)
यत्करोमि यदश्नामि तत्त्यक्त्वा तद्गतोऽपि] मे ।
मनो नैष्कर्म्यमादत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।२७)
करोमीशोऽपि नाक्रान्ति परितापे न खेदवान् ।
दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।२९)
जीर्णं भिन्नं श्लथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
पश्यामि नववत्सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।३३)
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।३४)
आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
भावाभावेषु नैवास्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६/२।२६।३५)

मैं शरीर हूँ इस प्रकारकी भावनासे जीव शरीरके धर्मोंका अनुभव करता है, और इस भावनासे रहित होनेपर जीवको शरीरके गुणोंका अपनेमें अनुभव नहीं होता। मन जिस बातका दृढ़ निश्चय कर लेता है वही होती है—उसे टालनेवाला और कोई नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब-मणिपर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब किसी साधनसे नहीं मिट सकता उसी प्रकार मनने जो अपने लिये निश्चित कर लिया है वह भाव, द्रव्य,

औषधि और दण्ड आदि किसी अन्य साधनसे नहीं दूर किया जा सकता। (मनके निश्चयका इतना महत्व है—इसलिये) यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थसे अटल धैर्यको धारण करके स्थिर रहे तो उसके पास दुःख नहीं फटक सकते। ऐसे पुरुषके मनको आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शरीरके रोग), शाप और कुदृष्टि (बुरी नज़र) आदि कुछ भी इस प्रकार हानि नहीं पहुँचा सकता जैसे कमलदण्डसे पीटनेसे पर्वतको कुछ नहीं होता। (वसिष्ठ जीने जब काकभुशुण्ड मुनिसे यह पूछा कि आप इतने दीर्घकालसे इतने निरोगी और युवा कैसे बने रहते हैं तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह यह है:—) मैं सदा निरोगी इस वजहसे रहता हूँ कि—इष्ट और अनिष्टके होने और न होनेकी चिन्ताको त्याग कर मैं आत्मभावमें स्थित रहता हूँ; आज मैंने इस वस्तुको प्राप्त कर लिया, कल उस सुन्दर वस्तुको प्राप्त करूँगा—इस प्रकारकी चिन्ता मुझे नहीं होती; मेरा मन चपलता और शोकसे रहित, शान्त और समाहित (स्थिर) है; आज मुझे क्या प्राप्त हुआ है और कल क्या होगा इस प्रकारकी चिन्ताके ज्वरसे मैं पीड़ित नहीं हूँ; बुढ़ापे और मौतके दुःखसे मुझे डर नहीं है, और राज्य आदिके सुख मिलनेसे मुझे कोई ख़ुशी नहीं होती; यह बन्धु है यह शत्रु है, यह मेरा है यह दूसरेका—इस प्रकारका भेदभाव मेरे मनमें नहीं है; आहार विहारमें, उठते बैठते, साँस लेते और सोते—किसी समय भी मुझे यह ख़याल नहीं होता कि मैं देह हूँ; अपने स्वरूपसे विचलित न होने वाली शक्ति तथा मधुर और प्रेमयुक्त दृष्टिसे युक्त होकर मैं सबको समतासे देखता हूँ; जो कुछ मैं करता हूँ अथवा जिस वस्तुका मैं भोग करता हूँ उस उसमेंसे अभिमान त्याग कर सब कुछ करता हुआ भी मैं मनमें निष्क्रिय ही रहता हूँ; मैं समर्थ होनेपर भी किसीपर आक्रमण नहीं करता, दूसरोंसे दुःख दिये जानेपर भी मैं खिन्न नहीं होता, धनहीन होनेपर भी मैं किसीसे कुछ पानेकी इच्छा नहीं करता; जीर्ण, टूटी हुई, शिथिल अङ्गवाली, क्षीण, क्षोभयुक्त, संचूर्णित और नष्टप्राय वस्तुओंमें भी मुझे नवीनताका आनन्द आता है; दूसरोंको सुखी देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी देखकर दुःखी होता हूँ, और सबका मैं प्रियमित्र हूँ; आपत्ति आनेपर मैं अचल और धैर्ययुक्त रहता हूँ, और सम्पत्तिकी दशामें सारे जगत्के साथ मित्रताका व्यवहार करता हूँ; भाव और अभावमें मैं सर्वदा एक समान रहता हूँ।

(१५) मनके शान्त और महान् होनेपर ही सब ओर आनन्दका अनुभव होता है :—

मनः सर्वमिदं राम तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते ।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ॥ (४।४।५)
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् । (४।५५।३३)
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावादाहमयं जगत् ॥ (४।५६।३४)
न तत्त्रिभुवनैश्वर्यान्न कोशाद्रत्नधारिणः ।
फलमासाद्यते चित्ताद्यन्महत्त्वोपबृंहितात् ॥ (५।२१।१२)
पूर्णे मनसि सम्पूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ॥ (५।२१।१४)

मन सब कुछ है मनकी अपने भीतर ही चिकित्सा करनेसे सारा संसार ठीक हो जाता है। अपने भीतर ही यदि शान्ति प्राप्त हो गई, तो सारा संसार शान्त दिखाई पड़ने लगता है। जो अपने भीतर ही तृष्णाकी आगसे जल रहा हो उसके लिये सारे संसारमें आग सी लगी रहती है। चित्तको महान् बनानेसे जो फल प्राप्त होता है वह न तीनों लोक (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) के ऊपर राज्य करनेसे, न रत्नोंसे भरे हुए ख़जानेके मिलनेसे होता है। मनके पूर्ण होनेपर सारा संसार अमृतसे भरपूर दिखाई पड़ता है, जैसे कि जूता पहने हुए पुरुषके लिये समस्त पृथ्वी चमड़ेसे ढकी हुई सी प्रतीत होती है।

(१६) शुद्ध मनमें ही आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है :—

सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथात्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ (५।७१।३९)
आकाशोपलकुड्यादौ सर्वत्रात्मदशा स्थिता ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे चित्त एवात्र दृश्यते ॥ (५।७१।३६)
चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम् ।
तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तामाप्नोषि तां तताम् ॥ (५।२१।२६)

यद्यपि आकाश सब जगह मौजूद है तो भी उसका प्रतिबिम्ब केवल शीशेमें ही पड़ता है। ऐसे ही यद्यपि आत्मा सब जगह वर्त्तमान है तोभी उसका दर्शन केवल मनके भीतर ही होता है। आत्मा

यद्यपि आकाश पत्थर और दीवार आदि सब ही वस्तुओंमें वर्त्तमान है, तोभी जैसे केवल शीशेमें ही वस्तुओंका प्रतिबिम्ब पड़ता है आत्मा-का दर्शन केवल चित्तमें ही होता है। जब चित्त वृत्तिहीन होकर चित्तभावको त्याग देता है, तब अपने भीतर विस्तृत आकारवाली मोक्षमयी आत्मसत्ताका अनुभव करता है।

(१७) जबतक मनमें अज्ञान है तभीतक जीव संसाररूपी अन्धकारमें पड़ा रहता है :—

जडधर्मि मनो यावद्गर्तकच्छपवत्स्थितम्।
भोगमार्गवदामूढं विस्मृतात्मविचारणम्॥ (५।५।२७)
तावत्संसारतिमिरं सेन्दुनापि सवह्निना।
अर्कद्वादशकेनापि मनागपि न भिद्यते॥ (५।५।२८)

गड्ढेके कछुवेके समान जबतक अज्ञानी मन आत्माको भूलकर मूर्खतावश भोगोंके मार्गपर चलता रहता है तबतक संसाररूपी अन्धेरा किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता, चाहे आग और चन्द्रमा-सहित बारहों सूर्य भी अपना प्रकाश करलें।

(१८) मन जगत्रूपी पहियेकी नाभि है :—

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः॥ (५।५०।१६)
तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः।
गृहीतनाभिवहनान्मायाचक्रं निरुध्यते॥ (५।५०।१७)

इस भ्रम पैदा करनेवाले, घूमनेवाले, संसाररूपी मायाचक्रकी नाभि चित्त है। इस नाभिको बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा ज़ोरसे पकड़ कर रोक लेनेसे मायाचक्रकी गति रुक जाती है।

११—सिद्धियाँ

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठके अनुसार मनुष्यके भीतर अनन्त और अद्भुत शक्ति वर्तमान है—केवल उसके उपयोग करनेकी ही कमी है। प्रायः हम अपनी शक्तिका उपयोग बिना जाने ही करते हैं। यदि जानकर और समझ-बूझकर हम अपनी ईश्वरीय शक्तिका उपयोग करें तो जो चाहें सो प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यका मन शक्तिका भण्डार है—क्योंकि वह ब्रह्मका ही एक आकार है। मनको जितना शुद्ध किया जाए वह उतना ही बलवान् और शक्तिशाली होता चला जाता है। मनके अतिरिक्त मनुष्यके शरीरमें भी शक्तिका एक महान् केन्द्र है जिसमें जीवकी अनन्त और अद्भुत शक्ति सोती रहती है। यदि योगमार्ग द्वारा उस शक्तिको—जिसको योगशास्त्रोंमें कुण्डलिनीके नामसे पुकारा गया है—जगा दिया जाए तो मनुष्यको अनेक प्रकारकी योग्यताएँ, जो कि साधारण मनुष्यको प्राप्त नहीं हैं, प्राप्त हो जाती हैं। उस महान् शक्तिके उपयोगसे मनुष्य मन चाही बातें कर सकता है। ऐसी शक्तियोंको प्राप्त कर लेनेको, जो कि साधारणतासे लोगोंको प्राप्त नहीं हैं, सिद्धि कहते हैं। योगमें आठ प्रकारकी सिद्धियाँ मानी जाती हैं। उनके नाम ये हैं:—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व। 'अणिमा' वह सिद्धि है जिसके द्वारा योगी इच्छा करनेपर अपने स्थूल शरीरको सूक्ष्मसे सूक्ष्म बना लेता है। 'लघिमा' उस सिद्धिको कहते हैं जिसके द्वारा योगी अपने शरीरको इतना हलका बना लेता है कि वह आकाश-मार्गसे जहाँ चाहे जा सके। 'महिमा' वह सिद्धि है जिसके द्वारा योगी अपने शरीरको चाहे जितना बड़ा बना सके। 'गरिमा' द्वारा योगी अपने शरीरको जितना चाहे भारी बना सकता है। 'प्राप्ति' वह सिद्धि कहलाती है जिसके द्वारा योगी इच्छानुसार किसी भी अन्य लोकमें जा सके। 'प्राकाम्य' सिद्धि द्वारा योगी जिस पदार्थकी इच्छा करे उसे ही प्राप्त कर लेता है। 'वशित्व' द्वारा योगी के वशमें संसारकी सब ही वस्तुएँ हो जाती हैं, और वह स्वयं किसीके बसमें नहीं रहता। 'ईशित्व' वह सिद्धि है जिसके प्राप्त कर लेनेपर

योग।में सब कुछ उत्पन्न और नाश करनेकी शक्ति आ जाती है। वह चाहे तो नवीन सृष्टिकी उत्पत्ति कर सकता है। इनके अतिरिक्त पातञ्जल योगदर्शनमें और बहुतसी सिद्धियोंका वर्णन है और उनकी प्राप्तिके साधन भी बतलाये गये हैं—जिनमेंसे कुछ ये हैं:-सब प्राणियोंकी वाणी समझने की सिद्धि, पुर्वजन्मका ज्ञान, दूसरोंके चित्तका ज्ञान, अदृश्य हो जाने की शक्ति, मृत्युका ज्ञान, अपार बलकी प्राप्ति, सूक्ष्म, गुप्त, और दूरके पदार्थोंका ज्ञान, दूसरे स्थूल और सूक्ष्म लोकोंका ज्ञान, तारोंकी चाल-का ज्ञान, अपने शरीरके भीतरके अङ्गोंका ज्ञान, भूख और प्याससे निवृत्ति, स्थिरता, सिद्धोंका दर्शन, सर्वज्ञता, अपने चित्तका पूर्ण ज्ञान, आत्मज्ञान, दूसरेके शरीरमें प्रवेश करनेकी शक्ति, मृत्यु और शारी-रिक दुःखपर विजय, दूरकी वस्तुओंको इन्द्रियों द्वारा देखना, सुनना और स्पर्श करना, इन्द्रियोंपर विजय, और त्रिकाल दर्शन। यहाँपर योगवाशिष्ठमें वर्णन की हुई सिद्धियोंका उल्लेख किया जाता है। योग-वासिष्ठमें सिद्धियोंके प्राप्त करनेके दो विशेष मार्ग हैं। एक मनकी शुद्धि और दूसरा कुण्डलिनी शक्तिका उद्बोधन। प्रथम हम मनकी शुद्धि द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमेंसे कुछका वर्णन यहाँपर करते हैं।

(१) मनकी शुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ:—

मनो निर्मलसत्त्वात्म यद्भावयति यादृशम्।
तत्तथाशु भवत्येव यथाऽवर्तो भवेत्पयः॥ (४।१७।४)

शुद्ध मन जिस वस्तुकी जैसी भावना करता है वह अवश्य ही जल्द ही वैसी ही हो जाती है—जैसे जल भँवरका रूप धारण कर लेता है।

(अ) दूसरोंके मनका ज्ञान:—

मलिनं हि मनोऽवीर्यं न मिथः श्लेषमर्हति।
अयोऽयसि संतप्ते शुद्धे तप्तं तु लीयते॥ (४।१७।२९)
चित्ततत्त्वानि शुद्धानि सम्मिलन्ति परस्परम्।
एकरूपाणि तोयानि यान्त्यैक्यं नाविलानि हि॥ (४।१७।३०)

अशुद्ध मन शक्तिहीन होता है। वह दूसरे मनके साथ सङ्गम करनेमें अशक्त होता है। शुद्ध और गरम किया हुआ लोहा ही दूसरे शुद्ध और तप्त लोहेमें मिल सकता है। जैसे समान रूपवाले जल

ही आपसमें मिलकर एक होते हैं उसी प्रकार शुद्ध मनोंमें ही परस्पर एकता हो सकती है।

(आ) सूक्ष्म लोकोंमें प्रवेश करनेकी सिद्धि :—

अप्रबुद्धधियः सिद्धलोकान्पुण्यवशोदितान्।
न समर्थाः स्वदेहेन प्राप्तुं छाया इवातपान्॥ (३।५३।२९)
अतो ज्ञानविवेकेन पुण्येनाथ वरेण च।
पुण्यदेहेन गच्छन्ति परं लोकमनेन तु॥ (३।५३।३४)
तस्माद्ये वेद्यवेत्तारो ये वा धर्मं परं श्रिताः।
आतिवाहिकलोकांस्ते प्राप्नुवन्तीह नेतरे॥ (३।५४।१)
आतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत॥ (३।२२।१०)
आतिवाहिकताज्ञानं स्थितिमेष्यति शाश्वतीम्।
यदा तदाह्यसंकल्पाँल्लोकान्द्रक्ष्यसि पावनान्॥ (३।१२।२२)

जैसे छायाका धूपमें प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही वे लोग जिनकी बुद्धिमें जागृति नहीं हुई, पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त होनेवाले सिद्ध लोकोंमें अपने शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकते। दूसरे लोकमें प्रवेश पवित्र शरीर, ज्ञान और विवेक, पवित्र कर्म अथवा वर द्वारा होता है। इसलिये आतिवाहिक (सूक्ष्म) लोकोंमें उन्हीं लोगोंका प्रवेश होता है जो या तो ज्ञानी (अर्थात् जो जानने योग्य सब तत्त्वोंको जानते हैं) हों या जिनका जीवन पूर्णतया धार्मिक हो। जो जीव प्रबुद्ध होकर सूक्ष्म भावको प्राप्त हो चुके हैं वे ही उन दूसरे जीवोंसे मिल सकते हैं जो कि सिद्ध होकर दूसरे लोकोंमें जन्म ले चुके हैं। जब सूक्ष्मतत्त्वोंका ज्ञान पूर्णतया स्थिर हो जाता है, तब मनुष्यको संकल्प रहित पवित्र सिद्ध लोकोंका दर्शन होता है।

(इ) आधिभौतिकताकी भावनाके कारण जीवको सूक्ष्म लोकोंका दर्शन नहीं होता :—

आधिभौतिकदेहोऽयमिति यस्य मतिभ्रमः।
तस्यासावणुरन्ध्रेण गन्तुं शक्नोति नानघ॥ (३।४०।८)
अहं पृथ्व्यादिदेहः खे गतिर्नास्ति ममोत्तमा।
इति निश्चयवान्योऽन्तः कथं स्यात्सोऽन्यनिश्चयः॥ (३।५३।३३)
यत्र स्वसंकल्पपुरं स्वदेहेन न लभ्यते।

तत्रान्यसंकल्पपुरं देहोऽन्यो लभते कथम् ॥ (३।२१।४३)

जिसके मनमें यह भ्रम दृढ़ हो गया है कि मैं आधिभौतिक (स्थूल) शरीर हूँ वह भला सूक्ष्म मार्ग द्वारा दूसरे लोकोंमें कैसे जा सकता है? जिसके मनमें इस प्रकारकी भावना दृढ़ हो गई है कि मैं भौतिक शरीर हूँ और मेरा गमन आकाश द्वारा नहीं हो सकता, उसको भला यह कैसे विश्वास हो सकता है कि वह सूक्ष्म देह है और वह आकाश-मार्ग द्वारा जा सकता है? जब कि मनुष्य अपने ही सङ्कल्प-जगत्में अपने स्थूल शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकता तो भला दूसरोंके सङ्कल्प-जगत्में उसका प्रवेश स्थूल शरीर द्वारा कैसे हो सकता है?

(ई) सूक्ष्म भाव ग्रहण करनेकी युक्ति :—

तस्यैवाभ्यसतोऽप्येति साधिभौतिकतामतिः ।
यदा शाम्यति सैवास्या तदा पूर्वा प्रवर्तते ॥ (३।५७।३०)
तदा गुरुत्वं काठिन्यमिति यश्च मुधाग्रहः ।
शाम्येत्स्वप्ननरस्यैव बोद्धुर्बोधान्निरामयात् ॥ (३।५७।३१)
लघुतूलसमापत्तिस्ततः समुपजायते ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानादिव देहस्य योगिनः ॥ (३।५७।३२)
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानाद्यथा देहो लघुर्भवेत् ।
तथा बोधादयं देहः स्थूलवत्प्लुतिमान्भवेत् ॥ (३।५७।३३)
रूढातिवाहिकदृशः प्रशाम्यत्याधिभौतिकः ।
बुधस्य दृश्यमानोऽपि शरन्मेघ इवाम्बरे ॥ (३।५८।१४)
सद्वासनस्य रूढायामातिवाहिकसंविदि ।
देहो विस्मृतिमायाति गर्भसंस्थेव यौवने ॥ (३।५८।१६)
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति ।
तदातिवाहिको भावः पुनरेष्यति देहके ॥ (३।२१।५६)
यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते ।
तथातिवाहिकज्ञानाद्दृश्यते नाधिभौतिकः ॥ (३।२१।६०)
स्वप्नसंकल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा ।
तथा जाग्रद्भावनान्ते उदेत्यातिवाहिकः ॥ (३।२२।३)
शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम् ।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाम्बुताम् ॥ (३।२२।९)

अवबोधघनाभ्यासाद्देहस्यास्यैव जायते ।
संसारवासनाकार्श्ये नूनं चित्तशरीरता ॥ (३।२२।१७)

आधिभौतिक (स्थूल) भावनाके त्याग देनेपर आतिवाहिक (सूक्ष्म) भावनाका उदय होता है। तब भारीपन और कड़ेपनका झूठा विश्वास इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे कि स्वप्नसे अच्छी तरह जाग जानेपर स्वप्नकी वस्तुओंकी स्थूल भावनाका अन्त हो जाता है। हलकेपन और सूक्ष्मताकी भावनाका तब योगीमें ऐसे उदय हो जाता है जैसे स्वप्नमें यह जान लेनेपर कि यह स्वप्न है। जैसे स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर शरीर सूक्ष्म मालूम पड़ने लगता है वैसे ज्ञान-प्राप्त होनेपर स्थूल शरीर भी हलका मालूम पड़ने लगता है। जिस ज्ञानीके हृदयमें सूक्ष्मभावनाका दृढ़ अभ्यास हो जाता है उसके लिये आधिभौतिक (स्थूल) भावनाका ऐसे अन्त हो जाता है जैसे सरदीके मौसमका बादल देखते देखते नष्ट हो जाता है। जैसे गर्भकी अवस्था की यौवन कालमें याद नहीं रहती उसी प्रकार जिसके मनमें यह भावना दृढ़ हो गई है कि मैं सूक्ष्म हूँ, वह अपने स्थूल भाव (स्थूल शरीर) को बिल्कुल भूल जाता है। वासनाओंके क्षीण होनेपर अवश्य ही शरीरमें सूक्ष्मभावका उदय हो जाता है। जैसे यह जान लेनेपर कि वास्तवमें यह रस्सी है सर्प नहीं है, सर्प दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही यह जान लेनेपर कि हमारा शरीर वास्तवमें सूक्ष्म है स्थूल शरीरका अनुभव नहीं रहता। जैसे स्वप्नमें अनुभवमें आने वाले कल्पनाके शरीरकी भावनाका अन्त होते ही जागनेपर स्थूल शरीरकी भावनाका उदय हो जाता है, वैसे ही जाग्रत्-भावनाके अन्त होनेपर स्थूल शरीरकी भावनाका नाश हो जाता है। जैसे गर्मी पाकर वर्फ़ पानी हो जाता है, वैसे ही सूक्ष्म वासनाओंवाला और शुद्ध भावको प्राप्त हुआ मन भी सूक्ष्म हो जाता है। संसारके पदार्थोंकी वासनाओंके कम हो जानेपर ज्ञान और अभ्यास द्वारा स्थूल शरीरमें ही सूक्ष्म शरीरके अनुभवका उदय हो जाता है।

(ड) ज्ञान द्वारा स्थूल भावनाकी निवृत्ति :—

असत्यमेव संकल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।
जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोद्गतम् ॥ (६।८२।१७)
यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
संकल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ (६।८२।१८)

शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसंकल्पसंक्षयात् ।
तदा राघव निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ (६।८२।१९)
निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ (६।८२।२०)
अतएवे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात् ॥ (६।८२।२१)
सत्यभावनाद्दृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ (६।८२।२७)

जैसे बालकको भूत दिखाई पड़ता है, वैसे ही मूर्ख जीवको भी शरीर न होते हुए भी संकल्पके भ्रमसे यह स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है। जब ज्ञानके दीपकसे चारों ओर चान्दना फैल जाता है तब जीवका संकल्प-मोह शरदृतुके बादलकी नाईं क्षीण हो जाता है। जैसे तेलके खत्म हो जानेपर दीपक बुझ जाता है, वैसे ही संकल्पोंके क्षीण हो जानेपर स्थूल शरीरका अनुभव क्षीण हो जाता है। निद्राके खत्म हो जानेपर जैसे जीवको स्वप्न दिखाई नहीं देते, वैसे ही सत्यकी भावनाके उदय होनेपर जीवको शरीरका अनुभव नहीं रहता। असत्यमें सत्यकी भावना होनेसे जीव स्थूल शरीरसे घिरा हुआ है। एक तत्त्वकी भावनाके दृढ़ हो जानेपर जीव शरीरसे मुक्त और सुखी हो जाता है। शरीरको सत्य समझनेसे ही शरीर सत्य मालूम पड़ता है, इसको असत्य जान लेनेपर इसका अनुभव नहीं रहता।

(२) कुण्डलिनी शक्तिके उद्बोधन द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ :—

(अ) कुण्डलिनी :—

परिमण्डलिताकारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।
आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ॥ (६।८०।३६)
वीणाग्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।
लीप्यार्धोंकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ (६।८०।३७)
देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।
कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ (६।८०।३८)
शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला । (६।८०।३९)

ऊरोर्भ्रूमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ती वृत्तिचञ्चला ।
अनारतं च सस्पन्दा पवमानेव तिष्ठति ॥ (६/१८०।४०)
तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।
या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ॥ (६/१८०।४१)
सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ॥ (६/१८०।४२)
अनिशं निःश्वसद्रूपा रुषितेव भुजङ्गमी ।
संस्थितोर्ध्वीकृतमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता ॥ (६/१८०।४३)
तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ॥ (६/१८०।४७)
नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तया ।
सा सर्वं संविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ (६/१८०।४८)
एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।
प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ (६/१८१।१)
सान्तः कुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।
कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ॥ (६/१८१।२)
जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।
संकल्पाच्चैव संकल्पो बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ (६/१८१।३)
अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ (६/१८१।४)
अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ (६/१८१।५)
सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ (६/१८१।७)
समस्तैवोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ (६/१८१।८)
सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चेत्त्यक्त्वोर्ध्वाधो गमागमौ ।
तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मारुतरोधतः ॥ (६/१८१।९)
पुर्यष्टकपराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
विद्धि कुण्डलनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ (६/१८१।४४)
मांसं कुर्यन्त्रजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसंमिलत्स्थूलद्व्यम्भःस्थैरिव वैतसम् ॥ (६/१८१।६३)

तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निलीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ॥ (६/१।८१।६४)
आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाहतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ (६/१।८१।६५)

शरीरके मर्मस्थानमें चक्रके आकारवाली, सैंकड़ों नाड़ियोंका आश्रय, आंत्रवेष्टनिका (आन्तोंसे घिरी हुई) नामकी एक नाड़ी है। उसका आकार वीणाके मूल भागमें स्थित आवर्त (गोलाई) के, जलमें भँवरके, ओंकार अक्षर (ॐ) के आधेके, तथा कुण्डलके चक्रके समान है। वह नाड़ी देव, असुर, मनुष्य, मृग, नाकू (मगर), पक्षियों, कीड़े मकोड़े, जलमें उत्पन्न होनेवाले जन्तुओंमें—संक्षेपतः सब ही प्राणियोंके भीतर मौजूद है। उस नाड़ीका आकार ऐसा है जैसे कोई सर्पिणी जाड़ेसे पीड़ित होकर गूंडली मार कर सोगई हो। गुदासे लेकर भौं तक सब छिद्रोंको स्पर्श करनेवाली, चञ्चल वृत्तिवाली, और बराबर स्पन्दन करते रहनेवाली वह नाड़ी है। उस नाड़ीके भीतर जो केलेके डंडेके भीतरवाले छेदके समान कोमल है, वीणाकी नाईं स्पन्दनयुक्त एक परम शक्ति वर्त्तमान है। कुण्डलके आकारमें उसका स्पन्दन होनेके कारण उसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है। वह प्राणियोंकी परम शक्ति है और उनकी अन्य सब शक्तियोंको तेज़ी देनेवाली है। जैसे ग़ुस्सेमें आकर साँपिनी फुंकार मारती हो, ऐसे ही वह शक्ति ऊपरको मुँह उठाये हुये हरदम सांस सा लेती हुई तमाम शरीरके स्पन्दनका कारण होती है। हृदयमें पहुँचनेवाली सब हीं नाड़ियाँ उससे सम्बन्ध रखती हैं और उसमें इस प्रकार आ मिलती हैं जैसे कि समुद्रमें नदियाँ। चूंकि सारी नाड़ियाँ उसमें आकर पड़ती हैं और उसका सबसे ही सम्बन्ध है, उसको सब प्रकारके ज्ञानोंका बीज सामान्य ज्ञान कहा जाता है। पाँचों ज्ञानइन्द्रियोंका बीज कुण्डलिनी शक्तिमें स्थित है और प्राणोंके द्वारा वह बीज सञ्चालित होता है। वह कुण्डलिनी शक्ति, स्पन्दन, स्पर्श और ज्ञान सबकी शुद्ध कला है। संकल्पयुक्त होनेसे उसका नाम कला है और चेतन होनेसे उसका नाम चिति है। जीनेसे जीव, मनन करनेसे वह मन और बोध-प्राप्त होनेसे बुद्धि होती है। वही शक्ति अहंभावको प्राप्त होकर पुर्यष्टक कहलाती है। सब शक्तियोंकी परम शक्ति वह कुण्डलिनी शक्ति शरीरमें स्थित है। अपान वायुका रूप धारण करके

वह शक्ति सदा नीचेकी ओर जाती है, नाभिके मध्यमें स्थित होनेसे वह समान कहलाती है और उदानके नामसे वह ऊर्ध्व भागमें स्थित होती है। यदि उसकी सारी वृत्ति नीचेकी ओर हो जाये और बीचमें न रुके और न ऊपरको ही जाए, तो वह बाहर निकल जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी प्रकार यदि नीचेकी ओर न जाकर और मध्यभागमें स्थित न रहकर उसकी सारी वृत्ति ऊपरकी ओर हो जाए और वह ज़ोरसे ऊपरको निकल जाए तोभी मनुष्य मर जाता है। और यदि ऊपर नीचे न वह कर किसी जीवकी प्राण शक्ति मध्यभागमें निरुद्ध होकर स्थिर हो जाए, तो वह प्राणी सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है। पुर्यष्टक नाम जीवकी प्राणनामक शक्तिका नाम कुण्डलिनी है। वह शरीरमें इस प्रकार है जैसे फूलमें सुगन्ध देने-वाली मञ्जरी। इस देह रूपी यन्त्रके उदर भागमें नाभिके पास परस्पर मिले हुये मुखवाली धौंकनियोंके समान मांसका पिण्ड इस प्रकार काँपते हुये स्थित है जैसे कि ऊपर और नीचेसे वहनेवाले दो जलोंके बीजमें स्थित सदा हिलनेवाला बेंतका कुञ्ज। उसके भीतर उसकी लक्ष्मी कुण्डलिनी शक्ति इस प्रकार स्थित है जैसे मूँगेकी पिटारीमें मोतियोंकी माला। रुद्राक्षकी मालाके समान वह नित्य सरसराती है और डंडेसे मारी हुई सर्पिणीके समान वह ऊपरको मुँह उठाये रखती है।

इस सारे वर्णनका सार यह है कि मनुष्यके शरीरके उदर भागमें नाभिके आसपास एक ऐसा स्थान है जहाँपर एक इस प्रकारका चक्राकार अङ्ग है जिसमें जीवकी परम शक्ति सुप्तरूपसे वर्तमान है। उस अङ्गका शरीरके सभी अङ्गोंसे सम्बन्ध है और उसके भीतर रहनेवाली शक्ति, जिसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है, शरीरकी सब जाग्रत् तथा कार्यपरायण शक्तियोंका आधार है। यदि वह शक्ति पूर्णतया जाग्रत् हो जाए तो मनुष्यको अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं उसका जागरण प्राणोंके निरोध और नियमित सञ्चालनसे होता है ये बातें आगे बतलाई जाएँगी।

(आ) कुण्डलिनी-योग द्वारा सिद्धियोंकी प्राप्ति :—

तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समम्।
तदैति मैरवं स्थैर्यं कायस्य पीनता तथा ॥ (६।८१।४५)

यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमारुतम् ।
नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं घर्मक्लमं श्रमम् ॥ (६।८१।४६)
सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
नाडीः सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ॥ (६।८१।४७)
तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाम्बुततान्तरम् ॥ (६।८१।४८)
इत्यभ्यासविलासेन योनेन व्योमगामिना ।
योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चैर्दीना इन्द्रदशामिव ॥ (६।८१।४९)
ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
बहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशांगुलमूर्धनि ॥ (६।८१।५०)
रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
मुहूर्तं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ (६।८१।५१)
मुखाद्बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ (६।८१।५६)
रेचकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीगृहात् ।
उद्धृत्य योज्यते यावदामोदः पवनादिव ॥ (६।८२।२९)
त्यज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्टवत् ।
देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेचक इवादरः ॥ (६।८२।३०)
स्थावरे जङ्गमे वापि यथाभिमतयेच्छया ।
भोक्तुं तत्संपदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ (६।८२।३१)
इति सिद्धिश्रियं भुक्त्वा स्थितं चेत्तद्वपुः पुनः ।
प्रविश्यते स्वयमन्यद्वा यद्यत्तात विरोचते ॥ (६।८२।३२)
देहादयस्तथा बिम्बान्व्यासवत्याखिलानथ ।
संविदा जगदापूर्य संपूर्णं स्थीयतेऽथवा ॥ (६।८२।३३)

उस कुण्डलिनीमें पूरक प्राणायामके अभ्याससे जब प्राणी समरूपसे स्थित हो जाता है तब सुमेरुके समान स्थिरता और गुरुताकी सिद्धि हो जाती है। जिस समय पूरक प्राणायामके अभ्यास से शारीरिक और मानसिक परिश्रमको सहकर कुण्डलिनी शक्ति अपने मूलाधार स्थानसे ऊपर उठकर सुषुम्णा नाडीके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है, और डण्डेके समान आकारवाली होकर सर्पिणीके समान जब वह ऊपरको जाती है, और सब नाडियोंकी शक्तिको भी अपने साथ ऊपर ही ले जाती है, तब इस शरीरको वह इस प्रकार उड़ा ले-

जाती है (आकाशगमनकी सिद्धि) जैसे हवासे भरी हुई मशक जलके ऊपर तैरती हो। इस प्रकार अभ्यासके द्वारा आकाशगमनसे योगीजन ऐसे ऊँचे चढ़ जाते हैं जैसे कि कोई दीन जन इन्द्रकी पदवीको प्राप्त हो जाता हो। जिस समय अन्य नाडियोंके व्यापारको रोकनेवाले रेचक प्राणायामके प्रयोगसे कुण्डलनी शक्ति ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्णा) के भीतरको होकर दिमागके किवाड़ खोलकर वहाँसे बारह अंगुल ऊपरकी ओर मस्तकमें जाकर एक मुहूर्तके लिये भी स्थिर हो जाती है, तो आकाशगामी सिद्ध लोगोंका दर्शन होता है। रेचकके अभ्यासरूपी युक्तिसे प्राणको मुखसे १२ अंगुल बाहर बहुत समय तक स्थिर करनेके अभ्याससे योगी दूसरे पुरुषके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। रेचकके अभ्याससे जब योगी अपने जीवको कुण्डलीके निवासस्थानसे बाहर इस प्रकार निकालसके जैसे हवामेंसे सुगन्धको, तब वह इस चेष्टारहित शरीरको लकड़ी और पत्थरके समान त्याग देता है, और दूसरे शरीरमें, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन, इच्छानुसार प्रवेश करके उसकी सम्पत्तिका भोग कर सकता है। इस प्रकार योगी दूसरे शरीरके भोगोंको भोगकर, यदि उसका शरीर बना रहा हो तो उसीमें, नहीं तो अपनी रुचिके अनुसार किसी दूसरे शरीरमें प्रवेश करके स्थित रहता है। अथवा अपनी चितिको समस्त जगत्‌में फैलाकर सारे शरीरोंमें व्याप्त होकर सर्वत्र स्थित रहता है।

(इ) सूक्ष्मता और स्थूलताकी सिद्धि कैसे होती है:—

हृद्यब्जचक्रकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्यानलः कणः।
हेमभ्रमरवत्सांध्यविद्युल्लव इवाम्बुदे॥ (६/१।८२।२)
स प्रवर्धनसंवित्या वात्येवाशु वर्धते।
संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम्॥ (६/१।८२।३)
सांध्याभ्रप्रथमार्काभो वृद्धिमभ्यागतः क्षणात्।
गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथानलः॥ (६/१।८२।४)
जलस्पर्शासहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि।
बाह्य एवानलस्पर्शात्स्वान्ते वस्तुविशेषतः॥ (६/१।८२।५)

स शरीरद्वयं पश्चाद्विधूय क्वापि लीयते ।
विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ (६।८२।६)
आधारनाडीनिर्हीना व्योमस्थैवावशिष्यते ।
शक्तिः कुण्डलिनी वह्नेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ (६।८२।७)
क्रोडीकृतमनोबुद्धिमयजीवाद्यहंकृतिः ।
अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ (६।८२।८)
विसे शैले तृणे भित्तावुपले दिवि भूतले ।
सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ (६।८२।९)
संवित्तिः सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम् ।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना ॥ (६।८२।१०)
रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा ।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम् ॥ (६।८२।११)
दृढभाववशादन्तरस्थीन्याप्नोति सा ततः ।
मातृगर्भनिषण्णेषु स सूक्ष्मेवाङ्कुरस्थितिः ॥ (६।८२।१२)
यथाभिमताकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ।
जीवशक्तिरवाप्नोति सुमेर्वादि तृणादि च ॥ (६।८२।१३)

हृदय-कमलके चक्रके कोशके ऊपर अग्नि (प्रकाश) का एक कण ऐसे चमकता है जैसे सोनेका भौंरा अथवा सायङ्कालके समय मेघमें बिजलीका कण । वह प्रकाश-कण विस्तारभावनाके द्वारा वायुकी नाईं फैलने और ज्ञान रूपसे शरीरमें सूर्यके समान चमकने लगता है । प्रातःकालके बादलसे उदय होकर जिस प्रकार सूर्यका तेज क्षणभरमें ही वृद्धिको प्राप्त हो जाता है वैसे ही वह अग्निका कण वृद्धिको पाकर सारे अङ्गों समेत शरीरको ऐसे गला देता है जैसे कि आग सोनेको । जलके स्पर्शको न सहनेवाली वह योग-अग्नि शरीरको सिरसे पैर तक भीतर बाहर जला देती है । शरीरके पार्थिव और जलमय दोनों भागोंको जलाकर अपने आप भी वह कण विक्षुब्ध प्राण द्वारा कहीं ऐसे गायब हो जाता है जैसे वायुके द्वारा धून्ध । उस समय सुषुम्णा नाड़ीके जल जानेपर कुण्डलिनी शक्ति आकाशमें ऐसे स्थित होती है जैसे कि अग्निसे निकली हुई धुवेंकी लटा । उस समय वह कुण्डलिनी शक्ति अपने भीतर मन, बुद्धि, जीव, अहङ्कार आदि समेत और नानाप्रकारकी वासनाओंसे पूर्ण, आकाशमें ऐसे सुशोभित होती है जैसे कि किसी शहरसे निकला हुआ धुँवे

१८

का स्तम्भ। ऐसी अवस्थामें उसका प्रवेश चाहे जिस वस्तु —कमलदण्ड, पहाड़, तृण, दीवार, पत्थर, आकाश, पृथ्वी—में हो सकता है। वही कुण्डलिनी जब स्थूल भावको धारण करना चाहती है तो फिर रसभावना द्वारा रससे इस प्रकार भरने लगती है जैसे सूखा हुआ चड़स पानीसे भरे जानेपर फूल जाता है। रससे पूर्ण होकर वह जिस आकारको चाहे ऐसे धारण कर लेती है जैसे चित्रकारके मनकी रेखाएँ नानाप्रकारके रूप धारणकर लेती हैं। दृढ़ भावना द्वारा वह हड्डियोंकी इस प्रकार रचना कर लेती है जैसे कि माताके गर्भाशयमें पड़ा सूक्ष्म बीज स्थूल आकारको धारण कर लेता है। तब वह जीव शक्ति इच्छा अनुसार बड़ेसे बड़ा (सुमेरुके समान) और छोटेसे छोटा (तृणके समान) आकार धारण कर सकती है।

(ई) प्राणायाम द्वारा भी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं :—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव॥ (६।८०।३५)

हे राम! प्राणोंको वसमें कर लेनेपर प्रत्येक मनुष्य राज्य प्राप्तिसे लेकर मोक्ष प्राप्ति तक सबही प्रकारकी सम्पत्तियोंको प्राप्त कर सकता है।

प्राण क्या है? उनको कैसे वशमें किया जाता है और उनके वशमें करनेपर क्या विशेष लाभ होता है—इन सब बातोंका वर्णन आगे चलकर विस्तारपूर्वक होगा।

———

१२—मैं क्या हूँ

अभी तक हमने पाठकोंके आगे योगवासिष्ठके बाह्य जगत् तथा मन सम्बन्धी सिद्धान्तोंका ही वर्णन किया है। अब हमें यह बतलाना है कि योगवासिष्ठमें आत्माका स्वरूप किस प्रकारका माना गया है। आत्माका असली स्वरूप जाननेके लिये आन्तर अनुभवका विश्लेषण करना आवश्यक है इसलिये पहिले हमको चारों अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या—को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। आत्मा वह पदार्थ है जो चारों अवस्थाओंमें अनुस्यूत रहता है अर्थात् जिसका अभाव किसी भी अवस्थामें न हो उस सत्ताका नाम आत्मा है। आत्मा क्या है इसके विषयमें नानाप्रकारके मत हैं। कोई कोई तो शरीर ही को आत्मा मान बैठे हैं; कोई मनको; कोई आत्माको शरीर और मन आदिसे परेकी कोई ऐसी वस्तु मानते हैं जो इनसे बिल्कुल कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती—इन सब मतोंसे ऊँचा वह मत योगवासिष्ठको सबसे अधिक मान्य है जिसके अनुसार आत्मा कोई यह या वह, भीतर या बाहरकी वस्तुविशेष नहीं है, बल्कि वह अनन्त और विभु सच्चिदानन्द तत्त्व है जिसका प्रकाश यह सारा विश्व है, जो सब कुछ है, सब जगह है, सदा है, और जिससे बाहर कुछ भी नहीं है।

(१) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और चौथी अवस्था :—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः॥ (६।१२४।३६)
घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहास्थितम्।
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम्॥ (६।१२४।३७)
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत्।
यच्चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम्॥ (६।१२४।३८)

चित्त (मन) की तीन अवस्थायें हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। चित्तकी अवस्थाओंके दूसरे नाम हैं—घोर, शान्त और मूढ़। जाग्रत् अवस्थाके चित्तको घोर कहते हैं, स्वप्नावस्थाके चित्तको शान्त और सुषुप्ति अवस्थाके चित्तको मूढ। इन तीनों अवस्थाओंसे स्वतन्त्र होने

पर चित्त मृतप्राय हो जाता है (अर्थात् चित्त चित्त नहीं रहता)। मरा हुआ चित्त सत्त्व रूपमें स्थित होता है जो कि सर्वत्र एक और समान रूपसे स्थित है।

(अ) जाग्रत् अवस्था :—

जीवधातुः शरीरेऽन्तर्विद्यते येन जीव्यते।
तेजो वीर्यं जीवधातुरित्याद्यभिधमङ्ग यत् ॥ (४।१९।१५)
व्यवहारी यदा कायो मनसा कर्मणा गिरा।
भवेत्तदा मरुन्नुन्नो जीवधातुः प्रसर्पति ॥ (४।१९।१६)
तस्मिन्प्रसर्पत्यङ्गेषु सर्वा संविदुदेति हि। (४।१९।१६)
ईक्षणादिषु रन्ध्रेषु प्रसरन्ती बहिर्मयम्।
नानाकारविकाराढ्यं रूपमात्मनि पश्यति ॥ (४।१९।१७)
स्थिरत्वात्तत्तथैवाथ जाग्रदित्यवगम्यते। (४।१९।१९)

स्थूल शरीरके भीतर जीवधातु नामक वह एक तत्त्व मौजूद है जिसके रहनेसे यह शरीर जीवित रहता है। तेज और वीर्य भी उसीके नाम हैं। जब शरीरकी किसी प्रकारकी क्रिया (मनन, वचन, कर्म) होती है तब यह जीवधातु प्राणों द्वारा क्रियात्मक अङ्गोंकी ओर प्रवाहित होती है। अङ्गोंमें जीवधातुका प्रसरण होनेपर उनमें चेतनाका अनुभव होता है। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा बाहरकी ओर प्रवृत्त होकर वह जीवधातु अपने भीतर नानाप्रकारके बाह्य जगत्का अनुभव करती है। जीव धातुके इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में स्थित रहनेपर जो अनुभव होता है उसका नाम जाग्रत् है।

(आ) सुषुप्ति :—

मनसा कर्मणा वाचा यदा क्षुभ्यति नो वपुः।
शान्तात्मा तिष्ठति स्वस्थो जीवधातुस्तदात्वसौ ॥ (४।१९।२०)
समतामागतैर्वातैः क्षोभ्यते न हृदम्बरे।
निर्वातसदने दीपो यथाऽऽलोकैककारकः ॥ (४।१९।२१)
ततः सरति नाङ्गेषु संवित्क्षुभ्यति तेन नो।
न चेक्षणादीन्यायाति रन्ध्राण्यायाति नो बहिः ॥ (४।१९।२२)
जीवोऽन्तरेव स्फुरति तैलसंविद्यथा तिले।
शीतसंविद्धिम इव स्नेहसंविद्यथा घृते ॥ (४।१९।२३)

जीवाकारा कला काचिच्चितिः स्वच्छतयात्मनि ।
दशामायाति सौषुप्तिं सौम्यवातां विचेतनाम् ॥ (४।१९।२४)

जब कि शरीरमें मनन, वचन और कर्म रूपी कोई भी क्रिया नहीं होती तब जीवधातु अपने स्वरूपमें शान्त भावसे स्थित रहती है, प्राणोंकी क्रियामें समता आ जाती है, और हृदयमें स्थित जीव-धातुमें किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता। जैसे कि हवारहित स्थानमें चान्दना देनेवाला दीपक क्षोभरहित होकर स्थित रहता है उसी प्रकार जीवधातु भी शान्त रहती है। उस अवस्थामें जीवधातु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंकी ओर नहीं दौड़ती इस कारण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंमें चेतनाका अभाव रहता है, और उनकी क्रिया बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती। उस समय चेतना जीवके भीतरही ऐसे रहती है जैसे कि तिलोंमें तेल, बर्फ़में शीतलता और घीमें चिकनाई। प्राणोंके सौम्य हो जानेपर, बाह्यज्ञानके नष्ट हो जानेपर, जीवके आकारवाली कला नामक चिति सुषुप्ति की दशामें पहुँच जाती है।

(इ) स्वप्न :—

सुषुप्ते सौम्यतां यातैः प्राणैः सञ्चाल्यते तदा ।
स जीवधातुः सा संवित्ततश्चित्ततयोदिता ॥ (४।१९।२६)
स्वान्तःसंस्थजगज्जालं भावाभावैः क्रमभ्रमैः ।
पश्यति स्वान्तरेवाशु स्फारं बीज इव द्रुमम् ॥ (४।१९।२७)
जीवधातुर्यदा वातैः किञ्चित्संक्षुभ्यते भृशम् ।
ततोऽस्म्यहं सुप्त इति पश्यत्यात्मनि खे गतिम् ॥ (४।१९।२८)
यदाम्भसा प्लाव्यतेऽसौ तदा वार्यादिसम्भ्रमम् ।
अन्तरेवानुभवति स्वामोदं कुसमं यथा ॥ (४।१९।२९)
यदा पित्तादिनाक्रान्तस्तदा ग्रीष्मादिसम्भ्रमम् ।
अन्तरेवानुभवति स्फारं बहिरिवाखिलम् ॥ (४।१९।३०)
रक्तापूर्णो रक्तवर्णान्देशान्कालान्बहिर्यथा ।
पश्यत्यनुभवात्मत्वात्तत्रैव च निमज्जति ॥ (४।१९।३१)
सेवते वासनां यां तां सोऽन्तः पश्यति निद्रितः ।
पवनक्षोभितो रन्ध्रैर्बहिरक्षादिभिर्यथा ॥ (४।१९।३२)
अनाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो यतः क्षुब्धोऽन्तरेव सः ।
संविदानुभवत्याशु स स्वप्न इति कथ्यते ॥ (४।१९।३३)

सुषुप्ति अवस्थामें जब वह जीवधातु सौम्य अवस्थाको प्राप्त हुये प्राणों द्वारा क्षुब्ध होती है तब चिति चित्तका आकार धारण करती है, और अपने भीतर ही सारे जगत्के भाव, अभाव, और क्रमके भ्रमको इस प्रकार विस्तृत रूपसे अनुभव करती है जैसे बीज अपने भीतर वृक्षका अनुभव करता है। जब सोती हुई हालतमें जीव धातु वायु द्वारा क्षोभित होती है तब स्वप्नमें आकाशमें उड़नेका अनुभव होता है; जब जल द्वारा क्षोभित होती है तब जल सम्बन्धी स्वप्नोंका अनुभव होता है; जब पित्त द्वारा क्षोभित होती है तो गरमी की मौसमके स्वप्नोंका मनके भीतर अनुभव होता है। जब रक्त की अधिकता होती है तब लाल रङ्गके पदार्थोंका अनुभव होता है। जीवके अन्दर जैसी जैसी वासनायें उठती हैं वैसे वैसेही प्रकारके स्वप्न वह इस प्रकार देखता है जैसे कि प्राणोंसे क्षोभित होकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वाहरके पदार्थोंको देखता हो। स्वप्न उस ज्ञानका नाम है जो वाह्य ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाके विना अन्दरके क्षोभसे ही होता है।

(ई) चौथी अवस्था :—

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ (६/१।१२४।२३)
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ (६/१।१२४।२४)
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नं संकल्पानामसंभवात्।
सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडता स्थितेः ॥ (६/१।१२४।२५)
शान्तं सम्यक्प्रबुद्धानां यथा स्थितमिदं जगत्।
विलीनं तुर्यमेवाहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ (६/१।१२४।२६)
अहंकारकलात्यागे समतायाः समुद्भवे।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ (६/१।१२४।२७)
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवास्तीह नेतरत् ॥ (६/१।१२४।३६)

अहंभाव और अनहंभाव, सत्ता और असत्ता, दोनोंसे रहित जो असक्त, सम और शुद्ध स्थिति है उसे चौथी अवस्था कहते हैं। जो स्वच्छ, सम और शान्त साक्षी रूपसे जीवन्मुक्त भावमें स्थिति है वह तुर्या अवस्था कहलाती है। यह स्थिति न जाग्रत् है, और न स्वप्न, क्योंकि इस अवस्थामें संकल्पोंका अभाव होता है, और न सुषुप्ति क्योंकि

इसमें जड़ताका अभाव रहता है। ज्ञानियोंकी उस अवस्थाका नाम जिसमें कि उनके लिये उस जगत्का अनुभव, जो कि अज्ञानियोंके लिये स्थिर रूपसे स्थित है, शान्त और लीन हो जाता है, तुर्या (चौथी) अवस्था कहलाती है। तुर्यावस्थाका अनुभव तब होता है जब कि अहंकारका त्याग, समताकी प्राप्ति और चित्तकी शान्ति हो जाती है। संकल्प-विकल्पसे रहित चितिकी स्थितिका ही नाम चौथी अवस्था है।

(२) चार प्रकारका अहंभाव :—

मैं क्या हूँ ? इस प्रश्नका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया जाता है। कोई कोई तो अपने आपको स्थूल और नाशवान् शरीर ही समझते हैं और कोई मन समझते हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि शरीर और मनसे परे कोई जीव या आत्मा नामका तत्त्व है जो इन दोनोंके धर्मोंसे बरी है—वे वह आत्मा हैं। इन सबसे ऊँचा और श्रेष्ठ समझना उन थोड़ेसे लोगोंका है जो अपने आपको सारा विश्व, या वह तत्त्व जो सारे विश्वमें व्याप्त और प्रकाशित हो रहा है, समझते हैं। आत्मा-सम्बन्धी इन चार निश्चयोंका योगवासिष्ठमें इस प्रकार वर्णन है:—

१—मैं देह हूँ :—

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायासद्विलोकनात् ॥ (५।१७।१४)
देहोऽहमिति तां विद्धि दुःखायैव न शान्तये। (५।७३।११)
वर्ज्य एव दुरात्माऽसौ शत्रुरेव परः स्मृतः ॥ (४।३३।५४)
अनेनाभिहतो जन्तुर्न भूयः परिरोहति।
रिपुणानेन बलिना विविधाधिप्रदायिना ॥ (४।३३।५५)

एक यह विश्वास है कि मैं माता-पितासे उत्पन्न सिरसे पैर तक विस्तारवाला स्थूल देह हूँ। यह विश्वास सत्य नहीं है; इसी कारण बन्धनमें डालनेवाला है। अपने आपको स्थूल देह समझना दुःखका कारण है, शान्तिका साधन नहीं। यह विश्वास हमारा शत्रु है; इसको जहाँतक होसके दूर करना चाहिये। इस नानाप्रकारके मानसिक क्लेशोंके देनेवाले बलवान् शत्रु द्वारा मारा हुआ जीव कभी नहीं पनपता।

२—मैं चित्त हूँ :—

स्वसंकल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत् ।
चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामातिवाहिकम् ॥ (६।१२४।१९)

हे राम ! जब तक संसार है तब तक रहनेवाला और अपने संकल्पके अनुसार रूप धारण करनेवाला मन जीवका सूक्ष्मरूप है ।

३—मैं सब भावोंसे परे रहनेवाला सूक्ष्म आत्मा हूँ :—

अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति तृतीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥ (५।१७।१५)
परोऽणुः सकलातीतोऽहं चेत्यहंकृतिः ।
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रशतकल्पितः ॥ (४।३३।११)

तीसरा निश्चय जो कि मोक्षकी ओर ले जानेवाला है यह है कि मैं सब भावोंसे मुक्त, वालकी नोकके सौवें भागसे भी सूक्ष्म, परम अणु, और सब दृश्य पदार्थोंसे परे और सब वस्तुओंसे अलग रहनेवाला (आत्मा) हूँ ।

(अ) मैं सर्वातीत कैसे हूं :—

देहस्तावज्जडो मूढो नाहमित्येव निश्चयः । (६।७८।१७)
आबालमेतत्संसिद्धं मतौ चैवानुभूयते ॥ (६।७८।१८)
कर्मेन्द्रियगणश्चास्मादभिन्नावयवात्मकः । (६।७८।१८)
अवयवावयिनोर्न. भेदो जड एव च ॥ (६।७८।१९)
प्रेर्यते मनसा यस्माद्यष्ट्ये भुवि लोष्टकः ।
मनश्चैव जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ॥ (६।७८।२०)
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ।
बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः ॥ (६।७८।२१)
खातेनैव सरिन्नूनं साहंकारेण वाह्यते ।
अहङ्कारोऽपि निःसारो जड एव शवात्मकः ॥ (६।७८।२२)
जीवेन जन्यते यक्षो बालेन भ्रमात्मकः ।
जीवश्चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः ॥ (६।७८।२३)
जीवो जीवति जीर्णेन चिद्रूपेणात्मरूपिणा ।
चेत्यभ्रमवता जीवश्चिद्रूपेणैव जीवति ॥ (६।७८।२५)

सद्वासद्वा यदाभाति चित्समाधौ सति स्वतः । (६/१।७८।२७)
स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात् ॥ (६/१।७८।२८)
एवं चिद्रूपमप्येतच्चेत्योन्मुखतया स्वयम् । (६/१।७८।२८)
जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते ॥ (६/१।७८।२९)
एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः । (६/१।७८।३१)
असन्तः सर्वं एवाहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ॥ (६/१।७८।३२)
महाचिदेकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते । (६/१।७८।३२)
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥ (६/१।७८।३३)
शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम् । (६/१।७८।३३)
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ॥ (६/१ ७८।३४)

बालकतक भी इस बातको समझता है और सबको इस बातका अपने मनमें अनुभव होता है कि मैं जड़ और ज्ञानहीन स्थूल शरीर नहीं हूँ। कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग जिनसे शरीरकी क्रियाएँ होती हैं) इस जड़ शरीरके अङ्ग ही हैं; अङ्ग और अङ्गी (अङ्गोंवाली वस्तु) में भेद न होनेके कारण वे भी जड़ ही हैं। जैसे कि लकड़ीके द्वारा मिट्टीका डला इधरसे उधर फेंक दिया जाता है वैसे ही इन्द्रियाँ मनकी प्रेरणासे क्रिया करती हैं, स्वयं नहीं। सङ्कल्प शक्तिवाला मन भी स्वयं जड़ ही है क्योंकि वह बुद्धिके निश्चयोंके द्वारा ऐसे इधर उधर होता रहता है जैसे कि फेंकनेसे पत्थर। निश्चय करनेवाली बुद्धि भी जड़ ही है क्योंकि उसका सञ्चालन अहङ्कार द्वारा ऐसे होता है जैसे नदीका गहरे स्थानकी ओर हुआ करता है। अहंकार भी स्वयं चेतन नहीं है; वह तो असार और मुर्देके समान जड़ है क्योंकि जीव उसको ऐसे उत्पन्न करता है जैसे कि बालक भूतके भ्रमको। यह जीव, वायुरूप चिदाकाश, हृदयके भीतर रहता है। यह जीव विषयके भ्रमयुक्त पुरातन चितिस्वरूप आत्मा द्वारा प्रेरित होता है। जैसी जैसी, सत्य वा असत्य भावनायें चितिमें उठती हैं चिति अपने स्वरूपको छोड़ कर वैसा ही रूप धारण कर लेती है। इसलिये विषयकी ओर प्रवृत्त जो चेतन आत्मा है वह भी असत्के समान ही है और चेत्योन्मुखता के कारण वह जड़ है और चैत्यन्य द्वारा प्रेरित होती है। चिती द्वारा कल्पित सब दिखाई देने वाले दूसरे चन्द्रमाके समान असत्य हैं। सत्य तो केवल एक ही वस्तु है। और वह है महाचिति जिसको महासत्ता भी कहते हैं।

वह निष्कलङ्क, सम, शुद्ध, निरहङ्कार, शुद्ध-ज्ञान स्वरूप शिव, सन्मात्र और अच्युत (सर्वदा अपने स्वरूपमें स्थित रहनेवाली) है। वह मल रहित है और सदा प्रकाशवाली है।

(आ) शरीर और आत्मामें सम्बन्ध नहीं है :—

नात्मा शरीरसम्बन्धी शरीरमपि नात्मनि।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा॥ (६/१।६।६)
देहेनास्य न सम्बन्धो मनागेवामलात्मनः।
हेम्नः पङ्कलवेनेव तद्गतस्यापि मानवाः॥ (५।५।२५)
पृथगात्मा पृथग्देही जलपद्मलवोपमौ। (५।५।२६)
मनागपि न संश्लेषः सर्वगस्यापि देहिनः॥ (६/१।६।१३)
तद्गतस्याप्यतद्वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः।
जरामरणमापच्च सुखदुःखे भवाभवौ॥ (६/१।६।१५)
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृत्तो भव। (६/१।६।१६)

आत्माका शरीरके साथ कोई (तादात्म्य) सम्बन्ध नहीं है और न शरीरका आत्माके साथ। शरीर और आत्मा अन्धेरे और चान्दनेके नाईं दो विलक्षण पदार्थ हैं। जैसे कीचड़में पड़े हुए सोनेसे कीचड़के कणोंका कोई सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही शुद्ध स्वरूपवाले आत्माका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जल और कमलके समान शरीर और आत्मा पृथक् हैं, सर्वत्र वर्तमान रहनेवाले आत्मा-का शरीरसे ज़रा भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे आकाश उस वायुके गुणोंसे स्पृष्ट नहीं होता जो उसमें स्थित रहती है वैसे ही शरीरकी अवस्थाएँ—जन्म, मरण, आपत्ति, दुःख सुख, आना जाना आदि—आत्मामें नहीं होतीं। इसलिये इनसे मुक्त होकर रहो।

(इ) आत्मा यद्यपि सब जगह है तो भी उसका प्रकाश केवल पुर्यष्ट (सूक्ष्म शरीर) में ही होता है :—

संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिपुकालेपु भास्करः।
सुक्ष्मत्वात्सुमहत्वाच्च केवलं न विभाव्यते॥ (५।७३।२०)
सर्वमात्ममयं विश्वं नास्त्यात्ममयं क्वचित्॥ (५।७२।४५)
सति पुर्यष्टके तस्मिञ्जीवः स्फुरति नोपले। (५।७३।२४)

आत्मा सब जगह और सब कालोंमें स्थित है किन्तु बहुत सूक्ष्म और बहुत महान् होनेके कारण दिखाई नहीं पड़ता। आत्मा संसारकी

सब वस्तुओंमें वर्त्तमान है कोई वस्तु आत्मासे रहित नहीं है तो भी जहाँ पुर्यष्टक (मन अथवा सूक्ष्म शरीर) होता है वहीं पर आत्माका अनुभव होता है। पत्थर आदि जड़ पदार्थोंमें नहीं होता।

२—मैं सारा विश्व हूँ :—

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा।
एवमेष चतुर्थोऽन्यो निश्चयो मोक्षसिद्धये ॥ (५।१७।१७)
अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः।
अहं दैत्या अहं देवा लोकाश्चाहमहं महः ॥ (५।७६।३)
अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम्।
रजो वायुरथाग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम् ॥ (५।७३।४)
अहं चिदम्बरे भानावहं चिद्भूतपञ्जरे।
सुरासुरेषु चिदहं स्थावरेषु चरेषु च ॥ (५।२७।१२)
कुसुमेष्वहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः।
छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम् ॥ (५।३४।५२)
अपारपर्यन्तनभो दिक्कालादिक्रियान्वितम्।
अहमेवेति सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति ॥ (४।२२।२५)
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
चित्तं तु नाहमेवेति यः पश्यति स पश्यति ॥ (४।२२।३१)
सर्वशक्तिरनन्तात्मा सर्वभावान्तरस्थितः।
अद्वितीयश्चिदन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥ (४।२२।२८)
यन्नाम किञ्चित्त्रैलोक्यं स एवावयवो मम।
तरङ्गोऽब्धाविवेत्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति ॥ (४।२२।३३)

चौथा आत्मा-सम्बन्धी विश्वास जो कि मोक्षको प्राप्त करानेवाला है यह है कि मैं समस्त जगत् हूँ अथवा वह शून्य, सम, चिदाकाश हूँ जो विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है। मैं आकाश हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं दिशायें हूँ, मैं नीचे हूँ, (मैं ऊपर हूँ), मैं दैत्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं सब लोक हूँ, मैं यश हूँ, मैं तम हूँ, मैं बादल हूँ, मैं समुद्र आदि सब ही हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं रज हूँ, वायु हूँ, अग्नि हूँ, मैं यह सब जगत् हूँ। मैं वह चिति हूँ जो कि आकाशमें सूर्यके रूपमें चमकती है, जो कि सब प्राणियोंमें है जो कि सुर और असुरोंमें, जड़ चेतन सब ही वस्तुओंमें है। फूलोंमें मैं खुशबू हूँ, मैं फूल पत्तियोंका सौन्दर्य हूँ।

सुन्दर वस्तुओंकी रूपकला मैं हूँ और सब रूपोंमें मैं अनुभव हूँ। जो यह समझता है कि "मैं दिक्, काल और क्रियावाला अनन्त और अपार, सर्वत्र फैला हुआ आकाश हूँ" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "मैं चित्त नहीं हूँ, वह आत्मा हूँ जिसमें जगत्की सारी वस्तुयें इस प्रकार पिरोई हुई हैं जैसे कि मालाके तागेमें उसके मोती" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "मैं सब वस्तुओंके भीतर रहनेवाला, सर्वशक्ति युक्त, अन्तरात्मा हूँ" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि जैसे तरङ्ग समुद्रका एक क्षुद्र अङ्ग है वैसे ही तीनों लोकोंमें जो कुछ है वह मेरा ही अङ्ग है" वही ठीक समझता है।

१३—मौत

संसारमें सबसे भयानक घटना मौत जान पड़ती है। मौत क्या है? मौत जीवनका अन्त करनेवाली घटना है, जैसा कि प्रायः दिखाई पड़ता है, अथवा मौतके पश्चात् भी कोई दूसरा जीवन प्राप्त होता है—इस विषयमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग, जो शरीरको ही सब कुछ मानते हैं, कहते हैं कि मौतके द्वारा जब शरीरका सर्वथा नाश हो गया तो फिर बाक़ी ही क्या रहा? दूसरे लोग, जो शरीरको केवल आत्माका निवास स्थान समझते हैं, यह कहते हैं कि मौत केवल शरीरके नाश होनेका नाम है। शरीरके नष्ट हो जानेपर जीव या आत्माका नाश नहीं होता। वह तो एक शरीरके नष्ट हो जानेपर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर लेता है। भारतवर्षमें तो केवल चार्वाक दर्शनके अनुयायियोंको छोड़कर प्रायः सभी लोगोंका ऐसा विश्वास था। पाश्चात्य देशोंमें अधिक लोगोंके प्रकृतिवादी होनेके कारण मृत्यु का अर्थ जीवनका सर्वनाश ही समझा जाता है। कुछ समयसे वहाँपर विज्ञानने इस समस्याको समझनेका बहुत साहस किया है, और "साइकिकल रिसर्च" नामक विज्ञानकी एक शाखाका काम इस प्रश्नका भली भाँति अध्ययन करना ही है। इस क्षेत्रमें काम करनेवाले अनेक विद्वानोंको तो पूरा विश्वास हो गया है कि मृत्यु जीवनका अन्त नहीं कर देती; मृत्युके पश्चात् भी जीवन है और मृत जीवोंसे हमारा वार्तालापका सम्बन्ध हो सकता है। कभी कभी हमको मृत जनों (प्रेतों) का दर्शन भी हो सकता है और होता है। बहुतसी घटनायें कभी कभी ऐसी भी होती रहती हैं जिनमें मृत्युके पश्चात् प्राप्त किये हुए जीवनमें मृत्युके पूर्वके जीवनके अनुभवकी याद बनी रहती है। आजकल इस प्रकारकी अनेक पुस्तकें छप रही हैं जिनमें मृत्युके पश्चात् जीवन और पूर्वजन्मके सिद्ध करनेके लिये अनेक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रमाण दिये जाते हैं। योगवासिष्ठकारका मत तो स्पष्टतया ऐसा ही है जैसेकी ओर आजकलका दर्शन और विज्ञान हमें ले जा रहे हैं। यहाँपर हम योगवासिष्ठसे मृत्यु सम्बन्धी विचारोंका संग्रह करके पाठकोंके सामने रखते हैं।

(१) मौत डरनेकी वस्तु नहीं है :—

वसिष्ठजीका कहना है कि मृत्युसे डरना तो बिल्कुल ही मूर्खता है। क्योंकि मौतका दोमेंसे एक ही अर्थ हो सकता है : या तो मरने पर मनुष्यका सर्वथा अन्त हो जाता हो या मृत्युके पश्चात् उसे दूसरा जीवन मिलता हो। इन दोनों बातोंमेंसे जो भी हो अच्छी ही है। अन्त ही जब हो गया तो डर किस बातका? चलो सब आफ़तों और मुसीबतोंसे सदाके लिये छुट्टी मिली। जीवनका, जिसमें नानाप्रकारके क्लेश सहने पड़ते हैं, झंझट मिटा। ऐसा होनेपर अफ़सोस किस बातका और ऐसा होनेसे डर किस बातका है? यदि मौतसे जीवनका अन्त नहीं होता, बल्कि एक शरीरको छोड़ कर दूसरेमें प्रवेश होता है, तो फिर भी किस बातका डर और अफ़सोस है? पुराने और रोगी शरीरको छोड़ कर नयेमें प्रवेश करना किसको बुरा लगेगा? यह तो ऐसा ही है जैसा कि फटे-पुराने कपड़ोंको फेंक कर नये कपड़ोंको पहनना, अथवा पुराने और टूटेफूटे मकानको छोड़ कर दूसरे नये मकानमें प्रवेश करना। ऐसा होनेपर तो दुःखके बजाय सुख मानना चाहिये।

(अ) मौत यदि सर्वनाश है तो बहुत अच्छी बात है:—

मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भवामयसंक्षयः। (६/२।१०१।२६)
मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्राप्युपचयो महान्॥ (६/२।१०१।२३)
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः। (६/२।१०१।२३)
मरणं जीवितं तस्मान्न च दुःखं न सुखं यतः॥ (६/२।१०१।२४)

अगर मौतसे प्राणीका सर्वथा नाश हो जाता हो और मरकर फिर किसी प्रकारका जीवन न हो तो इससे बढ़कर कौनसा लाभ है? क्योंकि तब तो संसारके सब ही दुःखोंसे छुटकारा मिल गया; होने, न होने, लेने और देनेके ज्वरकी शान्ति हो गई। ऐसी मौत ही तो सच्चा जीवन है, क्योंकि न उसके बाद सुख है और न दुःख।

(आ) मौतके पीछे यदि दूसरा जीवन है तो बहुत उत्सवकी बात है :—

मृतस्य देहलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम्॥ (६/२।१०१।२५)

देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथः ॥ (६।१०१।२२)

मृत्युके पीछे जीवको यदि दूसरे नवीन शरीरकी प्राप्ति होती है तो बहुत हर्षका अवसर है, क्योंकि तब तो मौतका अर्थ शरीरका ही नाश है। ऐसा होनेपर तो सुखी होना चाहिये। एक शरीरको छोड़ कर यदि दूसरा शरीर मिलता है तो बहुत ही खुशीका अवसर है। मरनेपर तो आनन्द होना चाहिए न कि अफ़सोस !

योगवासिष्ठके अनुसार मौत सर्वनाश नहीं है। मौत क्या है वह यहाँ बतलाया जाता है।

(२) मौत क्या है :—

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते। (६।१८।१)
मृतो नष्ट इति प्रोक्तो मन्ये तच्च मृषा ह्यसत् ॥ (५।७१।६४)
स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वानुभूयते ॥ (५।७१।६५)
स्वसंकल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते। (६।१८।१)
वासनावस्थितो जीवो यात्युत्सर्ज्य शरीरकम् ॥ (५।७१।६७)
अन्यस्मिन्विततते देशे कालेऽन्यस्मिंश्च राघव। (५।७१।६८)
इतश्चेतश्च नीयन्ते जीवा वासनया स्वया ॥ (५।७०।६९)
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमास्थवान्।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ (६।१०५।२४)
इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते। (६।१०५।२९)
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ (६।१०५।३०)
अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्च्छनम्।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रत ॥ (३।२०।३१)
प्रतिभान्ति जगन्त्याशु मृतिमोहादनन्तरम्।
जीवस्योन्मीलनादक्ष्णो रूपाणीवाखिलान्यलम् ॥ (३।२१।१)
निमेषेणैव जीवस्य मृतिमोहादनन्तरम्।
त्रिजगद्दृश्यसर्गश्रीः प्रतिभासमुपगच्छति ॥ (३।१०।४५)
दिक्कालकलनाकाशधर्मकर्ममयानि च।
परिस्फुरन्त्यनन्तानि कल्पान्तस्थैर्यवन्ति च ॥ (३।२१।२)
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्धीन्द्रियादि च।
झटित्येव मृतेरन्ते वपुः पश्यति यौवने ॥ (३।२०।४८)

सर्वनाश करनेवाली मौत कभी नहीं होती। ऐसा कहना कि मरा हुआ प्राणी नष्ट हो गया है बिल्कुल झूठ है। वह तो मरनेपर दूसरे देश और कालमें दूसरी सृष्टिका अनुभव करने लगता है। अपने संकल्पोंके जगत्के भीतर स्थिर हो जानेको मौत कहते हैं (मौतमें चेतना भीतर ही रहती है बाहर नहीं रहती)। एक शरीरको छोड़ कर जीव अपनी वासनाओंके आधारपर दूसरे देश और कालमें अपने को पाता है। वासनाके कारण ही जीव इधर उधर भ्रमता रहता है। जैसे स्वप्नके अनुभव करनेवाले जीवकी स्वप्नसंसारमें मौत हो जाती है और वह जाग्रत् संसारमें आकर जाग्रत्-रूपी स्वप्न देखने लगता है, ठीक इसी प्रकार यहाँपर मर कर जीव दूसरे जगत्में जाग जाता है। वहाँपर जागनेपर यह लोक उसको एक स्वप्न सा मालूम पड़ने लगता है। मिथ्या मौतकी मूर्च्छाका कुछ देर तक अनुभव करके पूर्व अवस्थाको भूल कर जीव दूसरी अवस्थाका अनुभव करने लगता है। जैसे आँख मींचते ही नाना प्रकारकी स्वप्नसृष्टिका अनुभव होने लगता है वैसे ही मौतकी मूर्च्छा आते ही दूसरे संसारका अनुभव उदय हो जाता है। मौतकी मूर्च्छा आते ही तुरन्त ही तीनों लोककी विचित्र सृष्टि फिर अनुभवमें आने लगती है। कल्पके अन्त तक स्थिर रहनेवाले अनेक जगत् अपने अपने देश, काल, आकाश, धर्म और कर्म सहित दिखाई पड़ने लगते हैं। मौतके बाद तुरन्त ही देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि-का अनुभव ऐसा होने लगता है जैसा कि जीवको युवावस्थामें होता था।

(३) मरनेके समयका अनुभव :—

यदा व्यथावशान्नाड्यः संकोचविकासनैः।
गृह्णन्ति मारुतो देहे तदोज्झति निजां स्थितिम्। (३।५४।५९)
प्रविष्टा न विनिर्यान्ति गताः संप्रविशन्ति नो।
यदा वाता विनाडीत्वात्तदाऽस्पन्दात्स्मृतिर्भवेत्॥ (३।५४।६०)
न विशत्येव वातो न निर्याति पवनो यदा।
शरीरनाडीवैधुर्यान्मृत इत्युच्यते तदा॥ (३।५४।६१)
नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम्।
जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवास्य चेतना॥ (३।५५।२)

केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदासौ जडनामकः ॥ (३।५५।४)
तस्मिन्देहे शवीभूते वाते चानिलतां गते ।
चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽन्तरतिष्ठति ॥ (३।५५।५)
जीव इत्युच्यते तस्य नामाणोर्वासनावतः । (३।५५।६)
मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ॥ (६/२।१८।६)
सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्संकल्पगर्भितैः ।
सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ (६/२।१८।१०)
खवातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
मनसोऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ (६/२।१८।१०)
इदं दृश्यं परित्यज्य यदास्ते दर्शनान्तरे ।
स स्वप्न इव संकल्प इव नामाकृतिस्तदा ॥ (३।५५।८)
तस्मिन्नेव प्रदेशेऽन्तः पूर्ववत्स्मृतिमान्भवेत् ।
तदैव मृतिमूर्च्छान्ते पश्यत्यन्यशरीरकम् ॥ (३।५५।९)
यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ६/२।६३।३२)

जब कि रोगोंके कारण नाड़ियोंमें संकोच और विकास होता है तब शरीरमें रहनेवाले प्राणकी गति अस्तव्यस्त हो जाती है । भीतर गया हुआ साँस मुश्किलसे बाहर आता है और बाहर निकल कर साँस कठिनाईसे भीतर जाता है । नाड़ियोंकी गड़बड़से प्राणकी गतिमें गड़बड़ हो जाती है, और चेतना केवल भीतर ही रहती है, बाहरकी ओर प्रवृत्त नहीं होती । शरीरकी नाड़ियोंकी खराबीसे जब कि प्राणकी गति ऐसे रुक जाये कि साँस न बाहर निकल सके और न भीतर जा सके, उस समय यह कहा जाता है कि प्राणी मर गया । नाड़ियोंमें प्राणकी इस प्रकार गति रुक जानेपर ऐसा जान पड़ता है कि उस प्राणीकी चेतना लकुल शान्त हो गई है । वायुकी गतिके रुक जाने पर प्राणीकी सब चेष्टाएँ रुक जाती हैं और उसे मुर्दा कहते हैं । शरीर उस समय सर्वथा जड़ हो जाता है । शरीरके इस प्रकार मुर्दा हो जानेपर और प्राणीके प्राण बाहर निकल कर आकाशमें स्थिर रहने पर वासनायुक्त चेतना आत्मामें स्थिर रहती है । उस सूक्ष्म वासनाओंवाली चेतनाका नाम जीव है । पुरुषके शरीरसे निकल कर प्राणवायु बाहरके वायुमण्डलमें स्थित हो जाता है । इस प्रकार अपने

भीतर नानाप्रकारके संकल्पोंको धारण किये हुए अनेक प्राणवायुओं द्वारा भरी हुई सब दिशायें (उनको जो देख सकते हैं) दिखाई पड़ती हैं। वायुमण्डलमें मुर्दोंके प्राण और उन प्राणोंके भीतर उनके मन और मनोंके भीतर उनके जगत् इस प्रकार मौजूद हैं जैसे कि तिलोंके भीतर तेल रहता है। जब जीव इस दृश्य संसारको छोड़ कर दूसरेमें प्रवेश करता है तो उसे ऐसा जान पड़ता है कि यह जगत् स्वप्न अथवा संकल्प सा था। जिस स्थानपर जीवके शरीरकी मौत होती है उसी स्थानपर उसे पहिले जगत्की तरह दूसरे जगत्का अनुभव होने लगता है। मौतकी मूर्च्छाके खत्म होते ही उसे दूसरे शरीरका अनुभव होने लगता है। जो जीव विना मोक्ष प्राप्त किये हुए मर जाते हैं वे सब इसी प्रकार वायुमण्डलमें स्थित होकर अपने अपने लोकोंका अनुभव करते हैं।

(४) मौतके समय अज्ञानीको ही क्लेश होता है:—

अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथा सुखम्।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च॥ (३।५४।३६)
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः। (३।५४।३७)
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाम्बुजम्॥ (३।५४।३८)
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः।
मृत्वानुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः॥ (३।५४।३९)
यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्जनम्।
गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः॥ (३।५४।४४)
परमान्ध्यमनालोको दिवाप्युदिततारकः।
साभ्रदिग्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः॥ (३।५४।४१)
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद्दृष्टिमण्डलः।
आकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः॥ (३।५४।४२)
परिवृत्तककुप्चक्र उह्यमान इवार्णवे।
नीयमान इवाकाशे घननिद्रोन्मुखाशयः॥ (३।५४।४३)
अन्धकूप इवापन्नः शिलान्तरिव योजितः।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाशये॥ (३।५४।४४)
पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवार्पितः।
रथे द्रुत इवारुढो हिमवद्गलनोन्मुखः॥ (३।५४।४५)

व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवान्नस्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवास्थितः ॥ (३।५४।४६)
भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव जलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवार्पितः ॥ (३।५४।४७)
प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चार्णवे ॥ (३।५४।४८)
अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्धिरुर्वी विपर्यासदशामनुभवन्स्थितः ॥ (३।५४।४९)
पतन्निवानवरतं प्रोत्पतन्निव चाभितः ।
सूत्काराकर्णनोत्क्रान्त पूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥ (३।५४।५०)
क्रमाच्छ्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः । (३।५४।५१)
पूर्वापरं न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ॥ (३।५४।५२)
मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनासौ महामोहे निमज्जति ॥ (३।५४।५३)

धारणाका अभ्यास करनेवाला तथा युक्ति (ज्ञान) युक्त पुरुष धारणा करके शरीरको सुखपूर्वक त्याग देता है। लेकिन मूर्ख (अज्ञानी) को, जिसके वशमें अपना मन नहीं है, मरते समय बहुत दुःख होता है, और वह टूटे हुए कमलकी नाईं दीन हो जाता है। जिसने शास्त्रोंके अनुसार अपनी बुद्धिको शुद्ध नहीं किया है, जो दुष्ट पुरुषोंके सङ्गमें रहता है, उसको मरते समय ऐसी आन्तरिक वेदना होती है जैसे कि अग्निकुण्डमें गिर पड़ा हो। मृत्युके समय जब कि गलेमें घरड़वा, चेहरेपर विकृति, और आँखोंके सामने अन्धेरा होने लगता है, तब ऐसे पुरुषका मन जिसको विवेक नहीं है, बहुत दुःखी होता है। तब घना अन्धेरा छा जाता है, आँखोंसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता, दिनमें ही तारे दिखाई पड़ने लगते हैं, चारों ओर आकाशमें काले बादल छाए हुए नज़र आने लगते हैं, हृदय दर्दसे मानो फटने लगता है, दृश्यमान पदार्थ घूमते हुए मालूम पड़ने लगते हैं; पृथ्वी आकाशके स्थानपर और आकाश पृथ्वीके स्थानपर दिखाई पड़ने लगता है। सब दिशाएँ घूमती हुई दिखाई पड़ती हैं; ऐसा जान पड़ता है कि समुद्रके ऊपरको ले जाया जा रहा है, आकाशमें उड़ाया जा रहा है। गहरी नींदकी ओर मनकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा जान पड़ता है कि अन्धेरे कूएँमें डाल दिया गया हो या पत्थरके भीतर दबा दिया गया

हो। रङ्ग फीका पड़ जाता है और हृदय विदीर्ण सा हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है मानो आँधी द्वारा फेंका हुआ आकाशमार्गसे गिर रहा हो; तेज़ीसे दौड़नेवाले रथपर सवार हो; बर्फकी तरह गलता हो; संसारका अनुभव फैलता जा रहा हो; बन्धुजनोंको छू नहीं सकता हो; घुमाकर किसी वायुयंत्रमें ज़ोरसे फेंक दिया गया हो; चक्कर आ गया हो; जीभ खींच ली गई हो; जलके भँवरमें पड़ कर चक्कर खाने लगा हो; शस्त्रोंकी मशीनमें भींच दिया गया हो; बादलको ज़ोरसे उड़ाए ले जाती हुई हवामें तृणके समान उड़ता हुआ हो; जलके साथ ज़ोरसे समुद्रमें पड़ता हो; अनन्त आकाशमें चक्कर खाकर गिरते हुए समुद्र और पृथ्वीको उलटता हुआ देखता हो। चारों ओर गिरता पड़ता हुआ चिल्लानेकी आवाज़ सुनता हुआ पागलसा होकर अपनी सब इन्द्रियोंमें चोट लगी हुई अनुभव करता है। उसकी सब इन्द्रियोंका ज्ञान धीरे धीरे मन्द पड़कर चारों ओर अन्धेरा छा जाता है। स्मरण शक्ति इतनी खराब हो जाती है कि उसको पहिले पीछे का ज्ञान तनिक भी नहीं रहता। मोहके कारण मनमें कल्पना शक्ति भी नहीं रहती, और सब प्रकारका विवेक नष्ट होकर वह महा अन्धेरमें डूब जाता है।

(५) मौतके पीछेका अनुभव :—

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनानुभूयते।
यैषा तां विद्धि सुमते महाप्रलययामिनीम् ॥ (३।४०।३१)
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक्पृथक्।
सहजस्वप्नसंकल्पान्संभ्रमाचलनृत्यवत् ॥ (३।४०।३२)
महाप्रलयरात्र्यन्ते चिरादात्ममनोवपुः।
यथेदं तनुते तद्वत्प्रत्येकं मृत्यनन्तरम् ॥ (३।४०।३३)
अन्ये त्वमिव ये जीवास्तेषां मरणजन्मसु।
स्मृतिः कारणतामेति मोक्षाभाववशादिह ॥ (३।४०।३७)
जीवो हि मृतिमूर्च्छान्ते यदन्तः प्रोन्मिषन्निव।
अनुमिषित एवास्ते तत्प्रधानमुदाहृतम् ॥ (३।४०।३८)
तद्व्योमप्रकृतिः प्रोक्ता तदव्यक्तं जडाजडम्।
संस्मृतेरस्मृतेश्चैव क्रम एष भवोदये ॥ (३।४०।३९)

बोधोन्मुखत्वे हि महत्तत्प्रबुद्धं यदा भवेत् ।
तदा तन्मात्रदिक्कालक्रिया भूताद्युदेति खात् ॥ (३।४०।४०)
तदेवोच्छूनमाबुद्धं भवतीन्द्रियपञ्चकम् ।
तदेव बुध्यते देहः स एषोऽस्यातिवाहिकः ॥ (३।४०।४१)
चिरकालप्रत्ययतः कल्पनापरिपीवरः ।
आधिभौतिकताबोधमाधत्ते चैष बालवत् ॥ (३।४०।४२)
ततो दिक्कालकलनास्तदाधारतया स्थिताः ।
उद्यन्त्यनुदिता एव वायोःस्पन्दक्रिया इव ॥ (३।४०।४३)
वृद्धिमित्थमयं यातो मुधैव भुवनभ्रमः ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गमस्त्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ (३।४०।४४)
यत्रैव म्रियते जन्तुः पश्यत्याशु तदैव सः ।
तत्रैव भुवनाभोगमिममित्थमिव स्थितम् ॥ (३।४०।४५)
सुरपत्तनशैलार्कतारानिकरसुन्दरम् ।
जरामरणक्लैव्यं च व्याधिसंकटकोटरम् ॥ (३।४०।४७)
स्वभावाभावसंरम्भस्थूलसूक्ष्मचराचरम् ।
साब्ध्यद्र्यूर्वीनदीशाहोरात्रिकल्पक्षणक्षयम् ॥ (३।४०।४८)

मरनेके समय प्रत्येक जीव मूर्च्छाका अनुभव करता है। वह मूर्च्छा जीवके अनुभवमें महाप्रलयकी रात्रिके समान होती है। उसके पश्चात् प्रत्येक जीव अपनी अपनी सृष्टि स्वप्न और संकल्पकी नाईं रचता है। जैसे महाप्रलयकी रात्रिके पश्चात् परमात्मा इस दृश्य-जगत्की रचना करता है तैसे ही प्रत्येक जीव मृत्युके पीछे अपने अपने परलोककी सृष्टि करता है। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तब तक जीवको अपनी स्मृतिके कारण मरने जीनेका अनुभव होता है। मौतकी मूर्च्छाके पश्चात् जीवका अपने भीतर जागकर जो ज्ञान-विस्तार होने लगता है उसे प्रधान कहते हैं। वही जड़-चेतनमय ज्ञानका विस्तार अव्यक्त कहलाता है; उसीसे आकाशकी उत्पत्ति होती है। संसारकी प्रलय और उसका उद्गम इसीमें और इसीसे होता है। जब बोधका उदय होता है तो उस अवस्थाका नाम महत् है। उसके पश्चात् तन्मात्रायें आदि, कालक्रिया और महाभूत आदिकी उत्पत्ति होती है। वही ज्ञान बाहरकी ओर प्रवृत होकर पाँचो इन्द्रियाँ हो जाता है। वही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर हो जाता है। कुछ समय तक कल्पना द्वारा परिपोषित होकर वह सूक्ष्म शरीर बालक

सा स्थूल शरीर धारण कर लेता है। उसी ज्ञानसे दिक् और कालके भेद उदय होकर उसीके आधारपर ऐसे स्थिर रहते हैं जैसे वायु-मण्डलमें उसके स्पन्दन। जैसे स्वप्नमें स्त्रीसङ्गका अनुभव होनेपर भी असत् ही होता है वैसे ही यह सब मृत्युके पीछे उदय हुआ संसारका विस्तार असत् होता हुआ भी विस्तृत दिखाई पड़ता है। जहाँ पर कोई जीव मरता है वहीं पर वह इस प्रकारकी सृष्टिका अनुभव करने लगता है। वहीं पर उसे इन्द्रपुरी, पहाड़, तारागण, बुढ़ापा, कमज़ोरी, संकट, रोग, मौत, स्वभाव, अभाव, स्थूल और सूक्ष्म, जड़ चेतन सृष्टि, समुद्र, पहाड़, पृथ्वी, समुद्र, दिन, रात, क्षण, कल्प, सर्जन और संहार आदि मय जगत्का अनुभव होने लगता है।

(६) मरनेके पश्चात्का अनुभव अपनी अपनी वासना और कर्मोंके अनुसार होता है :—

स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम्।
मूर्च्छान्तेऽनुभवत्यन्तः क्रमेणैवाक्रमेण च ॥ (३।५५।२६)
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात्।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इव वेदिनः ॥ (३।५५।२७)
ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति।
नीयमानः प्रयाम्येभिः क्रमाद्यमपुरं त्विति ॥ (३।५५।२८)
उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान् ॥ (३।५५।२९)
हिमानीकण्ठकश्वभ्रशस्त्रपत्रवनानि च।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि सम्प्राप्तानीति पापवान् ॥ (३।५५।३०)
इयं मे सौम्यसम्पाता सरणिः शीतशाद्वला।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरःसंस्थेति मध्यमः ॥ (३।५५।३१)
अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः।
अयं कर्मविचारोऽत्र कृत इत्यनुभूतिमान् ॥ (३।५५।३२)
इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने।
गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ (३।५५।३५)
यः स्वर्गोयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा।
इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः ॥ (३।५५।२७)

भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषां भेदमिमं शृणु ।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥ (३।५५।११)
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान् ॥ (३।५५।१२)
कश्चिन्महापातकवान्वत्सरं स्मृतिमूर्च्छनम् ।
विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥ (३।५५।१३)
ततः कालेन सम्बुद्धो वासनाजठरोदितम् ।
अनुभूय चिरं कालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥ (३।५५।१४)
भुक्त्वा योनीशतान्युच्चैर्दुःखाद्दुःखान्तरं गतः ।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥ (३।५५।१५)
अथवा मृतिमोहान्ते जडदुःखशताकुलाम् ।
क्षणाद्वृक्षादितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥ (३।५५।१७)
स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयाथ योनीषु जायन्ते भूतले चिरात् ॥ (३।५५।१७)
अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
स शिलाजठरं जाड्यं किंचित्कालं प्रपश्यति ॥ (३।५५।१८)
ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदैव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥ (३।५५।१९)
मृत एवानुभवति कश्चित्सामान्यपातकी ।
स्ववासनानुसारेण देहं संपन्नमक्षतम् ॥ (३।५५।२०)
स स्वप्न इव संकल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ॥ (३।५५।२१)
ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्या स्वनुभवन्ति ते ॥ (३।५५।२२)
ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥ (३।५५।२३)
ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।
ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥ (३।५५।२४)
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भे जातिक्रमोचिते ॥ (३।५५।२५)

मौतकी मूर्च्छाके पश्चात् प्रेत लोग (मरे हुए जीव) अपनी अपनी वासनाके अनुसार क्रमपूर्वक अथवा क्रम बिना इस प्रकारकी स्थितिका अनुभव करते हैं:—हम मर गये हैं और अब बन्धुओं द्वारा

दिये पिण्ड आदिसे हमारा नवीन शरीर बना है। तब ऐसा अनुभव होता है कि यमराजके दूत कालके पासोंमें बाँध कर हमें यमपुरको ले जा रहे हैं। पुण्यवान् प्रेतोंको अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त अच्छे अच्छे स्वर्गके बाग़ और विमान दिखाई पड़ते हैं। पापियोंको उनके बुरे कामों द्वारा उत्पन्न बरफ़की चट्टानें, काँटे, गड्ढे, शस्त्र, पत्ते और वन दिखाई पड़ते हैं। जो मध्यम श्रेणीके (न पुण्यात्मा और न पापी) प्रेत हैं उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि वे ऐसे मार्गपर चल रहे हैं जो बहुत सुगम है, जो शीतल (हरे) घाससे भरा हुआ है, जिसपर ठण्ढी छाया और पानी पीनेके लिये कुएँ हैं। तब प्रेतको ऐसा अनुभव होता है कि वह यमपुरमें पहुँच कर यमराजके सामने पेश किया गया है; वहाँ-पर उसके कर्मोंके ऊपर विचार किया जाता है; कर्मोंके अनुसार उनका फल मिलता है; शुभ कर्मोंके कारण स्वर्गमें और अशुभ कर्मोंके कारण नरकमें वह जा रहा है; वह स्वर्ग अथवा नरकमें अपने कर्मोंके फल भोग रहा है; अनेक योनियोंका भोग कर रहा है; और फिर उसी जगत् में (जहाँ कि वह मरा था) उत्पन्न हो रहा है। प्रेत ६ प्रकारके होते हैं, उनके भेद ये हैं:—सामान्य पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मवाले। कोई कोई महा पाप प्रेत साल भर तक मृत्युकी मूर्च्छा (अज्ञ अवस्था) का अनुभव करके अपने भीतर पत्थर जैसी जड़ अवस्थाका अनुभव करता है। कुछ समयके पीछे उस अवस्थासे जाग कर वह अपनी वासनाओंसे उत्पन्न हुए नरकका बहुत समय तक कठोर दुःख भोगकर नानाप्रकारकी नीची और ऊँची योनियोमें दुःख भोग कर संसार रूपी स्वप्नके भ्रममें किसी समय शान्ति पाता है। अथवा मौतकी मूर्च्छाके पश्चात् वे नाना-प्रकारके जड़ स्थितिके दुःखोंको वृक्षादि योनियोंमें अनुभव करके, अपनी वासनाओंके अनुसार नरक लोकके दुःख भोगकर, बहुत समय-के पीछे पृथ्वी मण्डलपर अनेक योनियोंमें जन्म लेते हैं। मध्यम पाप-वाले जीव मौतकी मूर्च्छाके पश्चात् पत्थरके भीतर जैसी जड़ता होती है वैसीका अनुभव अधिक या थोड़े समय तक करके पक्षी आदि योनियोंका भोग करके (मनुष्य) संसारमें आते हैं। सामान्य (थोड़ेसे) पापवाला जीव मरते ही अपनी वासनाओंके अनुसार इस प्रकार दूसरे शरीरका अनुभव करने लगता है जैसे स्वप्न और संकल्पके भीतर किया जाता है, और उसकी चेतना तुरन्त ही उदय हो जाती

है। उत्तम और महा पुण्यवाले जीव मौतकी मूर्च्छासे जागनेपर अपने विचारोंके अनुसार स्वर्गमें विद्याधर आदिकी योनियोंमें अपने अपने कर्मोंका सुख भोगकर मनुष्य लोकमें सज्जन और धनसम्पन्न घरोंमें जन्म लेते हैं। मध्यम पुण्यवाले जीव मौतकी मूर्च्छाके पश्चात् वायु द्वारा उड़कर, औषधि और फूलों आदिकी योनियोंमें अपने अपने कर्मोंका यथायोग्य फल भोगकर उनके द्वारा मनुष्योंके शरीरमें प्रवेश करके वीर्यके द्वारा यथोचित गर्भमें प्रवेश करते हैं।

(७) परलोकके अनुभवके पश्चात् फिर वही जीवन की दशायें भुगतनी पड़ती हैं:—

संसुप्तकर्णस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि ॥ (३।५५।३८)
स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः ॥ (३।५५।३९)
ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम्।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम् ॥ (३।५५।४०)
ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्च्छनाम्।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डैर्देहपरिग्रहम् ॥ (३।५५।४१)
याम्यं याति पुनर्लोकं पुनरेव भ्रमक्रमम्।
भूयो भूयोऽनुभवति नाना योन्यन्तरोदये ॥ (३।५५।४२)
इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम्।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान् ॥ (३।५५।४३)

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर बतलाया है) वह जीव, जिसकी सब इन्द्रियां सुप्त अवस्थामें हैं, मनुष्यके भीतर वीर्य रूपमें आजाता है। वह वीर्य स्त्रीकी योनिमें पड़कर गर्भका रूप धारणकर लेता है। समय पाकर वह गर्भ अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार अच्छा या बुरा, सुन्दर बालक बन कर जन्म लेता है। तब वह बालक चन्द्रमाके समान धीरे धीरे बड़ा होकर काम पूर्ण यौवनका अनुभव करता है। तब उस बुढ़ापेका जिसमें कि उसके मुख रूपी कमलपर बर्फ़का वज्रपात होता है। तब रोगोंका और मरनेकी मूर्च्छाका अनुभव; तब फिर उसी स्वप्नके सदृश पिण्डादि द्वारा उत्पन्न शरीरका; फिर उन लोकोंका जहां पर उसे अपने कर्मोंके

अनुसार जाना पड़ता है; तब नाना प्रकार की, एकके पीछे दूसरी, योनियोंका। इस प्रकार जब तक जीवको इस जन्ममरणके चक्करसे मुक्ति नहीं मिलती तब तक बार बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका अनुभव होता ही रहता है।

(८) योगमार्गपर चलनेवालोंकी गति :—

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः। (६/१।१२६।४७)
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥ (६/१।१२६।४८)
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च। (६/१।१२६।४८)
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ (६/१।१२६।४९)
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते। (६/१।१२६।४९)
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ (६/१।१२६।४०)
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम्। (६/१।१२६।५०)
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ (६/१।१२६।५१)
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ (६/१।१२६।५१)

जिस जीवने योगकी कुछ भूमिकाओंको पार कर लिया है उसके पाप उन भूमिकाओंके अनुसार क्षीण हो जाते हैं। मरनेके पश्चात् वह जीव सुन्दर स्त्रीयोंके साथ देवलोकके विमानोंमें बैठकर, लोकपालोंके नगरोंमें रहकर और सुमेरु पर्वतके उपवनके कुंजोंमें विचरकर अनेक प्रकारके सुखोंका भोग करता है। जब इस प्रकारके अनेक भोग भोगने पर उसके पूर्वकालके शुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं और पाप कर्म उदय होते हैं तो वह इस संसारमें गुणयुक्त, धनवान् , पवित्र आचारवाले योगियोंके घरमें आकर जन्म लेता है। जन्म लेकर योग मार्गका आश्रय लेता है और पूर्व जन्ममें जिन भूमिकाओंका अभ्यास कर चुका था उनको शीघ्र ही स्मरण करके उनसे ऊँची भूमिकाओंका अभ्यास करना आरम्भ कर देता है और क्रमसे ऊँचे चढ़ता है।

(९) एक शरीरको छोड़ कर जीव दूसरेमें प्रवेश करता है :—

आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः।
कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजाः ॥ (४।४३।२६)

काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम् ।
भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ (६।५१।३९)

जैसे पक्षी एक वृक्षको छोड़कर दूसरे वृक्षपर जा बैठता है वैसे ही आशाके सैकड़ों फाँसोंसे बँधा हुआ और अनेक वासनाओंके भावोंसे युक्त जीव भी एक शरीरको छोड़ कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। अपने भीतरकी वासनाओंकी कलियोंके खिलनेसे भावनाके अनुसार आकार धारण करनेके कारण समय समयपर जीव अपने विचारके अनुसार अपना आकार बदलता रहता है।

(१०) जन्ममरणका अनुभव तब तक होता है जब तक कि आत्मज्ञान नहीं होता :—

तावद्भ्रमन्ति संसारे वारिण्यावर्तराशयः ।
यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वात्मानमनिन्दितम् ॥ (४।४३।२८)
दृष्ट्वात्मानमसत्त्यक्त्वा सत्यमासाद्य संविदम् ।
कालेन पदमागत्य जायन्ते नेह ते पुनः ॥ (४।४३।२९)

जब तक अज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्माका दर्शन नहीं कर पाते तभीतक इस संसारमें जलमें भँवरोंकी नाईं चक्कर काटते रहते हैं। आत्माका दर्शन करके, असत्यका त्याग करके, सत्य ज्ञानपर आरूढ़ होकर और परम पदको पाकर मौतके पीछे जीव इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं पाता। मौतसे उसका स्थूल शरीर नष्ट हो जानेपर उसे किसी दूसरे शरीरमें जानेकी आवश्यकता नहीं रहती।

(११) मरनेके पीछे जीवन्मुक्तकी गति :—

सैव देहक्षये राम पुनर्जननविवर्जिता ।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नायान्ति दृश्यताम् ॥ (५।४२।१३)
भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता ।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ (५।४२।१४)
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ (३।९।१४)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥ (३।९।१५)

जीवन्मुक्ति जिसको प्राप्त हो गई है (अर्थात् जो अपने सांसारिक जीवनमें रहते हुए ही मुक्त अवस्थाका अनुभव करने लगा है) वह

मरनेके पीछे दूसरा जन्म प्राप्त नहीं करता। जीवन्मुक्त मरकर विदेह मुक्त हो जाता है। उसे फिर दृश्य जगत्का अनुभव नहीं करना पड़ता। जीवन्मुक्तके मनकी वासनाएँ इतन शुद्ध हो जाती हैं कि उनके कारण वह मौतके पीछे संसारमें ऐसे जन्म नहीं लेता जैसे भुना हुआ बीज नहीं उगता। जैसे हवाकी गति रुक जाती है वैसे ही मौत द्वारा स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर जीवन्मुक्तता की दशासे वह विदेहमुक्तताकी दशामें प्रवेश करता है। विदेहमुक्तको जन्म, मरण, नाश आदिका अनुभव नहीं होता। वह न सत् कहा जा सकता है न असत्, न "मैं" और न "दूसरा" (अर्थात्—विदेहमुक्ति वह दशा है जिसमें जीव ब्रह्मपदको प्राप्तकर लेता है)

(१२) आत्माके लिये जीवन मरण नहीं है :—

न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित्।
स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत्पश्यति केवलम्॥ (३।५५।६७)
पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदन्यत्किं पुमान्भवेत्॥ (३।५४।६८)
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम्।
म्रियन्ते देहलक्षाणि चेतनं स्थितमक्षयम्॥ (३।५४।६९)
वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत्स्वयम्।
तस्यैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते॥ (३।५४।७१)
एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न कश्चन।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम्॥ (३।५४।७२)
यथा लतायाः पर्वाणि दीर्घायां मध्यमध्यतः।
तथा चेतनसत्ताया जन्मानि मरणानि च॥ (३।५४।६६)
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति। (३।५५।३)
न जायते न म्रियते संविदाकाशमक्षयम्॥ (६।१द्१।१६)

चेतन पुरुष (आत्मा) न कभी जन्म लेता है न मरता है। भ्रमके कारण केवल स्वप्नकी नाईं इन सब बातोंका अनुभव करता है। पुरुष तो चेतनामात्र है; वह कब और कहाँ नष्ट होता है? चेतनताके अतिरिक्त पुरुषमें और क्या है? लाखों शरीरोंका नाश होता रहता है, लेकिन चेतन आत्मा तो अक्षय स्थित रहता है। कौन ऐसा जीव आजतक मरा है जिसकी चेतना किसी प्रकार नष्ट हो गई

हो ? बासनोंकी नाना रूपोंमें तबदीली होनेका नाम ही जीवन और मरण है। न कोई जीव मरता है और न कोई उत्पन्न होता है, केवल अपनी वासनाओंके भँवरवाले गडढेमें गिरकर लोटपोट होता रहता है।

(१३) आयुके थोड़े और अधिक होनेका कारण :—

देशकालक्रियाद्रव्यशुद्ध्यशुद्धी स्वकर्मणाम् ।
न्यूनत्वे चाधिकत्वे च नृणां कारणमायुषः ॥ (३।५४।३०)
स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत्समे ॥ (३।५४।३०)
वृद्धमृत्युप्रदैर्वृद्धः कर्मभिर्मृतिमृच्छति ।
बालमृत्युप्रदैर्बालो युवा यौवन्मृत्युदैः ॥ (३।५४।३१)
यो यथाशास्त्रमारब्धं स्वधर्ममनुतिष्ठति ।
भाजनं भवति श्रीमान्स यथाशास्त्रमायुषः ॥ (३।५४।३२)
मृत्यो न किञ्चिच्छक्यस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तॄणीति नेतरत् ॥ (३।२।१०)

मनुष्योंकी आयुके अधिक और कम होनेमें देश, काल, क्रिया और द्रव्योंकी तथा उनके किये हुए कर्मोंकी शुद्धि और अशुद्धि ही कारण होते हैं। आयुका घटना, बढ़ना और सम रहना मनुष्योंके धर्म और कर्मोंके ऊपर निर्भर है। ऐसे कर्मोंसे जो वृद्धतामें मौत लाते हैं बुढ़ापेमें मौत आती है, और ऐसे कर्मोंके करनेसे जो बालकपनमें मौत लाते हैं बचपनमें मौत होती है। ऐसे कर्मोंके करनेसे जो यौवनावस्थामें मौत लाते हैं यौवनमें मौत आती है। जो शास्त्रोंके अनुसार धर्म और कर्मोंको करता है उसको शास्त्रमें बतलाई हुई आयुकी प्राप्ति होती है। हे मृत्यो ! तू अपने बलसे किसीको नहीं मार सकती ! जो मरता है वह अपने ही कर्मों द्वारा मारा जाता है, किसी दूसरे कारणसे नहीं।

(१४) कौन मौतके बससे बाहर है :—

दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसंततिः ।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।५)

निःश्वासवृक्षक्रकचाः सर्वदेहलताघुणाः ।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६/१।२३।६)
शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तार्पितशिरःफणाः ।
आशा यं न दहन्त्यन्तर्मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६/१।२३।७)
रागद्वेशविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।
लोभव्यालो न भुंक्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६/१।२३।८)
पीतावेशविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।
न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६/१।२३।९)
यंत्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाकुलम् ।
यं पीडयति नानङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६/१।२३।१०)
एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६/१।२३।११)
वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६/१।२३।१२)

जिस मनुष्यके गलेमें पापरूपी मोतियोंसे गुन्दी हुई वासनारूपी तागोंकी मालायें नहीं हैं (अर्थात् जिसके चित्तमें पाप वासनायें नहीं हैं); जिसको मानसिक रोग रूपी आरे नहीं चीरते जो कि सासोंके वृक्षको काटते हैं और सारे शरीरमें घुण पैदा कर देते हैं (अर्थात् जो मानसिक रोगोंसे मुक्त हैं); जिसे चिन्ता रूपी फणों वाली और शरीर रूपी वृक्षमें वास करनेवाली आशारूपी सर्पणियां अपने विषसे नहीं जलातीं (अर्थात् जो सर्व प्रकार की आशाओंसे मुक्त है जो कि चिन्ता उत्पन्न करने वाली हैं); जिसको राग द्वेषके विषसे भरा हुआ मनरूपी बिलमें रहने वाला लोभरूपी सर्प नहीं डँसता (अर्थात् जो लोभसे बरी है); जिसको विवेकरूपी जलको सुखानेवाला और शरीररूपी समुद्रको जलानेवाला क्रोधरूपी वड़वानल (समुद्रकी अग्नि) नहीं जलाता (अर्थात् जो क्रोधके आवेशमें आकर विवेकको खोकर अपने शरीरको क्षीण नहीं करता); जिसको कामदेव इस प्रकार नहीं पीड़ा देता जैसे कि तिलोंके बड़े और कड़े ढेरको कोल्हू पीड़ देता है (अर्थात् जो कामके वशमें नहीं है); जिसका मन एक निर्मल परम पावन ब्रह्ममें स्थित होकर शान्त हो गया है; और जिसका चञ्चल मनरूपी बन्दर शरीररूपी टुकड़ोंपर नहीं आ गिरता (अर्थात् जो शरीरकी

सुन्दरतापर मोहित नहीं होता) उसको मौत भी नहीं खा सकती, चाहे वह उसे कितना ही खाना चाहे (अर्थात् वह पुरुष मौतके कब्ज़ेसे बाहर है)।

१४—ब्रह्मा

योगवासिष्ठके जीव और जगत् सम्बन्धी विचार पाठकोंके सामने विस्तृत आकारमें रक्खे जा चुके हैं। अब हमको यह बतलाना है कि योगवासिष्ठके अनुसार जगत्का कारण क्या है। जगत्की रचना कौन करता है और किससे जगत् और जीव उदय होते हैं, कहां रहते हैं और किसमें विलीन हो जाते हैं? योगवासिष्ठमें जगत्की सृष्टि करनेवालेका नाम ब्रह्मा है। वह ब्रह्मा नित्य और अनन्त परम तत्त्व ब्रह्मकी सर्जन शक्तिका मूर्तिमान् आकार है। ब्रह्मकी स्पन्द शक्ति ही ब्रह्माके आकारमें प्रकट होकर जगत्की सृष्टि करती है। सबसे पहिले यहां ब्रह्माका वर्णन किया जाएगा।

(१) जगतकी उत्पत्ति ब्रह्मासे हुई है :—

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनादिप्रजापतिः।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाद्यापि स्थिता स्थितिः॥ (३।५५।४७)
संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः।
तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत्॥ (३।१८६।६५)

सृष्टिके आदिमें स्वप्नपुरुषकी नांई जो आदि प्रजापति (प्रथम सृष्टि कर्ता ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ था वह अब भी स्थित है। वह आदि प्रजापति जैसा जैसा संकल्प करता है वैसी वैसी सृष्टि उत्पन्न होती है। यह सारा जगत् उसीकी कल्पना है।

(२) ब्रह्माका स्वरूप मन है :—

मन एव विरिञ्चित्वं तद्धि संकल्पनात्मकम्।
स्ववपुः स्फारतां नीत्वा मनसेदं वितन्यते॥ (३।३।३४)
विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनोवपुः। (३।३।३५)
मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत्॥ (३।३।३९)

मन ही ब्रह्माका रूप धारण करता है। ब्रह्मा संकल्प करनेवाला मन है। मन ही अपनेआपको विस्तृत करके इस संसारकी रचना करता है। मन ब्रह्माका स्वरूप है और ब्रह्मा मनका स्वरूप है। मनका रूप धारण करके ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करता है।

(३) ब्रह्माकी उत्पत्ति परमब्रह्मसे होती है :—

मनः सम्पद्यते तेन महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारस्तरङ्ग इव वारिधेः ॥ (३।१।१५)
स्वयमक्षुब्धविमले यथा स्पन्दो महाम्भसि ।
संसारकारणं जीवस्तथायं परमात्मनि ॥ (३।१००।२५)
निस्पन्दवपुषस्तस्य स्पन्दस्तस्माद्यदेव हि ।
प्रदेशाद्घनतामेति सौम्योऽब्धिश्चलनादिव ॥ (४।४२।४)
अन्तरब्धेर्जलं यद्वत्स्पन्दास्पन्दवदीहते ।
सर्वशक्तिस्तथैकत्र गच्छति स्पन्दशक्तिताम् ॥ (४।४२।५)
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा रसति मारुतः ।
तथेहात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् ॥ (४।४२।६)
स्वशिखास्पन्दशक्त्यैव दीपः सौम्यो यथोन्नतम् ।
एति तद्वदसावात्मा तत्स्वे वपुषि वल्गति ॥ (५।४२।७)
य एवानुभवात्मायं चित्स्पन्दोऽस्ति स एव हि ।
जीवकारणकर्माख्यो बीजमेतद्धि संसृतेः ॥ (३।६७।९)
शिवात्प्राक्कारणात्पूर्वं चिच्चेत्यकलनोन्मुखी ।
उदेति सौम्याजलधेः पयः स्पन्दो मनागिव ॥ (३।६७।१८)
स्फुरणाज्जीवचक्रत्वमेति चित्तोर्मितां दधत् ।
चिद्वारिब्रह्मजलधौ कुरुते सर्गबुद्बुदान् ॥ (३।६७।१९)

जैसे शान्त महासमुद्रसे चञ्चल लहर उदय होती है वैसे ही महान् परमात्मासे मनका उदय होता है ! जैसे निर्मल और क्षोभ रहित समुद्रमें स्पन्दन उत्पन्न हो जाता है वैसे ही संसारका कारण जीव (ब्रह्मा) परमात्मामें उदय हो जाता है। जैसे शान्त समुद्रमें स्पन्द होनेसे उसके एक भागमें घनता आ जाती है वैसे ही स्पन्द-रहित ब्रह्ममें स्पन्द न होनेपर उसके एक प्रदेशमें घनता आ जाती है। जैसे समुद्रके जलके भीतर स्पन्दन और शान्ति दोनों ही वर्तमान रहते हैं वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्ममें स्पन्दशक्ति प्रगट होती है। जैसे आकाशमण्डलमें आपसे आप ही वायुकी गति आरम्भ हो जाती है वैसे ही ब्रह्ममें अपनी शक्तिसे ही चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है। जैसे दीपककी स्थिर लौ अपनी भीतरी शक्ति द्वारा ही चञ्चलताको धारण कर लेती है वैसे ही ब्रह्म अपने आप ही सृष्टि करने लगता है।

इस प्रकार चितिका अनुभवयुक्त स्पन्दन जो जीव कारण और कर्म आदि नामोंवाला है वही सृष्टिका बीज है। जैसे क्षणभरमें शान्त समुद्र में जलका स्पन्दन उदय हो जाता है वैसे ही विना किसी पूर्व कारणके चितिमें चेत्यकी ओर प्रवृत्ति उदय हो जाती है। ब्रह्म रूपी समुद्रमें चिति रूपी जल चित्त (मन) रूपी लहरोंको उठाता हुआ स्पन्दनसे जीवरूपी भंवरोंको उत्पन्न करता हुआ अनेक सृष्टि रूपी बुल्बुलोंको जन्म देता है।

(४) ब्रह्मका यह स्पन्दन स्वाभाविक है :—

यथा वातस्य चलनं कृशानोरुष्णता यथा।
शीतता वा तुषारस्य तथा जीवत्वमात्मनः॥ (३।६४।१०)
चिद्रूपस्यात्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम्।
मनाक्संवेदनमिव यत्तज्जीव इति स्मृतम्॥ (३।६४।११)

जैसे हवाका चलना, अग्निकी गरमी और बर्फ़की शीतलता (स्वाभाविक) हैं वैसे ही आत्मा (ब्रह्म) का जीवत्व है। चितिरूप आत्म-तत्त्व (ब्रह्म) के अपने स्वभाव द्वारा चेतन होनेका नाम जीव (ब्रह्मा) है।

(५) ब्रह्ममें स्पन्दन होना उसकी अपनी लीला है :—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः। (४।४४।१४)
लीलयैव तदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः॥ (४।४४।१५)
समुदेति स्वतस्तस्मात्कला कलनरूपिणी।
जलादावर्तलेखेव स्फुरज्जलतयोदिता॥ (६।९।३)
स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम्।
यदा करोति स्फुरतां स्पन्दशक्तिमिवानिलः॥ (६।११४।१५)
तदा पृथगिवाभासं संकल्पकलनामयम्।
मनो भवति विश्वात्मा भावयन्स्वाकृतिं स्वयम्॥ (६।११४।१६)

देश काल आदिसे अपरिमित आत्मतत्त्व अपनी ही शक्तिसे लीला द्वारा देश और कालसे परिमित रूपको धारण कर लेता है। जैसे जलमें चञ्चल जलवाला भँवर अपने आप ही उदय हो जाता है वैसे ही उस परमतत्त्वमें अपने आपही सृष्टि करने वाली कलाका उदय हो जाता है। जब आत्मा (ब्रह्म) अपने आप ही अपनी संकल्प

नामक शक्तिका प्रकाश इस प्रकार करता है जैसे कि वायु अपनी स्पन्द शक्तिका, तब आकारकी भावना करके वह विश्वका आत्मा (ब्रह्म) संकल्प करने वाला पृथक् आकारवाला मन बन जाता है।

(६) ब्रह्मका स्पन्दन ब्रह्मसे अन्य सा रूप धारण कर लेता है :—

स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभावतः।
अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिका स्वतः॥ (६/१।३३।२१)
आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव।
रश्मिजालमिदं ह्येतत्तस्यान्यदिव भास्वतः॥ (६/१।११४।४)
कनकव्यतिरेकेण यो भावयति राघव।
केयूरमेव तत्तस्य न तस्य कनकं हि तत्॥ (६/१।११४।५)
सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भावितः।
तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः॥ (६/१।११४।७)
पावकव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाविता।
तस्याग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति॥ (६/१।११४।१०)
किञ्चित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्महार्णवे। (४।४।११)
आत्मनोऽव्यतिरिक्तैव व्यतिरिक्तेव तिष्ठति॥ (२।४२।१२)

परमब्रह्म अपने स्वभाव द्वारा अपने आप ही यह भावना करके कि मेरी संकल्प विकल्प करनेवाली शक्ति मेरेसे अन्य है, अपना एक अन्य सा रूप धारण कर लेता है। यह ऐसे ही होता है जैसे कोई पुरुष अपनी भावना द्वारा सूर्यकी किरणोंको सूर्यसे अलग, सोनेके गहनेको सोनेसे अलग, जलकी तरङ्गको जलसे अलग, अग्निकी ज्वाला को अग्निसे अलग समझने लगे। चित् शक्ति चिति रूपी समुद्रमें कुछ क्षोभयुक्त होकर आत्मासे अतिरिक्त दूसरे आकारको धारण कर लेती है।

(७) ब्रह्मा (मन) ब्रह्मकी सङ्कल्प-शक्तिका रचा हुआ रूप है : —

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः।
संकल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः॥ (३।९६।३)

सब शक्तियोंवाले महान् और अनन्त आत्मतत्त्व (ब्रह्म) की संकल्प शक्ति द्वारा रचे हुये रूपको मन (ब्रह्मा) कहते हैं।

(८) ब्रह्माकी उत्पत्तिका कोई विशेष हेतु नहीं है :—

शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत् । (६/१ ।११।३७)
तस्मादकारणं भाति वा स्वचित्तैककारणम् ।
स्वकारणादनन्यात्मा स्वयंभूः स्वयमात्मवान् ॥ (३।३।५)
चित्स्वभावात्समायातं ब्रह्मत्वं सर्वकारणम् ।
संसृतौ कारणं पश्चात्कर्म निर्माय संस्थितम् ॥ (३।६४।२५)
आद्यः प्रजापतिः पूर्वं स्वयंभूरिति विश्रुतः ।
प्राक्तनानां स्वकार्याणामभावादप्यकारणः ॥ (३।१४।७)
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयंभुवः । (३।१३।४३)

(ब्रह्मकी) शक्तिका (ब्रह्मके) भीतर बिना किसी हेतुके स्फुरण होता है। स्वयंभू (ब्रह्मा) या तो बिना कारण, या अपने ही मनसे, या अपने आप ही प्रकट होता है। सब वस्तुओंका कारण ब्रह्मा ब्रह्मके स्वभावसे ही (बिना और किसी कारणके) उदय होता है। उदय होकर सृष्टिमें कार्य कारणके नियमकी स्थापना करता है। पूर्व कर्मोंके अभावसे आदि प्रजापति (ब्रह्मा) अपने आप ही, बिना किसी कारणके उत्पन्न होता है। पिछली (पूर्व कल्पकी) कोई स्मृति भी ब्रह्माकी उत्पत्तिका कारण नहीं है।

(९) ब्रह्मा कर्मबन्धनसे मुक्त है :—

प्राक्तनानि न सन्त्यस्य कर्माण्यद्य करोति नो । (३।२।२४)
प्राणस्पन्दोऽस्य यत्कर्म लक्ष्यते चास्मदादिभिः ।
दृश्यतेऽस्माभिरेवं तन्न त्वस्यास्त्यत्र कर्मधीः ॥ (३।२।२५)

ब्रह्माके न तो पूर्वजन्मके कर्म हैं और न अब वह (ऐसे) कर्म करता है (जिनका फल उसे भोगना पड़े)। हम लोगोंको जो उसका प्राण आदिकी क्रिया रूपी कर्म दिखाई पड़ता है उसमें उसकी कर्मबुद्धि नहीं है।

(१०) ब्रह्माका शरीर केवल सूक्ष्म है स्थूल नहीं :—

सङ्कल्पमात्रमेवैतन्मनो ब्रह्मेति कथ्यते ।
सङ्कल्पाकाशपुरुषो नास्य पृथ्व्यादि विद्यते ॥ (३।२।५४)
यथा चित्रकृदन्तःस्था निर्देहा भाति पुत्रिका ।
तथैवाभासते ब्रह्मा चिदाकाशाच्छरञ्जमम् ॥ (३।२।५५)

आतिवाहिक एवासौ देहोस्त्यस्य स्वयंभुवः ।
नत्वाधिभौतिको राम देहोऽजस्योपपद्यते ॥ (३।३।६)
सर्वेषां देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम् ।
अजस्य कारणाभावादेक एवातिवाहिकः ॥ (३।३।८)
सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम् ।
अजस्य कारणं नास्ति तेनासावेकदेहवान् ॥ (३।३।९)
नास्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः ।
आकाशात्मा च भात्येष आतिवाहिकदेहवान् ॥ (३।३।१०)
चित्तमात्रशरीरोऽसौ न पृथ्व्यादिक्रमात्मकः ।
आद्यः प्रजापतिर्व्योमवपुः प्रतनुते प्रजाः ॥ (३।३।११)

जिस मनको ब्रह्मा कहते हैं वह संकल्प मात्र है; वह संकल्पके आकाशमें रहनेवाला जीव है; उसमें कोई स्थूल तत्त्व, पृथ्वी आदि नहीं है। जैसे चित्रकारके मनके भीतर रहनेवाली प्रतिमा स्थूल शरीरसे रहित होती है वैसे ही ब्रह्मा भी विना किसी प्रकारकी स्थूलताके शुद्ध चिदाकाश रूपमें रहता है। ब्रह्माका शरीर केवल आतिवाहिक है, आधिभौतिक नहीं है। जिन प्राणियोंकी उत्पत्ति कारण द्वारा होती है उन सबके दो शरीर (एक सूक्ष्म दूसरा स्थूल) होते हैं, किन्तु ब्रह्माका, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण द्वारा नहीं होती, सूक्ष्म शरीर ही एक शरीर होता है। सब प्राणियोंका एक परम कारण ब्रह्मा है। उसका कोई कारण नहीं है, इसलिये ब्रह्मा केवल एक ही शरीरवाला है। आदि प्रजापति (ब्रह्मा) का भौतिक शरीर नहीं होता, वह तो शून्य स्वरूप सूक्ष्म देहयुक्त ही होता है। आदि प्रजापति केवल मानसिक शरीरवाला होता है, भौतिक शरीरवाला नहीं। सूक्ष्म रूपवाला रहकर ही वह प्रजाकी सृष्टि करता है।

(११) ब्रह्मा ही सारे संसारकी रचना करता है :—

मनो नाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः ।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम् ॥ (३।३।३३)
अहंमयी पद्मजभावना चित्
संकल्पभेदाद्वितनोति विश्वम् ।
अन्तर्मुखैवानुभवत्यनन्त-
निमेषकोट्यंशविधौ युगान्तम् ॥ (३।६१।३८)

मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत् ।
अनन्यादात्मनः शुद्धाद्द्रवत्वमिव वारिणः ॥ (३।३।२९)
अस्मात्पूर्वात्प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी ।
इयं प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवानिलात् ॥ (३।३।१५)

यह जगत् ब्रह्माका आकार धारण करनेवाले मन नामक जीव (ब्रह्मा) का मनोराज्य (कल्पना) है, किन्तु सत्य प्रतीत होता है । अहंयुक्त ब्रह्मारूपी भावना सङ्कल्पों द्वारा सृष्टिकी रचना करती है । यह चिति अपने भीतर ही निमेषके भी करोड़वें हिस्सेमें युगोंके अन्त तकका अनुभव कर लेती है । मनका रूप धारण करके ब्रह्म इस सृष्टिको जो कि आत्मासे अन्य नहीं है, ऐसे रचना करता है जैसे शुद्ध जलसे बहते हुए जलकी रचना हो जाती है । जैसे वायुमण्डलमें हवा चलने लगती है वैसे ही ब्रह्मके सर्व प्रथम स्पन्द ब्रह्मासे उससे अनन्य स्वरूपवाली सृष्टि उदय होती है ।

(१२) ब्रह्मासे उत्पन्न जगत् मनोमय है :—

मनोमात्रं यदा ब्रह्मा न पृथ्व्यादिमयात्मकः ।
मनोमात्रमतो विश्वं यद्यज्जातं तदेव हि ॥ (३।३।२५)

जो वस्तु जिस वस्तुसे उत्पन्न होती है वह उसी प्रकारकी होती है । इसलिये ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ जगत् मन मात्र है क्योंकि ब्रह्मा स्वयं मनमात्र ही है, उसमें स्थूलता तनिक भी नहीं है ।

(१३) हरेक सृष्टि नई है :—

अपूर्व एव स्वप्नोऽयं यद्वै सर्गोऽनुभूयते । (६।१९५।४१)
महाकल्पे विमुक्तत्वाद्ब्रह्मादीनामसंशयम् । (३।१३।४२)
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयंभुवः ॥ (३।१३।४३)

सृष्टिके रूपसे अनुभवमें आनेवाला स्वप्न अपूर्व है । महाकल्पके अन्तमें ब्रह्मा आदि सबकी मुक्ति हो जानेके कारण पूर्व कालकी कोई स्मृति भी ब्रह्माका कारण नहीं हो सकती ।

ऊपरके सब वर्णनका सार यह है कि अनन्त और सर्व शक्तिमय ब्रह्ममें अपने ही स्वभावसे, विना और किसी कारणके, लीला रूपसे, एक सृष्टिकारक जीवका उदय होता है । वह मनके आकारका, विना किसी स्थूल देहके, होता है । उसे ब्रह्मा कहते हैं । उसीसे कल्पना द्वारा इस समस्त सृष्टिका उदय होता है और उदय होकर सत्यसा प्रतीत होता है ।

१५—शक्ति

ब्रह्मा जो कि सारे विश्वका रचनेवाला है ब्रह्मकी स्पन्दशक्ति का प्रकाश है। ब्रह्ममें स्पन्दशक्तिके अतिरिक्त और बहुतसी शक्तियाँ हैं। बल्कि यह कहना चाहिये कि ब्रह्म अनन्त शक्तियोंका भण्डार है। यहाँपर ब्रह्मकी शक्तियोंका और विशेषतः स्पन्दशक्तिका योगवासिष्ठ-के अनुसार वर्णन किया जाता है।

(१) ब्रह्मकी अनेक शक्तियाँ :—

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा।
ययैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥ (३।६७।२)
सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम्।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसंकल्पविजृम्भितम् ॥ (६/१।३३।४१)
सर्वशक्तिर्हि भगवान्यैव तस्मै हि रोचते।
शक्तिं तामेव विततां प्रकाशयति सर्वगः ॥ (३।१००।६)
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम्।
न तदस्ति न तस्मिन्यद्विद्यते विततात्मनि ॥ (३।१००।५)
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तताऽपि च।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः ॥ (६/१।३७।१६)
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जडशक्तिस्तथोपले ॥ (३।१००।७)
द्रवशक्तिस्थाम्भःसु तेजःशक्तिस्तथानले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे भवशक्तिर्भवस्थितौ ॥ (३।१००।८)
ब्रह्मणः सर्वशक्तिर्हि दृश्यते दशदिग्गता।
नाशशक्तिर्हि विनाशेषु शोकशक्तिश्च शोकिषु ॥ (३।१००।९)
आनन्दशक्तिर्मुदिते वीर्यशक्तिस्तथा भटे।
सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता ॥ (३।१००।१०)

सबका ईश्वर (नियन्ता) ब्रह्म सब शक्तियोंसे सम्पन्न है। वह जिस शक्तिको चाहे जहाँपर प्रकट कर सकता है। आत्मा (परमात्मा) सब शक्तियोंसे युक्त है। वह जिस शक्तिकी जहाँ भावना करता है वहीं-

पर उसे अपने संकल्प द्वारा प्रकट हुआ देखता है। भगवान् सब प्रकार की शक्तियोंवाला है और सब जगह वर्तमान है। वह जहाँ जिस शक्तिको चाहता है वहीं उसे प्रकट कर देता है। नित्य पूर्ण और अक्षय ब्रह्ममें सब शक्तियाँ मौजूद हैं। कोई वस्तु संसारमें ऐसी नहीं है जो उस सर्वत्र स्थित ब्रह्ममें शक्तिरूपसे मौजूद न हो। शान्त आत्मा ब्रह्ममें ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृताशक्ति, अकर्तृताशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ वर्तमान हैं। ब्रह्मकी चेतनशक्ति शरीरधारी जीवोंमें दिखाई पड़ती है; स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति) हवामें; जड़शक्ति पत्थरमें; द्रव (बहनेकी) शक्ति जलमें; चमकनेकी शक्ति आगमें; शून्य (खालीपन) शक्ति आकाशमें; भव (कुछ होनेकी) शक्ति संसारकी स्थितिमें; सबको धारण करनेकी शक्ति दशों दिशाओंमें; नाशशक्ति नाशोंमें; शोकशक्ति शोक करनेवालोंमें; आनन्दशक्ति प्रसन्न चित्तवालोंमें; वीर्य-शक्ति योद्धाओंमें; सृष्टि करनेकी शक्ति सृष्टिमें। कल्पके अन्तमें सब शक्तियाँ स्वयं ब्रह्ममें रहती हैं।

(२) ब्रह्मकी स्पन्दशक्ति :—

स्पन्दशक्तिस्तथेच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम्॥ (६/२।८४।६)
सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा॥ (६/२।८५।१४)
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता।
दृश्याभासानुभूतानां कारणात्सोच्यते क्रिया॥ (६/२।८४।८)

जैसे शरीरधारी मनुष्यकी इच्छा कल्पनाके नगरकी रचना कर लेती है वैसे ही स्पन्दशक्ति रूपी भगवान्‌की इच्छा इस दृश्य जगत्‌की रचना करती है। परमेश्वर शिवकी वह स्वाभाविक स्पन्दनशक्ति प्रकृति कहलाती है और वही जगन्माया (जगत्‌को रचनेवाली माया) के नामसे भी प्रसिद्ध है। जगत्‌का उपादान होनेके कारण वह प्रकृति कहलाती है। दृश्यमान पदार्थोंका कारण होनेकी वजहसे उसे क्रिया भी कहते हैं।

(३) प्रकृति :—

यदैव खलु शुद्धाया मनागपि हि संविदः।
जडेव शक्तिरुदिता तदा वैचित्र्यमागतम्॥ (३।९६।७०)

भावदार्ढ्यात्मकं मिथ्या ब्रह्मानन्दो विभाव्यते ।
आत्मैव कोशकारेण लालादार्ढ्यात्मकं यथा ॥ (३।६७।७३)
उर्णनाभाद्यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः ।
नित्यात्प्रबुद्धात्पुरुषाद्ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा ॥ (३।९६।७१)
सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेते सा कल्प्यते त्रिधा । (६/पू।९।४)
तिष्ठत्येतास्ववस्थासु भेदतः कल्प्यते त्रिधा ॥ (६/पू।९।५)
सत्त्वं रजतम इति एषैव प्रकृतिः स्मृता । (६/पू।९।५)
अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् ॥ (६/पू।९।६)
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् । (६/पू।९।६)
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥ (६/पू।९।८)

जब शुद्ध संवित्‌में जड़शक्तिका उदय हो जाता है तब ही संसारकी विचित्रता उत्पन्न होती है। ब्रह्मानन्द रूप आत्मा ही भावकी दृढ़तासे मिथ्या रूपमें इस प्रकार प्रकट हो रहा है जैसे कि रेशमका कीड़ा स्वयं ही अपनी रालको दृढ़ करके जाला बना लेता है। जैसे चेतन मकड़ीसे जड़ जालेकी उत्पत्ति हो जाती है वैसे ही नित्य और चेतन ब्रह्मसे प्रकृतिकी उत्पत्ति हो जाती है। प्रकृतिके तीन प्रकार होते हैं—सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल। इन तीन अवस्थाओंमें प्रकृति स्थित रहती है और इसी कारण तीन प्रकारकी प्रकृति होती है। प्रकृतिके तीन भेद हैं सत्त्व, रजस् और तमस्। इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिको अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्यासे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। इससे परे परमब्रह्म है। सारे दृश्य पदार्थ इस अविद्याके आश्रय पर हैं। अर्थात् अविद्या ही सब दृश्य पदार्थोंका उपादान कारण है।

(५) शक्तिका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध :—

यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ (६/उ।८४।३)
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् । (६/उ।८४।२)
व्यावृत्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा ।
चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ॥ (६/उ।८४।२६)
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ (६/उ।८४।२७)

चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥ (३।८२।६)
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्तता विना । (३।८२।७)
विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ॥ (३।८२।९)
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ॥ (३।८२।१०)
चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥ (३।८२।१४)
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ (३।८५।१५)
भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ (३।८५।१६)
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् । (३।८५।१७)
संविन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः ॥ (३।८५।१८)
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति । (३।८५।१८)
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ (३।८५।१९)
तदन्तरैकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे । (३।८५।१९)
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति ॥ (३।८५।२१)
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाब्धिताम् ॥ (३।८५।२६)

जैसे हवा और उसकी चलनेकी क्रिया, आग और उसकी गरमी सदा एक ही हैं वैसे ही चिति और स्पन्दशक्ति एक ही हैं। मनोमयी स्पन्दनशक्ति ब्रह्मसे अलग नहीं है। जब कि चिति-शक्ति, क्रिया-देवी, क्रियासे निवृत्त होकर, अपने स्थानकी ओर आत्मामें वापिस आ जाती है और वहींपर शान्तभावसे स्थित रहती है तो उस अवस्थाको शिव (शान्त ब्रह्म) कहते हैं। क्रियादेवी चिच्छक्तिरूपी उस महान् आकृतिवाली स्पन्दशक्तिका अपने असली रूपमें स्थित रहनेका नाम शिव है। जैसे स्वर्ण किसी आकारके विना स्थित नहीं होता वैसे ही परम ब्रह्म भी चेतनताके विना जो कि उसका स्वभाव है स्थित नहीं रहता। जैसे तिक्तताके विना मिर्च और मधुरताके विना गन्नेका रस नहीं रहता वैसे ही चितिकी चेतनता कुछ स्पन्दन विना नहीं रहती। प्रकृतिसे परे, दिखाई न देनेवाला पुरुष है जो कि सदा ही शरद् ऋतुके अकाशकी

नाईं स्वच्छ है, शान्त है, और शिवरूप है। भ्रमरूपवाली प्रकृति जो कि परमेश्वरकी इच्छारूपी स्पन्दात्मक शक्ति है, तभीतक संसारमें भ्रमण करती रहती है (अर्थात् पदार्थोंकी सृष्टि करती रहती) जब तक कि वह नित्य तृप्त और अनामय (अविकार) शिवका दर्शन नहीं करती। संवित् मात्र सत्ताके साथ उसका तादात्म्य होनेके कारण प्रकृति जब कभी भी दैवयोगसे पुरुषको स्पृश कर लेती है (अर्थात् पुरुषका ज्ञान उसे हो जाता है) तभी वह अपने प्रकृतित्वको छोड़कर पुरुषके साथ तन्मय (तदात्म) हो जाती है। जैसे नदी समुद्रमें पड़कर अपना रूप छोड़कर समुद्र ही बन जाती है वैसे ही प्रकृति पुरुषको प्राप्त करके पुरुषरूप हो जाती है। शिवकी इच्छा चिच्छक्तिः शिवको प्राप्त करके शान्त हो जाती है। जैसे नदी समुद्रमें पड़कर समुद्र हो जाती है वैसे ही प्रकृति चितिके शान्त हो जानेपर परम पदको पाकर तद्रूप हो जाती है।

१६—परम ब्रह्म

योगवासिष्ठके अनुसार उस परम तत्त्वको ब्रह्म कहते हैं जिससे जगत्के सब पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, जिसमें सब पदार्थ वर्त्तमान रहते हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं; जो सब जगह, सब कालोंमें और सब वस्तुओंमें मौजूद रहता है। यहाँपर उस परम ब्रह्मका वर्णन किया जायेगा।

(१) ब्रह्म :—

सर्वशक्ति परं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम्।
सर्वदा सर्वथा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम्॥ (६/२।१४।८)
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्चयत्।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम्॥ (६/२।१८४।४६)
यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥ (१।१।१)
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टादर्शनदृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः॥ (१।१।२)
स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥ (१।१।३)

पर ब्रह्म सब प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न है और उसमें सब वस्तुयें हैं। वह सदा ही सब प्रकारसे सब कुछ है; सबके साथ सबमें और सब जगह है। वह वह परम तत्त्व है जिसमें सब कुछ है, जो जो सब ओर है, जो पूर्णरूपसे सब कुछ है, जो कि सदा और सब जगह पूर्णरूपसे स्थित है। जिससे सब प्राणी प्रकट होते हैं, जिसमें सब स्थित हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं, उस सत्यरूप तत्त्वको नमस्कार हो। जिससे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयका, द्रष्टा, दर्शन और दृश्यका, और कर्ता, हेतु और क्रियाका उदय होता है उस ज्ञान स्वरूप तत्त्वको नमस्कार हो। जिससे पृथ्वी और स्वर्गमें आनन्दकी वर्षा होती है और जिससे सबका जीवन है उस ब्रह्मानन्द स्वरूप तत्त्वको नमस्कार हो। (अर्थात्

ब्रह्म उस परम तत्त्वको कहते हैं जो सब कुछ है, जिसमें सब कुछ है, और जिससे सब कुछ है; जो सत्, चित् और आनन्द है)।

(२) ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता :—

अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् । (६/२।६२।२७)
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ (६/२।३१।३७)
प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यदगम्यमचिह्नितत् ।
स्वानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥ (६/२।१९५।६९)

ब्रह्म केवल उसको जाननेवालेके अनुभवमें ही आ सकता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह अवाच्य है (शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता) अनभिव्यक्त है (किसी प्रकार उसको प्रकट नहीं कर सकते), इन्द्रियोंसे परे है (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता), और उसको कोई विशेष नाम नहीं दिया जा सकता । उसका कोई चिह्न नहीं है और वह प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता । ब्रह्मका ज्ञान केवल अपने अनुभव द्वारा होता है । वहस मुवाहसेसे ब्रह्म नहीं जाना जा सकता ।

(३) नेति नेति (ब्रह्म न यह है और न वह है):—

न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः ।
नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान् ॥ (५।७२।४१)
नाभ्याशस्थो न दूरस्थो नैवास्ति न च नास्ति च ।
न प्राप्यो नास्ति न चाप्राप्यो न वा सर्वो न सर्वगः ॥ (५।७२।४२)
न पदार्थो नापदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ (५।७२।४३)

ब्रह्म न चेतन है न जड़; न सत् है न असत् ; न अहं (मैं) है और न दूसरा; न एक है, न अनेक और न अनेक युक्त; न वह नज़दीक है न दूर; न वह है, न नहीं हैं; न प्राप्त होने वाला है और न वह अप्राप्त है; न वह सब कुछ है और न वह सब वस्तुओंमें रहनेवाला है; न वह कोई विशेष पदार्थ है और न अपदार्थ; न वह पाञ्च (भूत) है और न पाञ्च भूतोंका आत्मा है। (इस वर्णनका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म तो जो कुछ संसारमें है वह सब कुछ है; इसलिये ब्रह्मको कोई विशेष वस्तु कहना उसकी विरोधी वस्तुसे उसे बाहर करना है अर्थात् उसको परिमित करना है। दोनों विरुद्ध भावोंके भीतर और

बाहर ब्रह्म रहता है; इसलिये उसको दोनोंमेंसे कोई भी नहीं कह सकते)।

(४) ब्रह्मको एक अथवा अनेक भी नहीं कह सकते :—

सति द्वित्वे किलैकं स्यात्सत्येकत्वे द्विरूपता।
कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत् ॥ (६/१।३३।४)
एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयो।
एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ (६/१।३३।५)
सनानातोऽप्यनानात्तो यथाण्डरसबर्हिणः।
अद्वैतद्वैतसत्त्वात्मा तथा ब्रह्मजगत्क्रमः ॥ (६/१।४७।३१)

दूसरा मौजूद होनेपर ही किसीको एक कहा जाता है; एकके मौजूद होनेपर दूसरेको दूसरा कहा जाता है। दोनों ही चितिके रूप हैं और दोनोंके चिति होनेके कारण दोनोंका दो होना असत् है। एकके विना कोई दूसरा नहीं होता और दूसरेके विना कोई एक नहीं होता। एकके अभावसे एकता और द्वितीयता दोनोंका अभाव हो जाता है। जैसे (मोरके) अण्डेके भीतर रस रूपसे एकता और पक्षी रूपसे अनेकता दोनों ही रहती हैं वैसे ही यहाँपर ब्रह्म रूपसे एकता और जगत् रूपसे अनेकता रहती है।

(५) ब्रह्म शून्य है अथवा कोई भावात्मक पदार्थ है यह भी कहना कठिन है :—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (६/२।५३।९)
यथा सदसतोः सत्ता समतायामवस्थितिः।
यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम् ॥ (६/१।४७।३२)
न सन्नासन्न मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि। (६/१।४८।१२)
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत् ॥ (६/२।२१।३६)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना।
अशून्यत्वासम्भवतः शून्यताशून्यते कुतः ॥ (३।१०।१४)
सलिलान्तर्यथा वीचिर्मृदन्तर्घटको यथा।
तथा यत्र जगत्सत्ता तत्कथं खात्मकं भवेत् ॥ (३।१०।२०)

अनुत्कीर्णा यथा स्तम्भे संस्थिता शालभञ्जिका ।
तथा विश्वं स्थितं तत्र तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ (३।१०।७)
एवमित्थं महारम्भपूर्णमप्यजरं पदम् ।
अस्मद्दृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम् ॥ (३।१०।२६)

जैसे कि हम चितिरूप ब्रह्मके सम्बन्धमें यह नहीं कह सकते कि 'वह नहीं है' वैसे ही हम उसके सम्बन्धमें यह भी नहीं कह सकते कि 'वह है'। वह परम तत्त्व वह है जिसमें कि सत्ता और असत्ता दोनों भावोंका समावेश है। न वह सत् है, न असत्, न दोनोंके बीचकी स्थिति; न शून्य है और न अशून्य है। न वह है और न नहीं है। उसको किसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकते। शून्य और अशून्य सापेक्षक शब्द हैं। जिसको शून्य नहीं कह सकते उसके सम्बन्धमें शून्यता और अशून्यताका भला क्या ज़िक्र? भला वह तत्त्व शून्य कैसे कहा जा सकता है जिसमें सारा जगत् इस प्रकार मौजूद रहता है जैसे कि जलमें तरङ्ग और मिट्टीमें घड़ा? भला उस तत्त्वको शून्य कैसे कहें जिसके भीतर तमाम विश्व इस प्रकार मौजूद रहता है जैसे लकड़ीके टुकड़ेके भीतर उससे बनाई जानेवाली पुतलियाँ? लेकिन हमारे दृष्टिकोणसे वह शान्त और अजर तत्त्व जिसमें कि सारी सृष्टि वर्तमान है आकाशसे भी अधिक शून्य (सूक्ष्म) है। इसलिये उसे हम शून्यसे भी शून्य कह सकते हैं (यद्यपि ऊपर यह बतला जा चुका है कि वह शून्य नहीं कहा सकता)।

(६) ब्रह्म विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनोंसे परे है :—

विद्याऽविद्यादृशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ।
पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वभावनादेव भिन्नता ॥ (६।९।१७)
पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ।
नाविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ॥ (६।९।१८)
विद्याऽविद्यादृशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदवशादेतद्द्वयूद्वह ॥ (६।९।१९)
विद्याविद्यादृशौ न स्तः शेषे बद्धपदो भव ।
नाविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयानया ॥ (६।९।२०)

मिथः स्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव ।
अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥ (६/१।९।२३)
एते राघव लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ।
अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥ (६/१।९।२४)

विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) तब ही तक भिन्न हैं जबतक कि भेद भावना है, जैसे कि जल और तरङ्ग तभीतक एक दूसरेसे भिन्न हैं जबतक कि हम उनको दो समझते हैं। जैसे जल और तरङ्ग वास्तवमें एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं, वैसे ही वास्तवमें न विद्या है और न अविद्या। दोनों प्रतियोगी (विरुद्ध भाव) एक दूसरेका व्यवच्छेद करते हैं (अर्थात एक के होते हुए दूसरा नहीं रहता)। इसलिये परम तत्त्वमें न विद्याका अस्तित्व है और न अविद्याका, क्यों दोनों विरुद्ध भाव हैं (ब्रह्म दोनोंसे ऊपर या परे है)। उस तत्त्वमें स्थित होना चाहिये जिसमें न विद्याकी सत्ता है न अविद्या की; क्योंकि न वास्तवमें विद्या है और न अविद्या। दोनों कल्पनाओंका त्याग करना चाहिये। अविद्या और विद्या दोनों एक ही सत्ताका प्रकाश हैं, जैसे कि धूप और छाया। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तो अविद्या और विद्या दोनों ही कल्पनायें क्षीण हो जाती हैं। ये दोनों जब लीन हो जाती हैं तब वह तत्त्व शेष रहता है जिसको प्राप्त करना है। अविद्याके क्षीण होनेपर विद्याकी भावना भी क्षीण हो जाती है।

(७) ब्रह्म तम और प्रकाश दोनोंसे परे है :—

मुक्तं तमःप्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम् । (३।१०।१८)
ब्रह्मण्ययं प्रकाशो हि न संभवति भूतजः ॥ (३।१०।१५)
महाभूतप्रकाशानामभावस्तम उच्यते ।
महाभूताभावजं तु तेनात्र न तमः क्वचित् ॥ (३।१०।१६)
स्वानुभूतिप्रकाशोऽस्य केवलं व्योमरूपिणः ।
योऽन्तरस्ति स तेनैव नत्वन्येनानुभूयते ॥ (३।१०।१७)

यह अजर (क्षीणताका अनुभव न करनेवाला) पद (सामान्य) तम और प्रकाशसे परे है (अर्थात् परम तत्त्व ब्रह्ममें हम लोगोंके अनुभवमें आने वाला न तम (अन्धेरा) है और न प्रकाश (चान्दना) है)। अग्नि आदि स्थूल तत्त्वोंसे उत्पन्न होने वाला प्रकाश ब्रह्ममें सम्भव नहीं है। अग्नि आदि महाभूतोंके प्रकाशके अभावका नाम

तम (अन्धेरा) है। वह अन्धेरा भला ब्रह्ममें कैसे हो सकता है ? (क्योंकि ब्रह्म तो सब महाभूतोंका उद्गम है)। शून्य रूपवाले परम तत्त्व ब्रह्ममें अपने अनुभवका ही प्रकाश है (किसी महा भूत—स्थूल तत्त्वका नहीं)। वह प्रकाश उसके अन्दर ही होता है; उसका अनुभव दूसरे किसीको नहीं होता।

(८) ब्रह्म न जड़ है, न चेतन :—

जडचेतनभावादिशब्दार्थश्रीर्न विद्यते।
अनिर्देश्यपदे पत्रलतादीव महामरौ॥ (३।९१।३६)

जैसे महामरुस्थलमें लता पत्र आदिका सर्वथा अभाव रहता है वैसे ही उस परम तत्त्वके लिये, जिसका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता, जड़, चेतन आदि शब्दोंका प्रयोग नहीं हो सकता।

(९) ब्रह्मको "आत्मा" भी नहीं कह सकते :—

नात्मा॥ (६।५२।३०)
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः॥ (३।५।५)
नात्मायमयमप्यात्मा संज्ञाभेद इति स्वयम्।
तेनैव सर्वगतया शक्त्या स्वात्मनि कल्पितः॥ (५।७३।१९)

ब्रह्म आत्मा भी नहीं कहा जा सकता। जिसको शब्दों द्वारा वर्णन नहीं कर सकते, जिसका अनुभव केवल मुक्त पुरुषोंको ही होता है, उसके लिये "आत्मा" आदि संज्ञा (नाम) स्वाभाविक नहीं हैं, केवल कल्पित हैं (अर्थात् हम लोग कल्पना द्वारा ही उसको आत्मा कह सकते हैं; वास्तवमें ब्रह्म आत्मा नहीं है)। न वह आत्मा है और न अनात्मा। आत्मा और अनात्माका भेद उसने अपनी सर्वत्र रहनेवाली शक्तिके द्वारा अपने ही भीतर कल्पित कर रक्खा है।

(१०) ब्रह्मका क्या स्वभाव है यह कहना असम्भव है :—

ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसंभवात्॥ (६।१०।१४)
अभावसव्यपेक्षस्य भावस्य सम्भवादपि।
पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः॥ (६।१०।१५)

२१

ब्रह्मका क्या स्वभाव (वास्तविक स्वरूप) है यह बतलाना नामुमकिन है, क्योंकि अनन्त और परम तत्त्वमें, क्या उसका रूप है और क्या उसका रूप नहीं है—यह कहना सर्वथा असम्भव है। भावकी अपेक्षासे अभावका वर्णन होता है, लेकिन अनन्त और परमब्रह्ममें भाव और अभाव और स्वभाव और परभावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

(११) ब्रह्मके कुछ कल्पित नाम :—

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥ (३।१।१२)
यः पुमान्सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥ (३।५।६)
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम्।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्ता सदैव सः ॥ (३।५।७)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ (५।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ (५।८७।२०)

व्यवहार (बोल चाल) के वास्ते विद्वानोंने परम तत्त्वको 'ऋत', 'आत्मा', पर ब्रह्म', 'सत्य' आदि अनेक कल्पित नामोंसे पुकारा है। (ये सब नाम ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपका वर्णन नहीं करते)। सांख्य दर्शन वाले उसको 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्ती लोग 'ब्रह्म', विज्ञानवादी बौद्ध उसे शुद्ध और एक स्वरूप 'विज्ञानमात्र' ('विज्ञप्तिमात्र') कहते हैं। वह शून्यवादियोंका 'शून्य' है, सूर्यके उपासक लोग उसे 'प्रकाश' कहते हैं। वही 'वक्ता' (बोलनेवाला जीव) 'मन्ता' (विचार करनेवाला मन), 'ऋत' (सत्य) 'भोक्ता' (भोगनेवाला), 'द्रष्टा' (देखनेवाला), 'कर्ता' (कर्म करनेवाला) है। वह सांख्य दर्शनवालोंका 'पुरुष' योगदर्शनवालोंका 'ईश्वर', शैवोंका 'शिव', कालवादियोंका 'काल', आत्मज्ञानियोंका 'आत्मा', अनात्मवादियोंका "नैरात्म्य" (अनात्मभाव), माध्यमिकोंका 'मध्य', और जिनकी सब ओर समदृष्टि है उनका 'सर्व' है।

(१२) ब्रह्मका वर्णन :—

यद्यपि ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि परम तत्त्व 'ब्रह्म' का किसी प्रकार भी वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता, तथापि मनुष्य किसी न किसी प्रकार उसका वर्णन करनेका प्रयत्न करते ही हैं। सब ही दार्शनिक ग्रन्थोंमें परमतत्त्वका कुछ न कुछ वर्णन किया जाता है। योगवासिष्ठमें भी अनेक स्थानोंपर ब्रह्मका विस्तारपूर्वक और साहित्यिक रूपसे अति सुन्दर वर्णन पाया जाता है। इसलिये यहाँपर हम उस वर्णनका सार पाठकोंके सामने रखते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि ब्रह्म (परमतत्त्व) का इतना सुन्दर वर्णन संसारके और किसी भी ग्रन्थमें नहीं मिलता।

आकशपरमाणुसहस्रांशमात्रेऽपि या शुद्ध चिन्मात्रसत्ता
विद्यते सा हि परमार्थसंवित् ॥ (६/२।६१।६)

न दृश्यं नोपदेशार्हं नात्यासन्न दूरगम्। (६/१।४८।१०)
केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ॥ (६/१।४८।११)
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम्। (६/२।५२।३६)
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ (६/२।५२।२७)
तन्न वायुर्न चाकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम्।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ (६/२।५२।२८)
न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक्।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ (६/२।५२।३०)
यत्सम्वेद्यविनिर्मुक्तं संवेदनमनिर्मितम्।
चेत्यमुक्तं चिदाभासं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ (६/१।५९।४)
सा परा परमा काष्ठा सा दृशां दृगनुत्तमा।
सा महिम्नां च महिमा गुरूणां सा तथा गुरुः ॥ (६/१।५९।५)
स तन्तुर्भूतमुक्तानां परिप्रोतहृदम्बरः।
स भूतमरिचौघानां परमा तीक्ष्णता तथा ॥ (६/१।५९।९)
स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम्।
स सतो वस्तुनः सत्त्वमसत्त्वं वा सतः स्वतः ॥ (६/१।५९।१०)
सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम्। (६/२।१४।१४)
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ॥ (६/२।५२।३६)
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य संस्थितम् ॥ (६/२।१४।९)

सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ (६/२।१४।१०)
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (६/२। १४।११)
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ (६/२।३५।१६)
ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याग्रे यदिदं जगत् ।
परमाणुवदाभाति क्वचिदेव न भाति च ॥ (६/१।३५।१६)
ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याग्रे यदिदं नभः ।
अणोः पार्श्वे महामेरुरिव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ (६/१।९६।१६)
स आत्मा तच्च विज्ञानं स शून्यं ब्रह्म तत्परम् ।
तच्छ्रेयः स शिवः शांतः सा विद्या सा परा स्थितिः ॥ (६/१।५९।६)
योऽयमन्तश्चितेरात्मा सर्वानुभवरूपकः । (६/१।५९।७)
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ (३।७।२)
स जगत्तिलतैलात्मा स जगद्गृहदीपकः ।
स जगत्पादपरसः स जगत्पशुपालकः ॥ (६/१।५९।८)
सन्नप्यसद्यो जगति यो देहस्थोऽपि दूरगः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः ॥ (३।५।८)
यस्माद्विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः ।
यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ (३।५।९)
यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम् ।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत् ॥ (३।५।१०)
य आकाशे शरीरे च दृषत्स्वप्सु लतासु च ।
पांसुष्वद्रिषु वातेषु पातालेषु च संस्थितः ॥ (३।५।११)
व्योम येन कृतं शून्यं शैला येन घनीकृताः ।
आपो द्रुताः कृता येन दीपो यस्य वशो रविः ॥ (३।५।१२)
प्रसरन्ति यतश्चित्राः संसारासारदृष्टयः ।
अक्षयामृतसम्पूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः ॥ (३।५।१४)
आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त्यतितते यस्मिन्मराविव मरीचयः ॥ (३।५।१४)
नाशरूपो विनाशात्मा योऽन्तस्थः सर्वजन्तुषु ।
गुप्तो योऽप्यतिरिक्तोऽपि सर्वभावेषु संस्थितः ॥ (३।५।१६)

यश्चिन्मणिः प्रकचति प्रतिदेहसमुद्गके ।
यस्मिंश्चिन्दौ स्फुरन्त्येता जगज्जालमरीचयः ॥ (३।५।१८)
नियतिर्देशकालौ च चलनं स्पन्दनं क्रिया ।
इति येन गताः सत्तां सर्वसत्तातिगामिना ॥ (३।५।२२)
अत्यन्ताभाव एवास्ति संसारस्य यथास्थितेः ।
यस्मिन्बोधमहाम्बोधौ तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२०)
द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयं गतः ।
यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२१)
अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिन्शून्यं जगत्स्थितम् ।
सर्गौघे सति यच्छून्यं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२२)
यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत्स्थितम् ।
जडं वाजडमेवान्तस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२३)
चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ (३।९।५०)
अकर्णजिह्वानासात्वग्नेत्रः सर्वत्र सर्वदा ।
शृणोत्यास्वादयति यो जिघ्रेत्स्पृशति पश्यति ॥ (३।९।५२)
यस्यान्यदस्ति न विभोः कारणं शशशृङ्गवत् ।
यस्येदं च जगत्कार्यं तरङ्गौघ इवाम्भसः ॥ (३।९।५५)
सस्पन्दे समुदेतीव निःस्पन्दान्तर्गतेन च ।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ (३।९।५८)
जगन्निर्माणविलयविलासो व्यापको महान् ।
स्पन्दास्पन्दात्मको यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ॥ (३।९।५९)
स्पन्दास्पन्दमयी यस्य पवनस्येव सर्वगा ।
सत्तानाम्नैव भिन्नेव व्यवहारान्न वस्तुतः ॥ (३।९।६०)
यदस्पन्दं शिवं शान्तं यत्स्पन्दं त्रिजगत्स्थितिः ।
स्पन्दास्पन्दविलासात्मा य एको भरिताकृतिः ॥ (३।९।६२)
नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये ।
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ (३।१०।३९)
नास्ति दृश्यं जगद्द्रष्टा दृश्याभावाद्विलीनवत् ।
भातीति भासनं यत्स्यात्तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ (३।१०।४०)
चितेर्जीवस्वभावाया यदचेत्योन्मुखं वपुः ।
चिन्मात्रं विमलं शान्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४१)

अस्वप्नाया अनन्ताया अजडाया मनःस्थितेः ।
यद्रूपं चिरनिद्रायास्तत्तदानघ शिष्यते ॥ (३।१०।४३)
वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा ।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४७)
मनः स्वप्नेन्द्रियैर्मुक्तं यद्रूपं स्यान्महाचितेः ।
जङ्गमे स्थावरे वापि तत्सर्वान्तेऽवशिष्यते ॥ (३।१०।५२)
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्ताया संविदो वपुः ।
निमेषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ (६/२।१०६।४)
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
यादृशः स्यात्समो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ (६/२।१०६।६)
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसङ्क्षये ।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ (६/२।१०६।७)
रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्यामृतस्य यः ।
भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥ (६/२।१०६।९)
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
यत्र वास्तमयश्चित्खं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ (६/२।१०६।११)
यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्रा परिणमन्त्यलम् ।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ (६/२।१०६।१२)
नेदं नेदं तदित्येव सर्वं निर्णीय सर्वथा ।
यन्न किञ्चिसदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ (६/२।१०६।१९)
संवेद्येनापरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ॥ (६/१।९।२)
मूकोपमोऽपि योऽमूको मन्ता योऽप्युपलोपमः ।
यो भोक्ता नित्यतृप्तोऽपि कर्ता यश्चाप्यकिंचन ॥ (३।९।६४)
योऽनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः सहस्रकरलोचनः ।
न किंचित्संस्थितेनापि येन व्याप्तमिदं जगत् ॥ (३।९।६५)
निरिन्द्रियबलस्यापि यस्याशेषेन्द्रियक्रियाः ।
यस्य निर्मननस्यैता मनोनिर्माणरीतयः ॥ (३।९।६६)
साक्षिणि स्फार आभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ।
सति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ॥ (३।९।६८)
यस्माद्घटपटाकारपदार्थशतपङ्क्तयः ।
तरङ्गगणकल्लोलवीचयो वारिधेरिव ॥ (३।९।६८)

स एवान्यतयोदेति यत्पदार्थशतभ्रमैः ।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ (३।९।७०)
यतः कालस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता ।
मानसी कलना येन यस्य भासा विभासनम् ॥ (३।९।७३)
क्रियां रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शं च चेतनम् ।
यद्वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ ॥ (३।९।७४)
परमाणोरपि परं तदणीयो ह्यणीयसः ।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तदाकाशोदरादपि ॥ (३।१०।३२)
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपत्वादतिविस्तृतम् ।
तदानाद्यन्तमाभासं भासनीयविवर्जितम् ॥ (३।१०।३३)
यद्व्योम्नो हृदयं यद्वा शिलायाः पवनस्य च ।
तस्याचेत्यस्य चिद्व्योम्नस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४४)
अचेत्यस्यामनस्कस्य जीवतो या स्वभावतः ।
स्यात्स्थितिः सा परा शान्ता सत्ता तस्याद्यवस्तुनः ॥ (३।१०।४५)
स्थावराणां हि यद्रूपं तच्चेद्बोधमयं भवेत् ।
मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तं तत्परेणोपमीयते ॥ (३।१०।५३)
चित्प्रकाशस्य यन्मध्यं प्रकाशस्यापि स्वस्य वा ।
दर्शनस्य च यन्मध्यं तद्रूपं ब्रह्मणो विदुः ॥ (३।१०।४६)
पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा ।
सत्ता सामान्यरूपेण या चित्सोऽहमलेपकः ॥ (६/१।११।९०)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे ।
समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे ॥ (६/१।११।९८)
परमाकाशनगरनाट्यमण्डपभूमिषु ।
स्वशक्तिवृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता ॥ (३/१।३७।१२)
प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम् ।
सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम् ॥ (६/१।९६।२७)
न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च ।
मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम् ॥ (३।११९।२३)

आकाशके परमाणुके हज़ारवें भागके भीतर भी जो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता वर्तमान है वही परमार्थ संवित् है। न वह दिखाई देती है और न वर्णन की जा सकती है। न वह समीप है और न दूर है। शुद्धात्माका चित्-रूप केवल अनुभव किया जा सकता है (वर्णन

नहीं)। वह सब कुछ है; सबका आत्मा है; और सबसे रहित भी है। वह सब भूतोंका आत्मा, शून्य और सत् तथा असत् दोनों ही है। वह न वायु है; न आकाश है; न बुद्धि आदि है; न शून्य है; वह 'कुछ' नहीं है तो भी सबका आत्मा है; वह कोई ऐसा पदार्थ है जो कि आकाशसे भी सूक्ष्म है। न वह काल है, न वह मन है, न वह आत्मा है, न सत्ता है, न असत्ता, न देश, न दिशायें, न कोई इन सबके बीचका पदार्थ न अन्तका; न वह ज्ञान है और न अज्ञ पदार्थ है। वह संवेद्य रहित संवित् है, चेत्य रहित चिति है; वह संसारकी परम पराकाष्ठा है; वह सब दृष्टियोंकी सर्वोत्तम दृष्टि है। वह सब महिमाओंकी महिमा है; और सब गुरुओंका गुरु है। वह सब प्राणी रूपी मोतियोंका तागा है जो कि उनके हृदय रूपी छेदोंमें पिरोया हुआ है। वह सब प्राणी रूपी मिर्चोंकी तीक्ष्णता है। वह पदार्थका पदार्थत्व है, वह सर्वोत्तम तत्त्व है। वह वर्तमान वस्तुओंकी सत्ता है और स्वयं सत्ता और असत्ता दोनों है। सब जगह सब वस्तुओंसे युक्त तथा सर्व भावोंसे मुक्त है। सब ओर उसके हाथ और पैर हैं, सब ओर उसके सिर और मुख हैं, सब ओर उसके कान हैं; संसारकी सब वस्तुओंको घेरकर वह स्थित है। वह इन्द्रियों द्वारा जाने जाने वाले सब गुणोंसे रहित है, और उनसे युक्त भी है। सबका भरण करनेवाला, किन्तु असक्त है; सब गुणोंके भोगनेवाला, किन्तु निर्गुण हैं। सब प्राणियोंके भीतर और बाहर है। चर और अचर दोनों है। अति सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय (जानने योग्य नहीं) है। वह दूर भी है और समीप भी। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, स्थूलसे भी स्थूल, भारीसे भी भारी और अच्छेसे भी अच्छा है। वह इतना बड़ा है कि उसके आगे सारा जगत् भी परमाणुके समान दिखाई पड़ता है; बल्कि दिखाई भी नहीं पड़त । वह इतना सूक्ष्म है कि उसके सामने सूक्ष्म आकाश तत्त्व भी अणुके मुक़ाबलेमें महा मेरु जैसा स्थूल मालूम पड़ता है। वह आत्मा है; वह विज्ञान है; वह शून्य है; वह परमब्रह्म है; वह श्रेय है; वह शिव है; वह विद्या है; और वही परम स्थिति है। वह सबका अनुभवरूप अन्तरात्मा है। शरीरमें सदा वह चिन्मात्र रूपसे स्थित है। वह जगत् रूपी तिलका तेल है; जगत् रूपी घरका दीपक है; जगत् रूपी वृक्षका रस है; जगत् रूपी पशुका पालनेवाला ग्वाला है। वह जगत्में वर्तमान होते हुए भी नहीं है; वह शरीरमें रहते

हुए भी अत्यन्त दूर है; वह ऐसा प्रकाश है जिससे सूर्यका प्रकाश उदय होता है। उससे विष्णु आदि देवता ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि सूर्यसे उसकी किरणें; उससे अनन्त जगत् ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि समुद्रसे बुल्बुले। उसकी ओर तमाम दृश्य पदार्थ इस प्रकार जा रहे हैं जैसे कि महा समुद्रकी ओर नदियाँ; वह सब पदार्थोंको और आत्माको दीपककी नाईं प्रकाशित करता है। वह आकाशमें, शरीरमें, पत्थरोंमें, लताओंमें, घाटियोंमें, पहाड़ोंमें, हवाओंमें और पातालमें वर्तमान है। उसने आकाशको शून्य बनाया, पहाड़ोंको कठिन बनाया, और जलोंको बहनेवाला बनाया। सूर्य उसके बसमें एक दीपक है। जैसे बादलसे वर्षाकी बून्दें गिरती हैं वैसे ही उस अक्षय और पूर्ण अमृतसे नाना प्रकारके असार संसारोंके दृश्य उदय होते हैं। जैसे मरुस्थलमें मृगतृष्णाकी नदियां दिखाई पड़ती हैं वैसे ही उसमें भी त्रिभुवनके उदय और अस्तरूपी लहरें उठा करती हैं। वह सब प्राणियोंके भीतर रहकर उनका संहार करनेवाला काल है। सब भावोंमें गुप्तरूपसे वर्तमान रहता हुआ भी वह सबसे अतिरिक्त है। वह हरेक शरीररूपी पिटारीमें चितिरूपी मणीके रूपमें मौजूद है। उससे नाना प्रकारके जगत् ऐसे उदय होते रहते हैं जैसे कि चन्द्रमासे उसकी किरणें। उस सर्व सत्ताओंसे परेकी सत्तावालेके कारण ही नियति, देश, काल, गति, स्पन्दन और क्रियाकी सत्ता है। परमात्मा (ब्रह्म) का वह महान् ज्ञानात्मक रूप है जिसमें संसारका अत्यन्त अभाव रहता है, यद्यपि देखनेमें वह मौजूद है। परमात्माका वह शून्य (सूक्ष्म) रूप है जिसमें वर्तमान होता हुआ भी दृश्य जगत् अस्त रहता है। परमात्माका ऐसा रूप है कि वह महा ज्ञानरूप होते हुये भी बड़ी भारी शिलाकी नांई जड़ सा प्रतीत होता है। वह चेत्य रहित चिन्मात्र है; वह अनन्त, अजर, आदि, मध्य और अन्तरहित निरामय शिव है। सदा और सब जगह वह बिना कानके सुनता है, बिना आँखके देखता है, बिना जिह्वाके स्वाद लेता है, बिना त्वचाके स्पर्श करता है, बिना नाकके सूँघता है। उसका और कोई कारण नहीं है; जगत् उसका ऐसा कार्य है जैसे कि तरङ्गें जलका। जैसे मशालके घुमानेसे उसमें चक्र दिखाई पड़ने लगता है और उसको स्थिर कर देनेपर चक्र ग़ायब हो जाता है ऐसे ही ब्रह्ममें जब स्पनन्दन होता तो संसारकी शोभा उदय हो जाती है, और जब शान्ति हो

जाती है तो जगत्का दृश्य गायब हो जाता है। उसका यह व्यापक महान् अक्षय और शुद्ध स्वभाव है कि जब उसमें स्पन्दन होता है तो जगत्की सृष्टि हो जाती है और जब स्पनन्दनकी शान्ति होती है तो जगत्की प्रलय हो जाती है। जैसे हवाकी सत्ता सब जगह या तो शान्तरूपमें है या चलते हुये रूपमें, उसी प्रकार ब्रह्म अपने शान्त और स्पन्दन युक्तरूपसे सर्वत्र वर्तमान है: उन दोनों सत्ताओंमें व्यवहारके कारण ही नाममात्रका भेद है, वास्तविक भेद नहीं है। वह जब स्पन्दनसे रहित होता है तो शान्त शिव होता है और जब स्पन्दन-युक्त होता है तब तीनों जगत्; स्पन्दनयुक्त और स्पन्दनरहित दोनों स्थितियोंमें वह एक ही पूर्ण पदार्थ है। उस तत्त्वका अवाच्य सद्रूप स्वरूप तब अनुभवमें आता है जब कि मन वृत्तिको क्षीण करके अपना अन्त कर दे। उस तत्त्वका रूप वह है जिसमें दृश्य जगत्का अभाव है और दृश्यका अभाव होनेसे द्रष्टाका भी अभावसा ही हो जाता है; केवल प्रकाशमात्रका अनुभव रहता है। जीव स्वभाववाली चितिकी चेत्यकी ओर प्रवृत्ति न होनेपर जो शान्त, मलरहित और चिन्मात्र स्थिति होती है वही परमात्माका स्वरूप है। मनकी उस अवस्थाका, जो स्वप्नरहित, अजड़ और अनन्त गाढ़ निद्रा है, जो रूप है वही शेष रहता है। ज्ञानका, प्रकाशका, दृश्यका और तमका जो अनादि और अनन्त वेदन (प्रकाश, ज्ञान) रूप भाव है वही परमात्माका रूप है। महाचितिका वह रूप जो कि जड़ और चेतन सब ही पदार्थोंमें वर्त्तमान है, और जो मन, कल्पना और इन्द्रियोंसे परे है वही सबके अन्त हो जानेपर स्थित रहता है। निमेषमात्रमें एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशको प्राप्त होनेवाली जो संवित् है उसमें जो सत्ता है उसे चिदाकाश कहते हैं। शान्तचित्त पुरुषकी उस समान भावमें स्थितिके सदृश चिदाकाश (चित्-आकाश) है जिसमें समस्त इच्छाओंकी निवृत्ति हो जाती है। चिदाकाश पुरुषकी उस स्वाभाविक अवस्थाको कहते हैं जिसमें निद्रा भी न हो और मनके समक्ष कोई विषय भी न हो। पुरुषके उस शरद् ऋतुके आकाशकी नाईं निर्मल भावको चिदाकाश कहते हैं जो मौतसे और दृश्य, दर्शन और चिन्तन सबसे परे है। चिदाकाश वह विकाररहित तत्त्व है जिससे और जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनोंका उदय और अस्त होता है; जिसमें सब पदार्थोंके अनुभव उदय होकर तबदील होते रहते हैं; जो कुछ

भी नहीं होता हुआ सदा सब कुछ है; जो यह या वह कुछ न होता हुआ भी सब ही है। (परम ब्रह्म वह तत्त्व है) जो संवेदन (चिन्तन) रहित, कल्पनासे मुक्त, शान्त, सत् और चित्—प्रकाशमय सबका आत्मा है; जो अमूक होता हुआ भी मूक है; मनन करता हुआ भी पत्थरके तुल्य जड़ है, भोक्ता होनेपर भी नित्य तृप्त है, और कर्ता होने पर भी कुछ न करनेवाला है। जो अङ्गहीन होते हुए भी सब अङ्गों-वाला और हज़ारों हाथों और आँखोंवाला है; जो किसी वस्तुमें न रहते हुए भी सारे जगत्में व्याप्त है; जिसमें किसी इन्द्रियकी शक्ति नहीं रहते हुए भी सब इन्द्रियोंकी क्रियायें होती रहती हैं; जिसमें मनन न होते हुए भी मनकी सब निर्माण-क्रियायें (जगत्की कल्पना) होती रहती हैं। जैसे दीपकके मौजूद होनेपर व्यवहार होता रहता है वैसे ही उस प्रकाशमान और विस्तृत साक्षीके रहते हुए चित्तकी क्रियात्मक इच्छायें प्रवृत्त होती रहती हैं। जैसे समुद्रसे तरङ्गें, भँवर और लहरें उदय होती हैं वैसे ही उससे घटपट आदिके आकारवाले अनेक पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे कटक, अङ्गद, केयूर और नूपुर आदि अनेक आभूषणोंके रूपमें सोना प्रकट होता है वैसे ही वह भी सैकड़ों पदार्थोंके झूठे आकारमें अन्यसा होकर प्रकट हो रहा है। उससे ही कालकी गति है, दृश्यकी दृश्यता है, मनकी क्रिया है, उसीके प्रकाशसे यह सब जगत् प्रकाशित हो रहा है। क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतनता आदिका जिसको और जिसके द्वारा ज्ञान होता है वह परमेश्वर है। वह परमाणुसे भी परे है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, आकाशके भीतरी भागसे भी शुद्ध, सूक्ष्म, और शान्त है। वह देश और काल आदिसे अवच्छिन्न (महदूद) न होनेके कारण अति विस्तृत है। उसके प्रकाशका न आदि है और न अन्त, और उसको प्रकाशित करनेवाला और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। परमात्माका रूप वह है जो कि आकाशके, शिलाके और पवनके भीतर मौजूद है और जो अचेत्य (विषय न होने वाला) चिदाकाश है। उस आद्य तत्त्वकी सत्ताका अनुभव तब होता है जब कि जीवकी स्वभावपूर्वक अचेत्य और मन-रहित परम शान्त सत्तामें स्थिति हो जाए। उस परमरूपकी उपमा जड़ पदार्थोंके रूपसे दी जा सकती है यदि वे मन और बुद्धि आदिसे मुक्त रहते हुए भी बोधमय हो जाएं (अर्थात् परम तत्त्व वह शान्त

और निष्क्रिय बोध है जिसमें मन और बुद्धिकी क्रियायें भी न हों और वह जड़वत् शान्त हो)। चितिके प्रकाशके भीतर, आकाशके प्रकाशके भीतर और वस्तुओंके ज्ञानके भीतर भी जो प्रकाश है वह ब्रह्मका रूप समझो। जो निर्लेप चित् समस्त पदार्थों, पहाड़ आदिमें भीतर और बाहर सदा ही समान रूपसे स्थित है वही मेरा आत्मा है। जो चित्-आत्मा जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत अवस्थाओंमें सदा ही सब जगह और समान रूपसे स्थित है उसकी मैं उपासना करता हूँ। वह परम चिति परम आकाश, नगर, नाट्य (नाटक) मण्डप, और भूमि आदि सब स्थानोंमें, संसारको अपनी शक्ति द्वारा घिरा हुआ देखती हुई साक्षीके समान स्थित है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे परे होनेके कारण अवर्णनीय है—केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह कोई बहुत उत्तम, सूक्ष्म, सर्वात्मक शुद्ध अनुभव मात्र तत्त्व है जो कि सब कुछ है; वह न सत् है, न असत्; न दोनोंका मध्य; वह कुछ भी नहीं है तो भी सब कुछ है; वह मन और वचनमें आनेवाली कोई वस्तु नहीं है; वह शून्यसे शून्य और सुखसे भी अधिक सुखरूप है (अर्थात् परमानन्द है)।

१६—ब्रह्मका विकास

ब्रह्म, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक मात्र परमतत्त्व है जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जगत्में जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है वह सब ब्रह्मसे ही उदय होकर ब्रह्ममें ही स्थित है। यहांपर इस सिद्धान्तका योगवासिष्ठके अनुसार सविस्तार वर्णन किया जायेगा।

(१) जगत् ब्रह्मका बृंहणमात्र है :—

ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम्। (६/२।५१)
ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥ (६/२।२७)
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तुजातैरिवोदितम्।
तरङ्गकणकल्लोलैरनन्ताम्बवम्बुधाविव ॥ (५।७२।२३)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ (६/१।११६)
चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यन्न विद्यते ॥ (६/२।१३।१८)
इदमाद्यन्तरहितं सर्वं संसारनामकम्।
चिच्चमत्कृतिनामात्मनभः कचकचायते ॥ (६/१९।८)
यदिदं भासते तत्सत्परमेवात्मनि स्थितम्।
परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ (६/१९।१८)
जायते नश्यति तथा यदिदं याति तिष्ठति।
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते ॥ (३।१००।२८)
शून्यं शून्ये समुच्छूनं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम्।
सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णे पूर्णमिव स्थितम् ॥ (६/२।३।११)
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहाभिर्ब्रह्मशक्त्येव बृंहति। (६/२।११।२०)
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाहमस्मीतरात्मकः ॥ (६/२।११।२३)
अज्ञानमेव यद्भाति संविदाभसमेव तत्।
यज्जगद्दृश्यते स्वप्ने संवित्कचनमेव तत् ॥ (३।११।१६)
यथा पुरमिवास्तेऽन्तर्विदेव स्वप्नसंविदः।
तथा जगदिवाभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥ (३।११।२०)

यदिदं भासते किञ्चित्तत्तस्यैव निरामयम् ।
कचनं काचकस्येव कान्तस्यातिमणेरिव ॥ (३।२१।६८)
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चिद्विनश्यति ।
जगद्गन्धर्वनगररूपेण ब्रह्म जृम्भते ॥ (३।६७।६६)
अपारावारविस्तारसंवित्सलिलवल्गनैः ।
चिदेकार्णव एवायं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥ (३।६५।४)
ब्रह्मणा चिन्मयेनात्मा सर्गात्मैव विभाव्यते ।
न भाव्यते चानन्यत्वाद्बीजेनान्तरिव द्रुमः ॥ (३।६१।२६)
शुद्धचिन्मात्रममलं ब्रह्मास्तीह हि सर्वगम् ।
तद्यथा सर्वशक्तित्वाद्विन्दते याः स्वयं कलाः ॥ (३।१४।२१)
चिन्मात्रानुक्रमेणैव सम्प्रफुल्लतामिव ।
ननु मूर्तांममूर्तां वा तामेवाशु प्रपश्यति ॥ (३।१४।२२)
यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाक्षयानिशम् ।
सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चितिरव्ययम् ॥ (६/२।१३।२२)
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ (६/२।१९५।४४)
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ (६/१।२।२३)
यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ (६/१।११।४०)
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ (६/१।११।४१)
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ (६/१।२।२८)

ब्रह्मकी बृंहा (वर्द्धन शक्ति) ही जगत् है और जगत् ब्रह्मका बृंहण है। अनादि और अनन्त ब्रह्म ही समुद्रकी नाईं बढ़ रहा है। जैसे तरङ्ग, कण और लहरोंके रूपमें समुद्र प्रकट होता है वैसे ही समस्त वस्तुओंके रूपमें आत्मा ही प्रकट हो रहा है। जो कुछ भी यह फैला हुआ जगत्-जाल दिखाई दे रहा है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित है। जगत्में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह स्वच्छ चिदाकाश ही चमक रहा है; और कुछ नहीं है। यह संसार क्या है? अनादि और अनन्त आत्माकाश ही चमक रहा है। यह जो कुछ

दिखाई देता है सब परम सत् अपनेमें स्थित है; पूर्ण और सम परम-ब्रह्म अपने आपमें ही विस्तृत हो रहा है। ब्रह्म ही ब्रह्ममें उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, और स्थित होता है; ब्रह्म ही ब्रह्म द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है। शून्य शून्यमें फूल रहा है; ब्रह्म ब्रह्ममें फैल रहा है; सत्य सत्यमें विस्तृत हो रहा है; पूर्ण पूर्णमें स्थित है। ब्रह्म ब्रह्ममें ही अपनी वर्द्धन शक्ति द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; ब्रह्म ही ब्रह्ममें प्रकाशित हो रहा है; मैं और कुछ दूसरा पदार्थ नहीं हूँ। जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब अज्ञान ही है; संवित् (ज्ञान) का आभास मात्र है; जैसे जो जगत् स्वप्नमें दिखाई देता है वह संवित्का ही प्रकाश है और कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न संवित्के भीतर नगर आदि दिखाई पड़ते हैं वैसे ही जो वस्तु हमको जगत्के आकारमें दिखाई पड़ती है वह आत्मा ही आत्माके भीतर नज़र आ रहा है। जैसे चन्द्रकान्त मणिकी चमक चारों ओर फैलती है वैसे ही जो कुछ यहांपर दिखाई देता है वह सब उस (आत्मा) का ही विकार रहित प्रकाश है। न यहाँ (और कुछ) उत्पन्न होता है और न (और कुछ) नष्ट होता है; केवल ब्रह्मही गन्धर्व नगर (भ्रम-जगत्) की नाईं जगत् रूपसे दिखाई पड़ता है। चिदात्मा रूपी समुद्र ही, जिसकी संवित्का विस्तार अपार और अनन्त है, जगत् रूपी जलकी लहरोंके रूपमें प्रकट हो रहा है। चिन्मय ब्रह्म ही सृष्टि रूपसे प्रकट हो रहा है, दूसरा और कुछ नहीं है; जैसे बीज ही वृक्षका आकार धारण कर लेता है। सब वस्तुओंके भीतर मल रहित, शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म ही वर्त्तमान है; वह सर्व-शक्ति-युक्त होनेके कारण अपनी जिस कलाका चाहे अनुभव करने लगता है। वह क्रम पूर्वक सूक्ष्म और स्थूल रूपोंमें विकास पाता है और उनका अनुभव भी करता है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंमें निद्राके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है वैसे ही सृष्टि और प्रलय दोनोंमें ब्रह्मकी अक्षय चिति-के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे स्वप्नमें स्वप्नके ज्ञानके अति-रिक्त और कोई वस्तु नहीं है वैसे ही निराकृति परमात्मा ही जगत्की नाना प्रकारकी आकृतियोंमें स्थित है। देश और कालसे अनवच्छिन्न, ब्रह्म ही, जिसको न यह कह सकते हैं न वह, जगत् रूपसे स्थित होकर द्वैत भावको प्राप्त हो रहा है। जैसे जलकी बूँद, कण, लहर, तरङ्ग, फेन, भँवर आदि जलमें जल ही हैं, वैसे ही शरीर, इच्छा, दृश्य जगत्, सृष्टि और प्रलय, भावकी उत्पत्ति, विषय आदि जो कुछ

भी जगत्में हैं वह सब ब्रह्ममें ब्रह्म ही है। पातालमें, पृथ्वीपर, स्वर्गमें, तृणमें, प्राणियोंमें, आकाशमें जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब चिद्रूप ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

(२) तीनों जगत् ब्रह्मके भीतर स्थित हैं :—

फलपुष्पलतापत्रशाखाविटपमूलवान् ।
वृक्षबीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ (३।१००।११)
सूर्यकान्ते यथा वह्निर्यथा क्षीरे घृतं तथा। (६/१।९।२७)
तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये।
यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ॥ (६/१।९।२८)
तस्मात्तथेमा निर्यान्ति स्फुरन्त्याः संविदश्रितः ॥ (६/१।९।२९)
यथाम्भोधिस्तरङ्गाणां यथामलमणिस्त्विषाम्। (६/१।९।२९)
कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्विषाम् ॥ (६/१।९।३०)
वटश्च वटधानायामिव पुष्पफलादिमान्। (६/१।९।२६)
चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ॥ (६/१।२।५२)
यथैतत्स्परणं वायौ तथा सर्गः स्थितः परे।
असत्कल्पेऽपि सत्कल्पः सत्येऽसत्य इवापि च ॥ (३।६१।२२)
अन्यरूपा यथाऽनन्या तेजस्यालोकतोदरे।
तथा ब्रह्मणि विश्वश्रीः सत्यासत्यात्मिका चिति ॥ (३।६१।२३)
अनुत्कीर्णा यथा पङ्के पुत्रिका चाऽथ दारुणि।
यथा वर्णा मषीकल्पे तथा सर्गाः स्थिताः परे ॥ (३।६१।२४)

जैसे जड़, तने, शाख, पत्तों, बेल, फूल और फूलोंवाला वृक्ष अपने बीजके भीतर मौजूद रहता है वैसे ही यह जगत् ब्रह्ममें मौजूद है। जैसे सूर्यकान्त मणिके भीतर आग और दूधके भीतर घी रहता है वैसे ही यह सारा जगत् उस ब्रह्ममें स्थित रहता है जिससे देश और कालके क्रमका उदय होता है। जैसे आगसे चिङ्गारियाँ और सूर्यसे रोशनी उत्पन्न होती है वैसे ही संसारकी सभी दृश्य वस्तुयें ब्रह्मसे उदय होती हैं। जैसे समुद्र तरङ्गोंका और जैसे साफ़ मणि किरणोंका कोश है वैसे ही वह (ब्रह्म) अनन्त दृश्य वस्तुओंके ज्ञानका कोश है। जैसे फूल और फलवाला वड़का पेड़ वड़के बीजके भीतर रहता है और जैसे मिरचमें तीक्ष्णता रहती है वैसे ही तीनों जगत् (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) चितिके भीतर रहते हैं। जैसे वायुका

चलना वैसे ही ब्रह्मका सृष्टि-क्रम है। वह सत्यमें असत्य और असत्यमें सत्यकी नाईं दिखाई दे रहा है। जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यसे अन्य न होती हुई भी अन्यके समान उत्पन्न हो जाती है वैसे ही यह गजलक्ष्मी चेतन ब्रह्ममें सत्य और असत्य रूपसे स्थित है। जैसे गारे और लकड़ीमें विना घड़ी हुई मूर्तियाँ और और स्याहीमें विना बनाई हुई तस्वीरें वर्तमान रहती हैं वैसे ही परमब्रह्ममें सब सृष्टियाँ मौजूद रहती हैं।

(३) ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रकट होता है :—

सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत्।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाशुद्धवत्ततम्॥ (६।२।३५।६)
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वाऽशून्यवत्स्फुटम्।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम्॥ (६।२।३५।७)
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत्।
सदेवासदिवादृश्यं तदेवातदिवोदितम्॥ (६।२।३५।८)
अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम्।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम्॥ (६।२।३५।९)
अनहं सोहमिव तदनाशमिव नाशवत्।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत्॥ (६।२।३५।१०)
आलोकि ध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम्।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजद्गणम्॥ (६।२।३५।११)
सर्वात्मकमपि त्यक्तं दृष्टं कष्टेन भूयसा।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा॥ (६।२।३५।१२)
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम्।
ब्रह्म विद्धि विदां नाथमपामिव महोदधिम्॥ (६।२।३५।१३)

एक सत्य ब्रह्म अनेक प्रकारके जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है; एक सबके आकारमें; शुद्ध अशुद्धके रूपमें; अशून्य शून्यके रूपमें; शून्य अशून्यके रूपमें; प्रकाशित अप्रकाशितके रूपमें और अप्रकट प्रकटके रूपमें; अविकार (विकार रहित) विकारवान्के रूपमें; सम और शान्त अशान्तके रूपमें; सत् असत्के रूपमें; अदृश्य दृश्यके रूपमें; अचेत्य चेतत्यके रूप में; अंशरहित अंशयुक्तके रूपमें; अहंभावरहित अहंभाव-युक्तके रूपमें; नाश-रहित नाशयुक्तके रूपमें; कलङ्करहित कलङ्कयुक्तके

रूपमें; निर्वेद्य वेद्यके रूपमें; प्रकाशमय गहन तमके रूपमें; नया पुरानेके रूपमें; परमाणुसे भी सूक्ष्म आकारवाला ऐसे आकारमें जिसके भीतर सारा जगत् मौजूद हो; जाल (पेचीदगी) से रहित जालसे पूर्ण रूपमें; अकेला अनेक आकारोंमें; मायारहित होता हुआ भी वह ब्रह्म माया-की किरणोंसे सूर्यकी नाँई घिरा हुआ, सब प्रकारके विषय-ज्ञानोंसे इस प्रकार पूर्ण दिखाई पड़ता है जैसे जलोंसे समुद्र।

(४) जगत्के रूपमें प्रकट होना ब्रह्मका स्वभाव ही है :—

एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा। ($\frac{६}{२}$।१९१।१०)
एतत्तु स्वप्नसङ्कल्पनगरेष्वनुभूयते ॥ ($\frac{६}{२}$।१९१।१)

यह इस (ब्रह्म-चिति) का स्वभाव ही है कि इस प्रकार यह प्रकट हो; स्वप्न और सङ्कल्पनगर (दिवास्वप्न) में चितिके इस स्वभावका अनुभव होता है।

(५) सारा सृष्टिकाल ब्रह्मके लिये निमेषका अंश मात्र है :—

तुल्यकालनिमेषांशलक्षभागप्रतीति यत्।
निजं विदः प्रकचनं तत्सर्गौघपरम्परा ॥ (३।६११७)
क्षणकल्पजगत्संघा समुद्यन्ति गलन्ति च।
निमेषात्कस्यचित्कल्पात्कस्यचिच्च क्रमं शृणु ॥ (३।४०।२०)

अपनी आत्म-संवित्का जो निमेषके लाखवें भागका अनुभव है वह सृष्टिका सारा क्रम होता है। किसीके क्षणके अनुभवमें और किसीके कल्पके अनुभवमें, क्षण कल्प और जगत्की सृष्टियां होती और बिगड़ती रहती हैं।

(६) एक ब्रह्ममें अनेक प्रकारकी सृष्टि करनेकी शक्ति है :—

चिति तत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिव्यञ्जनात्मनि।
विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा ॥ ($\frac{६}{२}$।४७।२९)
स्फटिकान्तः सन्निवेशः स्थाणुताऽवेदनाद्यथा।
शुद्धेऽनानापि नानेव तथा ब्रह्मोदरे जगत् ॥ (३।६७।३५)

ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम् ।
फलपत्रलतागुल्मपीठबीजमिव स्थितम् ॥ (३।६७।३६)
एकमेव चिदाकाशं साकारत्वमनेककम् ।
स्वरूपमजहद्धत्ते यत्स्वप्न इव तज्जगत् ॥ (६/२।१४४।२३)
यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिकाः ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ (६/२।३४।२५)
तेजःपुञ्जैर्यथा तेजः पयःपूरैर्यथा पयः ।
परिस्फुरति सस्पन्दैस्तथा चित्सर्गविभ्रमैः ॥ (४।३६।१६)

उस चितितत्त्वमें, जो कि स्वयं अविभक्तरूप है, नानाता (बहुरूपता) इस प्रकार मौजूद रहती है जैसे कि मोरके अण्डेके रसके भीतर उसकी पूंछके नाना प्रकारके रङ्ग। जैसे शिलाके भीतर न दिखाई देनेवाली स्थूल प्रतिमा मौजूद रहती है वैसे ही शुद्ध और एकरूप ब्रह्ममें जगत्की बहुरूपता मौजूद होती है। जैसे फल, फूल, बेल, पत्ती और तनेसहित वृक्ष बीजके आकारमें स्थित रहता है वैसे ही सारा जगत् एक अखण्ड पिण्डके आकारमें ब्रह्मरूपसे स्थित है। जैसे अपना स्वरूप न त्यागते हुए स्वप्नज्ञान नाना प्रकारके स्वप्नोंमें प्रकट होता रहता है वैसे ही अपना स्वरूप न त्यागते हुए एक चिदाकाश अनेक प्रकारके जगत्के साकाररूपोंमें दिखाई पड़ता है। ब्रह्ममें सृष्टि इस प्रकार रहती है जैसे जलमें तरङ्ग आदि, वृक्षमें पुतलियां और मिट्टीमें घड़े आदि। ब्रह्म जगत्के भ्रममें इस प्रकार अपने स्पन्दनोंसे प्रकट होता है जैसे कि प्रकाश अपनी किरणोंमें और जल अपने कणोंमें।

(७) स्वयं ब्रह्ममें नानाताका स्पर्श नहीं होता :—

चित्स्थैः सर्गैश्चिदाधारैर्न स्पृष्टा चित्परा तथा ।
स्वाधारैरम्बुदैः स्वस्थैर्न स्पृष्टं गगनं यथा ॥ (४।३६।५)
जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजत् ।
रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्म शान्तत्वबृंहणम् ॥ (६/२।७२।३)
यथा पयसि वीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः ।
न जलान्यत्वमेवं हि भावाभावैः परैः पदे ॥ (६/२।१९५।२७)

परम चित्को उसमें स्थित नाना प्रकारकी सृष्टियां इस प्रकार स्पर्श नहीं करतीं (अर्थात् उसमें किसी प्रकारकी नानाता नहीं आती)

जैसे आकाशको उसमें स्थित बादल नहीं भिगो सकते। जगत्‌रूपी महास्वप्नमें एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें प्रवेश करते हुए भी शान्त ब्रह्म अपने स्वरूपका त्याग नहीं करता। जैसे जलमें लहरोंके उत्थान और पतनसे जलसे अन्य कोई रूप परिवर्त्तन नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयोंके होनेसे ब्रह्मका अपनारूप तबदील नहीं होता (ब्रह्म वैसेका वैसा ही रहता है)।

(८) सत्तामात्रसे ही ब्रह्मका कर्तृत्व है :—

सर्वकर्ताऽप्यकर्तैव करोत्यात्मा न किञ्चन।
तिष्ठत्येवमुदासीन आलोकं प्रति दीपवत् ॥ (४।५६।१७)
कुर्वन्न किञ्चित्कुरुते दिवाकार्यमिवांशुमान्।
गच्छन्न गच्छति स्वस्थः स्वास्पदस्थो रविर्यथा ॥ (४।५६।१८)
सङ्कल्पपुरुषस्वप्नजनद्वीन्दुत्वविभ्रमम् ।
यथा पश्यसि पश्य त्वं भावजातमिदं तथा ॥ (४।५६।२४)
इयं सन्निधिमात्रेण नियतिः परिजृम्भते।
दीपसन्निधिमात्रेण निरिच्छैव प्रकाशते ॥ (४।५५।२७)
अभ्रसन्निधिमात्रेण कुटजानि यथा स्वयम्।
आत्मसन्निधिमात्रेण त्रिजगन्ति तथा स्वयम् ॥ (४।५६।२८)
सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति।
जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया ॥ (४।५६।२९)
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथालोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवे तु तथैवायं जगद्गणः ॥ (४।५६।३०)
अतः स्वात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥ (४।५६।३१)
सर्वेन्द्रियाद्यतीतत्वात्कर्ता भोक्ता न सन्मयः।
इन्द्रियान्तर्गतत्वात्तु कर्ता भोक्ता स एव हि ॥ (४।५६।३२)
सर्वदैवाविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा।
यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ॥ (६¹।९।३१)
अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते।
मणिसन्निधिमात्रेण यथाऽयः स्पन्दते जडम् ॥ (६¹।९।३२)

परमात्मा सर्वकर्ता (सब कुछ करनेवाला) होनेपर भी कुछ नहीं करता। जैसे रोशनीके उत्पादनमें दीपक उदासीनकी नाईं स्थित

रहता है वैसे ही सृष्टि करनेमें ब्रह्म उदासीन रूपसे स्थित रहता है। जैसे सूर्य दिनके कामोंका कारण है वैसे ही ब्रह्म कुछ न करता हुआ भी सब कुछ करता है। न चलता हुआ भी वह ऐसे चलता है जैसे कि अपने स्थानपर स्थित सूर्य चलता है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मके स्वभावसे उत्पन्न हो रहा है; तुम उसको ऐसे जानो जैसे कि संकल्पका पुरुष, स्वप्नकी प्रजा और दो चन्द्रमाओंका भ्रम (अर्थात् कुछ न होते हुए भी दिखाई दे रहा है)। जैसे दीपकके मौजूद होनेपर ही प्रकाशका उदय हो जाता है वैसे ही ब्रह्मके वर्तमान रहने पर ही सारा सृष्टिक्रम प्रचलित होता रहता है। जैसे बादलके होनेपर कुटज खिल उठते हैं वैसे ही परमात्माकी सत्तामात्रसे ही तीनों जगत् स्वयं ही उदय होते रहते हैं। जैसे सूर्यको कोई इच्छा न रहते हुए भी आकाशमें उसकी मौजूदगी मात्रसे सारी क्रिया होती रहती हैं वैसे ही परमात्माके मौजूद होनेसे ही सारा जगत्का व्यवहार होता रहता है। जैसे रत्नके मौजूद होनेपर बिना उसकी इच्छाके चान्दना हो जाता है उसी प्रकार परमात्माकी सत्तामात्रसे ही संसारकी उत्पत्ति होती रहती है। परमात्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही हैं। किसी प्रकारकी इच्छा न होनेसे वह अकर्ता है और उसकी मौजूदगी मात्रसे सृष्टि होनेके कारण वह कर्ता है। वह सब इन्द्रियोंसे परे होनेके कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है, लेकिन सब इन्द्रियोंके भीतर मौजूद रहनेके कारण कर्ता और भोक्ता है। अमर परमात्मा, जो सब जगह रहनेवाला है, इस प्रकार जगत्का कर्ता है जैसे आकाश घटाकाशोंका और चुम्बकमणि लोहेके प्रति कर्ता होता है। चुम्बकमणिके मौजूद होते ही जड़ लोहा चलने लगता है, वैसे ही ब्रह्म अकर्ता होते हुए भी जगत्का कर्ता हो जाता है।

१८—अद्वैत

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि जगत् के सब पदार्थ ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय है। जब कि सब पदार्थ ब्रह्मसे ही उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तुका ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। योगवासिष्ठके अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है। यह सिद्धान्त यहाँपर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है :—

(१) सब कुछ ब्रह्मसे अभिन्न है :—

द्वैतं यथा नास्ति चिदात्मजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देहकर्मणोः॥
(३।६५।१२)

कर्मैव देहो ननु देह एव चित्तं तदेवाहमितीह जीवः।
स जीव एवेश्वरचित्स आत्मा सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत्॥ (३।६५।१२)

जैसे चिदात्मा और जीवमें द्वैत नहीं है वैसे ही जीव और चित्तमें द्वैत नहीं है। जैसे जीव और चित्तमें भेद नहीं है वैसे ही शरीर और कर्ममें भेद नहीं है। कर्म ही देह है; देह ही चित्त है; चित्त ही अहंकार और जीव है; जीव ही ईश्वर है; वही आत्मा है, वही सब कुछ है; वही एक परम पद शिव है।

(२) प्रकृतिका आत्माके साथ तादात्म्य सम्बन्ध :—

नात्मनः प्रकृतिर्भिन्ना घटान्मृन्मयता यथा।
सन्मृन्मात्रं यथा चान्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता॥ (६/१।४९।२९)
आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः।
प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि॥ (६/१।४९।३०)
यथैकः स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्नौ न सत्तया॥ (६/१।४९।३१)

अबोधादेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते।
अबोधात्सन्मयो याति रज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ (६/२।४९।३२)
यद्ब्रह्मात्मापि तुर्यश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या।
तदभिन्नसदैकात्म यथा कुम्भशतेषु मृत् ॥ (६/२।४९।२८)
ब्रह्माहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः।
द्वितीया कलना नास्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (६/२।४९।२३)
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ (६/२।४९।१७)

आत्मासे प्रकृति ऐसे भिन्न नहीं है जैसे कि मिट्टीसे घड़ा भिन्न नहीं है। जैसे घड़ा मिट्टी ही है वैसे ही प्रकृति भी आत्मा ही है; आत्माका स्पन्दन ही प्रकृति कहलाता है, जैसे जलका स्पन्दन भँवर; इस लिये प्रकृति आत्मा ही है। जैसे हवा और उसका स्पन्दन (चलना) दो भिन्न सत्तायें नहीं हैं, केवल नाममात्रका ही भेद है, वैसे ही आत्मा और प्रकृति दो वस्तुयें नहीं हैं, नाममात्रका ही उनमें भेद है। अज्ञानके कारण ही इन दोनोंमें भेद दिखाई पड़ता है; ज्ञानसे भेद नष्ट हो जाता है; जैसे कि रस्सी और साँपका भेद ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है। जैसे सैंकड़ों घड़ोंमें एक ही मिट्टी अभिन्न सत्तासे स्थित रहती है वैसे ही प्रकृति, अविद्या, तुर्या, ब्रह्म और आत्मा सब वास्तवमें एक ही हैं। मैं ब्रह्म हूँ, तू ब्रह्म है; तीनों जगत् ब्रह्म हैं; सारी दृश्य वस्तुएँ ब्रह्म हैं, दूसरा कुछ भी नहीं है; जैसा चाहो करो। यह अविद्या है, यह जीव है—इस प्रकारकी विचारधारा अज्ञानियोंको समझानेके लिये बुद्धिमानोंने बना रक्खी है (वास्तवमें सत्य नहीं है)।

(३) मनका ब्रह्मके साथ तादात्म्य :—

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यारूपादयश्च ये।
मनःशब्दैः प्रकल्प्यन्ते ब्रह्मजान्ब्रह्म विद्धि तान् ॥ (३।१००।२३)
ब्राह्मी शक्तिरसौ तस्माद्ब्रह्मैव तदरिन्दम। (३।१००।१७)
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ (६/१।८४।२)

प्रतियोगी (एक दूसरेके विरुद्ध) शब्दों द्वारा वर्णन किये जाने योग्य, संख्या और रूपवाले जो मन हैं वे सब ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, अतएव उन्हें ब्रह्म ही समझो। मन ब्रह्मकी शक्ति है; इसलिये वह ब्रह्म ही है। उसकी मनोमयी स्पन्दशक्तिको उससे अनन्य समझो।

(४) जगत्‌का ब्रह्मके साथ तादात्म्य :—

यथा कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेमकटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥ (३।१।१७)
कटकत्वं पृथग्घेम्नस्तरङ्गत्वं पृथग्जलात् ।
यथा न संभवत्येवं न जगत्पृथगीश्वरात् ॥ (३।६।१४)
यथोर्मयोऽनभिव्यक्ता भाविनः पयसि स्थिताः ।
न स्थिताश्चात्मनोऽन्यत्वाच्चित्तत्त्वे सृष्टयस्तथा ॥ (४।३६।२)
स्पन्दत्वं पवनादन्यन्न कदाचन कुत्रचित् ।
स्पन्द एव सदा वायुर्जगत्तस्मान्न भिद्यते ॥ (३।९।३३)
काकतालीयवच्चित्त्वाज्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
स्वप्नसंकल्पपुरवत्तस्माद्भिद्यते कथम् ॥ (६/२।३४।२४)
यथा न भिन्नमनलादौष्ण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
कार्ष्ण्यं कज्जलतः शौक्ल्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ (६/१।३।५)
आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
जलाद्वीचिर्यथाऽभिन्ना चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ (६/२।३।६)
यदात्ममरिचस्यान्तश्चित्त्वात्तीक्ष्णत्ववेदनम् । (५।५७।१)
यदात्मलवणस्यान्तश्चित्त्वाल्लवणवेदनम् ॥ (५।५७।२)
स्वतो यदन्तरात्मेक्षोश्चित्त्वान्माधुर्यवेदनम् । (५।५७।३)
स्वतो यदात्मदृषदश्चित्त्वात्काठिन्यवेदनम् ॥ (५।५७।४)
स्वतो यदात्मशैलस्य ज्ञतया जाड्यवेदनम् । (५।५७।५)
स्वतो यदात्मतोयस्य चिद्द्रवत्वादिवर्तनम् ॥ (५।५७।६)
यदात्मगगनस्यान्तश्चित्त्वाच्छून्यत्ववेदनम् । (५।५७।८)
स्वतो यदात्मवृक्षस्य शाखादिस्तस्य वेदनम् ॥ (५।५७।७)
स्वतो यदात्मकुड्यस्य नैरन्तर्यं निरन्तरम् । (५।५७।१०)
स्वतो यदात्मसत्तायाश्चित्त्वात्सत्त्वैकवेदनम् ॥ (५।५७।११)
अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यदवभासनम् । (५।५७।१२)
परमात्मगुडस्यान्तर्यच्चित्त्वाद्रूदयात्मकम् ॥ (५।५७।१४)
अन्तरस्ति यदात्मेन्दोश्चिद्रूपं चिद्रसायनम् ।
स्वत आस्वादितं तेन तदहतादिनोदितम् ॥ (५।५७।१३)
अनया तु वचोभङ्ग्या मया ते रघुनन्दन ।
नाहंतादिजगत्तादिभेदोऽस्तीति निदर्शितम् ॥ (५।५७।१९)

चिद्रूपेण स्वसंवित्त्या स्वचिन्मात्रं विभाव्यते ।
स्वयमेव रूपहृदयं वातेन स्पन्दनं यथा ॥ (३।६१।११)
यथा क्षीरस्य माधुर्यं तीक्ष्णत्वं मरिचस्य च ।
द्रवत्वं पयसश्चैव स्पन्दनं पवनस्य च ॥ (३।६१।२७)
स्थितोऽनयो यथाऽन्यः सन्नास्ति तत्र तथात्मनि ।
सर्गो निर्गलचिद्रूपः परमात्मात्मरूपभृत् ॥ (३।६१।२८)
कचनं ब्रह्मरत्नस्य जगदित्येव यत्स्थितम् ।
तदकारणकं यस्मात्तेन न व्यतिरिच्यते ॥ (३।६१।२९)
चिदग्न्यौष्ण्यं जगल्लेखा जगच्चिच्छङ्खशुक्लता ।
जगच्चिच्छैलजठरं चिज्जलद्रवता जगत् ॥ (३।१४।७२)
जगच्चिदिक्षुमाधुर्यं चित्क्षीरस्निग्धता जगत् ।
जगच्चित्क्षौद्रमाधुर्यं जगच्चित्कनकाङ्गदम् ॥ (३।१४।७३)
जगच्चित्सर्षपस्नेहो वीचिश्चित्सरितो जगत् ।
जगच्चिद्धिमशीतत्वं चिज्ज्वालाज्वलनं जगत् ॥ (३।१४।७४)
जगच्चित्पुष्पसौगन्ध्यं चिल्लताग्रफलं जगत् ।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः ॥ (३।१४।७५)
चित्त्वं चेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।
विकारादि तदेवान्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते ॥ (६/१।३३।७)
पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा ।
द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्तत्वाहंत्वं तथा चितेः ॥ (६/१।३३।१२)

जैसे 'कड़ा' शब्दका अर्थ सोनेसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है और जैसे सोना कड़ेसे 'कोई' पृथक् वस्तु नहीं है वैसे ही जगत् शब्दसे कोई परम 'ब्रह्म' से अन्य वस्तु नहीं समझनी चाहिये। सोनेसे पृथक् कड़ेका और जलसे पृथक् तरङ्गका अस्तित्व नहीं हो सकता; वैसे ही जगत् ईश्वरसे पृथक् नहीं हो सकता। जैसे जलसे पृथक् उसकी लहरें नहीं स्थित हो सकतीं वैसे ही सृष्टियां भी आत्मासे पृथक् स्थित नहीं हो सकतीं। जैसे पवनसे उसका स्पन्दन कभी अन्य नहीं है, स्पन्दन सदा वायु ही है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्मसे अन्य वस्तु नहीं है। ब्रह्माकाश ही काकतालीय योगसे (अकस्मात् ही) जगत्‌रूपसे प्रकट हो जाता है, जैसे स्वप्न और संकल्पका जगत्; इसलिये जगत् ब्रह्मसे भिन्न कैसे हो सकता है? जैसे आगसे उसकी उष्णता भिन्न नहीं है, कमलसे उसकी गन्ध भिन्न नहीं है, स्याहीसे उसकी कालिमा भिन्न नहीं है;

वर्फ़से उसकी सुफ़ेदी भिन्न नहीं है, गन्नेसे उसका मिठास भिन्न नहीं है, धूपसे उसकी चमक भिन्न नहीं है, चितिसे उसका अनुभव भिन्न नहीं है, जलसे उसकी लहर भिन्न नहीं है, वैसे ही चित्स्वभाव (आत्म तत्त्व) से जगत् भिन्न नहीं है। अहंकारादिका अनुभव आत्मामें ऐसा है जैसा कि मिरचके लिये उसकी तीक्ष्णताका, नमकके लिये उसकी नमकीनताका, गन्नेके लिये उसके मिठासका, शिलाके लिये उसकी कठोरताका, पहाड़के लिये उसकी जड़ताका, जलके लिये उसकी द्रवताका, आकाशके लिये उसकी शून्यताका, वृक्षके लिये उसकी शाखा आदिका, दीवारके लिये उसके ठोसपनका, आत्माको अपनी सत्ताका, अन्तरात्माको अपने प्रकाशका, गुड़को अपने स्वादका, चन्द्रमाको अपने भीतर स्थित रसायन (अमृत) का। वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम ! इन दृष्टान्तों द्वारा मैंने तुमको यह समझाया है कि जगत् और अहंभाव आदिमें कोई भेद नहीं है। चिद्रूपसे स्वयं चिदात्मा ही प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि स्पन्दनरूपसे स्वयं वायु। जैसे दूधका मिठास, मिरचका चिरचिरापन, जलका पतलापन और वायुका स्पन्दन, उनसे अन्य होते हुए अनन्य ही है वैसे ही यह सारा जगत् भी परमात्माका ही रूप है। यह जगत् ब्रह्मरूपी रत्नकी अकारण चमक है; अतएव उससे अलग कोई वस्तु नहीं है। जगत् चित्रूपी अग्निकी चमक है, चित्रूपी शंखकी जगत् शुक्लता है; चित्-रूपी पहाड़की जगत् कठिनता है; चित्-रूपी जलकी जगत् द्रवता है; चित्-रूपी गन्नेका जगत् मिठास है; चित्-रूपी सोनेका जगत् कड़ा है; चित्-रूपी सरसोंका जगत् तेल है; चित्-रूपी नदीकी जगत् लहर है; चित्-रूपी वर्फ़की जगत् शीतलता है; चित्-रूपी फूलकी जगत् सुगन्ध है; चित्-रूपी लताका जगत् फल है; चित्की सत्ता जगत्की सत्ता है, और जगत्की सत्ता चित्की सत्ता है। चित्-सत्ता ही चेत्यके आकारमें विकल्पको प्राप्त होती है और अपने भीतर ही विकारको धारण करती है; वही सारे जगत्का सार है इसलिये जगत् उससे भिन्न नहीं है। जैसे पत्ते, कोंपल और फूल आदि लतासे अन्य नहीं हैं वैसे ही चितिसे, द्वित्व, एकत्व, जगत्, तुम और मैं आदि अलग नहीं हैं।

(५) ईश्वरकी सत्ता जगत्के बिना नहीं है :—

सन्निवेशं विना सत्ता यथा हेम्नो न विद्यते। (६/१।९६।४३)
तथा जगदहंभावं विना नेशस्य संस्थितिः॥ (६/१।९६।४४)

चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तव चिद्वपुः। (३।१४।७५)
अत्र भेदविकारादि नखे मलमिव स्थितम् ॥ (३।१४।७६)

जैसे किसी आकारके विना सोना नहीं रहता वैसे ही ईश्वर भी विना अहंभाव और जगत्के नहीं रहता। चित्की सत्ता जगत्की सत्ता है और जगत्की सत्ता चित्की सत्ता है। भेद और विकार आदि ईश्वरमें इस प्रकार स्थित हैं जैसे कि आकाशमें मल (नीलापन)।

(६) सब कुछ ब्रह्म ही है :—

करणं कर्म कर्ता च जननं मरणं स्थितिः।
सर्वं ब्रह्मैव नह्यस्ति तद्विना कल्पनेतरा ॥ (३।१००।३०)
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ (६/२।६०।२८)
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ (६/२।५६।३)
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः।
परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः ॥ (३।५५।४५)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ (६/१।११।१६)
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ (६/१।२।२८)

करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति—सब कुछ ब्रह्म ही है; उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जगत्का जाल ब्रह्माकाश है, दशों दिशायें ब्रह्माकाश हैं; कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब ही ब्रह्माकाश हैं। जैसे स्वप्नके पदार्थ पहाड़ और नगर आदि सब ही चिदाकाश हैं वैसे ही जाग्रत् जगत्के पदार्थ भी चिदाकाश ही हैं। पृथ्वी, आकाश, पहाड़ और वृक्ष सब ही परमार्थ तत्त्व हैं। जो कुछ भी इस जगत्में दिखाई पड़ता है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित दिखाई पड़ता है। पातालमें, पृथ्वीपर, स्वर्गमें, प्राणियोंमें और आकाशमें जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सब चित्-रूप परम ब्रह्म ही है; और कुछ भी नहीं है।

१९—जगत्का मिथ्यापन

ऊपर यह बतालाया जा चुका है कि योगवासिष्ठके अनुसार जगत्में ब्रह्मके सिवाय और कोई दूसरा तत्त्व नहीं हैं। जगत्के सारे पदार्थ ब्रह्ममय हैं; जगत्की नानाता ब्रह्मसे ही उत्पन्न होकर ब्रह्ममें लीन हो जाती है। यहाँपर हमको जगत्के ऊपर एक दृष्टि डालकर यह विचार करना है कि जगत् स्वयं सत्य है अथवा मिथ्या। अद्वैत वेदान्तका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। योगवासिष्ठका भी सिद्धान्त इसी प्रकारका है:—

मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी ॥ (४।४७।४१)

यह सृष्टि माया है, स्वप्नके समान भ्रम है, मिथ्या रचे हुए चक्रके समान है, मनोराज्य (कल्पना) के समान चञ्चल है, जलके भँवरके समान सुन्दर दिखाई पड़नेवाली है।

यहाँपर हमें यह देखना है कि योगवासिष्ठके अनुसार इन सब कथनोंके क्या अर्थ हैं। जगत्को मिथ्या, भ्रम, माया, और असत् क्यों और किस अर्थमें कहा है।

(१) सत्य और असत्यका अर्थ :—

आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत्। (५।५।९)
आदावन्ते च यत्सत्यं वर्तमाने सदैव तत् ॥ (४।४५।४६)
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (४।४५।४५)
आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृशी तस्य सत्यता ॥ (५।५।९)
यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन राघव। (३।४।६२)

आदि और अन्तमें जो नित्य है वही 'सत्य' है, दूसरा नहीं; जो आदि और अन्तमें सत्य है वही वर्त्तमानमें भी सत्य है। जो आदि और अन्तमें नहीं रहता वह वर्त्तमानमें भी सत्य नहीं कहा जा सकता। जो आदि और अन्तमें नहीं है उसकी सत्यता कैसी? जो (सत्य) है

उसका नाश कभी नहीं हो सकता (अर्थात् जिसका नाश हो जाता है वह सत्य नहीं कहा जा सकता)।

इस कथनका अर्थ यह है कि जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होती है वह नित्य नहीं हो सकती; अतएव वह सत्य भी नहीं हो सकती। सत्य वही वस्तु है जो तीनों काल—भूत, वर्त्तमान और भविष्यमें वर्त्तमान रहे। जिसका आदि और अन्त हो वह तो केवल एक ही कालमें रहती है। अतएव वह सत्य नहीं कही जा सकती।

जगत् और जगत्के सब पदार्थ सादि और सान्त हैं। अतएव सत्य नहीं है। लेकिन उनको सर्वथा असत्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो वस्तु किसी कालमें भी प्रतीत हो सकती है वह सर्वथा असत्य नहीं है। सर्वथा असत्य तो वह पदार्थ है जो कभी भी प्रतीत न हो। अतएव जगत् न सत्य है और न असत्य। जो न सत्य है न असत्य, उसे मिथ्या कहते हैं। वह भ्रमकी नाईं वास्तवमें सत्य न होता हुआ भी प्रतीत होता है। अएतव उसे सत्य और असत्य दोनों भी कह सकते हैं।

(२) जगत् न सत्य है, न असत्य :—

न सन्नासन्न सञ्जातश्चेतसो जगतो भ्रमः।
अथ धीसमवायानामिन्द्रजालमिवोत्थितः॥ (३।६५।६)
नातः सत्यमिदं दृश्यं न चासत्यं कदाचन। (३।४४।३३)
न तत्सत्यं न चासत्य रज्जुसर्पभ्रमो यथा॥ (३।४४।४१)
न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवोत्थितम्। (६।११४।२०)
एवं न सन्नासदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते॥ (३।४४।२७)

जगत्का दृश्य न सत्य है, न असत्य, वह चित्तमें इस प्रकार भ्रम रूपसे उदय हुआ है जैसे कि बुद्धिमें इन्द्रजालका दृश्य उदय हो जाता है। यह दृश्य जगत् न सत्य है और न असत्य। रस्सीमें साँपके भ्रमकी नाईं न वह सत्य है और न सर्वथा असत्य ही। स्वप्न जगत्की नाईं वह उत्पन्न हुआ है; न वह सच्चा है और न झूठा। केवल भ्रान्तिमात्र है; केवल दिखाई पड़ता है।

(३) जगत् सत् और असत् दोनों ही है :—

सती वाप्यसती तापनद्येव लहरी चला।
मनसेहेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते॥ (३।१।२९)

असत्यमस्थैर्यवशात्सत्यं संप्रतिभा सतः ।
यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम् ॥ (३।६५।५)
यथा नभसि मुक्तालीपिच्छकेशोण्डुकादयः ।
असत्याः सत्यतां याता भात्येवं दुर्दशां जगत् ॥ (३।४२।७)
असत्यमेव सत्याभं प्रतिभानमिदं स्थितम् । (३।५४।२१)
अकृतं चानुभूतं च न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ॥ (३।१३।४२)

जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है, जैसे कि मृगतृष्णाकी वहती हुई नदी। मन द्वारा ही यह जगत्-रूपी इन्द्रजालकी शोभा रची गई है। जगत् सदा स्थिर न होनेके कारण असत्य कहलाता है और प्रतीत होनेके कारण सत्य कहलाता है। अतएव स्वप्नकी नांई जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है। जैसे भ्रमवश आकाशमें मोतियोंकी लड़ियाँ, मोरकी पूँछ और केशोंके गुच्छे आदि दिखाई पड़ने लगते हैं, और वास्तवमें असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होने लगते हैं, वैसे ही जगत् भी दिखाई पड़ता है। असत्य होता हुआ भी जगत् सत्य सा प्रतीत होता है; न होता हुआ भी अनुभवमें आता है; सत्य न होता हुआ भी सत्यके समान स्थित है।

(४) जगत् केवल भ्रम है, वास्तवमें सत्य नहीं है:—

एवं तावदिदं विद्धि दृश्यं जगदिति स्थितम् ।
अहं चेत्याद्यनाकारं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ॥ (४।१।२)
मृगतृष्णाम्बिवासत्यं सत्यवत्प्रत्ययप्रदम् । (४।१।७)
अनुभूतं मनोराज्यमिवासत्यमवास्तवम् ॥ (४।१।१२)
शून्ये प्रकचितं नानावर्णमाकारितात्मकम् ।
अपिण्डगृहमाशून्यमिन्द्रचापमिवोत्थिम् ॥ (४।१।२३)
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदमनुभूयते ।
तत्संविद्व्योमकचनं स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ॥ (३।५४।२०)
मृगतृष्णा यथा तापान्मनसोऽनिश्चयात्तथा ।
असन्त इव दृश्यन्ते सर्वे ब्रह्मादयोऽप्यमी ॥ (४।४५।१७)
मिथ्याज्ञानघनाः सर्वे जगत्याकारराशयः ।
यथा नौयायिनो मिथ्या स्थाणुस्पन्दमतिस्तथा ॥ (४।४५।१८)
मनोव्यामोह एवेदं रज्ज्वामहिभयं यथा ।
भावनामात्रवैचित्र्याच्चिरमावर्तते जगत् ॥ (४।४५।२९)

मिथ्यात्मिकैव सर्गश्रीर्भवतीह महामरौ ।
तीरद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पालीव तरङ्गिणी ॥ (३।६२।४)
स्वप्नेन्द्रजालपुरवत्संकथेहापुरांद्रिवत् ।
संकल्पवदसत्यैव भाति सर्गानुभूतिभूः ॥ (३।६२।५)
समस्तस्याप्रबुद्धस्य मनोजातस्य कस्यचित् ।
बीजं विना मृषैवेयं मिथ्यारूढिमुपागता ॥ (३।५७।१९)
स्वप्नोपलम्भं सर्गाख्यं स सर्वोऽनुभवन्स्थितः ।
चिरमावृत्तदेहात्मा भूचक्रभ्रमणं यथा ॥ (३।५७।२०)
मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः ॥ (३।५७।५४)
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (६/१।३३।४५)
स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्वीन्दुसङ्कल्पितार्थवत् ।
मिथ्या जगदहं त्वं च भाति केशोण्डुकं यथा ॥ (६/२।१९०।१३)
मायामात्रकमेवेदमरोधकमभित्तिमत् ।
इदं भास्वरमाभातं स्वप्नसंदर्शनं स्थितम् ॥ (३।६०।३६)
भ्रान्तिरेवमनन्तेऽयं चिद्व्योमव्योम्नि भासुरा ।
अपकुड्या जगन्नाम्नी नगरी कल्पनात्मिका ॥ (३।२१।४)
एतज्जालमसद्रूपं चिद्भानोः समुपस्थितम् ।
यथा स्वप्नमुहूर्तेऽन्तः सम्वत्सरशतभ्रमः ॥ (३।४१।५०)
यथा सङ्कल्पनिर्माणे जीवनं मरणं पुनः ।
यथा गन्धर्वनगरे कुड्यमण्डनवेदनम् ॥ (३।४१।५१)
यथा नौयानसंरम्भे वृक्षपर्वतवेपनम् ।
यथा स्वधातुसंक्षोभे पूर्वपर्वतनर्तनम् ॥ (३।४१।५२)
यथा समञ्जसं स्वप्ने स्वशिरःप्रविकर्तनम् ।
मिथ्यैवैवमियं प्रौढा भ्रान्तिराततरूपिणी ॥ (३।४१।५३)
यथा मरौ जलं शुद्धं कटकत्वं च हेमनि ।
असत्सदिव भातीदं तथा दृश्यत्वमात्मनि ॥ (३।२८।१५)
ससर्वावरणा एते महत्यन्तर्विवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्डुको यथा ॥ (३।२०।१०)
यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम् ।
चिच्चेतनकलाक्रान्ता तथैव परमात्मनि ॥ (३।६६।७)

यथा मदवशाद्भ्रान्तान्क्षीबः पश्यति पादपान् ।
तथा चेतनविक्षुब्धान्संसारांश्चित्प्रपश्यति ॥ (३।६६।८)
यथा लीलाभ्रमाद्बालाः कुम्भकृच्चक्रवज्जगत् ।
भ्रान्तं पश्यन्ति चित्तात्तु विद्धि दृश्यं तथैव हि ॥ (३।६६।९)
पत्रमात्रादृते नान्यत्कदल्या विद्यते यथा ।
भ्रममात्रादृते नान्यज्जगतो विद्यते तथा ॥ (२।६६।४)
अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते ।
अलीकमेव स्वदते तथालीकं विलीयते ॥ (३।६७।७६)

जो दृश्य जगत् और अहं आदि पदार्थ स्थित दिखाई पड़ते हैं उन्हें केवल भ्रान्ति मात्र और असत्य समझो। मृगतृष्णाके जलके समान, अनुभवमें आये हुए कल्पना-जगत्के समान, यह जगत् सत्यके समान प्रतीत होता हुआ भी अवास्तव और असत्य है । इन्द्रधनुषकी नाईं यह शून्य पटपर नाना रङ्गों द्वारा रचा हुआ विना किसी वास्तविक पदार्थके सर्वथा शून्य है। जगत् कभी स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ; जो कुछ दिखाई पड़ता है वह केवल चिदाकाशकी ऐसी काल्पनिक रचना है जैसा कि स्वप्नकी स्त्रीके साथ सम्भोग। जैसे सूर्यकी गरमीसे मृगतृष्णाकी नदीकी दृष्टि उदय हो जाती है वैसे ही मनके विचलित होनेसे ब्रह्मा आदि असत्य होते हुए भी अनुभवमें आने लगते हैं। जैसे नावमें बैठे हुए मनुष्यको स्थिर वस्तुयें भी चलती हुई दिखाई पड़ने लगती हैं वैसे ही जगत्की सब वस्तुएँ मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होती हैं। भावनाकी विचित्रतासे ही जगत्का विकार उत्पन्न होता है, जैसे मनके भ्रमसे रस्सीमें साँपका भ्रम उदय हो जाता है। जैसे महामरुस्थलमें तीरपर पेड़ लता और पुष्पवाली मृगातृष्णाकी नदी दिखाई पड़ने लगती है वैसे ही मिथ्या सृष्टि भी दिखाई पड़ने लगती है। स्वप्न, इन्द्रजाल और सङ्कल्पके नगर और पहाड़की नाईं सृष्टिका अनुभव मिथ्या ही होता है। यह सृष्टि सब अज्ञानी मनोंके भीतर विना किसी बीजके मिथ्या ही उत्पन्न हो गई है। जैसे घूमता हुआ व्यक्ति सारी पृथ्वीको घूमता हुआ देखता है वैसे ही स्वप्नके समान इस सृष्टिका अनुभव ही होता है। ये सब सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ हैं, और मोहसे उत्पन्न होती हैं। ये सब स्वप्नकी अनुभूतियोंके समान शून्य हैं और दृष्टिकी भ्रान्ति होनेके कारण मायामात्र हैं। सृष्टिका उदय भ्रान्ति है, सृष्टिका लय भ्रान्ति है, जैसा गन्धर्व नगर

(भ्रमका दृश्य) वैसी ही जगत्‌की सृष्टि। जगत्, मैं, तुम और सब कुछ, स्वप्नके पदार्थ, मृगतृष्णाकी नदीके जल, दूसरे चान्द, सङ्कल्पकी वस्तु और भ्रमके केशोण्डूककी नाईं मिथ्या हैं। जैसे स्वप्नके दृश्य होते हैं वैसे ही ये हैं। यह जगत् मायामात्र है; इसमें न ठोसता है और न स्थूलता, यद्यपि इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। यह जगत् नामवाली कल्पनाकी नगरी आकाशमें शून्य रूपवाली अनन्त भ्रान्ति है; इसमें कहीं भी ठोसपन नहीं है। जैसे एक घंटेके स्वप्नके भीतर सैंकड़ों बरसोंका भ्रम पैदा हो जाता है वैसे ही असत्-रूपवाला यह जगत्-भ्रम चित्त-रूपी सूर्यके आगे उपस्थित हो गया है। जैसे सङ्कल्पके संसारमें जीना और मरना होता है; जैसे गन्धर्वनगरमें दीवार आदिकी रचना होती है; जैसे नावमें बैठे हुए पुरुषको नावके हिलनेपर वृक्ष और पर्वत हिलते हुए दिखाई देते हैं; जैसे अपना जी घबरानेपर पूर्वका पहाड़ डोलता दिखाई देता है; जैसे स्वप्नमें अपना सिर कटता अनुभूत होता है, उसी प्रकार यह संसारकी विस्तृत भ्रान्ति भी मिथ्या उदय होती है। जैसे मरुस्थलमें झूठा जल दिखाई पड़ता है, जैसे स्वर्णके स्थानपर कड़ा ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आत्मामें यह असत्य दृश्य दिखाई पड़ता है। जैसे मैलसे आक्रान्त होनेपर आँखें एक चन्द्रमाके स्थानपर दो चन्द्रमा देखती हैं, वैसे ही चेत्यकी कलनाके वशीभूत होकर चिति परमात्मामें जगत्‌को देखती है। जैसे नशेबाज़ शराब पीकर वृक्षोंको घूमता और हिलता देखता है वैसे ही आत्मा भी संसारका अनुभव करता है। जैसे खेलते समय बच्चे घूम कर जगत्‌को कुम्हारके चाककी तरह घूमता हुआ देखते हैं वैसे ही चित्त इस दृश्य जगत्‌का अनुभव करता है। जैसे केलेमें पत्तोंके सिवाय और कुछ भी नहीं है वैसे ही जगत्‌में भ्रमके सिवाय और कुछ भी नहीं है। जगत्‌की उत्पत्ति झूठी है, जगत्‌की वृद्धि झूठी है; जगत्‌का स्वाद (अनुभव) झूठा है; और जगत्‌का लय होना भी झूठा ही है।

(५) जीवका मिथ्यापन :—

आत्मैवानात्मवदिह जीवो जगति राजते।
द्वीन्दुत्वमिव दुर्दृष्टेः सच्चासच्च समुत्थितम् ॥ (३।१००।३५)
चिच्छक्तेः स्पन्दशक्तेश्च सम्बन्धः कल्प्यते मनः।
मिथ्यैव तत्समुत्पन्नं मिथ्याज्ञानं तदुच्यते ॥ (५।१३।८८)

एषा ह्यविद्या कथिता मायैषा सा निगद्यते।
परमेतत्तदज्ञानं संसारादिविषप्रदम् ॥ (५।१३।८९)

जैसे दोषयुक्त दृष्टिवालेको दूसरा चन्द्रमा दिखाई पड़ता है वैसे ही जीव भी सत्य और असत्य रूपसे आत्मामें अनात्म रूपका भ्रम उत्पन्न हो गया है। चित्-शक्ति और स्पन्द-शक्तिके झूठे और कल्पित सम्बन्धका नाम मन है। वह मिथ्या ही उदय हुआ है और मिथ्या ज्ञान कहलाता है। इसीको अविद्या कहते हैं; इसीको माया कहते हैं; यही परम अज्ञान है जो कि संसार आदिके विषको उत्पन्न करनेवाला है।

(६) अविद्या :—

संसारबीजकणिका यैषा विद्या रघूद्वह।
एषा ह्यविद्यामानैव सतीव स्फारतां गता ॥ (३।११३।११)
दृश्यते प्रकराभासा सदर्थं नोपयुज्यते। (३।११३।१५)
अतः शून्यापि सर्वत्र दृश्यते सारसुन्दरी ॥ (३।११३।१७)
न क्वचित्संस्थितापीह सर्वत्रैवोपलक्ष्यते। (३।११३।१७)
निमेषमप्यतिष्ठन्ती स्थैर्याशङ्कां प्रयच्छति ॥ (३।११३।१८)
प्रतिभासवशादेषा त्रिजगन्ति महान्ति च।
मुहूर्तमात्रेणोत्पाद्य धत्ते ग्रासीकरोति च ॥ (३।११३।२७)
मनोराज्यमिवाकारभासुरा सत्यवर्जिता।
सहस्रशतशाखापि न किञ्चित्परमार्थतः ॥ (३।११३।३३)
इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ (६/२।५२।५)
अविद्येति धृता संविद्ब्रह्मणात्मनि सत्तया।
तद्भ्रमेणासदप्यस्याः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ (६/२।१६०।११)
असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि।
यद्वीक्षितासती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ (६/१।५१।१२)

संसारके बीजको अविद्या कहते हैं। यह अविद्या न होते हुए भी होती हुईके समान विस्तारको प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है तो भी इसको सत्य नहीं कह सकते। भीतर शून्य रूपवाली होनेपर भी देखनेमें सारवाली सुन्दर मालूम पड़ती है। कहींपर सत्य न होते हुए भी यह सब जगह दिखाई पड़ती है।

निमेष मात्रके लिये भी स्थिर न होती हुई ऐसी जान पड़ती है कि वह स्थिर है। तीनों महान् जगतोंको यह प्रतिभास (भ्रम) द्वारा मूहूर्त मात्रमें उत्पन्न करके धारण करती है और ग्रासकर जाती है। मनोराज्य (कल्पना) की नाईं प्रकट आकारवाली, सहस्रों शाखाओंवाली होती हुई भी वह सत्यसे रहित है और परमार्थतः कुछ भी नहीं है। यह दृश्य जगत्की भ्रान्ति अविद्या कहलाती है क्यों वह वस्तुतः ऐसे विद्यमान नहीं है जैसे मृगतृष्णाकी नदीमें जल नहीं होता। ब्रह्मने अपनी सत्ता द्वारा अपने भाव अविद्याको धारण कर रक्खा है; इसी कारणसे असत्य होते हुए भी वह सत्य सी जान पड़ती है। असत्यरूप अविद्याका यह स्वभाव है कि जब उसका ज्ञान हो जाता है तब ही वह नष्ट हो जाती है और फिर दिखाई नहीं पड़ती।

(अ) चित्त ही अविद्या है :—

चित्तमेव सकलाडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि ।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति ।
अविद्याचित्तजीवबुद्धिशब्दानां भेदो नास्ति
वृक्षतरुशब्दयोरिव ॥ (३।११६।८)

चित्तको ही सारे आडम्बरको उत्पन्न करने वाली अविद्या समझना चाहिये। वह ही विचित्र इन्द्रजाल शक्ति द्वारा इस जगत्को उत्पन्न करती है। जैसे वृक्ष और तरु शब्द एक ही वस्तुके नाम हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है, वैसे ही अविद्या, चित्त, जीव और बुद्धि आदि में कोई भेद नहीं है।

(आ) अविद्याकी असत्ता :—

कृता शास्त्रैः प्रबोधाय । (६।५१।१७)
नाम्नैवेदमविद्येति. भ्रममात्रमसद्विदुः ।
न विद्यते या सा सत्या कीदृग्राम भवेत्किल ॥ (६।४९।१४)
ब्रह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति ।
निर्विकारमनाद्यन्तं नाविद्यास्तीति निश्चयः ॥ (६।४०।११)
कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ (६।५२।७)

'अविद्या' शब्दकी रचना शास्त्रोंने बोध करानेके लिये की है। अविद्या असत्य और भ्रममात्र है, केवल नाममात्र है। जो वास्तवमें है ही नहीं उसका नाम ही क्या होगा। केवल ब्रह्म तत्त्व ही सब कुछ है, था और होगा। वह निर्विकार और अनादि और अनन्त है। अविद्या नामका और कोई तत्त्व नहीं है—यह निश्चय है। अविद्या कहाँसे आई? कैसे आई? इन प्रश्नोंके करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञान द्वारा यह जान लोगे कि न यह है और न और कुछ है।

(७) माया :—

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया॥ (६/२।७०।१८)
ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्षमाणैव नश्यति॥ (४।४१।१५)
विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम्।
न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत्॥ (४।४१।१६)
अप्रेक्ष्यमाणा स्फुरति प्रेक्षिता तु विनश्यति।
मायेयमपरिज्ञायमानरूपैव वल्गति॥ (४।४१।१७)
नूनं स्थितिमुपायाता समासाद्य पदं स्थिता।
कुतो जातेयमिति ते राम मास्तु विचारणा॥ (४।४१।३२)
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि राघव॥ (४।४१।३३)
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्।
वस्तुतः किल नास्त्येषा विभात्येषा न वेक्षिता॥ (४।४१।३४)
उपदेश्योपदेशार्थं शास्त्रार्थप्रतिपत्तये।
शब्दार्थवाक्यरचनाभ्रमो मा तन्मयो भव॥ (४।४१।६)
शब्दार्थवाक्प्रपञ्चोऽयमुपदेशेषु कल्पितः।
सदाऽज्ञेषु न तज्ज्ञेषु विद्यते पारमार्थिकः॥ (४।४१।९)
कलनामलमोहादि किञ्चिन्नात्मनि विद्यते।
नीरागं ब्रह्म परमं तदेवेदं जगत्स्थितम्॥ (४।४१।१०)

ब्रह्मकी अपार आदि और अन्त रहित चित्-शक्ति ही मायाके रूपमें प्रकट होती है। मायाका स्वभाव कोई नहीं जानता; ज्ञान होते ही यह नष्ट हो जाती है और नाश होनेपर यह सुख देती है। माया

क्या है यह नहीं जाना जाता; यह विवेकको नष्ट करके जगतके अनुभवको उत्पन्न करती है। यह जब तक नहीं जानी जाती तभी तक सृष्टि करती है; जब इसका ज्ञान हो जाता है तब यह नष्ट हो जाती है। कैसे और कहाँसे यह उत्पन्न हुई है इस प्रकारके विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है; विचार यह होना चाहिये कि मैं इसे किस प्रकार नष्ट करूँ। जब यह अस्त होकर क्षीण हो जायेगी तब इसका स्वरूप समझमें आजायेगा। तब यह समझमें आजायेगा कि यह कहाँसे आई और क्या है और कैसे नष्ट हो जाती है। वस्तुतः माया कोई वस्तु नहीं है; केवल दिखाई ही पड़ती है। अधिकारीको उपदेश देनेके लिये और शास्त्रका ज्ञान करानेके लिये यह शब्द, अर्थ और वाक्योंका भ्रम खड़ा किया गया है। उसमें नहीं फँसना चाहिये। यह सब बातें उपदेशके लिये रची गई हैं और अज्ञानी जनोंके लिये ही हैं; वस्तुतः ज्ञानियोंके लिये नहीं हैं। आत्मामें माया और मोह आदि कुछ भी नहीं हैं। परम ब्रह्म तो रागरहित है; और वही जगत्के रूपमें स्थित है।

(८) मूर्खोंके लिये ही जगत् सत्य है :—

यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत्॥ (३।४२।१)
यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत्॥ (३।४२।२)
ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम्।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत्॥ (३।४२।३)
यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी।
अर्थक्रियाकरी भाति तथा मूढधियां जगत्॥ (३।४२।४)
अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा।
कटकज्ञप्तिरेवाऽस्ति न मनागपि हेमधीः॥ (३।४२।५)
तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा।
इयं दृश्यदृगेवास्ति न त्वन्या परमार्थदृक्॥ (३।४२।६)
येन बुद्धं तु तस्यैतदाकाशादपि शून्यकम्।
न बुद्धं येन तस्यैतद्वज्रसाराचलोपमम्॥ (३।२८।१३)
दीर्घसंसारमायेयं राम राजसतामसैः।
धार्यते जन्तुभिर्नित्यं सुस्तम्भैरिव मण्डपः॥ (५।५।२)

सत्त्वस्थजातिभिर्धीरैस्त्वादृशैर्गुणबृंहितैः ।
हेलया त्यज्यते पक्वा मायेयं त्वगिवोरगैः ॥ (५।५।३)

यह झूठा जगत् उस पुरुषके लिये वज्रके समान दृढ़ सारवाला है जिसकी बुद्धिमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और जो परम पदमें स्थित नहीं हुआ है। जैसे बालको वास्तवमें न होता हुआ भूत मौत तकका दुःख देता है वैसे ही मूढ़ बुद्धि वालेके लिये यह जगत् दुःख देनेवाला है। जैसे असत्य मृगतृष्णाका जल मृगोंके चित्तमें भ्रम पैदा कर देता है वैसे ही यह जगत् मूर्खोंके लिये है। जैसे स्वप्नकी झूठी मौत सत्य सी अनुभव में आकर दुःख देती है वैसे ही मूर्खोंके लिये यह जगत् है। जैसे नासमझ आदमीके लिये सोनेके गहनोंमें सोनेका भाव न होकर केवल गहनेका भाव ही रहता है, वैसे ही मूर्खको इस दृश्य जगत्में शहर, महल और पहाड़ आदिकी भावना होती है; परमार्थ की भावना नहीं होती। जिसको ज्ञान हो गया है उसके लिये तो यह जगत् आकाशसे भी शून्य है, और जो अज्ञानी है उसके लिये यह वज्र और पहाड़के समान कठोर है। जैसे मण्डप मज़बूत थम्भोंके ऊपर खड़ा होता है वैसे ही यह संसारकी माया रजोगुण और तमोगुणवाले पुरुषोंके ऊपर टिकी हुई है। हे राम! तेरे जैसे सत्त्व गुणवाले पुरुष इस मायाको सहजमें ही इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे कि साँप अपनी केंचुलीको त्याग देते हैं।

(९) जब तक अज्ञान है तभी तक जगत् का अनुभव है :—

यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥ (६/१।२।३०)
देहे यावदहंभावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥ (६/१।२।३१)
यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौर्ख्यं न संक्षीणं तावच्चित्तादिनिम्नता ॥ (६/१।२।३२)
यावच्छिथिलतां यातं नेदं भुवनभावनम् ।
सम्यग्दर्शनशक्त्यान्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ॥ (६/१।२।३३)
यावदज्ञत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
मौर्ख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ६/१।२।३४)

यावदाशाविषामोदः परिस्फुरति हृद्वने ।
प्रविचारचकोरोऽन्तर्नं तावत्प्रविशत्यलम् ॥ (६/१।२।३५)

जब तक अज्ञान है, जब तक ब्रह्मभावनाका उदय नहीं हुआ, जब तक जगत्में आस्था है, तभी तक चित्त आदिकी कल्पना दृढ़ रहती है। देहमें जब तक अहंभाव है, दृश्य जगत्के साथ जब तक आत्मभाव है, जब तक "यह मेरा है" इस प्रकारकी भावना है, तब तक यह भ्रम रहता है। जब तक सज्जनोंकी सङ्गतसे उच्च भावनायें उत्पन्न नहीं हुई, जब तक मूर्खता क्षीण नहीं हुई, तब तक ही नीची अवस्था रहती है। जब तक कि सम्यक् दर्शनकी शक्तिसे अपने भीतरसे जगत्की भावना मन्द नहीं पड़ गई है, तभी तक जगत्का अनुभव स्पष्ट है। जब तक अज्ञान, अन्धापन, विवशता, विषयोंके ऊपर निर्भरता और मूर्खताके कारण मोहका प्रसार है तभी तक जगत्की कल्पना है। जब तक हृदयरूपी वनमें आशारूपी विषकी गन्ध फैली हुई है तब तक विचाररूपी चकोरका वहाँ प्रवेश नहीं होता।

(१०) ज्ञानसे अविद्याका नाश :—

अविद्यैवमविज्ञाता चिरानन्तावभासते ।
परिज्ञाता तु नास्त्येव मृगतृष्णानदी यथा ॥ (६/२।१६०।८)
यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी ।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते ॥ (३।११४।९)
यदा ब्रह्मास्मिकैवेयमविद्या नेतरात्मिका ।
तदास्त्येषाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ॥ (६/२।१६०।१२)
एवमालोक्यमानैषा क्वापि याति पलायते ।
असद्रूपा ह्यवस्तुत्वाद्दृश्यते ह्यविचारणात् ॥ (६/१।१०।३६)

अज्ञात अविद्या ही बहुत और अनन्त काल तक अनुभवमें आती है। ज्ञात अविद्या मृगतृष्णाकी नदीकी नांई तुरन्त ही नष्ट हो जाती है। जैसे सूर्यके उदय होते ही रात ग़ायब हो जाती है वैसे ही विवेकके उदय होते ही अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या ब्रह्मात्मक है और किसी दूसरे तत्त्वके आश्रित नहीं है; इस लिये जब तक इसका ज्ञान नहीं होता तभी तक यह है। जब ज्ञान हो जाता है तब उसमें ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं रहता। असत्य और अवास्तविक होनेके कारण यह

अविद्या विचारके विना अनुभवमें आती है; ज्ञान होने पर कहीं भाग जाती है।

(११) जगत्के भ्रमका क्षय :—

भोगेष्वनास्थमनसः शीतलामलनिर्वृतेः ।
छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ॥ (६/१।२।३६)
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः ।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः ॥ (६/१।२।३७)
भावितानन्तचित्तस्वरूपरूपान्तरात्मनः ।
स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः ॥ (६/१।२।३९)
असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ॥ (६/१।२।४०)
अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
चित्तं विगलितं विद्धि वह्नौ घृतलवं यथा ॥ (६/१।२।४१)
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक्संवेदनात्क्षयः । (३।६७।६८)

जिसके मनमें भोगोंके प्रति लालसा नहीं है; जो शीतल, मल रहित और विरक्त है, जिसने आशा रूपी पाशोंके जालको तोड़ दिया है, उसके लिये यह भ्रम क्षीण हो जाता है। जिसका मन तृष्णा और मोहको त्याग देनेसे सदाके लिये शीतल और शान्त हो गया है, उसकी बुद्धि चित्तकी भूमिको त्याग कर प्रबुद्ध हो जाती है। जिसने अपने भीतर अपने अन्तरात्माके अनन्त स्वरूपकी भावना कर ली है और उसमें जगत् लीन कर दिया है, उसके लिये जीवत्व आदिका भ्रम शान्त हो जाता है। मिथ्या भ्रमको उत्पन्न करने वाले असत्य विश्वासके लीन होनेपर, परमार्थ मात्रके दर्शन करानेवाले परम ज्ञान रूपी सूर्यके उदय हो जानेपर, चित्त इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे घीकी बून्द आगपर पड़नेसे; और फिर उसका अनुभव ऐसे नहीं होता जैसे कि सूखे पत्ते जल जानेपर दिखाई नहीं पड़ते। ब्रह्मासे लेकर कीड़े तकके (दृश्य) ज्ञानका क्षय सम्यक्-ज्ञान द्वारा होता है।

(१२) अविद्याके विलीन होनेका नाम नाश नहीं है :—

यदस्ति नाम तत्रैव नाशानाशक्रमो भवेत् ।
वस्तुतो यच्च नास्त्येव नाशः स्यात्तस्य कीदृशः ॥ (३।२१।५८)

रज्ज्वां सर्पभ्रमे नष्टे सत्यबोधवशात्सुत ।
सर्पो न नष्ट उन्नष्टो वेत्येवं कैव सा कथा ॥ (३।२१।५९)
न विनश्यत एवेदं ततः पुत्र न विद्यते ।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ (६/२।२१३।११)
यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन ।
यदभावात्म तद्राम कथं नाम विनश्यति ॥ (६/२।२१३।१२)

जो वास्तवमें मौजूद होता है उसके लीन होनेपर 'नाश' शब्दका प्रयोग उपयुक्त मालूम पड़ता है। जो वास्तवमें है ही नहीं उसका नाश कैसा? सत्य ज्ञान द्वारा जब रस्सीमें दिखाई देनेवाला साँप विलीन हो जाता है तो यह कहना कि सर्प नष्ट हो गया कुछ अर्थ नहीं रखता। जो मौजूद ही नहीं है वह नष्ट भी नहीं होता। और जो नहीं है (असत्य है) उसकी मौजूदगी (भाव) नहीं हो सकती, और जो सत्य है उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। जो सत्य वस्तु है उसका कभी भी किसी प्रकारसे अभावात्मक नाश नहीं हो सकता।

(१३) ज्ञान द्वारा जगत् आत्मामें विलीन हो जाता है :—

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः ।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ (३।५७।४४)
अस्पन्दस्य यथा वायोः सस्पन्दोऽन्तर्विशत्यलम् ।
अनन्यात्मा तथैवायं स्वप्नार्थः संविदो मलम् ॥ (३।५७।४५)
स्वप्नाद्यर्थावभासेन संविदेह स्फुरत्यलम् ।
अस्फुरन्ती तु तेनैव यात्येकत्वं तदात्मिका ॥ (३।५७।४६)

जैसे वायुके झोंके वायुमें लीन हो जाते हैं वैसे ही स्वप्न, भ्रम और संकल्प के पर्वत आदि पदार्थ संवित्में ही लीन हो जाते हैं। जैसे जब वायु शान्त हो जाती है तो चलनेवाली वायु उसीमें लीन हो जाती है वैसे ही स्वप्नके पदार्थ संवित्में लीन हो जाते हैं। स्वप्न आदि अनुभवोंमें संवित् ही पदार्थोंका रूप धारण कर लेती है। जब संवित्का स्पन्दन शान्त हो जाता है तो वे सब पदार्थ तद्रूप (संविद्रूप) हो जाते हैं।

२०—सबसे ऊँचा सिद्धान्त

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। यहाँपर योगवासिष्ठका इससे भी ऊँचा सिद्धान्त वर्णन किया जायेगा जिसका नाम अजातवाद है। अजातवाद, जिसका कि वसिष्ठ, गौड़पाद और नागार्जुनने विशेषतासे प्रतिपादन किया है, दर्शनका सबसे ऊँचा और कठिनतासे समझमें आनेवाला सिद्धान्त है। इसके अनुसार जगत्की उत्पत्ति कभी न हुई और न होगी। वास्तव में जगत् है ही नहीं; जो है, वह ब्रह्म ही ब्रह्म है। संक्षेपतः यह सिद्धान्त योगवासिष्ठके अनुसार इन शब्दोंमें प्रकट किया जा सकता है :—

जगच्छब्दस्य नामार्थो ननु नास्त्येव कश्चन। (३।४।६७)
वस्तुतस्तु जगन्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ (४।४०।३०)

जगत् नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। वास्तवमें जगत् है ही नहीं। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है।

अब हम अजातवादकी योगवासिष्ठके अनुसार विशेष व्याख्या करेंगे।

(१) भेदको मान लेना केवल अज्ञानियोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेके लिये है :—

अप्रबुद्धदृशां पक्षे तत्प्रबोधाय केवलम्।
वाच्यवाचकसम्बन्धकृतो भेदः प्रकल्प्यते ॥ (३।१००।४)
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ (६।४९।१७)
काचिद्वा कलना यावन्न नीता राघव प्रथाम्।
उपदेश्योपदेशश्रीस्तावल्लोके न शोभते ॥ (३।९५।५)
अतो भेददृशादीनामङ्गीकृत्योपदिश्यते।
ब्रह्मेदमेते जीवा वै वेति वाचमयं क्रमः ॥ (३।९५।६)
अप्रबुद्धजनाचारो यत्र राघव दृश्यते।
तत्र ब्रह्मण उत्पन्ना जीवा इत्युक्तयः स्थिताः ॥ (३।९५।३)

उपदेशाय शास्त्रेषु जातः शब्दोऽथवाऽर्थजः।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यालक्षणपक्षवान् ॥ (३।८४।१९)
भेदो दृश्यत एवायं व्यवहारान्न वास्तवः।
वेतालो बालकस्येव कार्यार्थं परिकल्पितः ॥ (३।८४।२०)
कार्यकारणभावो हि तथा स्वस्वामिलक्षणम्।
हेतुश्च हेतुमांश्चैवावयवायविविक्रमः ॥ (३।८४।२२)
व्यतिरेकाव्यतिरेकौ परिणामादिविभ्रमः।
तथा भावविलासादि विद्याविद्ये सुखासुखे ॥ (३।८४।२३)
एवमादिमयी मिथ्यासङ्कल्पकलना मिता।
अज्ञानमवबोधार्थं न तु भेदोऽस्ति वस्तुनि ॥ (३।८४।२४)

अज्ञानियोंकी दृष्टिका पक्ष लेकर केवल उनको ज्ञान करानेके लिये भेदकी कल्पना की जाती है। विद्वान् लोग अज्ञानियोंको उपदेश देनेके लिये ही इस प्रकारकी बातें मान लेते हैं कि यह अविद्या है, यह जीव है। जब तक किसी प्रकारके भेदकी कल्पना नहीं की जाती तबतक उपदेश भी नहीं किया जा सकता। इसलिये यह ब्रह्म है, ये जीव हैं, इस प्रकारके भेदको मान कर ही उपदेश किया जाता है। जहाँपर अज्ञानका व्यवहार दिखाई पड़े वहाँपर इस प्रकारकी भाषाका प्रयोग होता है कि ब्रह्मसे जीव उत्पन्न होते हैं। शास्त्रोंमें "उत्पत्ति" शब्द उपदेशके लिये ही प्रयुक्त होता है। जैसे बालकको समझानेके लिये "भूत" की कल्पना की जाती है वैसे ही व्यवहारके लिये ही भेदकी कल्पना की जाती है। कार्य-कारण, स्व-स्वामी, हेतु-हेतुमान्, अवयव-अवयवी, व्यतिरेक-अव्यतिरेक, परिणाम-परिणामी, भाव-अभाव, विद्या-अविद्या, सुख-दुःख आदि भेदोंकी मिथ्या कल्पना अज्ञानियोंको उपदेश देनेके लिये ही की जाती है; वास्तवमें भेद है ही नहीं।

(२) परम सिद्धान्त :—

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि।
नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्रमम् ॥ (६।१२५।१)
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यं चिद्घनमक्षतम्।
कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन ॥ (३।११४।१४)
परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम्। (३।४।६८)
सर्वमेकमनाद्यन्तमविभागमखण्डितम् ॥ (३।८४।२६)

केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चेत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ (३।११४।१६)
चेत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ (३।११४।१२)
तस्मान्नैवाविचारोऽस्ति नाऽविद्यास्ति न बन्धनम् ।
न मोक्षोऽस्ति निराबाधं शुद्धबोधमिदं जगत् ॥ (३।२१।७२)
बुधानामसदादीनां न किंचिन्नाम जायते ।
न च नश्यति वा किञ्चित्सर्वं शान्तमजं च सत् ॥ (६/२।१४६।११)
परे शान्ते परं नाम स्थितमित्थमिदन्तया ।
नेह सर्गो न सर्गाख्या काचिदस्ति कदाचन ॥ (३।११९।२५)
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥ (३।११४।१५)
न जगन्नापि जगती शान्तमेवाखिलं स्थितम् ।
ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्मात्मनात्मनि ॥ (३।१३।५१)
नाधेयं तत्र नाधारो न दृश्यं न च द्रष्टृता ।
ब्रह्माण्डं नास्ति न ब्रह्मा न च वैतण्डिका क्वचित् ॥ (३।१३।५०)
तेन जातं ततो जातमितीयं रचना गिराम् ।
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः ॥ (४।४०।१७)
न दृश्यमस्ति सद्रूपं न द्रष्टा न च दर्शनम् ।
न शून्यं न जडं नो चिच्छान्तमेवेदमाततम् ॥ (३।४।७०)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि परमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किञ्चिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ (६/२।१४६।२१)
वस्तुतस्त्वस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नभः ॥ (६/२।१६७।१८)

अध्यातम शास्त्रोंका सबसे ऊँचा सिद्धान्त यही है कि न अविद्या है, न माया है, केवल शान्त ब्रह्म ही सब कुछ है। सब कुछ नित्य चिद्रूप ब्रह्म ही है; मन नामकी कोई कल्पना नहीं है। सब कुछ अजर, अमर, अव्यय, अनादि, अनन्त और खण्ड और विभाग रहित परम ब्रह्म ही है। सर्व सामान्य लक्षणवाला, चेत्यकी भावना रहित, प्रकाशमय, चिन्मात्र ब्रह्म ही है; और कुछ नहीं है। सामान्य रूपसे सब जगह रहनेवाला, चेत्यता रहित, अवर्णनीय चित् तत्त्व ही परमात्मा ईश्वर है। न अज्ञान है, न अविद्या है, न बन्धन है, न मोक्ष है। जो है वह

विरोध रहित, शुद्ध बोध ही प्रकाशित हो रहा है। (वसिष्ठ जी कहते हैं) हम जैसे ज्ञानियोंकी दृष्टिमें न कुछ उत्पन्न होता है, न कुछ नष्ट होता है। न कुछ है ही। जो है वह शान्त और अजन्म ब्रह्म ही है। परम शान्त ब्रह्ममें ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित है। न सृष्टि है और न सृष्टिके नामकी ही कोई वस्तु है। तीनों लोकोंमें न कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही होता है। यहाँपर किसी भी विकारका अस्तित्व नहीं है। जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है; आत्मा ही आत्मामें प्रकाशित हो रहा है। न आधार है न आधेय है, न दृश्य है और न दृष्टा है, न ब्रह्मा है और न ब्रह्माण्ड है, न और किसी प्रकारका झगड़ा है। "जगत् उसने पैदा किया है, उससे उत्पन्न हुआ है" इस प्रकारकी बातें शास्त्र और व्यवहारके लिये ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। न दृश्य सत्य है न द्रष्टा, न दर्शन। न शून्यता सत्य है, न जड़ता, न चेतनता। जो कुछ है वह सब शान्त ब्रह्म ही है। परमार्थ जाननेवालोंके लिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि कुछ नहीं है; जो है सो है। वास्तवमें न स्वप्न है, न जाग्रत्, न सुषुप्ति, न तुर्या और न तुर्यातीत पद। जो कुछ है वह सब शान्त ब्रह्म ही है।

(३) ब्रह्मको जगत्का कर्ता नहीं कह सकते :—

अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः।
स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम्॥ (६।१८।८)
नेदं कर्तृकृतं किंचिन्न वा कर्तृकृतक्रमम्।
स्वयमाभासते चेदं कर्त्रकर्तृपदं गतम्॥ (४।५६।५)
अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तृ कथं भवेत्॥ (६।९५।१३)

निराकार ईश्वर जो कि विरोध रहित अपना आत्मा है और जिसके स्वरूपका वर्णन नहीं हो सकता जगत्की उत्पत्ति करता है, यह उक्ति हास्यजनक है। यह जगत् किसीका बनाया हुआ नहीं है, न इसमें किसीके बनानेका क्रम दिखाई पड़ता है। स्वयं वही प्रकाशित हो रहा है। वह ब्रह्म भला जगत्का कर्ता कैसे हो सकता है जो ज्ञान और तर्कसे परे है और जिसके लिये कर्ता, कर्म, करण, कारण, और बीज आदि शब्दोंका प्रयोग नहीं हो सकता?

(४) ब्रह्ममें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता :—

अपुनः प्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः ।
तद्विकारादिके तात यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ (६/१।४९।२)
पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वान्न पुनः पयः ।
बुद्धमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ (६/१।४९।३)
क्षीरादेरिव तेनास्ति ब्रह्मणो न विकारिता ।
अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽवयविक्रमः ॥ (६/१।४९।३)
आत्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
स्वमप्यन्यत्वमायाति नात्मतत्त्वं कदाचन ॥ (६/१।४९।८)
अरूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
वशं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ (६/२।४९।९)
न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादृते ।
कारणं क्वचिदेवेह किंचिद्भवितुमर्हति ॥ (६/२।१९५।१४)
न जन्यजनकाद्यास्ताः सम्भवन्त्युक्तयः परे ।
एकमेव ह्यनन्तत्वात्किं कथं जनयिष्यति ॥ (४।४०।२६)
सर्वस्मात्सर्वगात्तस्मादनन्ताद्ब्रह्मणः पदात् ।
नान्यत्किञ्चित्संभवति तदुत्थं यत्तदेव तत् ॥ (४।४०।३४)
यादृगाद्यन्तयोर्वस्तु तादृगेव तदुच्यते ।
मध्ये यस्य यदन्यत्वं तदबोधाद्विजृम्भितम् ॥ (६/१।४९।७)
समस्याद्यन्तयोर्येयं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
संविदः सम्भ्रमं विद्धि नाऽविकारेऽस्ति विक्रिया ॥ (६/१।४९।५)

इस प्रकारकी रूपकी तबदीलीको जिसमें वस्तु फिर अपने पहिले रूपको न प्राप्त हो सके विकार कहते हैं; जैसे दूधसे दही बन जाना। जब दूध दही बन जाता है तो फिर वह दूध नहीं बन सकता। लेकिन ब्रह्म तो जगत्के आदि, मध्य और अन्तमें भी ब्रह्म ही रहता है। इस लिये जिसमें आदि और अन्तका विभाग नहीं हो सकता और जिसमें अवयवोंकी विक्रिया नहीं हो सकती उस ब्रह्ममें उस प्रकारका विकार जो दूधसे दही बननेमें होता है, नहीं हो सकता। ईश्वरमें किसी प्रकारकी तबदीली (उत्पत्ति, वृद्धि, नाश आदि) सम्भव नहीं है, क्योंकि वह रूपरहित है, एक है, और नित्य है। अविकार और अजर कारण विना नाशको प्राप्त हुए कैसे विकारवान् हो सकता है?

इस लिये परम ब्रह्मके सम्बन्धमें उत्पन्न और उत्पादक आदि शब्दोंका प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह एक और अनन्त होनेसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। वस्तुका मध्यमें भी वही रूप होना चाहिये जो आदि और अन्तमें होता है। यदि मध्यमें कोई दूसरा रूप दिखाई पड़ने लगे तो उसे भ्रममात्र समझना चाहिये। सदा एक समान रूपवाले ब्रह्मकी जो क्षणिक विकृति दिखाई पड़ती है उसे अज्ञानजनित भ्रम समझना चाहिये, क्योंकि वास्तवमें विकार रहित वस्तुमें विकार होना असम्भव है।

(५) ब्रह्मको जगत्का कारण कहना ठीक नहीं है :—

नित्यानन्दतयाऽजस्य कारणं नास्ति कार्यकृत्। (६/२।१०।१०)
स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम्॥ (६/१।९७।२)
संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिवोदितम्।
अदृश्यत्वादलभ्यत्वान्न तत्कार्यं न कारणम्॥ (६/१।९६।२६)
आख्यानाख्यास्वरूपस्य निराभासप्रभादृशः।
सतो वाप्यसतो वाथ कथं कारणता भवेत्॥ (६/१।९६।२८)
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत्। (६/१।९७।८)
अनिङ्गितमनाभासमप्रतर्क्यं कथं भवेत्॥ (६/१।९७।९)
न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत्।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः॥ (६/२।५३।१७)
न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादृते।
कारणं क्वचिदेवेह किञ्चिद्भवितुमर्हति॥ (६/२।१९५।१४)
न हि कारणतः कार्यमुदेत्यसदृशं क्वचित्। (३।१८।१८)
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम्॥ (६/२।१९०।५)
सम्पद्यते हि यत्कार्यं कारणैः सहकारिभिः।
मुख्यकारणवैचित्र्यं किञ्चित्तत्रावलोक्यते॥ (३।१८।२०)
न ब्रह्मजगतामस्ति कार्यकारणतोदयः।
कारणानामभावेन सर्वेषां सहकारिणाम्॥ (३।२१।३७)

अजन्मा परमात्मा नित्य ही आनन्दसे परिपूर्ण है। इस लिये वह जगत्रूपी कार्यका कारण कैसे हो सकता है? अपनी ही सत्तामें स्थित ब्रह्म न किसीका कारण है और न बीज। वह सदा ही सर्व आकारोंमें स्थित है, लेकिन न दिखाई देता है और प्राप्त होता है।

इस लिये न वह कारण है और न कार्य (कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु ब्रह्म तो सब ही आकारोंमें समान रूपसे मौजूद है। इस लिये न वह कारण है और न कार्य)। जिसका रूप ऐसा है जो वर्णनमें न आ सके और जिसका प्रकाश किसी दूसरे प्रकाशके आधीन नहीं हैं, जो सत् और असत् दोनों ही है, भला वह कारण कैसे हो सकता है? यदि वह कारण हो सकता है तो अवर्णनीय, स्वयंप्रकाश और अतर्क्य कैसे रह सकता है? आदि और अन्त रहित, निराकार ब्रह्म भला अब्रह्म रूप, साकार, दृश्य जगत्का कारण कैसे हो सकता है? अविकार और अजर ब्रह्म बिना क्षयको प्राप्त हुए विकार वाले जगत्का कारण कैसे हो सकता है? जैसा कार्य होता है वैसा ही उसका कारण समझना चाहिये। लेकिन ज्ञान ज्ञेय कैसे हो सकता है? जो कार्य सहकारी (कार्यके उत्पादनमें कारणकी सहायता करनेवाले) कारणोंकी सहायतासे उत्पन्न होता है वही मुख्य कारणसे भिन्न रूपका हो सकता है। लेकिन ब्रह्मके साथ दूसरे सहकारी कारण न होनेसे ब्रह्मसे भिन्न जगत् रूपवाला कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है?

(६) ब्रह्मको जगत्का बीज भी नहीं कह सकते :—

इदं बीजेऽङ्कुर इव दृश्यमास्ते महाशये।
ब्रूते य एवमज्ञत्वमेतत्तस्यास्ति शैशवम् ॥ (४।१।२१)
मनः षष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्याददतितरामणु।
बीजं तद्भवितुं शक्तं स्वयंभूर्जगतां कथम् ॥ (४।१।२५)
आकाशादपि सूक्ष्मस्य परस्य परमात्मनः।
सर्वाख्यानुपलंभस्य कीदृशी बीजता कथम् ॥ (४।१।२६)
गगनाङ्गादपि स्वच्छे शून्ये तत्र परे पदे।
कथं सन्ति जगन्मेरुसमुद्रगमनादयः ॥ (४।१।२८)
मेरुरास्ते कथमणौ कुतः किञ्चिदनाकृतौ।
तदतद्रूपयोरैक्यं क्व च्छायातपयोरिव ॥ (४।१।३२)
साकारवटधानादावङ्कुराः सन्ति युक्तिमत्।
नाकारे तन्महाकारं जगदस्तीत्ययुक्तिकम् ॥ (४।१।३३)
यत्तु परं शान्तं ब्रह्म का तत्राकारकल्पना।
परमाणुत्वयोगेऽपि नात्र केवात्र बीजता ॥ (६/२।५४।२२)

जगदास्ते परस्याणोरन्तरस्त्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ (६/२।५४।२४)
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ (६/२।५४।२५)
यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ (६/२।५४।२०)
सहकारिकारणानामभावे त्वङ्कुरोद्गतिः ।
वन्ध्याकन्येव दृष्टेह न कदाचन केनचित् ॥ (४।२।३)
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ (६/२।५४।२१)
बीजं जहद्बीजवपुः फलीभूतं विलोक्यते ।
ब्रह्माजहन्निजवपुः फलं बीजे च संस्थितम् ॥ (४।१८।२४)
बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ।
बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते ॥ (६/२।१९५।३४)
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्त्वेवं जगत्त्वैवोपलभ्यते ।
अस्ति चेत्तद्भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाविकारि तत् ॥ (६/२।१९५।३५)
अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम् ।
उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥ (६/२।१९५।३६)
अनाकृतावाकृतिमच्च चैतत्स्थातुमर्हति ।
परमाणौ न चैवान्तरिव सम्भान्ति मेरवः ॥ (६/२।१९५।३७)
समुद्गके रत्नमिव जगद्ब्रह्मणि तिष्ठति ।
महाकारं निराकारे इत्युन्मत्तवचो भवेत् ॥ (६/२।१९५।३८)
शान्तं परं च साकारस्याधार इति राजते ।
न वक्तुं राजते क्वेव साकारस्याविनाशिता ॥ (६/२।१९५।३९)

जो व्यक्ति यह कहता है कि यह दृश्य जगत् ब्रह्ममें इस प्रकार रहता है जैसे बीजमें अंकुर रहता है वह अपने अज्ञान और शैशवका परिचय देता है। जो स्वयम्भू ब्रह्म मन और इन्द्रियोंसे भी अतीत है, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म रूपवाला है, वह भला जगत्का बीज कैसे हो सकता है? आकाशसे भी सूक्ष्म और संख्या आदिसे अतीत ब्रह्म भला कैसे बीज हो सकता है? जगत् सुमेरु-पर्वत, आकाश आदि भला आकाशसे भी सूक्ष्म परम ब्रह्ममें कैसे मौजूद रह सकते हैं। आकृति रहित परम सूक्ष्म ब्रह्ममें जगत्, जो उससे इतना भिन्न है

२४

जितनी धूपसे छाया, कैसे रह सकता है ? आकारवाले बड़के बीजमें बड़का अंकुर रहे यह तो युक्तियुक्त भी जान पड़ता है, लेकिन परम शान्त ब्रह्ममें आकारवाला जगत् रहे यह समझमें नहीं आ सकता। ब्रह्ममें किसी आकारकी कल्पना करना ठीक नहीं है। इस लिये वह बीज नहीं हो सकता। जगत् परम अणु (सूक्ष्म) ब्रह्मके भीतर रहता है यह ऐसी ही अज्ञान जन्य कल्पना है जैसे यह कहना कि सरसोंके कणके भीतर सुमेरु-पर्वत। जब बीज ही मौजूद हो तब ही कार्य कारणकी परिभाषाका प्रयोग होता है। निर्विकार न किसीका बीज ही हो सकता है और न उससे किसीकी उत्पत्ति हो सकती है। जब बीज मौजूद होता है तभी सहकारी कारणों द्वारा अंकुर और शाखा आदि फैलते हैं। सहकारी कारणोंके विना भी बीजसे अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती; यह कहना कि होती है ऐसा कहना है कि बाँझ स्त्रीके यहाँ कन्या उत्पन्न हुई है—जो कभी देखी न सुनी। जब सब प्राणियों की प्रलय हो गई तो उस समय आकारवाला कौन सा बीज रह गया और कौनसे उसके सहकारी कारण रह गये जिनसे जगत्‌की उत्पत्ति हो जाये ? (दूसरी बात यह है कि) बीजसे जब अंकुरकी उत्पत्ति होती है तो बीजका पूर्वरूप नष्ट हो जाता है; लेकिन ब्रह्मका रूप तो सदा ही एक समान रहता है। बीजके भीतर जो सत्ता होती है वह बीजके ही आकारकी होती है, अंकुरके आकारकी नहीं। बीजमें अंकुर कहीं दिखाई नहीं देता। लेकिन ब्रह्मके भीतर रहनेवाला जगत् तो जगत् ही दिखाई पड़ता है। लेकिन यदि ब्रह्ममें जगत् सदा ही रहे तो वह ब्रह्मके समान नित्य और विकाररहित होगा। अविकार और अनाकारसे विकार और आकारवालेकी उत्पत्ति होना न देखा है और न सुना। यदि अकाररहितमें आकारवाला रह सकता है तो परमाणुके भीतर भी सुमेरु रह सकता है। जो यह कहता है कि जगत् ब्रह्ममें इस प्रकार रहता है जैसे कि डिबियामें रत्न वह उन्मत्त है। परम शान्त ब्रह्म आकारवाले जगत्‌का आधार है यह कहना उचित नहीं है। आकारवाला कभी नाशरहित नहीं हो सकता।

(७) कारण रहित होनेसे जगत् भ्रममात्र है :—

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल न विद्यते।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ (६।९४।५४)

अकारणं तु यत्कार्यं संदिवाग्रेऽनुभूयते ।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम् ॥ (६/२।९४।५६)
कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत् ।
मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते ॥ (६/२।९५।५९)
कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत् ।
अकारणत्वादकार्यत्वं भ्रमाद्विद्धि त्विदं जगत् ॥ (६/२।९५।१७)
कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ (६/२।५४।१५)
यस्त्वकारणको भाति न स्वभावो विजृम्भते ।
सर्वरूपेण संकल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ (६/२।५४।१६)
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्त्रयम् । (३।३।२८)
स्वरूपमजहत्त्वेव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ (६/२।५४।१७)

जिस कार्यका कोई कारण नहीं वह कार्य वास्तविक नहीं होता, वह केवल दृष्टिका भ्रम है। जो कारणरहित कार्य प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़े उसे मृगतृष्णाके जलके समान देखनेवालेकी दृष्टिका भ्रम समझो। विना कारणके जो कार्य होता है उसका स्वरूप भ्रमसे अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इसलिये कारण न होनेसे जगत् वास्तविक कार्य नहीं है, भ्रममात्र है। विना कारणके कार्य कैसे हो सकता है? यदि कहीं दिखाई पड़े तो उसे भ्रम समझो—जैसे विना पुत्रवालेको पुत्रका दर्शन। जो कारणरहित जगत् दिखाई दे रहा है वह आत्मा हीके भीतर संकल्प और गन्धर्व नगरके समान मिथ्या दृष्टि उदय हो रही है। ब्रह्म जगत्का विवर्त (भ्रम) है। वास्तवमें जगत् और ब्रह्म एक ही हैं।

(८) जगत्का दृश्य स्वप्नके समान है :—

स्वप्ने चिन्मात्रमेवाद्यं स्वयं भाति जगत्तथा ।
यथा तथैव सर्गादौ नात्रान्यदुपपद्यते ॥ (६/२।१७६।५)
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ (६/२।१९५।४४)

जैसे स्वप्नमें चिति जगत्का आकार धारण कर लेती है ठीक वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी चितिमें जगत्का दृश्य उदय होता है। इसलिये संवित् रूप आत्मामें स्वयं निराकार परमात्मा ही जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है।

(६) अजातवाद :—

न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्किलादौ न विद्यते ।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥ (३।११।५)
यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूताऽपि कुत्रचित् ।
तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानुभूताप्यसन्मयी ॥ (६/२।१६१।२२)
न किञ्चिदपि सम्पन्नं न च जातं न दृश्यते । (३।१३।४०)
न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥ (६/२।१९५।२३)
तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते । (६/२।५३।१५)
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ॥ (६/२।५३।१६)
यथा सौवर्णकटके दृश्यमानमिदं स्फुटम् ।
कटकत्वं तु नैवास्ति जगत्त्वं न तथा परे ॥ (३।११।८)
हेम्न्यूर्मिकारूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते ।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नास्ति च ब्रह्मणि ॥ (३।२१।३३)
अनुभूतान्यपीमानि जगन्ति व्योमरूपिणि ।
पृथ्व्यादीनि न सन्त्येव स्वप्नसङ्कल्पयोरिव ॥ (३।१५।६)
पिण्डग्रहो जगत्यस्मिन्विज्ञानाकाशरूपिणि ।
मरुनद्यां जलमिव न सम्भवति कुत्रचित् ॥ (३।१५।७)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिपरमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किञ्चिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ (६/२।१४६।२१)
स्वप्नसङ्कल्पपुरयोर्नास्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥ (६/२।१४६।२२)
जगत्संविदि जातायामपि जातं न किञ्चन । (३।१३।४८)
परमाकाशमाशून्यमच्छमेव व्यवस्थितम् ॥ (३।१३।४९)
जातशब्दो हि सन्मात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
प्रादुर्भावे जनिस्तूक्तः प्रादुर्भावस्य भूर्वपुः ॥ (६/२।१४६।१६)
सत्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्सञ्जातमुच्यते ।
सर्गतो जात इत्युक्ते संसर्ग इति शब्दितम् ॥ (६/२।१४६।१७)
एवं न किंचिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि ।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥ (३।२१।२४)
तस्माद्राम जगन्नासीन्न चास्ति न भविष्यति ।
चेतनाकाशमेवाशु कचतीत्थमिवात्मनि ॥ (४।२।८)

जगत् नाम की कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न नाश होती है और न है ही। जब है ही नहीं तो उसकी उत्पत्ति और नाशका क्या कहना है? जैसे स्वप्नमें अनुभूत होनेपर भी पृथ्वी कहीं नहीं है वैसे ही अनुभवमें आनेवाली दृश्यता भी कहीं नहीं है। न कुछ उत्पन्न हुआ है, न कुछ है और न कुछ वास्तवमें दिखाई ही पड़ता है। न मिथ्यात्व है, न सत्यत्व है। जो है वह अजन्मा है। कारणके अभावसे जगत् न उत्पन्न हुआ है और न है। जो अकारण है उसकी सत्ता नहीं होती। जैसे सोनेके कड़ेमें कड़ापन दिखाई देने पर सोनेसे अतिरिक्त कड़ेकी कोई सत्ता नहीं है तैसे ही ब्रह्मसे अतिरिक्त जगत्की कोई सत्ता नहीं है। जैसे अँगूठीके आकारवाले सोनेमें अँगूठी की कोई सत्ता नहीं है वैसे ही ब्रह्ममें जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है। जैसे स्वप्न और संकल्पमें अनुभूत होनेपर भी पृथ्वी आदि नहीं होती वैसे ही अनुभवमें आनेवाला जगत् भी शून्य ही है। इस शून्य, विज्ञानआकारवाले जगत्में स्थूलता तनिक भी नहीं है; जैसे मरुस्थल-में उत्पन्न हुई मृगतृष्णाकी नदीमें जल नहीं होता। परमार्थको जानने-वालोंके लिये जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति आदि कुछ भी नहीं है—जो है सो है। जैसे स्वप्न और संकल्पके जगत् अनुभवमें आनेपर भी असत् हैं वैसे ही दृश्य जगत् भी असत् है। जगत्का दृश्य दिखाई देनेपर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। परम आकाश शुद्ध रूपसे स्थित है। "जात" (उत्पन्न) होनेका अर्थ धातुके अनुसार वर्तमान ही है। कैसे? सुनो! जातका अर्थ है "प्रादुर्भूत"। प्रादुर्भूतमें "भू" धातु है। भूका अर्थ सत्तात्मक है। इस लिये जात शब्दका अर्थ सत् ही है। इसलिये जगत् उत्पन्न नहीं हुआ। इस लिये जगत् नामकी कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न है। केवल चिदाकाश ही अपनेमें स्थित है! हे राम जगत् न उत्पन्न हुआ है न है और न होगा। चेतनाकाश ही अपने आपमें प्रकाशित हो रहा है।

(१०) यह सिद्धान्त उसको नहीं बताना चाहिये जो इसका अधिकारी नहीं है :—

अर्धव्युत्पन्नबुद्धेस्तु नैतद्व्यक्तं हि शोभते।
दृश्यानया भोगदृशा भावयन्नेष नश्यति॥ (४।३९।२१)

परां दृष्टिं प्रयातस्य भोगेच्छा नाभिजायते।
सर्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तः काले नामास्य युज्यते ॥ (४।३९।२२)
आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्।
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥ (४।३९।२३)
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥ (४।३९।२४)
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः।
नास्त्यविद्यामलमिति युक्तं वक्तुं महात्मनः ॥ (४।३९।२५)

जिसमें अभी बुद्धिका पूरा प्रकाश नहीं हुआ है उसको इस प्रकारके सिद्धान्तका उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि वह इस सिद्धान्तको भोगकी दृष्टिसे काममें लाकर नाशकी ओर प्रवृत्त होगा। जिसके चित्तमें भोगकी इच्छा न हो और जिसकी दृष्टि ऊँची हो गई हो उसीको "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकारका उपदेश देना चाहिये। पहिले शिष्यको शम, दम आदि अच्छे गुणों द्वारा शुद्ध करना चाहिये। तब उसको "यह शुद्ध ब्रह्म ही है" इस प्रकारका उपदेश करना चाहिये। जो अज्ञानी और अप्रबुद्धको "सब कुछ ब्रह्म है" इस सिद्धान्तका उपदेश देता है वह उसे नरककी ओर प्रवृत्त करता है। जिसकी बुद्धि चेतन हो गई है, जिसके मनसे भोगकी इच्छायें निकल गई हैं और जिसको किसी प्रकारकी आशायें नहीं हैं, उस महात्माको ही यह उपदेश देना चाहिये कि न अविद्या है और न पाप है। और को नहीं।

२१—परमानन्द

ब्रह्म चिन्मात्र सत्ता ही नहीं है, आनन्द भी है। संसार और जीवनमें जो आनन्दका लेश दिखाई पड़ता है वह ब्रह्मानन्दका ही आभास मात्र है। सारे प्राणी आनन्दकी खोजमें रहते हैं, किन्तु कोई भी आनन्दको प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह आनन्दकी तलाश बाह्य विषयोंमें करता रहता है। आनन्दकी प्राप्ति तभी होती है जब जीव बाहरके विषयोंमें उसकी खोज न करके अपने आत्मामें ही उसका अनुभव करने लगता है। संसारमें आनन्द कहीं नहीं है। आनन्द केवल आत्मामें ही है। जब तक मनुष्यकी दृष्टि बाहरके विषयों-पर लगी रहती है तब तक वह दुःखी रहता है। विषयोंको त्याग कर जब वह आत्मामें स्थित हो जाता है तब ही सुखी हो सकता है। योग-वासिष्ठका यह सिद्धान्त यहाँ पर विशेषतया प्रतिपादित किया जायेगा। योगवासिष्ठके अनुसार सब ही प्राणी आनन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं :—

आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित्। (६/१।१०८।१०)

सब प्राणी आनन्दके लिये ही यत्न करते हैं।

लेकिन जीवनमें आनन्द कहाँ है?

(१) विषयोंके भोग दूरसे देखने मात्रको अच्छे लगते हैं :—

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥ (५।२२।३०)
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ (६/२।६।८)

विषयोंका भोग कभी भी सुख देनेवाला नहीं है, वह तो दूरसे देखने मात्रको अच्छा लगता है और क्षणभरमें क्षीण हो जाता है। संसारके सभी भोग आरम्भमें और दूरसे अच्छे दिखाई पड़ते हैं, लेकिन वे सब क्षणिक हैं, संसारमें फँसानेवाले हैं, भयके उत्पादन करनेवाले और अल्पकालमें ही दुःखमें तबदील होजानेवाले हैं।

(२) संसारके सब सुख दुःखदाई हैं :—

सर्वस्था एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् । (४।५९।६)
मालिन्यं दुःखमप्येवं ज्वालाया इव कज्जलम् ॥ (४।५९।७)
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ (५।९।४१)
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरतापि च ।
सत्येष्वसत्यतार्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ (६/२।९३।११)
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसाः सरसवैरस्या लुब्धेषु न को हतः ॥ (६/२।९३।३९)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥ (६/२।९३।७३)
भोगा विषयसम्भोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक्स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ (६/२।९३।७५)
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु . रमते बुधः ॥ (६/२।९३।७८)
शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ (६/२।९३।८४)
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ (५।९।५२)

जैसे अग्निकी ज्वालाके सिरपर धूएंकी कालस मौजूद रहती है वैसे ही संसारके सभी सुखोंकी आशाओंका अन्त दुःखमें ही होता है। भावका अन्त अभावमें, सौन्दर्यका अन्त कुरूपतामें और सुखका अन्त दुःखमें होता है — किसके पीछे दौड़ूँ ? रम्य वस्तुओंमें अरम्यता दिखाई पड़ती है; स्थिर पदार्थोंमें अस्थिरता; सत्यमें असत्यता। इसी कारण मेरे लिये किसी वस्तुमें रस नहीं रहा। विषय विषके समान दुःखदाई हैं; स्त्रियाँ कामके मोहमें फँसानेवाली हैं; स्वादोंका अन्त निरसतामें होता है; इनके चक्करमें पड़ कर कौन नहीं मारा जाता? संसारकी जितनी सम्पत्तियाँ हैं वे सब आपत्तियाँ हैं, जितने सुख हैं वे सब दुःख देनेवाले हैं; जीवन मरनेके लिये है। विषयोंके भोग साँपोंकी फणोंकी नाई विषैले हैं; जहाँ ज़रा उनको स्पर्श किया कि फ़ौरन ही डँस लेते हैं। विषय भोग इतने क्षणिक हैं कि देखते देखते उनका

अन्त हो जाता है। सम्पत्तियाँ और स्त्रियोंका सौन्दर्य तरङ्गोंके समान चलायमान हैं। कौन बुद्धिमान् आदमी इनके सहारे ऐसे रहेगा जैसे कोई साँपोंके फणोंकी छायामें बैठकर सुखी होगा? यौवनका सौन्दर्य ऐसा अस्थिर है जैसा कि शरदृतुके बादलकी छाया; दूरसे रम्य दिखाई पड़नेवाले विषय जीवनके अन्त तक दुःख देते हैं। संसार तो दुःखोंकी अन्तिम सीमा है, उसमें पड़कर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

(३) संसारका सारा व्यवहार असार है :—

पातः पक्वफलस्येव मरणं दुर्निवारणम्। (६/१।७८।३)
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ (६/१।७८।४)
शैलनद्यारय इव सम्प्रयात्येव यौवनम्। (६/१।७८।५)
इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ॥ (६/१।७८।६)
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः। (६/१।७८।६)
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ॥ (६/१।७८।७)
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभंगुरम्। (६/१।७८।७)
रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः ॥ (६/१।७८।८)
सत्वरं युवता याति कान्तेवाप्रियकामिनः। (६/१।७८।८)
बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम् ॥ (६/१।७८।९)

जैसे पक्के हुए फलका नीचे गिरना नहीं रुक सकता, (उसे अवश्य ही गिरना है), वैसे ही मौत भी नहीं रोकी जा सकती, (एक न एक दिन अवश्य ही आती है)। प्रत्येक क्षण आयु ऐसे क्षीण होती जा रही है जैसे कि हथेलीपर रक्खा हुआ जल। यौवन इस तेज़ीसे दौड़ा जा रहा है जैसे कि पहाड़ी नदी; अस्थिर जीवन ऐसा झूठा है जैसे इन्द्रजालका दृश्य। सुख इतनी जल्दीसे भाग जाते हैं जितनी जल्दीसे धनुषसे छूटे हुए बाण। दुःख मनके ऊपर इस प्रकार आक्रमण करते हैं जैसे गिद्ध मांसके ऊपर आ गिरता है। शरीर इतना क्षणभङ्गुर है जितने कि बरसाती नालोंके ऊपरके बुल्बुले। विचार करनेपर संसारका सारा व्यवहार इतना सारहीन दिखाई पड़ता है जितना कि केलेका खम्भा। यौवन इस शीघ्रतासे भाग जाता है जैसे किसी अप्रिय कामीको छोड़ कर उसकी प्रिया दूसरे युवकके साथ भाग जाती है। सब विषयोंमें नीरसता उदय हो जाती है, जैसे कटे हुए पेड़का रस सूख जाता है।

(४) सांसारिक अभ्युदय सुख देनेवाला नहीं है :—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ (४।४६।३)
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ (४।४६।४)

धन और स्त्री पुत्र आदिकी वृद्धि होनेपर हर्ष करनेका अवसर क्या है ? मृग-तृष्णाकी नदीमें यद्यपि बाढ़ भी आ जाए तो भी जलकी चाहना रखनेवालों (प्यासों) को क्या आनन्द हो सकता है ? धन और स्त्री आदिके बढ़नेपर खुशी न होनी चाहिये, बल्कि दुःख होना चाहिये । मोहकी मायाके अधिक होनेपर किसको आनन्द होता है ?

(५) सुख दुःखका अनुभव कब होता है :—

यथा ग्रासिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ॥ (६/१।४४।२)
वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नान्यदा तथा । (६/१।४४।३)
वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तन्न वाञ्छैव कारणम् ॥ (६/१।४४।४)
बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
यत्सुखाय तदेवाशु वस्तु दुःखाय नाशतः ॥ (६/१।१२०।१८)
अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ।
तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ॥ (६/१।१२०।१९)
नासौ सुखायते नासौ नाशकाले न दुःखदः । (६/१।१२०।२०)
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ॥ (६/२।६८।३१)
अकृत्रिममनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ (६/२।६८।३१)
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ (६/२।३६।२४)
यत्र नाभ्युदितं चित्तं तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ सम्भवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ (६/१।४४।२६)
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं वचसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ (६/१।४४।२७)
आशापरिकरे राम नूनं परिहृते हृदा ।
पुमानागतसौन्दर्यो ह्लादमायाति चन्द्रवत् ॥ (५।७४।२४)

न तथा सुखयत्यङ्गसंलग्ना वरवर्णिनी।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीता निराशता ॥ (५।७४।४०)
अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात्।
अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम् ॥ (५।७४।४४)
इदमेवास्त्विदं मास्तु ममेति हृदि रञ्जना।
न यस्यास्ति तमात्मेशं तोलयन्ति कथं जनः ॥ (५।७४।५०)

किसको इस बातका अनुभव नहीं है कि इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके क्षणमें जो खुशी किसी व्यक्तिको होती है वह खुशी उस वस्तुकी प्राप्तिके क्षणके पीछे नहीं होती। जब किसी वस्तुकी कोई इच्छा करता है तभी वह वस्तु उसको सुख देनेवाली जान पड़ती है—और जैसी सुखदाई वह इच्छा रहते हुए जान पड़ती है वैसी दूसरे समय (जब कि उसकी इच्छा न हो) नहीं जान पड़ती। अतएव हमारी इच्छा ही वस्तुमें सुखका आभास उत्पन्न करती है। वासनाके रहते हुए जब किसी वस्तुका उपभोग किया जाता है तभी वह सुखदाई जान पड़ती है, और जो वस्तु सुखदाई जान पड़ती है उसके नष्ट होनेपर ही हमको दुःख होता है। जिस वस्तुसे हमको सुख होता है उसीसे हमको दुःख भी होता है। बिना वासनाके अथवा अल्प वासनासे जिस वस्तुका सेवन किया जाता है वह न तो भोग करनेसे सुख देती है और न उसका नाश होनेसे हमको दुःख ही होता है। अनुभूतिके क्षणिक होनेके कारण सुख दुःखमें परिणत होता है। जो सुख किसी खास बाह्य कारणसे उत्पन्न नहीं होता; जो अनादि और अनन्त है, वही आत्माका सुख असली सुख है—(क्योंकि वह सुख क्षणिक न होनेके कारण दुःखमें परिणत नहीं होता)। इच्छाके उदय होनेपर जो दुःख होता है वह दुःख नरकमें भी नहीं होता, और इच्छाके शान्त होनेपर जो सुख होता है वह सुख ब्रह्मलोकमें भी नसीब नहीं होता। जैसे मरुभूमिमें कहीं पर भी बर्फ़का स्थान नहीं होता वैसे ही जो अकृत्रिम सुख चित्त (इच्छा, वासना) के न उदय होनेसे होता है वह स्वर्ग जैसे स्थानोंमें भी नहीं प्राप्त हो सकता। चित्तके शान्त हो जानेपर जिस सुखका अनुभव होता है वह सुख (आनन्द) इतना महान् है कि वचनोंसे प्रकट नहीं किया जा सकता। उसमें कमी और वृद्धि नहीं होती, और वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। जब हृदयसे सब आशाओं (इच्छाओं) का त्याग कर दिया जाता है

तब मनुष्यको बड़ा आनन्द होता है और उसके मुखकी शोभा चन्द्रमाकी शोभाकी नाईं हो जाती है। परम सुन्दर और चाही हुई स्त्री आलिङ्गन करनेपर उतना आनन्द नहीं दे सकती जितना आनन्द अपने भीतरसे आशाओं (इच्छाओं) के निकाल देनेपर होता है। इच्छारहित होना राज्यसे, स्वर्गसे, चन्द्रमासे, भगवान्‌से, प्रेमिकाकी प्राप्तिसे भी अधिक सुखदाई है। "यह वस्तु मुझे मिले, यह वस्तु मेरेसे दूर हो"—जिस पुरुषके हृदयमें इस प्रकारकी भावना नहीं रही, भला उस आत्माके स्वामीकी तुलना किससे की जा सकती है? (अर्थात् उस कितना सुखी कोई नहीं है)।

(६) आत्मानन्द :—

क्षणं वर्षसहस्रं वा तत्र लब्ध्वा स्थितिं मनः।
रतिमेति न भोगौघे दृष्टस्वर्ग इवावनौ ॥ (५।५४।६९)
तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम्।
तत्र विश्रान्तिमाप्तस्य भूयो नो बाधते भ्रमः ॥ (५।५४।७०)
तां महानन्दपदवीं चित्तादासाद्य देहिनः।
दृश्यं न बहु मन्यन्ते राजानो दीनतामिव ॥ (५।५४।७२)

जैसे जिस आदमीने स्वर्गका सुख देख लिया है उसका मन पृथ्वीपर नहीं लग सकता वैसे जिसने कुछ समयके लिये भी आत्मा में स्थिति प्राप्त कर ली है उसका मन भोगोंमें नहीं लग सकता। आत्मानुभव ही हमारा अन्तिम पद है, वही हमारी अन्तिम शान्त गति है, वही हमारा परम, नित्य, और कल्याणमय श्रेय है। उसमें विश्राम पाकर फिर हमको भ्रममें नहीं पड़ना पड़ता। उस महा आनन्दकी पदवीको प्राप्त करके प्राणी दृश्य जगत्‌को कुछ भी नहीं समझता (उसकी क़दर नहीं करता), जैसे राजा लोग दीन अवस्था-की चाहना नहीं करते।

———

२२—बन्धन और मोक्ष

ऊपर बतलाए हुए आत्मानन्दका अनुभव किसी किसी पुरुषको ही होता है। जिसको आत्माका ज्ञान ही नहीं है, और जो पुरुष आत्माको न जान कर विषयोंके भोगोंमें ही आनन्दकी तलाश करता फिर रहा है, और एक विषयमें उसे न पाकर दूसरे विषयोंकी इच्छा करता हुआ एक जन्मसे दूसरे जन्ममें भटकता रहता है वह सदा ही दुःखी रहता है। इस प्रकारके भटकने और दुःखकी अवस्थाका ही नाम बन्धन है और इस अवस्थासे छूटकर निजानन्दमें स्थिर हो जानेका ही नाम मुक्ति या मोक्ष है। यहाँपर हम योगवासिष्ठके अनुसार बन्धन और मुक्तिका वर्णन करेंगे।

(१) बन्धनका स्वरूप—

पदार्थवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। (२।२।५)
सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान् ॥ (६/२।१२५।३४)
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविवर्जनम्।
यदेतन्मनसो राम तद्बन्धं विद्धि नेतरत् ॥ (५।१३।२०)
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते। (३।१।२२)
वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ (६/२।१२५।६१)
जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ (३।१।२३)

जगत्के पदार्थोंकी वासनाके दृढ़ होनेका नाम बन्धन है। जो सुख और दुःखोंसे युक्त है वही बन्धनका अनुभव करता है। उपादेय (प्राप्त करने योग्य) वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छा करना और हेय (त्यागने-योग्य) वस्तुओंसे द्वेष करना ही बन्धन है और दूसरा कुछ नहीं। द्रष्टाका दृश्यकी सत्तामें विश्वास बन्धन है। वासनाका होना और न होना ही बन्धन और मोक्षके कारण हैं। जगत्, तू, और मैं आदिका जो यह झूठा दृश्य है, जबतक इसमें विश्वास है तब तक मोक्ष नहीं होता।

(२) बन्धनके कारण :—

(अ) वासना :—

वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः ।
वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खगा इव ॥ (४।२७।१८)
ये भिन्नवासना धीराः सर्वत्रासक्तबुद्धयः ।
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति दुर्जयास्ते महाधियः ॥ (४।२७।१९)
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।
वेष्टयच्चैव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नावबुध्यते ॥ (६/१।१०।८)

आशाके फाँसोंमें बँधे हुए और वासनाकी रस्सियोंसे जकड़े हुए जीव संसारमें इस प्रकार बन्धनको प्राप्त होते हैं जैसे रस्सीसे बँधे हुए पक्षी। जो धीर पुरुष अपनी वासना(रूपी रस्सी) को तोड़ चुके हैं, जो सब जगह असक्त हैं और जो न किसी अवस्थामें प्रसन्न होते हैं और न किसीसे क्रुद्ध, वे कभी बन्धनमें नहीं पड़ते। वासनाओंके तागोंसे मन अपनी मूर्खताके कारण अपने आपको इस प्रकार बन्धनमें डाल लेता है जैसे कि रेशमका कीड़ा।

(आ) अपने आपको परिमित समझना :—

इयन्मात्रपरिच्छिन्नो येनात्मा भव्यभावितः ।
स सर्वज्ञोऽपि सर्वत्र परां कृपणतां गतः ॥ (४।२७।२२)
अनन्तस्याप्रमेयस्य येनेयत्ता प्रकल्पिता ।
आत्मनस्तस्य तेनात्मा स्वात्मनैवावशीकृतः ॥ (४।२७।२३)
आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥ (४।२७।२५)
अयं सोऽहं ममेदं तदित्याकल्पितकल्पनः ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ (४।२७।२१)

जिसने अपने भीतर यह भावना दृढ़ कर ली है कि "मैं केवल इतना ही हूँ" वह सर्वज्ञ और विभु होता हुआ भी क्षुद्रताको प्राप्त होता है। जिसने अनन्त और अप्रमेय आत्माको महदूद (परिच्छिन्न) मान लिया है उसने अपने आपको बन्धनमें डाल दिया। आस्था अनन्त दुःखोंका उद्गम है और अनास्था अनन्त सुखोंका। जैसे समुद्रमें जलोंका प्रवेश होता है वैसे ही उस प्राणीके ऊपर अनेक आपत्तियाँ

आती हैं जो "यह मैं हूँ, यह मेरा है" इस प्रकारकी कल्पना करता रहता है।

(ई) मिथ्या भावना :—

मिथ्याभावनया ब्रह्मन्स्वविकल्पकलङ्किताः ।
न ब्रह्म वयमित्यन्तर्निश्चयेन ह्यधोगताः ॥ (४।१२।२)
ब्रह्मणो व्यतिरिक्तत्वं ब्रह्मार्णवगता अपि ।
भावयन्त्यो विमुह्यन्ति भीमासु भवभूमिषु ॥ (४।१२।३)

अपनी कल्पनाओं द्वारा उत्पन्न की हुई इस प्रकारकी मिथ्या भावनाके दृढ़ होनेसे कि "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" हमलोग अधोगतिको प्राप्त होते हैं। ब्रह्मरूपी समुद्रमें वास करते हुए भी हमलोग यह समझ कर कि हम ब्रह्मसे कोई अलग वस्तु हैं—और इस प्रकारकी भावनाको दृढ़ करके—संसारकी भयानक अवस्थाओंमें मोहको प्राप्त होते हैं।

(ई) आत्माको भूलना :—

हेतुर्विहरणे तेषामात्मविस्मरणादृते ।
न कश्चिल्लक्ष्यते साधो जन्मान्तरफलप्रदः ॥ (३।९५।१४)
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः । (३।११४।२३)

संसारमें घूमने और जन्मजन्मान्तरका फल पानेका हेतु जीवोंके लिये आत्माको भूलनेके सिवाय कुछ भी नहीं है। "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" इस संकल्पसे मन दृढ़ बन्धनमें पड़ जाता है।

(उ) अहंभावना :—

अहमित्येव संकल्पो बन्धायातिविनाशिने ।
नाहमित्येव संकल्पो मोक्षाय विमलात्मने ॥ (६/१।९९।११)

"मैं यह हूँ" इस प्रकारका संकल्प नाशकारी बन्धनमें डालनेवाला है और "मैं यह नहीं हूँ" इस संकल्पसे मोक्ष प्राप्त होता है।

(ऊ) अज्ञान :—

जडो देहो न दुःखार्हो दुःखी देहविचारतः ।
अविचारो घनाज्ञानादज्ञानं दुःखकारणम् ॥ (३।११५।१९)
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः ।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥ (६/१।१०।४)

जड़ देहको दुःख नहीं होता, विचारहीन देहवालेको ही दुःख होता है। गहरे अज्ञानसे विचारहीनता आती है—इसलिये अज्ञान ही दुःखका कारण है। आत्माके अज्ञानसे ही भ्रम उत्पन्न होता और आत्माके ज्ञानसे ही सर्व प्रकारकी सम्पत्तियोंकी प्राप्ति होती है।

(३) मोक्षका स्वरूप :—

सकलाशास्वसंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः।
स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः॥ (५।७३।२६)
जगद्भ्रमं परिज्ञाय यद्वासनमासितम्।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते॥ (६/२।४२।५१)
दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तंगतमनोगतिम्।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः॥ (६/२।३८।३२)
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनो मृतमुच्यते।
तदेव च तपःशास्त्रसिद्धान्तो मोक्ष उच्यते॥ (३।११२।८)
परस्य पुंसः संकल्पमयत्वं चित्तमुच्यते।
अचित्तत्वमसंकल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते॥ (५।१३।८०)
दृश्यं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित्।
तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता॥ (६/२।३७।२३)
अत्यन्तविस्मृतं विश्वं मोक्ष इत्यभिधीयते।
ईप्सितानीप्सिते तत्र न स्तः केचन कस्यचित्॥ (२।२१।११)
अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेद्यात्मनोऽसतः।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः॥ (६/२।२०।१७)

सब इच्छाओंसे अलग होनेपर जो चित्तका क्षीण हो जाना है उसे आत्मदर्शी तत्त्वज्ञानी मोक्ष कहते हैं। जगत्को भ्रम समझ कर, सब विषयोंको नीरस समझ कर वासनारहित होकर स्थित होनेका नाम निर्वाण है। आत्मामें मनकी क्रियाके ऐसे शान्त हो जानेको जैसे कि दीपक बुझ जाता है निर्वाण कहते हैं। जब मन चञ्चलतासे मुक्त हो जाता है तब उसको मुर्दा मन कहते हैं उसका ही नाम योग और शास्त्रोंमें मोक्ष है। परम आत्मा जब संकल्पयुक्त होता है तब उसे मन कहते हैं। सङ्कल्परहित होनेपर वह मन नहीं रहता। उस स्थितिका नाम ही मोक्ष है। जब दृश्य पदार्थमें रस न प्रतीत हो और उनमें किसी प्रकारका स्वाद न आवे, और उनके प्राप्त करनेकी

इच्छा मनमें न उदय हो तब मुक्तिका अनुभव होता है। जब जगत्का इतना विस्मरण हो जाए कि उसकी किसी वस्तुके लिये न इच्छा हो और न द्वेष, तब मोक्षका अनुभव होता है। मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न हुई अज्ञानकी झूठी गाँठ जो अहंभावके रूपमें अनुभूत हो रही है जब खुल जाती है तब मोक्षका अनुभव होता है।

(४) मोक्षका अनुभव कब होता है :—

यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान्। (६/१।१२८।४५)
संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः॥ (६/१।१२८।४६)
देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः। (६/१।१२८।४६)
सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते॥ (६/१।१२८।४७)
सर्वेषु भूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। (६/१।१२८।४८)
यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते॥ (६/१।१२८।४९)
कर्तृभोक्त्रादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः। (६/१।१८।४७)
सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते॥ (६/१।१२८।४९)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा। (६/१।१२८।४९)
विशेत्तुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते॥ (६/१।१२८।५०)
यदि सर्वं परित्यज तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥ (३।६६।१९)
यत्राभिलाषस्तन्नूनं संत्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवाङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम्॥ (३।६६।२१)

जब सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और जीव मनके गुणोंका त्याग करके ब्रह्मके गुणोंको ग्रहण कर लेता है, तब वह विभुत्वका अनुभव करता है। जब जीव इस प्रकारका ध्यान करता है कि वह सब इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे भी जो परे है उससे भी परे रहनेवाला तत्त्व है, तब मुक्त हो जाता है। जब जीव सर्व प्राणियोंमें आत्माको और आत्मामें सब प्राणियोंको देखता है और किसी प्रकारका भेद नहीं समझता, तब वह मुक्त होता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे मुक्त, सब उपाधियोंसे छूटा हुआ, सुख दुःखके अनुभवसे बरी होनेपर जीव मुक्त होता है। जब जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे ऊपर उठ कर चौथी अवस्थाके आनन्दका अनुभव करने लगता है, तब वह मुक्त होता है। यदि सब विषयोंका मनसे त्याग

करके, वासनाओंसे ऊँचे उठ जाए तो जीव उसी क्षण मुक्त हो जाता है—इसमें ज़रा भी संशय नहीं है। मोक्ष प्राप्त करना क्या मुश्किल है? जिस जिस विषयकी इच्छा हो उस उसका त्याग करता रहे तो मोक्ष ही है।

(५) मोक्ष दो प्रकारका है :—

द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनघाकृते।
सदेहैका विदेहान्या विभागोऽयं तयोः शृणु॥ (५।४२।११)

मोक्ष दो प्रकारका होता है—एक सदेह और दूसरा विदेह। उनका भेद सुनो।

(अ) सदेह मोक्ष :—

असंसक्तमतेर्यस्य त्यागादानेषु कर्मणाम्।
नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्ततामिह॥ (५।४२।१२)

जिस जीते हुए पुरुषके लेने और देनेके कामोंमें किसी प्रकारकी वासना नहीं रहती (केवल कर्म करता है) उसे जीवन्मुक्त (जीते हुए अर्थात् शरीरके रहते हुए ही मुक्त) कहते हैं।

(आ) विदेह मोक्ष :—

सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नायान्ति दृश्यताम्॥ (५।४२।१३)

शरीरके नष्ट हो जानेपर जब फिर जन्म होनेकी सम्भावना न हो उस प्रकारकी मुक्तिको विदेह-मुक्ति कहते हैं।

(६) सदेह और विदेह मुक्तिमें विशेष भेद नहीं है :—

न मनागपि भेदोऽस्ति सदेहादेहमुक्तयोः।
सस्पन्दोऽप्यथवाऽस्पन्दो वायुरेव यथानिलः॥ (२।४।५)

जैसे चलती हुई और स्थिर वायुमें ज़रा भी भेद नहीं है ठीक वैसे ही सदेह और विदेह मुक्तिमें कोई विशेष भेद नहीं है।

(७) मुक्ति और जड़स्थितिका भेद :—

चिच्छक्तिर्वासनाबीजरूपिणी स्वापधर्मिणी।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु॥ (६१।१०।२३)

यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।
तथाऽन्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ (६/१।१०।१९)
यत्रास्ति वासनाबीजं तत्सुषुप्तं न सिद्धये।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ (६/१।१०।२०)
अतः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाङ्कुरः।
वासना तत्सुषुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ (६/१।१०।१६)
स्थावराद्य एते हि समस्ता जडधर्मिणः।
सुषुप्तपदमारूढा जन्मयोग्याः पुनः पुनः ॥ (६/१।१०।१८)
वासनायास्तथा वह्नेर्ऋणव्याधिद्विषामपि।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ (६/१।१०।२१)
अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम्।
सुषुप्तं जडधर्मापि जन्मदुःखशतप्रदम् ॥ (६/१।१०।१७)
तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेदविदां वर।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ॥ (६/१।१०।११)
निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान्।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥ (६/१।१०।२२)
बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथावस्त्ववलोकनात्।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ (६/१।१०।१३)
परिज्ञाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः।
सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ (६/१।१०।१४)
विचार्यार्यैः सहालोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात्।
सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ (६/१।१०।१५)

जड़ वस्तुओंके भीतर भी वासनाके बीजके रूपमें सोई हुई चित्-शक्ति उनके रस (विशेष तत्त्व) के आकारमें वर्त्तमान रहती है। जैसे बीजमें फूल आदि, और मिट्टीमें घड़ा रहता है, वैसे ही जड़ वस्तुओंके भीतर उनकी वासना रहती है। वह सुषुप्ति (जड़वत् स्थिति) जिसमें वासनाका बीज शेष रहता है, सिद्धि देनेवाली नहीं है (अर्थात् इस प्रकारकी स्थितिका नाम मोक्ष नहीं है)। सिद्धि देनेवाली वह तुर्या स्थिति है जिसमें वासना निर्बीज हो जाती है। वह अवस्था जिसमें मन्द रूपसे वासना सोई रहती है जैसे कि बीजके भीतर अंकुर रहता है, दूसरे जन्मोंके देनेवाली है। स्थावर आदि जितनी ऐसी जड़ स्थितियाँ हैं जिनमें वासना सुप्त अवस्थामें रहती

है, अवश्य ही दूसरे जन्मोंको उत्पन्न करानेवाली हैं। आग, ऋण, व्याधि, वैरी, प्रेम, वैर और विषका जैसे ज़रा सा भी अंश शेष रह जाने पर दुःख देता है वैसे ही वासनाका लेश मात्र भी दुःख देनेवाला होता है। जड़ अवस्थाकी सुषुप्तिकी स्थिति जिसमें कि मनका अभी उदय नहीं हुआ है और जिसमें सोई हुई वासनाएँ मौजूद हैं अनेक जन्मोंके दुःखोंके देनेवाली है। उस हालतसे मुक्ति बहुत दूर है जिसमें चित्तके भीतर दुःख देनेवाली सोई हुई वासना मौजूद है। इसके विपरीत वह सत्ता सामान्य रूपवाली स्थिति है जिसमें वासना रूपी बीज दग्ध हो गया है। ऐसी स्थिति, चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, दुःख देनेवाली नहीं है। बुद्धिपूर्वक विचार करके और वस्तुओंका यथार्थ रूप जानकर सत्ता सामान्य स्थितिका जो अनुभव होता है उसे मोक्ष कहते हैं। जानकर वासनाओंका त्याग करना और तब सत्तासामान्य रूपमें स्थित होना कैवल्यपद (मोक्ष) कहलाता है। सज्जनोंके साथ विचार करके, शास्त्रोंका अध्ययन करके और आध्यात्मिक भावना द्वारा जो सत्ता-सामान्य रूपमें स्थिति प्राप्त होती है वही ब्रह्मका अनुभव है।

(८) बन्धन और मोक्ष दोनों ही वास्तवमें मिथ्या हैं :—

मिथ्याकाल्पनिकीवेयं मूर्खाणां बन्धकल्पना।
मिथ्यैवाभ्युदिता तेषामितरा मोक्षकल्पना॥ (३।१००।३९)
एवमज्ञानकादेव बन्धमोक्षदशोऽस्मृतेः।
वस्तुतस्तु न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति महामते॥ (३।१००।४०)
बन्धमोक्षादिसंमोहो न प्राज्ञस्यास्ति कश्चन।
संमोहबन्धमोक्षादि ह्यज्ञस्यैवास्ति राघव॥ (३।१००।४२)
नित्यासंभवबन्धस्य बद्धोऽस्मीति कुकल्पना।
यस्य काल्पनिकस्तस्य मोक्षो मिथ्या न तत्त्वतः॥ (३।१००।३७)

बन्धन और मोक्ष दोनों ही अज्ञानियोंकी मिथ्या कल्पनायें हैं। बन्धन और मोक्ष दोनों अज्ञान और भूलके कारणसे हैं। वस्तुतः न बन्धन है और न मोक्ष। बन्धन और मोक्षका मोह अज्ञानियोंके लिये ही है, ज्ञानियोंके लिये नहीं। जो कभी बन्धनमें नहीं पड़नेवाला है वह भला कैसे बद्ध हो सकता है? जो कल्पना द्वारा बद्ध हो जाता है उसीके लिये मुक्ति भी है। वास्तव में न बन्धन है और न मुक्ति।

२३—मोक्ष प्राप्तिका उपाय

यद्यपि बन्धन काल्पनिक ही है तथापि अज्ञानियोंके लिये वह इतना ही सत्य प्रतीत होता है जितना कि उनका अहंभाव और दृश्य जगत्। इस लिये मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्तिका सच्चा साधन क्या है इस विषयमें लोगोंमें वहुत मतभेद है। योगवासिष्ठका स्पष्ट सिद्धान्त यह है कि ज्ञानके सिवाय मोक्ष-प्राप्तिका कोई उपाय नहीं है। ज्ञान द्वारा ही मोक्षका अनुभव सिद्ध होता है। इस सिद्धान्तका विशेष प्रतिपादन यहाँपर किया जाता है।

(१) ज्ञानके सिवाय मोक्ष प्राप्तिका दूसरा और कोई उपाय नहीं है :—

संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता।
नापि स्वदेशावासित्वं न कष्टतपःक्रियाः॥ (६।१९९।३०)
न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः।
नाचारेषु समारम्भविचित्रफलपालयः॥ (६।१९९।३१)
न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्यया।
न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्नचाध्वरैः॥ (६।१७४।२४)
न दैवं न च कर्माणि न धनानि न बान्धवाः। (५।१३।८)
किञ्चिन्नोपकरोत्यत्र तपोदानव्रतादिकम्॥ (३।६।४)
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात्। (६।१९७।१८)
तपस्तीर्थादिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता॥ (६।१७४।२६)
ततो वच्मि महाबाहो यथा ज्ञानेतरा गतिः।
नास्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः॥ (५।६७।२)

संसार-समुद्रसे पार होनेका उपाय न वनमें वासकरना है, न किसी विशेष देशमें वासकरना, न शरीरको कष्ट देनेवाले तप और क्रियायें, न क्रियाओंका त्याग करना, न किन्हीं क्रियाओंका अनुष्ठान करना, न किसी विशेष और विचित्र प्रकारके आचार व्यवहारः न तीर्थाटन, न दान, न कोई विशेष प्रकारकी विद्या, न कोई विशेष ध्यान, न योग, न तप, न यज्ञ, न दैव (तक़दीर), न विशेष प्रकारके

कर्म, न धन, न बन्धुजन, न व्रत आदि, न शास्त्र, न गुरुका वाक्य, न ईश्वरकी पूजा। तप और तीर्थ आदिसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, मोक्षकी नहीं। इसलिये मैं कहता हूँ कि बन्धनमें पड़े हुए मनके लिये संसारसे पार होनेका ज्ञानके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

(२) ज्ञान ही मोक्ष प्राप्तिका एक साधन है :—

ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम्।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥ (२।११।३६)
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते। (३।६।२)
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्न त्वनुष्ठानदुःखतः ॥ (३।६।१)
बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका।
जगन्नाम्न्यविचाराख्या विना ज्ञानं न शाम्यति ॥ (३।८।२)
अयं स देव इत्येव संपरिज्ञानमात्रतः।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च ॥ (३।६।६)
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते। (५।९३।१८)
ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ॥ (५।९३।२४)
ज्ञानवानेव सुखवान्ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ (५।९२।४९)
ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नान्यस्माद्राम वस्तुतः ॥ (५।८८।१२)
ज्ञायते परमात्मा चेद्राम दुःखस्य संततिः।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥ (३।७।१७)
दुरुत्तरा या विपदो दुःखकल्लोलसंकुलाः।
तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो नानाऽपद्भ्यो महामते ॥ (५।१२।२०)
कलना सर्वजन्तूनां विज्ञानेन शमेन च।
प्रबुद्धा ब्रह्मतामेति अमतीतरथा जगत् ॥ (५।१३।५९)

बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार-समुद्रसे ज्ञानयुक्ति रूपी नौका द्वारा ज़रासी देरमें पार हो जाते हैं। मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान ही एक अनुष्ठान है; दूसरा कोई नहीं है। ज्ञानसे ही परम सिद्धि प्राप्त होती है और किसी अनुष्ठानके कष्टसे नहीं। मिथ्या ज्ञानरूपी विषूचिका बहुत पुराना रोग है; इसीका नाम जगत् और अविचार है। यह बिना ज्ञानके शान्त नहीं होता। आत्माके प्रत्यक्ष ज्ञानसे प्राणीके दुःख

शान्त हो जाते हैं और उसे जीवन्मुक्तताका अनुभव होता है। ज्ञानसे सब दुःखोंका नाश हो जाता है। ज्ञानवान्को ही परम आनन्द प्राप्त होता है और वह संसारमें नहीं डूबता। ज्ञानी ही सुखी, ज्ञानी ही बलवान् होता है, ज्ञानी ही जीता है। इस लिये ज्ञानी बनो। ज्ञानसे सब दुःखोंकी शान्ति हो जाती है; ज्ञानसे अज्ञान दूर हो जाता है। ज्ञानसे ही परम सिद्धि प्राप्त होती है; दूसरे किसी उपायसे नहीं। जैसे विषका असर चले जानेपर विषूचिका रोग शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्माका ज्ञान प्राप्त होनेपर सब दुःख शान्त हो जाते हैं। नाना प्रकारकी आपत्तियों और कठिनसे कठिन दुःखदाई विपत्तियोंके समुद्रको ज्ञान द्वारा पार किया जा सकता है। ज्ञान और शम (मनको शान्त करने) से ही सब प्राणियोंका जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। अन्यथा वह जगत्में भ्रमण करता रहता है।

(३) मोक्ष-प्राप्तिके लिये किसी देवताकी आराधना करनेकी ज़रूरत नहीं है :—

(अ) आत्माके सिवाय किसी देवताकी आराधना नहीं करनी चाहिये :—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः॥ (६।१६२।१८)
अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात्।
नात्मनः प्राप्यते यत्तत्प्राप्यते न जगत्त्रयात्॥ (५।४३।१८)
आराधयात्मनात्मानमात्मनात्मानमर्चयेत्।
आत्मनात्मानमालोक्य संतिष्ठस्वात्मनात्मनि॥ (५।४३।१९)
सर्वेषामुत्तमस्थानां सर्वासां चिरसंपदाम्।
स्वमनोनिग्रहो भूमिर्भूमिः सस्यश्रियामिव॥ (५।४३।३५)
शास्त्रयत्नविचारेभ्यो मूर्खाणां प्रपलायिनाम्।
कल्पिता वैष्णवी भक्तिः प्रवृत्त्यर्थं शुभस्थितौ॥ (५।४३।२०)
क्रियते माधवादीनां प्रणयप्रार्थना स्वयम्।
तथैव क्रियते कस्मान्न स्वकस्यैव चेतसः॥ (५।४३।२५)
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः॥ (५।४३।२६)

वरमाप्नोति यो वापि विष्णोरमिततेजसः ।
तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशाखिनः ॥ (५।४३।३४)

आत्मा ही अपना वन्धु, आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा द्वारा यदि हमारा त्राण नहीं होता तो दूसरा और कोई उपाय ही नहीं है। जो गति अभ्यास, वैराग्य और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्मा से प्राप्त होती है वह तीनों लोकोंमें और किसीसे भी नहीं मिलती। इसलिये आत्माकी ही पूजा करो, आत्माकी ही आराधना करो, आत्मा का ही दर्शन करके आत्मामें स्थित रहो। जैसे भूमिसे सब अन्न उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अपने मनके निग्रह करनेसे ही सब उत्तम स्थानों और सब चिरस्थायी सम्पत्तियोंकी प्राप्ति होती है। विष्णु आदि देवताओंकी भक्ति तो उन लोगोंको शुभ मार्गपर लानेके लिये बनाई गई है जो मूर्ख अध्यात्म-शास्त्र, यत्न और विचारसे दूर भागते हैं। यदि विष्णु आदि देवताओंको प्रसन्न करनेका यत्न कर सकते हो तो अपने मन हीको शुद्ध करनेका यत्न क्यों नहीं करते? सब प्राणियोंके हृदयमें विष्णु (आत्मा) निवास करते हैं। अपने भीतर रहनेवाले विष्णुको छोड़कर विष्णुकी तलाश जो लोग वाहर करते हैं वे अधम हैं। अमित तेजवाले विष्णुसे जो वर प्राप्त होता दिखाई पड़ता है वह भी वास्तवमें अपने ही अभ्यासरूपी वृक्षका फल है।

(आ) कोई देवता भी विचाररहित पुरुषको आत्मज्ञान नहीं दे सकता :—

रामापर्यवसानेयं माया संसृतिनामिका ।
आत्मचिज्जयेनैव क्षयमायाति नान्यथा ॥ (५।४४।१)
चिरमाराधितोप्येप परमप्रीतिमानपि ।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥ (५।४३।१०)
यद्यदासाद्यते किञ्चित्केनचित्क्वचिदेव हि ।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या तल्लभ्यते नान्यतः क्वचित् ॥ (५।४३।१३)
न हरेर्न गुरोर्नार्थात्किञ्चिदासाद्यते महत् ।
आक्रान्तमनसः स्वस्माद्यदासादितमात्मनः ॥ (५।४३।१७)
गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषादृते ।
उष्ट्रं दान्तं बलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ ॥ (५।४३।१६)

हे राम! यह संसार-नामवाली अनन्त माया अपने आत्माको जीत लेनेपर ही शान्त होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। बहुत समय तक आराधना करनेसे बहुत प्रसन्न होनेपर भी विष्णु आदि देवता विचार न करनेवाले पुरुषको ज्ञान नहीं दे सकते। जो पुरुष कुछ भी कहीं और कभी प्राप्त करता है वह सब अपने ही शक्तिके प्रयोगसे प्राप्त करता है, और किसीके द्वारा नहीं। जो अपने मनको वशमें करनेसे और आत्माको जाननेसे सिद्धि होती है वह न धनसे, न गुरुसे और न हरिसे मिल सकती है। यदि गुरु आदि किसी व्यक्ति का उसके अपने पुरुषार्थके विना ही उद्धार कर सकते हैं तो वे ऊँट, हाथी और बैलका उद्धार क्यों नहीं कर देते?

(इ) ईश्वर सबके भीतर रहता है :—

य एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठते।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ (३।७।२)
चिन्मात्रमेष शशिभृच्चिन्मात्रं गरुडेश्वरः।
चिन्मात्रमेव तपनश्चिन्मात्रं कमलोद्भवः ॥ (३।७।४)
न ह्येष दूरे नाभ्याशे नालभ्यो विषमे न च।
स्वानन्दाभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥ (३।६।३)
संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ (५।८।१४)

वह ईश्वर कहीं दूर नहीं है। चिन्मात्र रूपसे शरीरके भीतर ही सदा रहता है। शिव भी चिन्मात्र है, विष्णु भी चिन्मात्र है, ब्रह्मा भी चिन्मात्र है, सूर्य भी चिन्मात्र है। न भगवान् दूर हैं और न कठिनाईसे प्राप्त होने वाले हैं। वह तो अपने ही भीतरसे ही निजानन्दके रूपमें प्रकट होते हैं। निज हृदयकी गुफामें वास करनेवाले ईश्वरको छोड़कर जो व्यक्ति दूसरे ईश्वरकी तलाश करता है वह अपने हाथमें आई हुई कौस्तुभ मणिको छोड़कर मामूली रत्नको तलाश करता है।

(ई) ज्ञानसे ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है :—

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नत्वनुष्ठानदुःखतः ॥ (३।६।१)
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो। (६²।३८।३०)
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते ॥ (३।६।२)

इस देवोंके देव परम परमात्माकी प्राप्ति ज्ञान द्वारा ही होती है और किसी प्रकारके अनुष्ठानके दुःखसे नहीं। विना ज्ञानके और किसी साधनसे यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। परमात्माके प्राप्त करनेमें ज्ञान ही एक अनुष्ठान है, और दूसरा कोई नहीं है।

(ड) आत्मदेवकी पूजा करनेकी विधि :—

अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपेलवचेतसः।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ (६।३०।५)
संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम्।
न तस्याह्वानमंत्रादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ॥ (६।३५।२४)
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः।
नान्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ॥ (६।३८।२३)
न च कुंकुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः।
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ॥ (६।३८।२४)
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते।
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ॥ (६।३८।२५)
नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत्परं शिवम्। (६।३९।३)
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ॥ (६।३८।३६)
शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ॥ (६।२९।१२८)
पूजनं ध्यानमेवान्तर्नान्यदस्त्यस्य पूजनम्। (६।३८।६)
स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ॥ (६।३८।२२)
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्। (६।३८।२६)
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥ (६।३८।२७)
ध्यानामृतेन सम्पूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम्। (६।३८।२७)
ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ॥ (६।३८।२८)
ध्यानमर्घ्यं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम्।
ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ॥ (६।३८।२९)
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो।
ध्यानात्प्रसादमायान्ति सर्वभोगसुखश्रियः ॥ (६।३८।३०)

जिनकी बुद्धि चेतन नहीं हुई और जिनका चित्त चञ्चल है, केवल उन्हीं लोगोंके लिये बाहरी और बनावटी देव-पूजाकी विधि

है। जो देव सब जगह मौजूद है और ज्ञान रूपसे सब प्राणियोंके भीतर है, उसके लिये आह्वान और मंत्र आदिकी आवश्यकता नहीं है। आत्मदेवकी पूजामें न दीपककी, न धूपकी, न फूलोंकी, न अन्नकी, न दानकी, न चन्दन लगानेकी, न केसर, कपूर और भोगकी आवश्यकता है। उसकी पूजा केवल एक ही विधिसे होती है। वह है उसका ध्यान जिसमें किसी प्रकारका क्लेश नहीं है और जो शीतलता देनेवाला अमृत है। यही बड़ा भारी ध्यान है और यही बड़ी भारी पूजा है कि शरीरमें स्थित परम शिव आत्माका ध्यान किया जाए। यही परम योग है और यही बड़ी भारी क्रिया है। शम और बोध आदि फूलों द्वारा आत्माकी पूजा करना ही असली पूजा है; किसी आकारकी पूजा करना वास्तविक पूजा नहीं है। अपने भीतर आत्माका ध्यान करनेके सिवाय और कोई आत्माकी पूजा ही नहीं है। संवित् (ज्ञान) रूप आत्मदेव किसी उपहारसे प्रसन्न नहीं होता। देखते हुए, सुनते हुए, छूते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, साँस लेते हुए, बोलते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए, अर्थात् सब ही कामोंको करते हुए, संवित्-मय बनना चाहिये। अपने आत्मारूपी ईश्वरको ध्यान रूपी अमृतसे पूजो। आत्मदेवके लिये ध्यान ही सर्वोत्तम उपहार है। ध्यान ही इसको प्रसन्न करनेकी विधि है। शुद्ध संवेदनात्मक ध्यान ही इसके लिये अर्घ्य और पाद्य है; वही इसके लिये फूल हैं। ध्यानका आश्रय लो, विना ध्यानके और किसी विधिसे आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मध्यानसे ही सब भोग सुख और लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है।

(ऊ) ज्ञानी लोगोंकी देव-पूजा :—

यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना।
समया सर्वया बुद्ध्या चिन्मात्रं देवचित्परम् ॥ (६।३९।३०)
यथाप्राप्तक्रमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत्।
मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्रापूर्ववस्तुनि ॥ (६।३९।३१)
प्राप्तदेहतया नित्यं यथार्थक्रिययाऽनया।
कामसंसेवनेनाथ पूजयेच्छोभनं विभुम् ॥ (६।३९।३२)
भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना।
शयनासनयानेन यथाप्राप्तेनार्चयेच्छिवम् ॥ (६।३९।३३)

कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
सुखेन सर्वरूपेण सम्बुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३४)
आधिव्याधिप्रीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३५)
दारिद्र्येणाथ राज्येन प्रवाहपतितात्मना ।
विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (६।३९।३७)
रागद्वेषविलासेन शुद्धात्मानं समर्चयेत् । (६।३९।३८)
मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३९)
उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि ।
शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४०)
आकस्मिकोपयातेन स्थितेनानियतेन च ।
भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४१)
भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
त्यागेन वीतरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ (६।३९।४२)
ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना । (६।३९।४३)
निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ (६।३९।४४)
सर्वदैव समग्रासु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ (६।३९।४५)
त्यक्तेनात्तेन चार्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् । (६।३९।४३)
नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत् ॥ (६।३९।४४)
आपातरमणीयं यद्यच्चापातसुदुःसहम् ।
तत्सर्वं सुसमं बुद्ध्वा नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ (६।३९।४७)
अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यजेत् ।
सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (६।३९।४८)
सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४९)
अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
उभयाश्रयेणापि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।५०)
देशकालक्रियायोगाद्यदुपैति शुभाशुभम् ।
अविकारं गृहीतेन तेनैवात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।५३)

चिन्मात्र आत्मदेवकी पूजा सम बुद्धिसे सभी यथाप्राप्त वस्तुओं द्वारा होती है। उसकी पूजाके लिये किसी अप्राप्त और अपूर्व

वस्तुकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसकी पूजा सब ही यथाप्राप्त वस्तुओंसे करनी चाहिये। देह द्वारा की जाने वाली सब क्रियाओंसे आत्माकी पूजा होती है। कामके भोगसे, भक्ष्य भोजनके खानेसे, नानाप्रकारके विभवकी प्राप्तिसे, यथाप्राप्त सवारीपर चढ़नेसे और विस्तरपर सोनेसे, स्त्री, और अन्न पान आदिके उपभोगसे, सब प्रकारके सुखोंके भोगसे, आधि और व्याधिके सहनसे, मोहमें डालनेवाली प्रीतिके अनुभवसे, यथाप्राप्त सब मुसीवतोंके दुःख वर्दाश्त करनेसे, यथाप्राप्त दरिद्रता या राजको भोगनेसे, नाना प्रकारकी चेष्टाओंसे, रागद्वेषसे, मधुर मित्रतासे, करुणा, उपेक्षा अथवा प्रसन्नतासे, शक्तिके शुद्ध उपयोगसे, अकस्मात् प्राप्त, अनियत अथवा स्थिर भोगोंके उपभोगसे, वीतराग होकर निषिद्ध अथवा अनिषिद्ध भोगोंके त्यागसे, युक्त अथवा अयुक्त, इच्छित अथा अनिच्छित भोगोंको निर्विकार रहकर भोगनेसे, सब प्रकारकी दृष्टियोंमें, चेष्टाओंमें, सदा ही समभाव रखनेसे, धनको प्राप्त करने अथवा उसका त्याग करनेसे, जो गया उसकी उपेक्षा और जो आता है उसकी प्राप्ति करनेसे, जो दूरसे सुखदाई अथवा दुःखदाई दिखाई पड़ते हैं उन सब दृश्योंमें सम बुद्धि होकर विचरण करनेसे, मैं यह हूँ यह नहीं हूँ इस विचारको त्याग कर सब कुछ ब्रह्म है यह भाव निश्चित करनेसे, सब रूपसे, सब आकारोंसे, सब प्रकारसे, इच्छित और अनिच्छित दोनों प्रकारके पदार्थोंके त्याग वा ग्रहणसे, देश, काल और क्रिया द्वारा जो कुछ शुभ अथवा अशुभ फल प्राप्त हों उनको विना किसी मानसिक विकारके ग्रहण करनेसे (अर्थात् सब प्रकारकी क्रियाओंको करते हुए और सब भोगोंको भोगते हुए), प्राणी आत्मदेवकी पूजा कर सकता है। (तात्पर्य यह है कि आत्माकी पूजाके लिये न किसी विशेष क्रियाके करनेकी आवश्यकता है और न त्यागनेकी। आवश्यकता है केवल आत्मभावमें स्थित रह कर जीवन वितानेकी और आत्मदेवके निरन्तर ध्यान करनेकी)।

(ए) बाहरी देवताकी पूजा मुख्य नहीं, गौण है :—

हृद्गुहावासिचित्तत्वं मुख्यं सानातनं वपुः।
शङ्खचक्रगदाहस्तो गौण आकार आत्मनः॥ (५।४३।२७)

यो हि मुख्यं परित्यज्य गौणं समनुधावति ।
त्यक्त्वा रसायनं सिद्धं साध्यं संसाधयत्यसौ ॥ (५।४३।२८)

मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मदर्शने ।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ॥ (५।४३।११)

अभ्यासयत्नौ प्रथमं मुख्यो विधिरुदाहृतः ।
तदभावे तु गौणः स्यात्पूज्यपूजामयक्रमः ॥ (५।४३।२१)

अप्राप्तात्मविवेकोऽन्तरङ्गचित्तवशीकृतः ।
शंखचक्रगदापाणिमर्चयेत्परमेश्वरम् ॥ (५।४३।३०)

तत्पूजनेन कष्टेन तपसा तस्य राघव ।
काले निर्मलतामेति चित्तं वैराग्यकारिणा ॥ (५।४३।३१)

नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति ।
आम्र एव दशामेति साहकारीं शनैः शनैः ॥ (५।४३।३२)

एतदप्यात्मनैवात्मा फलमाप्नोति भाषितम् ।
हरिपूजाक्रमाख्येन निमित्तेनारिसूदन ॥ (५।४३।३३)

आत्माका मुख्य आकार वह नित्य चित् तत्त्व है जो हृदयकी गुफामें वास करता है। हाथमें शङ्ख, चक्र, गदा आदिको धारण करनेवाला विष्णु आदि रूप गौण है। जो मुख्य आकारको छोड़कर भगवान्के गौण आकारके पीछे दौड़ता है वह सिद्ध रसायनको फेंक कर दूसरीको सिद्ध करनेका प्रयास करता है। आत्माके दर्शन करनेमें मुख्य यत्न पुरुषका स्वयं किया हुआ आत्मविचार है। वर आदि गौण साधन हैं। गौणको छोड़कर मुख्यका आश्रय लेना चाहिये। जो आदमी अपने चित्तको वसमें न कर सकता हो और जिसके अन्दर आत्मा और अनात्माका विवेक उत्पन्न न हुआ हो उसीको चाहिये कि शङ्ख चक्र गदा आदिको हाथमें लिये हुए साकार ईश्वरकी पूजा करे। संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाली उस भगवान्की पूजा करनेके कष्ट और तपसे समय पाकर उसका मन शुद्ध हो जायेगा। जैसे कच्चा आम धीरे धीरे पक जाता है ऐसे ही उसका मन नित्यके अभ्यास और विवेकसे कुछ कालमें शुद्ध हो जाता है। इस प्रक्रियामें भी वास्तवमें आत्मा ही फल देता है। हरि-पूजा आदि साधन तो निमित्तमात्र हैं।

(४) जन्म भर कर्मोंका त्याग नहीं हो सकता, इस लिये मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मत्यागकी आवश्यकता नहीं है :—

कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ (६/२।२८।८)
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशादृते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ (६/२।२८।९)
अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः ।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावद्देहमिति स्थितम् ॥ (६/२।२।३१)
एतच्चेतनमेवान्तर्विकसत्युद्भवभ्रमैः ।
वासनेच्छामनःकर्मसङ्कल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ (६/२।२।३४)
प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य देहिनो देहगेहके ।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ (६/२।२।३५)
जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते । (६/२।२।३६)
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते ॥ (६/२।२।४२)
मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः । (६/२।२।४३)
सा चादेहं समुच्छेत्तुमृते बोधान्न शक्यते ॥ (६/२।२।४४)
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा ।
यादृग्वासनमेतत्स्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ (४।३८।४)
तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च ।
कर्तृता न तु ज्ञाततत्त्वानामवासनत्वात् ॥ (४।३८।५)
राजन्यावदयं देहस्तावन्मुक्तधियामपि ।
यथाप्राप्तक्रियात्यागो रोचते न स्वभावतः ॥ (५।६।१६)
यावदायुरिदं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः ।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥ (६/२।१९९।५)

कर्म पुरुष है और पुरुष कर्म है। जैसे बरफ़ और शीतलता अभिन्न हैं वैसे ही पुरुष और कर्म अभिन्न हैं। पुरुष और कर्ममें, संवित् और स्पन्दमय आत्मामें, कल्पनाके अतिरिक्त ज़रा भी भेद नहीं है। अतएव वेदनात्मक सूक्ष्म कर्मका, जब तक शरीर है तब तक, त्याग और ग्रहण निरर्थक है (अर्थात् जब तक शरीर है कर्म करना ही है)। जब तक आत्मामें चेत्यकी ओर प्रवृत्ति है तब

तक तो वह वासना, इच्छा, मन, कर्म, सङ्कल्प आदि रूपोंमें प्रकट होती ही रहती है। चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, जब तक शरीरमें चित्त है तब तक कर्मका त्याग नामुमकिन है। शरीर जब तक रहता है तब तक कर्मका त्याग नहीं हो सकता। कर्मकी जड़ वासनात्मक मनकी संवित् है; वह बिना ज्ञान प्राप्त किये नष्ट नहीं की जा सकती। नरकमें हो अथवा स्वर्गमें, कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, जैसी जिसकी वासना होती है वैसा ही उसका मन अनुभव करता है। इस लिये जिसने तत्त्वको नहीं जाना वह तो, कर्म करे या न करे, कर्मका कर्ता है ही। ज्ञानी कर्म करने और न करने दोनोंपर ही अकर्ता है क्योंकि उसमें वासना नहीं है। जब तक शरीर है तब तक मुक्त पुरुषोंको भी स्वाभाविक कर्मका त्याग करना उचित नहीं है। जब तक आयु है तब तक शरीर तो अवश्य ही क्रिया करता ही रहेगा। इसलिये यथाप्राप्त अवसरके अनुसार बिना व्यग्र हुए काम करना चाहिये। (अतएव कर्म त्यागकी मुक्तिके लिये आवश्यकता नहीं है)।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि मोक्ष प्राप्तिके लिये किसी देवता विशेषकी भक्ति और पूजा करनेकी आवश्यकता नहीं; और न कर्मत्याग करनेकी, और न किसी अन्य साधनकी। केवल आत्मज्ञान ही एक पर्याप्त साधन है। अब यह देखना है कि मोक्षदायक ज्ञानका क्या स्वरूप है।

(५) सम्यक् ज्ञानका स्वरूप :—

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः॥ (५।७९।२)
इमा घटपटाकाराः पदार्थशतपंक्तयः।
आत्मैव नान्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम्॥ (५।७९।३)
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम्।
अवाच्यमिति बोधोऽन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम्॥ (६/२।१९०।५)

यहाँपर अनादि और अनन्त प्रकाशवाला परमात्मा ही है इस प्रकारका शङ्कारहित निश्चय सम्यक् ज्ञान कहलाता है। घटपटके आकारवाले जितने संसारके पदार्थ हैं वे सब आत्मा ही हैं, आत्माके अतिरिक्त यहाँपर अन्य कोई तत्त्व नहीं है—इस प्रकारका निश्चय सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं हो सकता, यहाँपर केवल

अक्षय ज्ञान ही है और वह वर्णन नहीं किया जा सकता इस प्रकारका बोध सम्यक् ज्ञान है।

(६) आत्मज्ञानकी उत्पत्ति अपने ही यत्न और विचारसे होती है :—

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना ।
स देवो ज्ञायते राम न तपःस्नानकर्मभिः ॥ (३।६।९)
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया । (६/१।११८।४)
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ (५।७३।१५)
सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयेव वयस्यया ।
पदमासाद्यते राम न नाम क्रिययान्यया ॥ (५।१२।१८)
स्वयमेव विचारेण विचार्यात्मानमात्मना ।
यावन्नाधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते ॥ (५।५।६)
स्वयमालोक्य प्राज्ञ संसारारम्भदृष्टिषु ।
किं सत्यं किमसत्यं वा भव सत्यपरायणः ॥ (५।५।८)
विचारेणावदातेन पश्यत्यात्मानमात्मना । (५।५।१७)
संसारमननं चित्रं विचारेण विलीयते ॥ (५।१३।१३)

आत्मदेवका ज्ञान अपने ही पुरुषार्थ और विवेकसे होता है; तप, स्नान आदि किसी अनुष्ठानसे नहीं होता। आत्मा अपने आप ही अपनी सात्त्विक बुद्धि द्वारा जाना जाता है। वह सब जगह और हमेशा अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। अपनी प्रज्ञामयी हितकारिणी बुद्धि द्वारा ही वह पद प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियासे नहीं। जब तक कि अपने आप ही अपने विचार द्वारा आत्माका दर्शन नहीं किया जाता तब तक उसका ज्ञान नहीं होता। बुद्धिमान् आदमीको चाहिये कि संसारकी सभी वस्तुओंके ऊपर इस दृष्टिसे विचार करे कि इनमेंसे कौनसी सत्य है और कौनसी असत्य। निश्चय हो जानेपर असत्यका त्याग करे और सत्यका ग्रहण। शुद्ध विचारसे ही आत्मा आत्माको जानता है। संसारकी भावना विचार ही से लीन होती है।

(७) विचारके लिये चित्तको शुद्ध करना चाहिये :—

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च ।
तथा सज्जनसंगेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥ (५।५।१४)

वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥ (५।२१।११)
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम् ।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा ॥ (५।५।५)

हे राम ! शास्त्रके अध्ययनसे, गहरे वैराग्यसे और सज्जनोंके सङ्गसे मनको पवित्र करना चाहिये । आपत्तियोंके नाश करनेके लिये वैराग्य, शास्त्र और उत्तम गुणों द्वरा यत्नपूर्वक मनको ऊँचे उठाना चाहिये । शास्त्रके अध्ययन, सज्जनोंकी संगत और शुभ कर्मोंके करनेसे पाप क्षीण होकर सारको समझनेवाली दीपकके समान प्रकाशवाली बुद्धिका उदय हो जाता है ।

(८) विचारके कुछ विषय :—

कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥ (५।५८।३२)
येषु येषु पदार्थेषु धृतिं बध्नाति मानवः ।
तेषु तेष्वेव तस्यायं दृष्टो नाशोदयो भृशम् ॥ (५।९।३४)
आगमापायि विरसं दशावैषम्यदूषितम् ।
असारसारं संसारं किं तत्पश्यति दुर्मतिः ॥ (५।९।३७)
सुखदुःखानुभावित्वमात्मनीत्यवबुध्यते ।
असत्यमेव गगने बिन्दुताम्लानते यथा ॥ (५।५।३३)
सुखदुःखेन देहस्य सर्वातीतस्य नात्मनः ।
एते ह्यज्ञानकस्यैव तस्मिन्नष्टे न कस्य चित् ॥ (५।५।३४)
मिश्रीभूतमिवानेन देहेनोपहतात्मना ।
व्यक्तीकृत्य स्वमात्मानं स्वस्थो भवत मा चिरम् ॥ (५।५।२४)

मैं कौन हूँ ? यह संसार क्यों है, क्या है और कैसे है ? जन्म और मरण क्यों होते हैं ? इन सब बातोंपर विचार करनेसे मन शुद्ध और महान् होता है । जिस जिस पदार्थका मनुष्य आश्रय लेता है, वही नाशवान् है—यह देखनेमें आता है । संसार असार है, उत्पन्न और नाश होनेवाला है, दुःखदाई अवस्थाओंसे परिपूर्ण है—क्या यह नीच बुद्धिवालेको मालूम है ? आत्मामें सुख और दुःखका अनुभव होना इतना असत्य है जितना कि अकाशमें गोलाई और नीलेपनका होना । दुःख और सुख न देहको होते हैं, न आत्माको होते हैं । अज्ञानसे ही

इनका अनुभव होता है। उसके नष्ट होनेपर इनका अनुभव किसीको नहीं होता। आत्मा और शरीर एक दूसरेसे मिले हुए स्थित हैं। देहसे आत्माको अलग करके सुखी हो।

(९) अविद्यासे ही अविद्याका नाश होता है:—

यो मुमुक्षोरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः॥ (६/१।४१।५)
अविद्यां श्रेष्ठयाऽश्रेष्ठां क्षालयन्निह तिष्ठति।
मलं मलेनापहरन्युक्तिज्ञो रजको यथा॥ (६/१।४१।६)
काकतालीयवत्पश्चादविद्याक्षय आगते।
प्रपश्यत्यात्मनैवात्मा स्वभावस्यैष निश्चयः॥ (६/१।४१।७)
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चात्मना।
आत्मैवेहास्ति नाविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः॥ (६/१।४१।१०)

मोक्ष चाहनेवाले अधिकारीकी सात्त्विक अविद्या शास्त्र आदि सात्त्वि अविद्याद्वारा नष्ट हो जाती है। जैसे बुद्धिमान् धोबी मैलको मैलसे ही साफ़ करता है वैसे ही मुमुक्षु अश्रेष्ठ अविद्याको श्रेष्ठ अविद्या से दूर कर देता है। जब अविद्या क्षीण हो जाती है तो काकतालीय योगसे (अकस्मात् ही) आत्मामें आत्माका विचार उदय हो जाता है, और अपने स्वरूपका निश्चय हो जाता है। अविद्याके क्षीण होनेका यह अर्थ है कि आत्मा आत्माका विचार करता है और आत्मा आत्माको जानता है; और यह अनुभव होता है कि आत्मा ही है अविद्या नहीं है।

(१०) ज्ञानप्राप्तिमें शास्त्रका उपयोग:—

वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि॥ (६/२।१९७।१५)
केवलं सर्ववाक्यार्थैर्ध्वन्यमानावगम्यते।
कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा॥ (६/२।१९७।१६)
सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम्।
सर्वंगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति॥ (६/२।१९७।१७)
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात्।
एष सर्वपदातीतो बोधः सम्प्राप्यते परः॥ (६/२।१९७।१८)
एतान्यकरणान्येव कारणत्वं गतान्यलम्।
परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव तच्छृणु॥ (६/२।१९७।१९)

शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
अनिच्छदेवमेवाशु पदं पश्यति पावनम् ॥ (६/२।१९७।२०)
एतच्छास्त्रादविद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
तामसः सात्त्विकेनास्या भागेनायाति संक्षयम् ॥ (६/२।१९७।२१)
नूनं मलं प्रधानेन क्षालयच्छास्त्ररूपिणा ।
पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥ (६/२।१९७।२२)
मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः सम्बन्धमात्रतः ।
सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ (६/२।१९७।२५)
लोष्टेन लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा ।
क्षयेण लोष्टयोर्हस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥ (६/२।१९७।२७)
तथा शास्त्रविकल्पौघैर्विकल्पांश्चेतनाद्बुधः ।
क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥ (६/२।१९७।२८)
महावाक्यार्थनिष्यन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः ॥ (६/२।१९७।२९)
शास्त्रार्थैर्बुध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ॥ (६/१।४१।१५)
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चात्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ (६/१।४१।१६)

शास्त्रमें (धर्म अर्थ और काम इन) तीन वर्गोंका ही उपदेश है। ब्रह्मप्राप्तिका विषय तो अवाच्य होनेके कारण शास्त्रमें नहीं मिलता। शास्त्रके सब वाक्योंके अर्थोंपर विचार करनेसे समय पाकर ब्रह्म प्राप्तिका अनुभव होता है। ब्रह्मज्ञान शास्त्रके सब अर्थोंसे परेका विषय है, जैसे स्त्रीका सौन्दर्य उसके शरीरके सब अंगोंसे परेकी वस्तु है (अर्थात् जैसे स्त्रीका सौन्दर्य किसी एक या सब अङ्गोंमें नहीं है बल्कि सब अङ्गोसे ऊपर है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी शास्त्रके सब वाक्योंसे परे और ऊपरका विषय है)। सब शब्दोंसे अतीत ब्रह्मज्ञान न शास्त्रसे प्राप्त होता है, न गुरूके वाक्योंसे और न दान और ईश्वर पूजा आदिसे। ये सब परमात्मामें विश्राम प्राप्तिके कारण न होते हुए भी जिस प्रकार कारण होते हैं, हे राम, वह सुनो। शास्त्रके अनुसार अभ्यास और योग करनेसे चित्त शुद्ध होता है, और शुद्ध होनेपर चित्त आपसे आप ही परमपदका अनुभव करने लगता है। शास्त्र (भी अविद्या के अन्तर्गत होनेसे) अविद्याका अंश है; किन्तु है सात्त्विक अंश।

सात्त्विक भागसे अविद्याका तामसिक भाग क्षयको प्राप्त हो जाता है। शास्त्र रूपी मैलसे अविद्या रूपी मैलको धोकर पुरुष परम शुद्धिको प्राप्त कर लेता है। मुमुक्षु और शास्त्रके मेलसे सब ज्ञानोंसे परेका आत्मज्ञान उदय हो जाता है। जैसे बालक हाथोंके लगी हुई मिट्टीको मिट्टीसे धोकर साफ़कर लेता है, वैसे ही शास्त्रगत कल्पनाओंके द्वारा अपने मनकी सांसारिक कल्पनाओंको दूर करके ज्ञानी परम पवित्रता को प्राप्तकर लेता है। जैसे गन्नेमें मौजूद रसको चूसकर मनुष्य उसका स्वाद लेता है ऐसे ही शास्त्रोंके महा वाक्योंमें जो ब्रह्मानन्द भरा हुआ है उसका भोग ज्ञानी अपने निजके अनुभव द्वारा ही करता है। वास्तव में आत्मा शास्त्र द्वारा नहीं जाना जाता, न गुरुके वचन द्वारा। वह तो अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। गुरुके उपदेश और शास्त्र के अध्ययन विना भी आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी, शास्त्र और गुरु तीनोंका संयोग होनेपर ही आत्मानुभवका प्रकाश होता है।

२४—ज्ञानप्राप्तिके साधन

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठके अनुसार ज्ञान ही मुक्तिका एक साधन है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं है, न वह तर्क मात्र ही है। मुक्तिका अनुभव करानेवाला ज्ञान आत्माका अनुभव है, और वह अनुभव वास्तविक होना चाहिये, केवल कथन मात्र नहीं। जीवको ब्रह्मदृष्टि प्राप्त करके, उसमें आरूढ़ होकर, उस दृष्टिके अनुसार व्यवहार भी करना है। यदि हमारा जीवन हमारी उच्चतम दृष्टिके अनुसार नहीं है तो हमारा ज्ञान परिपक्व ज्ञान नहीं है। केवल वाद-विवाद और जीविकाके लिये जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान ऐसा नहीं है जो मोक्ष-पदको दिला सके। ज्ञानी वह है जिसका जीवन आध्यात्मिक जीवन हो। यदि जीवनको ऊँचा बनानेके लिये ज्ञान प्राप्त नहीं किया और केवल नाम, यश और जीविका आदिके लिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, तो ऐसे ज्ञानीको योगवासिष्ठमें ज्ञानी न कहकर "ज्ञानबन्धु" कहा है। "ज्ञानी" और "ज्ञान-बन्धु" का भेद योगवासिष्ठमें इस प्रकार बतलाया है :—

(१) ानबन्धु :—

अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम्। (६/२।२१।१)
व्याचष्टे यः पठति शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्॥ (६/२।२१।२)
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते। (६/२।२१।३)
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते॥ (६/२।२१।४)
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः॥ (६/२।२१।५)
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥ (६/२।२१।६)
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासनानि सारस्यानवबोधनात्॥ (६/२।२१।७)
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः॥ (६/२।२१।८)

मैं ज्ञानबन्धुसे अज्ञानीको ज़्यादा अच्छा समझता हूँ। ज्ञानबन्धु वह है जो शास्त्रोंका पठन और चर्चा शिल्पकारकी नाईं भोगोंको प्राप्त करनेके लिये करता है, उनके अनुसार चलनेके लिये नहीं; जिसके ज्ञानका उसके जीवनपर कोई प्रभाव नहीं होता; जो अन्न और वस्त्र मात्रकी प्राप्तिको शास्त्रके अध्ययनका उचित फल समझता है जैसे कि शिल्प-शास्त्रका जाननेवाला; और जो श्रुतिमें कहे हुए प्रवृत्ति मार्गपर चलना ही अपना धर्म समझता है और ज्ञानसे दूर रहता है। आत्माका ज्ञान ही तो वास्तवमें ज्ञान है और वस्तुओंके ज्ञान तो ज्ञानाभास हैं क्योंकि उनके द्वारा सार वस्तुका ज्ञान नहीं होता। जो लोग आत्मज्ञानको न पाकर और प्रकारके ज्ञानोंसे सन्तुष्ट हो जाते हैं वे ज्ञानबन्धु कहलाते हैं।

(२) ज्ञानी :—

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च।
न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ (६/२२।१)
ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ (६/२२।२)
अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ (६/२२।३)
अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदाशेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥ (६/२२।४)
प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ (६/२२।५)

जो पुरुष ज्ञानसे जाने हुए ज्ञेय पदार्थके ध्यानमें इतना लग जाए कि उसको अपने मनका भी ध्यान न रहे—जिसका चित्त अचित्त हो जावे—और कर्मफलकी भी चिन्ता न रहे, वह ज्ञानी है। जो जानने योग्य वस्तुको जानकर कर्म करनेमें वासनारहित हो जाता है, वही ज्ञानी है। जिसके मनकी इच्छाएँ शान्त हो गई हैं और जिसकी शीतलता बनावटी नहीं, वास्तविक है, उसे ज्ञानी कहते हैं। जिसका ज्ञान ऐसा है जिससे पुनर्जन्म होनेकी सम्भावना नहीं है, वही ज्ञानी है। खाना पहनना और देना आदि क्रियाएँ तो शिल्पीकी जीविका मात्र हैं। जैसा अवसर आ पड़े उसके अनुसार कामना और

संकल्पके विना शान्त हृदय होकर जो काम करता रहता है वही ज्ञानी है।

(३) बिना अभ्यासके ज्ञान सिद्ध नहीं होता :—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ (५।९२।२३)
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते। (६/२।६७।४३)
अभ्यासेन विना साधो नाभ्युदेत्यात्मभावना ॥ (६/१।११।१)
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ (३।२२।२४)
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता।
आनन्दस्यन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥ (३।२२।२६)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ (३।२२।२७)
नाभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विश्रान्तवानसि।
अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ (६/२।१५५।१३)

सैकड़ों जन्मोंमें अनुभूत होनेके कारण बहुत दृढ़ हुई संसार भावनाका क्षय विना बहुत समय तक (ज्ञानका) अभ्यास और योग किये नहीं होता। किसी कामको पुनः पुनः करनेका नाम अभ्यास है। विना अभ्यासके आत्मभावनाका उदय नहीं होता। उसीका चिन्तन करना, उसीका वर्णन करना, एक दूसरेको उसीका ज्ञान कराना. उसी एकके विचारमें तत्पर रहना, (ब्रह्मज्ञानका) अभ्यास कहलाता है। जिनके भीतर वैराग्य-रससे रञ्जित, उदारता और सौन्दर्यसे परिपूर्ण, आनन्दका प्रसार करनेवाली बुद्धिका उदय हो गया है, वे आत्मज्ञानके अभ्यासी हैं। जो युक्ति और शास्त्रकी सहायतासे ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंके अभावका अनुभव करनेका यत्न करते रहते हैं वे ब्रह्माभ्यासी कहलाते हैं। विना अभ्यास कल्याणकारी ज्ञानमें विश्राम नहीं प्राप्त होता। अभ्यास करते रहनेसे समय पाकर अवश्य शान्तिका अनुभव होगा।

(४) संसारसे पार उतरनेके मार्गका नाम "योग" है :—

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशममधर्मिणीम् ॥ (६/१।१३।३)

आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते॥ (६/१।१३।४)
प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम्॥ (६/१।१३।६)
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः॥ (६/१।१३।८)
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥ (५।७८।८)
चित्तचित्तपरिस्पन्दपक्षयोरेकसंक्षये।
स्वयं गुणो गुणी स्थित्वा नश्यतो द्वौ न संशयः॥ (५।७८।७)

संसारसे पार उतरनेकी युक्तिका नाम योग है। वह चित्तको शान्त करनेवाली युक्ति दो प्रकारकी है। इसका एक प्रकार है आत्मज्ञान और दूसरा है प्राण-निरोध। यद्यपि दोनों मार्गोंका नाम योग है, तथापि "प्राण-निरोध" के लिये ही "योग" शब्द अधिक प्रचलित है। किसीके लिये योग-मार्ग कठिन है, किसीके लिये ज्ञान-मार्ग कठिन है। मेरी रायमें तो ज्ञान-निश्चयका अभ्यास ज्यादा सुगम है। चित्तको शान्त करनेके दो उपाय हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान। योगका अर्थ है चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करना और ज्ञानका अर्थ है यथावस्थित वस्तुको जानना। चित्त और चित्तकी वृत्ति (स्पन्दन) दोनोंमेंसे किसी एकका क्षय होनेसे दूसरेका भी क्षय हो जाता है। एक गुणी है, दूसरा उसका गुण है; एकके नष्ट होनेपर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(५) योगकी निष्ठा (प्राप्य अवस्था):—

जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका॥ (६/१।१२८।५०)
योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत्। (६/१।१२८।५१)
मनस्यस्तं गते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते।
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ॥ (६/१।१२८।५२)

जीवकी परमात्मामें उस प्रकारकी स्थिति जिसका नाम तुर्या है, जो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंके बीजसे रहित है, जो आनन्द और चितिका अनुभव है, और परम ज्ञान और आनन्द

है, वही योगका प्राप्य अनुभव है। उस स्थितिका अनुभव विना उस अमृतके समुद्रमें, जिसमेंकी सब लहरें शान्त हो गई हैं, मनके अस्त हुए, असम्भव है।

(६) तीन प्रकारका योगाभ्यास :—

एतकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा।
मनोविनिग्रहश्चेति योगशब्दार्थसंग्रहः ॥ (६/१।६९।२७)
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिध्यन्ति परस्परम्।
एकार्थाभ्यासनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ॥ (६/१।६९।४०)
त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम्।
साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् ॥ (६/१।६९।२९)

योग (संसारसे पार उतरनेकी युक्ति) शब्दके तीन अर्थ हैं:— (१) एक तत्त्वका गहरा अभ्यास, (२) प्राणोंका निरोध और (३) मनका निग्रह। इन तीनों—एक तत्त्वका अभ्यास, प्राण निरोध और चित्त-नाश—मेंसे किसी एकका अभ्यास हो जानेपर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इन तीनों प्रयोगोंमेंसे मनको शान्त करना सबसे उत्तम है। इसके सिद्ध हो जानेपर शीघ्र ही कल्याण हो जाता है।

१—एक तत्त्वका गहरा अभ्यास :—

एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः।
तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ (६/१।६९।४८)

एक तत्त्वके गहरे अभ्याससे मन सहजमें शान्त हो जाता है। मनके स्वभावमें लीन हो जानेपर प्राण भी शान्त हो जाता है।

एक तत्त्वके गहरे अभ्यास करनेकी भी योगवासिष्ठमें तीन रीतियाँ वर्णन की गई हैं:—ब्रह्म-भावना, पदार्थोंके अभावकी भावना और केवलभावना। उनका विवरण नीचे दिया जाता है।

(अ) ब्रह्मभावना :—

विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय।
मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ (६/१।६९।४९)
प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव।
विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ॥ (६/१।६९।५२)

यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम् ।
तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ॥ (४।११।५९)
भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणात् ।
अनन्तमखिलं प्रावृड् मिहिका महती यथा ॥ (४।११।६०)

अनन्त आत्मतत्त्वका विचार करके मनको तन्मय बनानेका यत्न करना चाहिये। मनके तल्लीन होनेपर वह स्थिर हो जाता है। आत्मतत्त्व (ब्रह्म) में मनको स्थिर करनेसे प्राणोंसहित मन ऐसे लीन हो जाता है जैसे कि वह भोग्य पदार्थोंका क्षीण होनेपर हो जाता है। आत्मा जैसी जैसी भावना करता है वह शीघ्र ही वैसा ही हो जाता है और वैसी ही शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। जैसी बरसाती नाले बारिश होनेसे बड़ी बड़ी नदियाँ बन जाते हैं वैसे ही भावना द्वारा मन आत्मा होकर अनन्त और सब कुछ हो जाता है। (अर्थात् अपने आपको ब्रह्म समझते समझते वह एक दिन ब्रह्म ही बन जाता है)।

(आ) पदार्थोंके अभावकी भावना :—

सत्यदृष्टौ प्रपन्नायामसत्ये क्षयमागते ।
निर्विकल्पचिदच्छात्मा स आत्मा समवाप्यते ॥ (४।२१।४३)
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अत्यन्ताभावसम्बोधे यदि रूढिरलं भवेत् ॥ (३।७।२७)
तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नान्येन कर्मणा ।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नान्या शुभा गतिः ॥ (३।७।२८)
जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासम्भवं विना ।
बुध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केनचित् ॥ (३।७।३०)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ द्रष्टृदृश्यदृशां मनः ।
एकध्याने परे रूढे निर्विकल्पसमाधिनि ॥ (३।२१।७६)
वासनाक्षयबीजेऽस्मिन्किञ्चिदङ्कुरिते हृदि ।
क्रमान्नोदयमेष्यन्ति रागद्वेषादिका दृशः ॥ (३।२१।७७)
संसारसम्भवश्चायं निर्मूलत्वमुपेष्यति ।
निर्विकल्पसमाधानं प्रतिष्ठामलमेष्यति ॥ (३।२१।७८)
अत्यन्ताभावसम्पत्तिं विनाहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ॥ (३।२१।१२)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ (३।२२।२७)

सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥ (३।२२।२८)
दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥ (३।२२।३१)

असत्य दृष्टिके क्षीण हो जानेपर और सत्य दृष्टिके दृढ़ हो जाने पर आत्मा निर्विकल्प और शुद्ध चितिका आकार धारण कर लेता है। जगत्‌रूपी भ्रमके, जो कि आकाशके रङ्गकी नाईं देखने मात्रको है वास्तविक नहीं है, अत्यन्त अभावके ज्ञानके दृढ़ हो जानेपर ब्रह्मके रूपका ज्ञान होता है; अन्य प्रकारसे नहीं। दृश्य जगत्‌के अत्यन्त अभावकी भावनाके बिना दूसरी और कोई शुभ गति नहीं है। इस जगत् नामवाले दृश्यकी सत्ताको असम्भव समझे बिना कभी भी कोई परम तत्त्वको नहीं जान सकता। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सबको अत्यन्त असत् समझ कर निर्विकल्प समाधिमें एकतत्त्वके ध्यानमें निमग्न होनेपर, हृदय में वासनाके क्षयके अंकुरका बीज आरोपित होने पर, क्रमसे राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति नहीं होती, संसारकी भावना निर्मूल हो जाती है, और निर्विकल्प समाधि भी दृढ़ होने लगती है। अहंभाव और जगत्‌के अत्यन्त असत् होनेका अभ्यास किये बिना नित्यरूप मुक्तिका अनुभव उदय ही नहीं होता। जो लोग युक्ति और शास्त्रके अध्ययन द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंको अत्यन्त असत् समझनेका प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्माभ्यासी कहलाते हैं। यह जगत्, मैं और सब दृश्य वस्तुयें कभी न उत्पन्न हुई हैं, और न हैं—इस प्रकारका निश्चित ज्ञान ज्ञानका वास्तविक अभ्यास है। दृश्यके असम्भव होनेके ज्ञानका ही नाम ज्ञान है। यही जानने योग्य भी है। इसके अभ्याससे ही निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इसलिये अभ्यास बड़ी चीज़ है।

(इ) केवलीभाव :—

यद्द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद्बलात् ।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवासतः सतः ॥ (३।४।५२)
तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः ।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ॥ (३।४।५४)
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्येऽसत्तामुपागते ।
द्रष्टुः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ॥ (३।४।५६)

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ॥ (३।४।५८)

दृश्यके अत्यन्त अभाव होनेपर जब द्रष्टाका द्रष्टृत्व (द्रष्टापन) आप ही लय हो जाता है तब जो सत्ता शेष रहती है उसे केवलीभाव कहते हैं। जैसे हवाके रुक जानेपर उसकी क्रियायें शान्त हो जाती हैं वैसे ही उस भाव (केवलीभाव) के प्राप्त हो जानेपर राग द्वेष आदिकी सभी वासनायें शान्त हो जाती हैं। तीनों जगत्, तुम, मैं और सब दृश्य शान्त हो जानेपर द्रष्टाको अपने शुद्ध आत्मस्वरूप होनेका केवलीभाव अनुभवमें आने लगता है। मैं, तुम, और जगत् आदि दृश्यके भ्रमके शान्त हो जानेपर और द्रष्टाके अनुभवमें न आनेपर केवलताका अनुभव उदय होता है।

२—प्राणोंकी गतिका निरोध :—

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ (६।६९।४१)
तस्मिन्संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः। (५।७८।१५)
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥ (५।७८।१६)
प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते।
द्रव्यच्छायानु तद्द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम् ॥ (५।१३।८३)

जैसे पंखेकी गति रुक जानेपर हवाकी गति रुक जाती है वैसे ही प्राणोंकी गतिके रुक जानेपर मन शान्त हो जाता है। प्राणके निरोध करनेसे अवश्य ही मन शान्त हो जाता है। मनके शान्त होनेपर अवश्य ही यह संसार विलीन हो जाता है। प्राणकी शक्तिके निरुद्ध हो जानेपर अवश्य ही, हे राम! मन विलीन हो जाता है। जैसे द्रव्यकी छायाकी गति द्रव्यकी गतिके समान होती है वैसे प्राणका रूप भी मानसिक है।

(अ) प्राण और मनका सम्बन्ध चित्तका ही बनाया हुआ है :—

तेन सङ्कल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि।
न भवामि विनानेन तेन तत्तत्परायणम् ॥ (६।१२९।२)
एवं यन्मनसाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत्।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥ (६।१२९।१०)

मनने ही प्राणोंकी कल्पना की है और इस बातकी भी कल्पना की है कि प्राण उसकी गति है और प्राणके बिना उसकी स्थिति नहीं है। इस कारणसे ही वह प्राणके ऊपर निर्भर रहता है। मन जिसका अभ्यास कर लेता है उसीका अनुभव करता है। मन समझता है कि प्राण उसका जीवन है, इसलिये ही प्राणमें मनकी स्थिति है।

(आ) प्राणविद्या :—

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी। (६/१।२४।१८)
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥ (६/१।२४।१९)
इडा च पिङ्गला चास्य देहस्य मुनिनायक।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ (६/१।२४।२०)
पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम् ॥ (६/१।२४।२१)
सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥ (६/१।२४।२२)
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत्परिवर्धते।
वाताहते लतापत्रजाले बहिरिवाभितः ॥ (६/१।२४।२३)
वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन्प्रसरत्यथ ॥ (६/१।२४।२४)
प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः।
संकेतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राकारचेष्टितैः ॥ (६/१।२४।२५)
हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः।
ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांशवः ॥ (६/१।२४।२६)
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एताः प्राणशक्तयः ॥ (६/१।२४।२७)
स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः।
अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥ (६/१।२४।२८)
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥ (६/१।२४।२९)
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके।
करोति भगवान्वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः ॥ (६/१।२४।३०)
तत्रोर्ध्वाधो द्विसंकेतौ प्रसृतावनिलौ मुने।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ (६/१।२४।३१)

सहस्रविनिकृत्ताङ्गाद्विसतन्तुलवादपि ।
दुर्लक्ष्या विद्यमानापि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ (६/२४/३७)
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥ (६/२५/३)
अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥ (६/२५/४)
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ।
प्राणस्याभ्युदयो ब्रह्मन्पद्मपत्राद्धृदि स्थितात् ॥ (६/२५/२९)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः ।
अपानस्योदयो बाह्याद्द्वादशान्तान्महामुने ॥ (६/२५/३०)
अस्तङ्गतिरथाम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ।
प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ॥ (६/२५/३१)
पदात्तस्मादपानोऽयं खादेति समनन्तरम् ।
बाह्याकाशोन्मुखो प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ॥ (६/२५/३२)
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् । (६/२५/३३)
अपानशशिनोऽन्तस्था कला प्राणविवस्वता ॥ (६/२५/३६)
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ।
प्राणार्कस्य तथाऽन्तस्था यत्रापानसितांशुना ॥ (६/२५/३७)
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नरः ।
प्राण एवार्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ॥ (६/२५/३८)
आप्यायनकरीं पश्चाच्छक्तितामधितिष्ठति ।
प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारणीम् ॥ (६/२५/३९)
क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ।
अर्कतां सम्परित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः ॥ (६/२५/४०)
प्राणस्तावद्विचार्यान्तेऽदेशकाले न शोच्यते ।
हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ॥ (६/२५/४१)
आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मनः ।
सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मिं सगमागमम् ॥ (६/२५/४२)
अपानेऽस्तङ्गते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् । (६/२५/४७)
प्राणे त्वस्तङ्गते बाह्यादपानः प्रोदितः क्षणात् ॥ (६/२५/४८)

प्राणविद्यासे जीवके सब दुःखोंका नाश होता है और सब प्रकारके सौभाग्यकी वृद्धि होती है। शरीरके मेरुदण्ड (पार्श्वकोष्ठ) के

मध्यमें दो मिली हुई कोमल इडा और पिङ्गला नामक नाड़ियाँ स्थित हैं। अस्थि और मांससे बने हुये, ऊपर और नीचेको जानेवाली नालियों समेत, कोमल पंखड़ियों वाले कमलके फूलके जोड़ोंके समान, तीन यन्त्र (शरीरके ऊपरी भागमें) स्थित हैं। इन यन्त्रोंके पत्र वायुके प्रवेशसे विकसित होते हैं। वायुसे व्याप्त होनेपर उनके पत्र धीरे धीरे हिलते हैं। उन पत्तोंके हिलनेसे वायुकी वृद्धि होती है, जैसे वायु द्वारा लता और पत्रोंके स्पन्दित होनेपर बाहर चारों ओर हवा फैलती है। भीतर जब वायुका आकार बढ़ता है तो वह वायु ऊपर नीचे, चारों ओर शरीरमें नाड़ियों द्वारा फैलती है। हृदयमें प्रविष्ट वायु शरीरमें फैलकर नाना प्रकारकी चेष्टायें करती हुई और विशेष स्थानोंमें रहती हुई प्राण, अपान, समान बयान और उदान नामोंसे प्रसिद्ध होती है। शरीरके भीतर हृदयमें स्थित तीनों यंत्रोंमें प्राणकी सारी शक्तियाँ रहती हैं, और वहाँसे इस प्रकार शरीरमें फैलती हैं जैसे चन्द्रमासे किरणें फैलती हैं। वे प्राणशक्तियाँ जाती हैं, आती हैं, आकर्षण करती हैं, हरण करती हैं, विहार करती हैं, ऊपर चढ़ती हैं, नीचे गिरती हैं। हृदय कमलमें रहनेवाली वायु प्राण कहलाती है; इसकी एक शक्ति तो आँखोंमें जाकर उनका सञ्चालन करती है; एक त्वचामें जाती है; एक नाकमें; एक भोजनको पचाती है; एक जिह्वामें जाकर वाणीका सञ्चालन करती है; बहुत कहनेसे क्या, सारे शरीरको भगवान् प्राण इस प्रकार चलाता है जैसे कि कोई यांत्रिक (इञ्जीनियर) किसी यंत्रको चलाता हो। शरीरके भीतर रहनेवाली वायुके दो विशेष भाग हैं, एक ऊपरकी ओर जाता है और दूसरा नीचेकी ओर—उनके नाम हैं प्राण और अपान। कमलकी नालके एक तन्तुके हज़ारवें हिस्सेसे भी सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य गति प्राण और अपानकी है। देहके बाहर और भीतर ऊपरी भागमें सदागति और स्पन्दशक्ति वाला प्राण सदा रहता है। देहके बाहर और भीतर नीचेके भागमें सदागति और स्पन्दशक्ति वाला अपान सदा रहता है। प्राण और अपानकी गतिको जान कर और वसमें करके योगी स्वस्थ रहकर सुख भोगता है। हृदयमें स्थित कमलपत्रसे प्राणका उदय होता है और द्वादश (१२) अङ्गुल तक बाहर आकर वह अस्त हो जाता है। अपानका १२ अङ्गुल दूरीपर उदय होकर भीतर हृदयमें स्थित कमलके मध्यमें अस्त होता है। जहाँ बारह

अंगुलपर बाहर प्राणका अस्त होता है वहींसे प्राणके अस्तके पीछे अपानका उदय होता है। प्राणकी गति अग्नि शिखाकी नांई हृदयसे ऊपरकी ओर बाहरको है, और अपानकी गति जलकी नाईं हृदय आकाशकी ओर बाहरसे भीतरको नीचेकी ओर है। अपान रूपी चन्द्र-माकी कला जब और जहाँ प्राण रूपी सूर्य द्वारा ग्रस्त हो जाती है (अर्थात् जब और जहाँ अपान और प्राण एक होते हैं) उस स्थान-को प्राप्त करके फिर शोक नहीं होता (अर्थात् उस समय ही निस्पन्द अवस्थाका अनुभव होता है जो कि आत्माकी अवस्था है)। इसी प्रकार जब प्राणकी कलाको अपान ग्रस्त कर लेता है (अर्थात् जहाँ और जब प्राण और अपान एक हो जाते हैं और स्पन्दन नहीं होता) उस स्थानको प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता। भीतर और बाहर रहनेवाली वायु ही प्राण और अपानका, जो कि शरीरको पुष्ट करते हैं, रूप धारण करती है। जब बाहर (१२ अंगुलपर) प्राण तो शान्त हो जाए और अपानका उदय न हो, तब ध्यान लगानेपर शोक नहीं होता। इसी प्रकार हृदयके भीतर जब अपान शान्त हो जाए और प्राणका उदय अभी न हुआ हो, उस समय ध्यान लगानेसे पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वही आत्माका आधार है। वह ऐसा स्थान है जिसमें प्राण और अपान, उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्रमा, दोनोंका समा-गम होता है। हृदयमें अपानके अस्त होनेपर प्राणका उदय होता है और बाहर प्राणका अस्त होनेपर अपानका उदय होता है। इन दोनों-उदय और अस्तके बीचकी अवस्था, जिसमें प्राण और अपान दोनों हीकी गतिका अनुभव नहीं होता, आत्माकी निजी अवस्था है। उसमें स्थित होना ही योगीका ध्येय है। उसमें तब नित्य स्थिति होती है जबकि प्राणकी गतिका बिलकुल निरोध हो जाए।

(इ) स्वाभाविक प्राणायाम :—

जाग्रतःस्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः।
प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे शृणु॥ (६।२५।५)
बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्बुजकोटरात्।
स्वरसेनास्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः॥ (६।२५।६)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते॥ (६।२५।७)

बाह्यात्परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।
योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥ (६/२५।८)
अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥ (६/२५।९)
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥ (६/२५।१०)
स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।
ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्ताञ्छृणु त्वं महामते ॥ (६/२५।११)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ।
यो वातस्तस्य तत्रैव स्वभावात्पूरकादयः ॥ (६/२५।१२)
हृदन्तरस्था निष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसंमुखे ॥ (६/२५।१३)
व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ।
बाह्योन्मुखस्य वायोर्या नासिकाग्रावधिर्गतिः ॥ (६/२५।१४)
तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ।
नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ॥ (६/२५।१५)
या वायोस्तं विदुर्धीरा अपरं बाह्यपूरकम् ।
बहिरस्तङ्गते प्राणे यावन्नापान उद्गतः ॥ (६/२५।१६)
तावत्पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ।
यत्तदन्तर्मुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ॥ (६/२५।१७)
तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ।
द्वादशान्ताद्यदुत्थाय रूपपीवरता परा ॥ (६/२५।१८)
अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ।
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान्कुम्भकादीननारतम् ॥ (६/२५।१९)
प्राणापानस्वभावांस्तान्बुध्वा भूयो न जायते । (६/२५।२०)
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ॥ (६/२५।२१)
एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ।
यत्करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवालमनुस्मरन् ॥ (६/२५।२२)
कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।
अव्यग्रमस्मिन्व्यापारे बाह्यं परिजहन्मनः ॥ (६/२५।२३)
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ।
एतदभ्यसतः पुंसो बाह्ये विषयवृत्तिषु ॥ (६/२५।२४)

न बध्नाति रतिं चेतः श्वदतौ ब्राह्मणो यथा। (६।२५।२५)
अस्तङ्गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ॥ (६।२५।५०)
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते।
अपानेऽस्तङ्गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ॥ (६।२५।५१)
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते।
प्राणरेचकमालम्ब्य अपानाद्दूरकोटिगम् ॥ (६।२५।५२)
स्वच्छं कुम्भकमभ्यस्य न भूयः परितप्यते।
अपाने रेचकाधारं प्राणपूरान्तरस्थितम् ॥ (६।२५।५३)
स्वसंस्थं पूरकं दृष्ट्वा न भूयो जायते नरः।
प्राणापानावुभावन्तर्यत्रैतौ विलयं गतौ ॥ (६।२५।५४)
तदालम्ब्य पदं शान्तमात्मानं नानुतप्यते।
प्राणभक्षोन्मुखेऽपाने देशं कालं च निष्कलम् ॥ (६।२५।५५)
विचार्य बहिरन्तर्वा न भूयः परिशोच्यते।
अपानभक्षणपरे प्राणे हृदि तथा बहिः ॥ (६।२५।५६)
देशं कालं च सम्प्रेक्ष्य न भूयो जायते मनः।
यत्र प्राणो ह्यपानेन प्राणेनापान एव च ॥ (६।२५।५७)
निगीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ।
क्षणमस्तं गतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥ (६।२५।५८)
अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः।
अयत्नसिद्धो ह्यन्तस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥ (६।२५।५९)
एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैषा परमैव चित्।
एतत्तत्सदाभासमेतत्प्राप्य न शोच्यते ॥ (६।२५।६०)

जो सबसे उत्तम प्राणायाम है और जिसको ज्ञानी लोग सोते जागते करते रहते हैं उसको अपने कल्याणके लिये सुनो। हृदय कमलके कोशसे (फेफड़ोंसे) प्राणके बाहर निकालनेका नाम रेचक है। बाहर बारह अंगुलसे प्राणोंको भीतरके अङ्गोंमें लानेका नाम पूरक है। बाहरसे अपानके अन्दर आजानेपर उसके द्वारा भीतरके अङ्गोंको यत्नसे भरनेका नाम भी पूरक है। हृदयमें आकर जब अपान अस्त हो जाए और वहाँसे प्राणका उदय न हो, तो वह अवस्था कुम्भक कहलाती है। योगी लोगोंको उसका अनुभव होता है। रेचक कुम्भक और पूरक भी तीन प्रकारके हैं। वे स्वाभाविक हैं और सदा होते रहते हैं; उनको करनेके लिये विशेष यत्नकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमानोंने

जिस प्रकार उनका वर्णन किया है वह सुनो। जो वायु बारह अंगुल बाहरसे उदय होती है उसके वहींपर (बाह्य) पूरक आदि प्राणायाम होते हैं। नाकसे बाहर बारह अंगुलकी दूरीपर, मिट्टीमें अप्रकटित घड़ेकी नाईं, जब वायु आकाशमें स्थित रहती है तो उसे बाह्य कुंभक कहते हैं। बाहरकी ओर जानेवाली वायुके नाककी फुङ्गल तक जानेको योग जागनेवाले लोग प्रथम बाह्य पूरक कहते हैं; और नाककी फुङ्गलसे बाहर बारह अंगुल तक प्राणके जानेको धीर लोग दूसरा बाह्य पूरक कहते हैं। प्राणके बाहर जाकर अस्त हो जानेपर जबतक कि वहाँसे अपानका उदय नहीं होता उस पूर्ण और सम अवस्थाको बाह्य कुम्भक कहते हैं। अपानके उदय होनेसे पूर्व जो उसकी अन्दरकी ओर जानेकी प्रवृत्ति होने लगती हैं उस मुक्तिदायक प्राणायामको बाह्य रेचक कहते हैं। बारह अंगुल बाहरसे उठकर अपानका आकार-मय होना दूसरा पूरक कहलाता है। इन बाहरी और भीतरी प्राणोंके स्वभावों, कुम्भक आदिको जानकर योगी दूसरा जन्म नहीं लेता। चलते, ठहरते, सोते, जागते, इन प्राणायामोंको करते रहनेसे स्वाभा-विक चञ्चल वृत्तिवाले प्राण भी वशमें आ जाते हैं। इन प्राणायामोंको करता रहता हुआ पुरुष बुद्धिको इनमें लगाकर जो चाहे करे और खाये पिये, उसको कर्तृत्वका स्पर्श नहीं होता। इस अभ्यासमें खूब लग कर, बाहरसे मनको रोक कर, कुछ दिनमें ही मनुष्य केवल पदको प्राप्त कर लेता है। इनका अभ्यास करनेपर मनको बाहरके विषयोंमें आनन्द नहीं आता, जैसे ब्राह्मणको कुत्तेके मांसमें (खालमें) मज़ा नहीं आता। जब प्राण बाहर आकर अस्त हो जाए और अपानका उदय होनेको हो (हुआ न हो), उस बाह्य कुम्भकका अवलम्बन करके योगी शोक-से रहित हो जाता है। जब हृदयमें अपानका अस्त हो जाए और प्राणका उदय न हुआ हो, उस भीतरी कुम्भकका अवलम्बन करके भी योगी शोकसे पार हो जाता है। प्राणको निकाल कर अपानको ग्रहण न करके जो शुद्ध (बाह्य) कुम्भक होता है उसका अभ्यास करके योगीको परिताप नहीं होता। अपानको भीतर लेकर प्राणको बाहर न निकाल कर जो भीतरी कुम्भक होता है उसका अभ्यास करनेसे मनुष्यका पुनर्जन्म नहीं होता। प्राण और अपान दोनों ही जब भीतर लीन हो जाएँ, उस अवस्थाका अभ्यास करके आत्माके शान्त हो जानेपर शोक नहीं होता। प्राणको भक्षण करनेको जब

अपान उद्यत होता है उस कल्पना रहित कालका ध्यान करनेसे फिर शोक नहीं होता। इसी प्रकार अपानको भक्षण करनेको जब प्राण उद्यत होता है उस देश और कालका ध्यान करके शोक नहीं होता। जब और जहाँ बाहर और भीतर प्राण और अपान एक दूसरेको निगल जाते हैं और क्षण भरके लिये प्राणवायुकी गति रुक जाती है, प्राण और अपान दोनोंका अभाव हो जाता है, उस बिना किसी यत्न किये सिद्ध अवस्थाको बाहर और भीतरका कुम्भक कहते हैं; उस अवस्थामें ही आत्माके शुद्ध रूपका भान होता है। उसमें स्थिर होकर शोक नहीं होता।

(ई) प्राणोंकी गतिको रोकनेकी युक्तियाँ :—

वैराग्यात्कारणाभ्यासाद्युक्तितो व्यसनक्षयात्।
परमार्थावबोधाच्च रोध्यन्ते प्राणवायवः॥ (५।१३।८५)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु॥ (५।७८।१८)
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।१९)
पूरकादिनिजायामाद्‌दृढाभ्यासादखेदजात्।
एकान्तध्यानसंयोगात्प्राणस्पन्दो निरुद्‌ध्यते॥ (५।७८।२०)
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्‌ध्यते॥ (५।७८।२१)
रेचके नूनमभ्यस्ते प्राणे स्फारे खमागते।
न स्पृशत्यङ्गरंध्राणि प्राणस्पन्दो निरुद्‌ध्यते॥ (५।७८।२२)
पूरके नूनमभ्यस्ते पूराद्गिरिघनस्थिते।
प्राणे प्रशान्तसञ्चारे प्राणस्पन्दो निरुद्‌ध्यते॥ (५।७८।२३)
कुम्भके कुम्भवत्कालमनन्तं परितिष्ठति।
अभ्यासात्स्तंभिते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ (५।७८।२४)
तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ (५।७८।२५)
समस्तकलनोन्मुक्ते न किञ्चिन्नाम सूक्ष्मखे।
ध्यानात्संविदि लीनायां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ (५।७८।२६)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे।

संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२७)
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतने केतने बुद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२९)
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे ।
प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।२८)
झटित्येवं यदुद्भूतं ज्ञानं तस्मिन्दृढाश्रिते ।
असंश्लिष्टविकल्पांशे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।३१)
तस्मात्संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासने ।
बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ (५।७८।३८)
एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (५।७८।३९)
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ (५।७८।४६)

वैराग्य, कारणका अभ्यास, व्यसनक्षय, परमार्थका ज्ञान; शास्त्र और सज्जनोंका संपर्क; अभ्यास, संसारकी वस्तुओंमें आस्थाका त्याग, ध्यान द्वारा प्राप्त एकताका अनुभव; एक तत्त्वका गूढ़ अभ्यास; पूरक आदि प्राणायामोंका अभ्यास, एकान्तमें बैठकर ध्यान लगाना; ओंकारके उच्चारण द्वारा शब्दतत्त्वकी भावना, सुषुप्त अवस्थामें संवित् को लेजाना, रेचकका अभ्यास, प्राणको शान्त करनेका अभ्यास, पूरक के अभ्यास द्वारा प्राणको शान्त करनेका अभ्यास, तालूके मूलमें स्थित घंटीको जिह्वासे दबाकर प्राणको ऊर्ध्वरन्ध्रमें लेजाना, सब कल्पनाओंको शून्याकार आत्मामें लीन करके ध्यान लगाना, नाककी फुङ्गलसे बारह अङ्गुल बाहर ध्यान लगाकर संवित्‌को लीन करना, भ्रुओंके मध्यमें स्थित तारेका ध्यान लगाकर चेतन आत्मामें स्थिति प्राप्त करना, अभ्यास द्वारा प्राणको ऊर्ध्वरन्ध्र द्वारा तालुसे बारह अङ्गुलपर लेजाकर शान्तकरना; अकस्मात् ही जो आत्मज्ञान उदय हो जाए उसमें दृढ़तासे स्थित होकर कल्पनाओं को लीन करना; चित्तको बलपूर्वक शुद्ध वासना रहित संवित्-मय आत्मामें लगाना आदि अनेक विधिओं द्वारा, जिनका अनेक गुरुओंने उपदेश दिया है, प्राणकी गतिका निरोध हो जाता है। अभ्यास द्वारा प्राणोंकी गतिके रुक जानेपर मन शान्त हो जाता है और निर्वाण ही शेष रह जाता है।

३—मनका लय :—

(अ) मन संसार-चक्रकी नाभि है :—

चित्तं नाभिः किलास्येह मायाचक्रस्य सर्वतः।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित्प्रबाधते ॥ (५।४९।४०)
तस्मिन्द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः।
गृहीतनाभिवद्दनान्मायाचक्रं निरुध्यते ॥ (५।५०।७)
इदं संसारचक्रं हि नाभौ सङ्कल्पमात्रके। (६/१।२९।५)
संरोधितायां वहनाद्रघुनन्दन रुध्यते ॥ (६/१।२९।६)
परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः। (६/१।२९।७)
नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ॥ (६/१।२९।८)
मनोनिष्ठतया विश्वमिदं परिणतिं गतम्। (५।२४।१४)
तस्मिञ्जिते जितं सर्वं सर्वमासादितं भवेत् ॥ (५।२४।१५)
✓ चित्तसत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चित्तकम्।
एकाभावाद्द्वयोर्नाशः स च सत्यविचारणात् ॥ (४।१७।१९)
चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ॥ (५।५०।१४)
शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति।
तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ॥ (६/१।६९।३४)
चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः।
शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ॥ (६/१।९३।४४)
अस्याश्चित्तं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसन्ततेः।
क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां याते शालेः क इव सम्भवः ॥ (६/१।९३।४५)
चित्तमेव विचित्रेहं भावाभावविलासिना।
विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा ॥ (६/१।९३।४६)
चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते।
सर्वमासाद्यते सम्यक्साम्राज्येनेव सर्वदा ॥ (६/१।९३।४७)
संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥ (४।३५।२)
मनोविलयमात्रेण दुःखशान्तिरवाप्यते। (३।११२।९)
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (३।१११।१५)
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥ (३।१११।१२)

इस मायाचक्रकी नाभि मन है। यदि इसको ज़ोरसे पकड़ कर स्थिर कर दिया जाये तो फिर संसार दुःख नहीं देता। मनको बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा बसमें कर लेनेपर यह माया-चक्र संसार ऐसे वसमें आ जाता है जैसे कि नाभिके पकड़नेसे पहिया। संकल्पनात्मक मनको रोकनेसे संसारकी गति ऐसे रुक जाती है जैसे कि नाभिके रोक लेनेपर पहियेकी गति। परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर बल, प्रज्ञा और युक्ति द्वारा संसारचक्रकी नाभि, मनको रोकना चाहिये। यह संसार मनके सहारेपर ही चल रहा है, मनके जीत लेनेपर सब-कुछ जीता जाता है। चित्तकी सत्तासे जगत्की सत्ता है, जगत्की सत्ता चित्तकी सत्ता है; एकके अभाव होनेपर दोनों हीका अभाव हो जाता है; और वह होता है सत्यके विचारसे। चित्तके भीतर संसार इस प्रकार है जैसे कि घड़ेके भीतर घटाकाश; चित्तके नाश होनेपर संसार इस प्रकार नहीं रहता जैसे कि घड़ेके नाश होनेपर घटाकाश नहीं रहता। वायुका चलना वन्द हो जानेपर जैसे गन्धका आना बन्द हो जाता है वैसे ही मनके स्पन्दन (गति) के शान्त हो जानेपर प्राणोंकी गति भी रुक जाती है। चित्तके त्यागे जाने और लीन होनेपर, द्वैत और ऐक्य सब प्रकारसे लीन हो जाते हैं; केवल एक शान्त और अविकार परम तत्त्व ही शेष रहता है। इस संसार रूपी खेतीके खेतको चित्त कहते हैं। जब खेत ही न रहेगा तो खेतीके पैदा होनेकी सम्भावना कहाँ है? जैसे जल ही तरङ्गके रूपमें प्रकट होता है वैसे ही चित्त भाव और अभाव वाली वस्तुओंके रूपमें परिणत होता है। जैसे साम्राज्यके प्राप्त होनेपर सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति हो जाती है वैसे ही चित्तनाश रूपी सर्वत्यागसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इन सब उप-द्रवोंके पैदा करनेवाले संसाररूपी दुःखसे छूटनेका एक ही उपाय है। वह है अपने मनका निग्रह। मनके विलीन होने मात्रसे दुःखोंकी शान्ति हो जाती है और सर्वगत, शान्त ब्रह्मका अनुभव होने लगता है। अपने ही पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाले, इच्छित वस्तुओंके त्यागस्वरूप मनके प्रशम विना शुभ गतिकी प्राप्ति नहीं होती।

(आ) मन कैसे स्थूल होता है :—

अन्यात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयानया।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम्॥ (५।५०।५७)

अहङ्कारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (५।५०।५८)
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशीविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (५।५०।५९)
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः ।
हेयोपादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (५।५०।६०)
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (५।५०।६१)
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥ (५।५०।६२)
आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (५।५०।६३)

अनात्ममें आत्मभावसे, देहमें विश्वाससे, स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से, अहङ्कारके विकारसे, ममताके मलसे, "यह मेरा है" इस भावसे, व्यर्थ वृद्धिको प्राप्त होनेवाले दोषोंके कोश, जरा और मरण आदि देनेवाले दुःखोंसे, उपादेय (प्राप्त करने योग्य) और हेय (त्यागने योग्य) को प्राप्त करने और त्यागनेमें प्रयत्न करनेसे, आधि और व्याधियोंको प्राप्त करानेवाली संसारकी आशाओंसे, स्नेहसे, धनके लोभसे, दूरसे सुन्दर दिखाई देनेवाली मणि और स्त्रियोंकी प्राप्तिसे चित्त स्थूल होता है। दुराशा रूपी दूधके पीनेसे, भोगरूपी वायुके बलसे आस्था रूपी चारेसे चित्त रूपी सर्प मोटा होता है। उत्पत्ति और नाशवाले शरीरसे विषके समान दुःखदायी भोगोंके अधिक भोगनेसे चित्त स्थूल होता है।

(इ) मन किस प्रकार ब्रह्म हो जाता है :—

संयोजितं परे चित्तं शुद्धं निर्वासनं भवेत् ।
ततस्तु कल्पनाशून्यमात्मतां याति राघव ॥ (३।९८।२)
मन एव विचारेण मन्ये विलयमेष्यति ।
मनोविलयमात्रेण ततः श्रेयो भविष्यति ॥ (३।९७।१०)
मनोनाम्नि परिक्षीणे कर्मण्याहितसंभ्रमे ।
मुक्त इत्युच्यते जन्तुः पुनर्नाम न जायते ॥ (३।९७।११)
प्रबुद्धानां मनो राम ब्रह्मैवेह हि नेतरत् ।
जलसामान्यबुद्धीनामब्धेर्नान्यस्तरङ्गकः ॥ (३।१००।२)

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ (५।५५।२)

परम ब्रह्ममें चित्तको लगानेसे चित्त वासना रहित और शुद्ध हो जाता है। शुद्ध और वासना रहित होनेपर वह कल्पनाशून्य होकर आत्मभावको प्राप्त कर लेता है। विचार द्वारा मन विलीन हो जाता है; और मनके लय हो जानेपर ही कल्याण होता है। मन नामवाले उस कर्मके क्षीण होनेपर जिसने कि इस भ्रमको रच रक्खा है, प्राणी जीवन्मुक्त हो जाता है; फिर उसका दूसरा जन्म नहीं होता। ज्ञानियोंका मन ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं; जैसे जल मात्रपर दृष्टि रखनेवालोंके लिये समुद्र ही समुद्र है, तरङ्ग कोई वस्तु नहीं है। अभावकी अत्यन्त भावना द्वारा जब चित्त क्षीण हो जाता है तो सामान्य रूपवाली चितिका जो कि सत्ता सामान्य है, अनुभव होता है।

(ई) मनके निरोध करनेकी युक्तियाँ :—

अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम् । (५।९२।३५)
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दताम् ॥ (५।९२।३४)
साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान्हठान्विदुः ।
भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ॥ (५।९२।४०)
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् । (५।९२।३८)
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ (५।९२।३९)
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥ (५।९२।३६)
स्वसंविद्यलसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति ।
न तथाङ्ग तपस्तीर्थविद्यायज्ञक्रियागणैः ॥ (६।१६३।८)
स्वेनैव पौरुषेणाशु स्वसंवेदनरूपिणा ।
यत्नेन चित्तवेतालस्त्यक्त्वेष्टं वस्तु जीयते ॥ (३।१११।२)
विवेकैकानुसंधानाच्चिदंशात्मतया मनः ।
चिदेकतामुपायाति दृढाभ्यासवशादिह ॥ (३।११२।१५)
त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः ।
जितमेव मनस्तेन कुदन्त इव दन्तिना ॥ (३।१११।३)

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते ।
वासनापदनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥ (३।११२।११)
या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥ (३।११२।२२)
विषयान्प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा ।
अनास्था परमा ह्येषा सा युक्तिर्मनसो जये ॥ (५।२४।१७)
ज्ञानादवसानीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणस्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥ (६१।६९।३५)
ज्ञानात्सर्वपदार्थानामसत्त्वमुदेत्यलम् ।
ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥ (६१।६९।३६)
राजन्स्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपधृक् ।
चित्तदुर्द्रुमबीजस्य दहने दहनः स्मृतः ॥ (६१।९४।२९)
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ॥ (६१।८७।२५)

जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुशके नहीं जीता जा सकता वैसे ही मन भी बिना ठीक युक्तिके नहीं जीता जा सकता। जो उचित युक्तिको छोड़कर मनको जीतनेका उपाय करते हैं वे हठी हैं; उनको एक भयके पीछे दूसरा भय और एक दुःखके बाद दूसरा दुःख होता रहता है। जो (बिना युक्तिके) बलपूर्वक चित्तको जीतनेका प्रयत्न करते हैं वे मूर्ख उस व्यक्तिके समान हैं जोकि उन्मत्त हाथी-को कमलके तन्तुओंसे बाँधना चाहता है। चित्तके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी निश्चित युक्तियाँ हैं—अध्यात्म ग्रन्थोंका अध्ययन, साधुओंका सत्सङ्ग, वासनाओंका त्याग, और प्राणोंका निरोध। अपने ही ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा चित्त जितनी अच्छी तरह शान्त हो जाता है वैसा न तपसे, न तीर्थसे, न विद्यासे, न यज्ञसे, और न किसी विशेष अनु-ष्ठानसे हो सकता है। अपने ही ज्ञानरूपी पुरुषार्थसे इच्छित वस्तुओं के त्यागसे चित्त रूपी वेतालपर विजय प्राप्त होती है। विवेक द्वारा इस बातका निश्चय कर लेनेपर कि मन आत्मा (चिति) का ही अंश है और दृढ़ अभ्यासके ारा मन आत्मा (चिति) के साथ एकताका अनुभव करता है। इच्छित वस्तुका त्याग करके जो विकार रहित स्थित हो जाता है वह मनको इस प्रकार जीत लेता है जैसे हाथीको अंकुश। मनकी वासना नामवाली चञ्चलता जो अविद्या है उसको

विचार द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। जो जो दूसरी वस्तुओंके प्रति वासना मनमें उठे, उस उसको त्यागनेसे अविद्या क्षीण हो जाती है। मनके जीतनेकी एक युक्ति यह है कि सब विषयोंके प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए। ज्ञान द्वारा वासना रहित हो जानेपर मनका नाश हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है; केवल शान्ति ही शेष रहती है। ज्ञानसे सब पदार्थोंकी असत्यताका निश्चय हो जाता है; उससे वासनाओंका क्षय होता है और प्राण और मनका वियोग हो जाता है। "मैं कौन हूँ और क्या हो सकता हूँ" इस प्रकारका आत्मविचार वह आग है जिससे चित्तरूपी बुरे वृक्षका बीज जलाया जा सकता है। "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकारकी भावनासे जिसका अज्ञान क्षीण हो गया है उस ज्ञानीके मनमें वासनाका इस प्रकार उदय नहीं होता जैसे कि मरुस्थलमें बादल नहीं उठता।

यहाँपर योगवासिष्ठमें जहाँ तहाँ वर्णन की हुई मनके निरोध करनेकी अनेक युक्तियोंका संग्रह और विस्तारके साथ वर्णन किया जाता है:—

१—ज्ञान युक्ति :—

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात्।
सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि॥ (६।१११।३१)
यथैतदेवं तनय तथा शृणु वदामि ते।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति॥ (६।१११।३२)
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः॥ (६।१११।३४)
मननं कृत्रिमं रूपं ममैतन्न यतोऽस्म्यहम्।
इति तत्त्यागतः शान्तं चेतो ब्रह्म सनातनम्॥ (४।११।२७)

अहंकार (मन) का त्याग करनेमें ज़रा भी क्लेश नहीं होता; वह तो फूलको कुचल देने और आँखोंके मीचनेसे भी सहल है। यह कैसे होता है? सुनो मैं बताता हूँ—जो वस्तु अज्ञानके कारण सत्य प्रतीत होती हो वह अवश्य ही ज्ञानसे नष्ट हो जाती है। अहंकार वैसे ही मिथ्या है जैसे और मिथ्या ज्ञान। मन मेरा असली स्वरूप नहीं है, बनावटी (झूठा) रूप है। इसलिये मैं मन नहीं हूँ—इस प्रकार मनको त्याग देनेपर मन शान्त और सनातन ब्रह्म हो जाता है।

२—संकल्पोंका उच्छेदन :—

सङ्कल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता । (६।१।२७)
अचित्तत्वमसङ्कल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ॥ (५।१३।८०)
सङ्कल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम् ।
असङ्कल्पनमात्रेण ब्रह्मन्क्वापि विलीयते ॥ (६।३३।४२)
उपशान्ते हि सङ्कल्पे उपशान्तमिदं भवेत् ।
संसारदुःखमखिलं मूलादपि महामते ॥ (४।५४।१९)
सङ्कल्पेनैव सङ्कल्पं मनसा स्वमनो मुने ।
छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥ (४।५४।१८)
भावनाभावमात्रेण सङ्कल्पः क्षीयते स्वयम् ।
सङ्कल्पनाशयत्नेन न भयान्यनुगच्छति ॥ (४।५४।१३)
सङ्कल्पो येन हन्तव्यस्तेन भावविपर्ययात् ।
अप्यर्धेन निमेषेण लीलयैव निहन्यते ॥ (४।५४।१६)
अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोऽर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ (६।१।३)

संकल्प ही मनका बन्धन है, उसका अभाव ही मुक्तता है। संकल्प रहित होनेसे मनुष्य चित्त रहित हो जाता है, और चित्त रहित होनेसे मोक्षका अनुभव होने लगता है। संकल्प द्वारा ही जगत्का मिथ्या अनुभव उत्पन्न हुआ है और संकल्पके क्षीण होनेपर यह कहीं लीन हो जाता है। संकल्पके शान्त हो जानेपर संसारका सारा दुःख जड़से नष्ट हो जाता है। संकल्पको निर्मूल करना कठिन नहीं हैं; अपने संकल्प द्वारा संकल्पको, अपने मन द्वारा मनको काट कर आत्मामें स्थित हो जाओ। भावनाके अभाव मात्रसे संकल्प अपने आप ही क्षीण हो जाता है। संकल्प-नाशके यत्नसे मनुष्य किसी प्रकारके भयको प्राप्त नहीं होता। भावविपर्य (भावको अभाव समझने) से आधे निमेषमें ही लीला मात्रसे संकल्पको नष्ट करनेकी इच्छा करनेवाला संकल्पका नाश कर सकता है। अपने अहंभावका आरोपण करना ही संकल्प है और अहंभावको शून्य करनेका यत्न ही संकल्प-त्याग कहलाता है।

३—भोगों से विरक्ति :—

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते । (४।३५।३)
यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ॥ (३।६१।३५)

किमन्यैः शास्त्रसन्दर्भैः क्रियतामिदमेव तु ।
यद्यत्स्वाद्विह तत्सर्वं दृश्यतां विषवह्निवत् ॥ (४।३५।४)
जाता चेदरतिर्जन्तोः भोगान्प्रति मनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥ (३।६१।३४)
न भोगेष्वरतिर्यावज्जायते भवनाशनी । (५।२४।३७)
न परा निर्वृतिस्तावत्प्राप्यते जयदायिनी ॥ (५।२४।३८)
तावद्भ्रमन्ति दुःखेषु संसारावटवासिनः ।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नायान्ति देहिनः ॥ (५।२४।२२)
आत्मावलोकनेनैषा विषयारतिरुत्तमा ।
हृदये स्थितिमायाति श्रीरिवाम्भोजकोटरे ॥ (५।२४।४३)
परदृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा ।
एते मिथः स्थिते दृष्टी तेजोदीपदशे यथा ॥ (५।२४।५३)
विचारो भोगगर्हातो विचाराद्भोगगर्हणम् । (५।२४।६२)
परं पौरुषमाश्रित्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥ (५।२४।३७)
क्रमादभ्यस्यमानैषा विषयारतिरात्मज ।
सर्वतः स्फुटतामेति सेकसिक्ता लता यथा ॥ (५।२४।२०)
पुरुषार्थादृते पुत्र नेह सम्प्राप्यते शुभम् । (५।२४।२५)
नासाद्यते ह्यनभ्यस्ता काङ्क्षतापि शठात्मना ॥ (५।२४।२१)

भोगोंकी इच्छा होना ही बन्धन है, और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जिस जिस वस्तुसे विरक्ति हो जाती है उसी उसी वस्तुसे मुक्ति मिल जाती है। और शास्त्रोक्त साधनोंसे क्या प्रयोजन है, केवल इतना करना ही काफ़ी है कि जो जो वस्तुएँ स्वाद देनेवाली हैं उन सबको विष और अग्निके समान भयंकर समझो। यदि प्राणीको हृदयमें भोगोंके प्रति विरक्ति उत्पन्न जाए तो तुरन्त ही उच्च पदकी प्राप्ति हो जाती है—ऐसा श्रुति कहती है। जब तक संसारको नाश करनेवाली भोगोंके प्रति विरक्ति मनमें उदय नहीं होती तबतक विजय प्राप्त करानेवाली परम निवृत्तिकी प्राप्ति नहीं होती। संसार रूपी गड्ढेमें पड़े हुये प्राणी तभी तक भ्रमते रहते हैं जब तक कि विषयोंके प्रति विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। विषयोंसे विरक्तिकी उत्पत्ति आत्म-चिन्तनसे हृदयमें उत्पन्न होकर कमलके फूलकी शोभाकी नाईं प्रकाश पाती है। जैसे दीपक और उसका प्रकाश एक दूसरेसे सम्बद्ध है वैसे ही परा दृष्टि

प्राप्त हो जानेपर तृष्णाका क्षय होता है और तृष्णाके क्षय हो जानेपर परा दृष्टि की प्राप्ति होती है। भोगोंकी घृणासे विचार उत्पन्न होता है और विचारसे भोगोंके प्रति घृणा होती है। परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर भोगोंके प्रति विरक्तिको उत्पन्न करो। जैसे पानीसे सींचनेसे शनैः शनैः लताकी वृद्धि होती है वैसे ही विषयोंकी विरक्ति धीरे धीरे अभ्यास करनेसे सिद्ध होती है। हे पुत्र! विना पुरुषार्थके यहांपर कुछ भी प्राप्त नहीं होता, विना अभ्यास किये मूर्ख किसी सिद्धिको भी प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे वह उसे कितना ही क्यों न चाहे।

४—इन्द्रियोंका निग्रह :—

विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते।
वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते॥ (६।१६३।१५)
मनो यदनुसंधत्ते तत्सर्वेन्द्रियवृत्तयः।
क्षणात्संपादयन्त्येता राजाज्ञामिव मंत्रिणः॥ (३।११४।४७)
तस्मान्मनोनुसंधानं भावेषु न करोति यः।
अन्तश्चेतनयत्नेन स शान्तिमधिगच्छति॥ (३।११४।४८)
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया।
भोगाशाभावनां चित्तात्समूलामलमुद्धरेत्॥ (३।११४।५१)
चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः॥ (६।१६३।६)

जो विवेकवाला और उदार-आत्मा है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं—वह संसार समुद्रमें वासना रूपी लहरोंके बीचमें पड़कर नहीं घबराता। जैसे राजाकी आज्ञाका मंत्री लोग पालन करते हैं वैसे ही जो मनका निश्चय होता है उसीको इन्द्रियों की वृत्तियां सम्पादन करती हैं। इसलिये जो संसारके विषयोंमें मनको नहीं लगाते और अपने भीतर विवेक प्राप्तिका यत्न करते रहते हैं वे शान्तिका अनुभव करते हैं। परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर बुद्धिपूर्वक यत्न करके भोगोंकी आशाको चित्तसे समूल नष्ट कर देना चाहिये। चित्त इन्द्रियोंकी सेनाका नायक है। उसके जीतनेसे सब ओर जीत होती है, जैसे कि जूता पहननेवालेके लिये सारी पृथ्वी चमड़ेसे ढक जाती है।

५—वासनाओंका त्याग :—

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥ (६/१।९४।५)
यथा स्वप्नपरिज्ञानात्स्वप्नदेहो न वास्तवः ।
अनुभूतोऽप्ययं तद्वद्वासनातानवादसत् ॥ (३।२२।१)
प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ (३।२२।८)
सर्वैषणानां संशान्तौ शुद्धचित्तस्य या स्थितिः ।
तत्सत्यमुच्यते सैषा विमला चिदुदाहृता ॥ (४।१७ ३)
इदमस्तु ममेत्यन्तर्यैषा राघव भावना ।
तां तृष्णां शृंखलां विद्धि कलानां च महामते ॥ (५।१७।७)
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ।
संत्यज्य परमोदारः परमेति महामनाः ॥ (५।१७।८)
बन्धाशामथ मोक्षाशां सुखदुःखदशामपि ।
त्यक्त्वा सदसदाशां च तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ (५।१७।९)

महाराज ! वासनाको ही चित्तका स्वरूप जानो। वासना और चित्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे "यह स्वप्न" है इस प्रकारका ज्ञान हो जानेपर स्वप्नका शरीर असत्य मालूम पड़ने लगता है वैसे ही वासनाओंके क्षीण हो जानेपर अनुभवमें आनेवाला संसार भी असत् ही दिखाई पड़ने लगता है। वासनाके क्षीण हो जानेपर जो जीवनकी स्थिति होती है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं; उसका ज्ञान उनको नहीं हो सकता जो मुक्त नहीं हैं। सब इच्छाओंको त्याग देनेपर शुद्ध चित्तकी जो स्थिति है वह मलरहित चिति है। उसीको सत्य कहते हैं। हे राम ! "यह वस्तु मेरी हो जाए" इस प्रकारकी अपने भीतरकी भावनाको तृष्णा कहते हैं यही सबसे बड़ी ज़ंजीर है। सब सत् और असत् पदार्थोंके प्रति इस प्रकारकी वासनाका पूर्णतया और सदाके लिये त्याग करके महामना और उदारात्मा पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है। बन्ध और मोक्ष, सुख और दुःख, सत् और असत्—सबकी आशाका त्याग करके क्षोभरहित समुद्रकी नाईं स्थिर हो जाओ।

(अ) तृष्णाकी बुराई :—

जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका ।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥ (१।१७।३९)
हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया ।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः ॥ (१।१७।१)
दृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम् ।
मुह्यंति रौति पतति तृष्णयाभिहतो जनः ॥ (५।१५।१०)
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ (६/१।९३।७६)

तृष्णा जरा (बुढ़ापा) और मरणके दुःखोंकी पिटारी है और आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग) को देनेवाली है। अपार तृष्णा द्वारा हृदयमें अज्ञानकी अन्धेरी रात्रिके छा जानेपर ही चेतन (आत्मा) आकाशमें दोषरूपी उल्लुओंकी पंक्तियाँ उड़ने लगती हैं। तृष्णासे मारा हुआ व्यक्ति दीन हो जाता है, अपने भीतर-का बल खो देता है, अपना तेज खो देता है, दुर्गतिको प्राप्त होता है, मोहमें पड़ता है, चिल्लाता है और पतनको प्राप्त होता है। बुढ़ापा आनेपर दाँत गिरने लगते हैं, बाल सुफ़ैद हो जाते हैं, सब कुछ जीर्ण और क्षीण हो जाता है; तो भी तृष्णा क्षीण नहीं होती।

(आ) इस संसारमें न कुछ प्राप्त करने योग्य है और न कुछ त्यागने योग्य है :—

मनःप्रकल्पिते भग्ने हृदि विस्तीर्णपत्तने ।
वृद्धिं चोपगते ब्रूहि किं वृद्धं कस्य किं क्षतम् ॥ (४।४५।३५)
सर्वत्रासत्यभूतेऽस्मिन्प्रपञ्चैकान्तकारिणि ।
संसारे किमुपादेयं प्राज्ञो यदभिवाञ्छतु ॥ (४।४५।४२)
सर्वत्र सत्यभूतेऽस्मिन्ब्रह्मतत्त्वमयेऽपि च ।
किं स्यात्त्रिभुवने हेयं प्राज्ञाः परिहरन्तु यत् ॥ (४।४५।४३)
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदमिनीचञ्चलाः ॥
लोला यौवनलालना जलरयः कायः क्षणापयवान् ।
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ (६/१।१२६।३३)

मन द्वारा कल्पित, हृदयमें विस्तृत इस टूटे फूटे संसार नगरमें किसी प्रकारकी वृद्धि होनेपर क्या किसका बढ़ता और क्या किसका घटता है? इस सब प्रकारसे झूठे ऐन्द्र-जालिक संसारमें ऐसी कौनसी प्राप्य वस्तु है जिसकी ज्ञानी आदमी इच्छा करे? इस ब्रह्मतत्त्वमय सर्वत्र सत्यमय संसारमें ऐसी कौनसी त्याज्य वस्तु है जिसको विद्वान् त्यागे? आयु इतनी क्षणभङ्गुर (क्षणिक) है जितना कि वायु द्वारा उड़ाकर लाया हुआ शरत् ऋतुका बादलका टुकड़ा, भोग ऐसे चञ्चल हैं जैसी कि मेघोंमें चमकती हुई बिजली। यौवन और सौन्दर्य जलके बहावकी नाईं तेज़ीसे जानेवाले हैं; शरीर क्षणमें नष्ट होनेवाला है; इसलिये हे पुत्र इन सबसे विरक्त होकर निर्वाणको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो।

(इ) वासना त्यागके दो प्रकार :—

सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैर्ज्ञेयो ध्येयश्च मानद॥ (५।१६।६)
द्वावेव राघव त्यागौ समौ मुक्तपदे स्थितौ।
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेव विगतज्वरौ॥ (५।१६।१५)

हे सबको मान देनेवाले राम, ज्ञानियोंने वासना-त्याग दो प्रकार का बतलाया है—एक ध्येय और दूसरा ज्ञेय। दोनों प्रकारके त्याग समान हैं और मुक्ति अवस्थामें स्थिति रखनेवाले, ब्रह्म रूपको प्राप्त और क्लेशोंसे बरी (मुक्त) हैं।

(१) ध्येय त्यागका स्वरूप :—

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम्।
नाहमेभिर्विना कश्चिन्न मयैते विना किल॥ (५।१६।७)
इत्यन्तर्निश्चयं कृत्वा विचार्य मनसा सह।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥ (५।१६।८)
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वत्या लीलया क्रियाम्।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो राम स कीर्तितः॥ (५।१६।९)
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ (५।१६।११)

मैं इन सब वस्तुओंका और ये सब मेरा जीवन हैं—मैं इनके बिना और ये मेरे बिना नहीं रह सकते—इस निश्चयको अपने भीतर दृढ़

करके और मनसे अच्छी तरह विचार कर और यह धारणा करके कि न ये वस्तुएँ मेरी हैं और न मैं इनका, शान्त बुद्धिसे जो वासनाका त्याग किया जाता है उसे वासनाका ध्येय त्याग कहते हैं। जो लीलासे अपनी अहंकारमयी वासनाका त्याग करके जीता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

(२) ज्ञेय त्याग :—

सर्वं समतया बुद्ध्वा यं कृत्वा वासनाक्षयम्।
जहाति निर्ममो देहं ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः॥ (५।१६।१०)
निर्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः समं गतः।
ज्ञेयत्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनन्दन॥ (५।१६।१२)

सम बुद्धिसे जो सब वासनाओंका क्षय करके और ममतारहित होकर शरीरका त्याग कर देता है उसका वासना-त्याग ज्ञेय त्याग कहलाता है। जो कल्पारहित वासनाका त्याग करके शान्तिको प्राप्त कर चुका है उस मुक्त पुरुषके त्यागको ज्ञेय त्याग कहते हैं।

(ड) वासनाको त्याग करनेकी तरकीब :—

बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज॥ (४।५७।१९)
तामसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम्॥ (४।५७।२०)
तामप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि।
अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः॥ (४।५७।२१)
तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम्।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज॥ (४।५७।२२)
चिन्मयः कलनाकालप्रकाशतिमिरादिकम्।
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्॥ (४।५७।२३)
समूलमपि संत्यक्त्वा व्योमसौम्यप्रशान्तधीः।
यस्त्वं भवसि सद्बुद्धे स भावनस्तु सत्कृतः॥ (५।५७।२४)
हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः॥ (४।५७।२५)
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनात्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः॥ (४।५७।२६)

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थो न तस्यार्थोऽस्ति कर्मभिः।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः॥ (४।५७।२७)
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात्।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ॥ (६/२।८७।२५)
परमार्थवबोधेन समूलं राम वासना।
दीपेनेवान्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च॥ (५।७४।२१)

वासनासे बँधा हुआ मनुष्य बद्ध (बन्धनमें) है। वासना क्षीण होनेसे मोक्ष होता है। (सांसारिक) वासनाओंको त्याग करके मोक्षकी वासना भी त्याग दो। विषयोंके सम्बन्धकी तामसी वासनाओंका त्याग करके मैत्री आदि शुभ वासनाओंको धारण करना चाहिये। इनके अनुसार व्यवहार करते हुए, इनको भी त्याग कर, अपने अन्दर सब वासनाओंसे रहित होकर चिन्मात्र आत्माकी वासनका आश्रय लो। मन और बुद्धिसे संयुक्त उस चिन्मात्रकी वासनाको भी त्याग करके जो कुछ शेष रहे उसमें स्थिर हो जाओ। जिस वासनाके द्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग करो उसको त्याग दो। वासनाको, वासना करनेवालेको, कलना, काल, तिमिर (अन्धेरा) आदि और प्राण-स्पन्दन—इन सबको जड़ सहित उखाड़ कर सौम्य आकाशकी नाईं शान्त होकर जो रहता है वही हो जाओ। जो व्यक्ति अपने चित्तसे सब वस्तुओंका त्याग करके व्यथासे रहित हो जाता है, वही मुक्त और परम ईश्वर है। समाधि लगाए या न लगाए, कर्म करे या न करे, जो अपने हृदयसे सब आस्थाओंको त्याग देता है वही महाशय मुक्त है। जिसका मन वासनारहित हो गया है उसे न कर्म त्यागनेकी आवश्यकता है और न कर्म करनेकी, न समाधिकी ज़रूरत है और न जपकी। जैसे मरूभूमिसे बादल नहीं उठ सकता वैसे ही उस पुरुषके हृदयमें वासना नहीं उदय होती जिसका अज्ञान "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस भावनासे दूर हो गया है। परमार्थके भली भाँति जान लेनेपर वासना इस प्रकार समूल नष्ट हो जाती है जैसे कि दीपकके आनेपर अन्धेरा; और ज्ञानका प्रकाश उदय हो जाता है।

६—अहङ्कारका त्याग :—

अहंकाराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते।
नूनं सम्प्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः॥ (५।१३।१७)

चिज्ज्योत्स्ना यावदेवान्तरहंकारघनावृता ।
विकासयति नो तावत्परमार्थकुमुद्वतीम् ॥ (४।३३।२८)
अहंबीजश्चित्तद्रुमः सशाखाफलपल्लवः ।
उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ (६/१।९४।१३)
अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ (६/२।२६।२९)
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अहंभावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ (६/२।१५।२)
ईदृशोऽयं जगद्वृक्षो जायतेऽहंत्वबीजतः ।
बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ (६/२।८।२)

अहङ्काररूपी बादलके विलीन हो जानेपर चितिरूपी आकाशके निर्मल हो जानेसे आत्मज्ञानरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है। चितिरूपी चाँदनी जबतक अहङ्काररूपी बादलमें छिपी रहती है, तबतक परमार्थरूपी कुमुद नहीं खिलने पाता। चित्तरूपी शाखा, पत्ते और फलवाले वृक्षके अहंभावरूपी बीजको जड़से उखाड़ कर शून्य-हृदय हो जाओ। भ्रम और भाव विकारोंवाली स्थिति अहंभावसे आरम्भ होती है। अहंभावके अभावसे शान्तिपूर्ण स्वभावमें स्थिति हो जाती है। आकाशकी नीलिमाके समान भ्रमात्मक संसारका आदि मूल अहंभावयुक्त आत्मा है। यह जगत्-रूपी वृक्ष अहंभावरूपी बीजसे उदय होता है। उसको ज्ञानरूपी अग्निसे भस्म कर देनेपर फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।

(अ) अहंभावको मिटानेकी विधि :—

प्रेक्षमाणं च तन्नास्ति किलाहंत्वं कदाचन ।
एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ (६/२।८।३)
चिन्मात्रदर्पणाकारे निर्मले स्वात्मनि स्थिते ।
इति भावानुसंधानादहंकारो न जायते ॥ (४।३३।४३)
मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः ।
इत्यन्तरानुसंधानादहंकारो न जायते ॥ (४।३३।४४)
अहं हि जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।
समतायां प्रसन्नायां नाहंभावः प्रवर्धते ॥ (४।३३।४६)

अहंभावको जब जान लिया जाता है तब वह नहीं रहता—इस सम्बन्धमें इतना ही जानना काफ़ी है—इससे दुःख नहीं होता।

चिन्मात्ररूपी दर्पणमें जब अपना आत्मा ही दृष्टि आवे और आत्म-भावका ही चिन्तन हो तब अहंभावकी उत्पत्ति नहीं होती। यह सब इन्द्रजालका तमाशा मिथ्या है, इसलिये मुझे इससे न स्नेह है और न वैराग्य—इस प्रकारकी आन्तरिक धारणासे अहंभावकी उत्पत्ति नहीं होती। मैं ही सारा जगत् हूँ इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (प्राप्य) भाव क्षीण हो जाए और समताका अनुभव हो जाए तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती।

(आ) ब्रह्मभावका अभ्यास :—

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धाकाम्यकर्मणः।
विषयेन्द्रियसंश्लेषसुखाच्च श्रद्धयान्वितः॥ (६/१।१२८।१)
मृद्वासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः।
ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति॥ (६/१।१२८।२)
प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये।
इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैः शनैः॥ (६/१।१२८।३)
देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः।
यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत्॥ (६/१।१२८।४)
विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम्।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे॥ (६/१।१२८।५)
मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत्।
आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत्॥ (६/१।१२८।६)
वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत्।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु॥ (६/२।१२८।७)
श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुंर्भोगप्रसिद्धये।
दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत्॥ (६/२।१२८।८)
चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत्।
प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत्॥ (६/१।१२८।९)
विष्णौ तथाऽत्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च।
उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत्॥ (६/१।१२८।१०)
बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः। (६/१।१२८।११)
एवं न्यस्यात्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत्॥ (६/१।१२८।१२)
क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत्। (६/१।१२८।१६)

अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ (६।१२८।१७)
स्थित्वा तस्मिन्क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्मविद्ये तथैव च ॥ (६।१२८।१८)
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
ततोऽर्धोण्डाद्बहिर्यातस्तत्रात्मास्मीति चिन्तयेत् ॥ (६।१२८।१९)
लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥ (६।१२८।२०)
नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ (६।१२८।२१)
अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ (६।१२८।२२)
निःसम्बन्धा निरास्वादाः सम्भवन्ति ततः पुनः ।
तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ (६।१२८।२३)
अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् । (६।१२८।२४)
ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ॥ (६।१२८।२५)

मनको शान्त करके, इन्द्रियोंको वशमें करके, उपरति युक्त होकर, निषिद्ध और काम्य (कामना युक्त) कर्मोंका त्याग करके, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर, श्रद्धावान् होकर, इन्द्रियों और चित्तकी वृत्तियोंको वशमें करके, कोमल आसनपर बैठे और जबतक मन शान्त न हो तब तक ओ३म् का उच्चारण करता रहे। तब अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्राणायाम करे, फिर धीरे धीरे इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंसे हटावे। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (जीव) का जिस जिस तत्त्वसे उदय हुआ है उनको उस उस तत्त्वमें विलीन करे। पहिले विराट्में स्थित हो, फिर आत्मामें, फिर अव्याकृतमें, फिर परम कारणमें। शरीरके माँस आदि पार्थिव भागको पृथ्वीमें विलीन करे, रक्त आदि जलभागको जलमें, अग्निसे बने हुए भागोंको अग्निमें, वायुसे बने हुए भागको वायुमें, आकाशसे बने हुए भागको आकाशमें। (अर्थात् जो भाग जिस तत्त्वसे बना है उसमें उस तत्त्वकी दृष्टि उत्पन्न करे, उस भागकी दृष्टि न रक्खे)। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियमें जिस तत्त्वसे वह बनी है उसके होनेकी भावना करे। आत्माके भोगके लिये जो कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं उनको भी इसी प्रकार उनके तत्त्वोंमें लीन करे। कानोंको दिशाओंमें, त्वचाको विद्युत्में,

चक्षुको सूर्यके विम्बमें, जिह्वाको जलमें, प्राणको वायुमें, वाक्को अग्निमें, हाथको इन्द्रमें, पैरोंको विष्णुमें पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें विलीन करे (अर्थात् जो जो ज्ञान और कर्म इन्द्रिय जिस जिस तत्त्वसे बनी है उसको वह वह इन्द्रिय न समझ कर वह वह तत्त्व समझना चाहिये—क्योंकि प्रत्येक कार्यमें उसका उपादान कारण वर्तमान रहता है, जैसे कि घटमें मिट्टी और कड़ेमें सोना। जैसे घड़ेमें मिट्टीकी दृष्टि और कड़ेमें सोनेकी दृष्टि उत्पन्न करनी चाहिये वैसे ही प्रत्येक अङ्गमें उसके कारण तत्त्वकी दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये)। ऊपर कहे हुए देवता करण देवता हैं। इस प्रकार अपने शरीरको ब्रह्माण्डके समष्टि शरीरमें विलीन करके मैं विराट् हूँ इस भावनाका अभ्यास करे। तब पृथ्वीको (उसके कारण तत्त्व) जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको महा आकाश में, जो कि समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिका कारण है। लिङ्ग शरीर धारण किये हुए योगी उस तत्त्वमें कुछ देर स्थित रहे। सूक्ष्मभूत, वासना, कर्म, विद्या, दश इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) मन और बुद्धि ये सब मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। तब ब्रह्माण्डसे बाहर होकर यह अनुभव करे कि मैं सब कुछ हूँ। लिङ्ग शरीरको सूक्ष्म और अव्याकृत और अव्यक्त तत्त्वमें विलीन करे। जिस तत्त्वमें यह जगत् नाम रूपसे मुक्त होकर स्थित रहता है उसे कोई प्रकृति कहता है कोई माया, कोई प्रमाणु, कोई अविद्या। उस तत्त्वमें लीन होकर सब पदार्थ अव्यक्त रूपसे स्थित रहते हैं। निःसम्बन्ध और निःस्वाद होकर सारा जगत् सृष्टि उदय होनेके पूर्व उसमें उसके ही रूपमें रहता है। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म, और कारण इन तीनों अवस्थाओंसे परेकी चौथी अव्यक्त अवस्थाका ध्यान करके, और लिङ्ग शरीर (और सूक्ष्म भाव) को विलीन करके, अपने आत्माको परम आत्मामें विलीन करके उसका अनुभव स्थिर करे।

अद्वैत वेदान्तके शास्त्रोंमें इस युक्तिका नाम, जिसका ऊपर उल्लेख किया है, लय योग है। इसकी विधि यही है कि प्रत्येक वस्तुको अपने विचार द्वारा उसके कारणमें लय करके मनमें वस्तुभाव न रख कर कारण भाव रक्खे; व्यष्टिकी दृष्टिको हटाकर समष्टिकी दृष्टिकी, और कार्य दृष्टिको हटाकर कारण दृष्टिकी स्थापना करे।

ऐसा करते करते किसी समय परम कारण और परम व्यापक सत्ता-सामान्य शुद्ध चेतन ब्रह्मकी दृष्टिका अनुभव हो जायेगा। इस योगके क्रमकी समझ तब ही आती है जब कि सृष्टिके विकासके क्रमका ज्ञान हो। सृष्टिका विलय उसके विकासके क्रमके विरुद्ध क्रमसे होता है।

(इ) अहंभावके क्षीण हो जाने पर सब दोषों से निवृत्ति हो जाती है :—

यत्किञ्चिदिदमायाति सुखदुःखमलं भवे।
तदहंकारचक्रस्य प्रविकारो विजृम्भते॥ (४।३३।३५)
गलिते वा गलद्रूपे चित्तेऽहंकारनामनि। (६/१।११६।१)
बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम्॥ (६/१।११६।२)
लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम्। (६/१।११६।२)
मुदिताद्याः श्रियो वक्त्रं न मुञ्चन्ति कदाचन॥ (६/१।११६।३)
वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुट्यन्त्यलं शनैः।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति॥ (६/१।११६।४)
कामः क्लमं गच्छति च लोभः क्वापि पलायते।
नोल्लसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति नोच्चकैः॥ (६/१।११६।५)
न दुःखान्युपबृंहन्ति न वलान्ति सुखानि च।
सर्वत्र समतोदेति हृदि शैत्यप्रदायिनी॥ (६/१।११६।६)

संसारमें जो कुछ सुख दुःख मिलता है वह सब अहंकारका विकार है। अहंकार नामक मनकी वृत्तिके क्षीण हो जानेपर या क्षीण होने लगनेपर, लोभ और मोह आदि दोष शुद्ध हृदयको इस प्रकार स्पृश नहीं करते जैसे कि पानी कमलको, और प्रसन्नता आदि जनित सौन्दर्य मुख पर सदा विराजमान रहता है; वासनाओंकी गांठें खुल जाती हैं और वे धीरे धीरे क्षीण होकर गिर जाती हैं; गुस्सा बहुत कम हो जाता है और मोह मन्द पड़जाता है; काम शान्त हो जाता है और लोभ कहीं भाग जाता है; इन्द्रियां बससे बाहर नहीं जातीं और किसी प्रकारका खेद नहीं होता; दुःख और सुख दोनों शान्त हो जाते हैं और शीतलता देनेवाली समताका चारों ओर उदय हो जाता है।

७—असङ्गका अभ्यास :—

सम्वित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तस्थो वासनारसः।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना दह॥ (६/२।२८।२३)

अन्तःसङ्गवाञ्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ॥ (५।६७।३०)
असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
१ सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥ (५।६७।३३)
संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः । (५।६८।१०)
संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ॥ (५।६८।४७)
असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः ।
तथैव मिथ्यासम्बन्धः शरीरपरमात्मनोः ॥ (५।६७।२४)
देहभावनयैवात्मा देहदुःखवशे स्थितः ।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः ॥ (५।६७।२६)
चिदात्मा निर्मलो नित्यः स्वावभासो निरामयः ।
देहस्त्वनित्यो मलवांस्तेन सम्बध्यते कथम् ॥ (५।७१।२४)
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चेत्यावलम्बिनि ।
सर्वत्र नीरसमिव तिष्ठत्वात्मरसं मनः ॥ (५।६९।८)
तत्रस्थो विगतासङ्गो जीवोऽजीवत्वमागतः ।
व्यवहारमिमं सर्वं मा करोतु करोतु वा ॥ (५।५९।९)
नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुपज्जते ।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ (५।६८।६)
सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ॥ (५।६८।४)
सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणं यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ (५।६८।८)
भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारता ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ (५।९३।८४)
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना । (५।९३।८५)
तामसङ्गाभिधां विद्धि यावद्देहं च भाविनी ॥ (५।९३।८६)
कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जगम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥ (६२।२८।२४)
अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।
यया कयाचिद्युक्त्यान्तः सम्पादय तमेव हि ॥ (६२।२८।२५)

जन्मजन्मान्तरको देनेवाला बीज (व्यष्टि) संवित् है । उसका भीतरका रस जो कि (संसार रूपी अंकुरको उत्पन्न करता है) वासना

है। उस वासना रसको असङ्ग रूपी अग्निसे जला दो। जिसके मनमें सङ्ग है वह प्राणी ही संसार-सागरमें डूबा हुआ है और जिसके मनमें सङ्ग नहीं है वह संसार-सागरसे पार होगया है। संसारी मन भी यदि असक्त है तो उसे मुक्त जानो और दीर्घ तपसे शुद्ध किया हुआ मन यदि सक्त (सङ्गयुक्त) है तो उसे बन्धनमें समझो! समस्त दुःख संसक्तिसे उदय होते हैं। संसक्त चित्तमें ही सारे दुःखोंकी परम्परा आती है। (शरीरसे भी सङ्ग होना वृथा है क्योंकि) जैसे जल और लकड़ी का (जो कि जलके ऊपर तैर रही हो) सम्बन्ध कुछ नहीं है वैसे ही आत्मा और शरीरका भी सम्बन्ध झूठा है। देह-भावना (शरीरको अपना आप समझने) से ही आत्माको शरीरके दुःख सुखके वशमें होना पड़ता है; ज्ञानी लोग कहते हैं कि उसके त्यागने से ही आत्मा मुक्त होता है। आत्मा नित्य, निर्मल निरामय और स्वयं प्रकाश चिति है और शरीर अनित्य और मलयुक्त है—भला फिर दोनोंमें सम्बन्ध कैसा? मनको चाहिये कि वह संसारकी सब वस्तुओंके प्रति नीरस होकर आत्माके रसमें ही मग्न होकर चितिमें विश्राम ले। वहां स्थित होकर और सब प्रकारके सङ्गसे मुक्त होकर जीव जब अजीव हो जाता है, तब वह संसारके किसी व्यवहारको करे या न करे। असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समान भावमें स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मोंमें लगना; और जिसने सब कर्मोंके फलका त्यागकर दिया हो। "यह सब कुछ आत्मदेव ही है, किस वस्तुकी इच्छा करूं और किस वस्तुका त्याग करूं!" इस प्रकारकी असंसक्ति जीवन्मुक्त पुरुषमें होती है। सब कर्मोंके फलोंको मनसे ही पूर्णतया त्यागनेवालेको, न कि कर्मसे, असंसक्त कहते हैं। पदार्थोंके भाव और अभावमें हर्ष और शोकरूपी मलीन वासना होनेका नाम सङ्ग है। जब हर्ष और शोकसे रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीरके जीवित रहने तक असङ्ग कहते हैं। शुभ या अशुभ कामोंको करते हुए मनका उनमें लिप्त न होना असङ्ग कहलाता है। वासनाके दूर करनेका नाम भी असङ्ग है। किसी न किसी युक्ति द्वारा उसको प्राप्त करना चाहिये।

८—सम-भावका अभ्यास :—

मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव।
हेयोपादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः स्वच्छतां व्रज॥ (५।१३।२१)

हेयोपादेयकलने क्षीणे यावन्न चेतसः।
न तावत्समता भाति साभ्रे व्योम्नीव चन्द्रिका ॥ (५।१३।२३)
अवस्त्विदमिदं वस्तु यस्येति लुलितं मनः।
तस्मिन्नोदेति समता शाखोट इव मञ्जरी ॥ (५।१३।२४)
युक्तायुक्तैषणा यत्र लाभालाभविलासिनी।
समता स्वच्छता तत्र कुतो वैराग्यभासिनी ॥ (५।१३।२५)

हेय (त्याज्य) वस्तुसे खेद न करो और उपादेय (प्राप्य) वस्तु से सङ्ग न करो। 'हेय' और 'उपादेय' दोनों दृष्टियोंका त्याग करके दोनोंसे रहित भावमें निर्मल रहो। जैसे जबतक बादल नहीं उड़ता तबतक आकाशमें चान्दनी नहीं दिखाई पड़ती, ऐसे ही जबतक चित्तसे हेय और उपादेय भाव नहीं जाता तबतक समताका उदय नहीं होता। जिसके मनमें इस प्रकारकी कल्पनाओंका उदय होता रहता है कि "यह वस्तु (प्राप्य) है और यह वस्तु (प्राप्य) नहीं है" उसके अन्दर समताका उदय ऐसे नहीं होता जैसे कि शाखोटमें मञ्जरीका। वैराग्यका प्रदर्शन करनेवाली स्वच्छ समताका उदय उसके चित्तमें कैसे हो सकता है जिसके चित्तमें युक्तको प्राप्त और अयुक्तको त्याग करने- की वासना बनी रहती है?

(अ) समताका आनन्द :—

न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसङ्गमात्।
अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥ (६/२।१९८।१०)
द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम्।
सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥ (६/२।१९८।११)
सुखदुःखेषु भीमेषु सन्ततेषु महत्स्वपि।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥ (६/२।१९८।२७)

जो अनन्त और सार आनन्द समतासे प्राप्त होता है वह न राज्यप्राप्तिसे मिलता है और न सुन्दर युवतियोंके साथ रमण करनेसे। समता द्वन्द्वका अन्त करनेवाली और व्यग्रताके ज्वरका नाश करनेवाली है; उसे सब प्रकारके दुखोंकी गर्मीको शान्त करने- वाला बादल समझो। समदृष्टिवाले व्यक्ति महान्, बराबर रहनेवाले और भयानक सुखों और दुःखोंमें भी सदा एक रस रहते हैं।

(आ) सबको अपना बन्धु समझना चाहिये :—

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु विगतावरणैव धीः ॥ (५।१८।६१)
न तदस्ति यत्राहं न तदस्ति न यन्मम ।
इति निर्णीय धीराणां विगतावरणैव धीः ॥ (५।१८।६२)
सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम बन्धवः ।
अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम न काश्चन ॥ (५।१८।६४)
एकत्वे विद्यमानस्य सर्वगस्य किलात्मनः ।
अयं बन्धुः परश्चायमित्यसौ कलना कुतः ॥ (५।२०।४)

यह मेरा बन्धु है और यह मेरा बन्धु नहीं है इस प्रकारका भेदभाव क्षुद्र मनवालोंमें होता है; उदार भाववालोंकी बुद्धिमें इस प्रकारका भेद नहीं रहता । "ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ मैं नहीं हूँ और ऐसी कौनसी वस्तु है जो मेरी नहीं है" इस निश्चयको दृढ़कर लेनेपर बुद्धिमें भेदभाव नहीं रहता । हे राम ! संसारके सभी प्राणी-गण तेरे बन्धु हैं क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो तुझसे बिल्कुल सम्बन्ध न रखता हो । जब कि एक ही आत्मा सबमें मौजूद है, 'यह मेरा भाई है और यह दूसरा है' इस प्रकारका विचार कैसे आया ?

६—कर्तृत्वका त्याग :—

कृष्णतासंक्षये यद्वत्क्षीयते कज्जलं स्वयम् ।
स्पन्दात्मकर्मविगमे तद्वत्प्रक्षीयते मनः ॥ (३।९५।२५)
वह्न्यौष्ण्ययोरिव सदा श्लिष्टयोश्चित्तकर्मणोः ।
द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते ॥ (३।९५।३७)
आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् । (६/१।१२४।५)
सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ॥ (६/१।१२४।६)
अवेदनमसम्वेद्यं यदवासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ (६/२।३।२४)

जैसे स्याहीके खतम हो जानेपर कालस स्वयं ही खतम हो जाती है ऐसे ही स्पन्दनरूप कर्म (कर्तृत्वभाव) के क्षीण होनेपर मन स्वयं ही क्षीण हो जाता है । चित्त और कर्म (कर्तृत्व) दोनों आग और गरमीकी नाईं सम्बद्ध हैं; दोनोंमेंसे किसी एकका अभाव हो जानेपर दोनोंका अभाव हो जाता है । आत्माके अज्ञानसे कर्म करनेका संकल्प

उदय होता है और संकल्प युक्त होना ही बन्धनका कारण है; उसको अवश्य त्यागो। कर्मत्याग तब होता है जब कि आत्मामेंसे वेदन और संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जानेपर वासना न रहे, और कल्पना रहित शान्त भावमें उसकी स्थिति हो जाए।

१०—सब वस्तुओंका त्याग :—

यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते॥ (५।५८।४४)
यत्र सर्वात्मनैवात्मा लाभाय यतति स्वयम्।
त्यक्त्वान्यकार्यं प्राप्नोति तन्नाम नृप नेतरत्॥ (५।५८।४६)
न किञ्चिद्येन सम्प्राप्तं तेनेदं परमामृतम्।
सम्प्राप्यन्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम्॥ (५।३४।७६)
विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम्।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः॥ (६/१।९०।५)
सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत्॥ (६/१।९०।६)

सब वस्तुओंका जबतक त्याग नहीं किया जाता तबतक आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। सब अवस्थाओंका त्याग करनेपर जो बाक़ी रहता है वही आत्मा है। जो और सब कामोंको छोड़ अपनी पूरी ताक़तसे आत्माको प्राप्त करनेका यत्न करता है वही आत्माको पाता है; दूसरा कोई नहीं। जो और किसी वस्तुको प्राप्त नहीं करता वही इस परम अमृत आत्माको पूर्णतया प्राप्त करके सब कुछ पा लेता है। सच्चा सर्वत्याग ऐसी चिन्तामणि है जिससे सब प्रकारके दुखोंका अन्त हो जाता है! शुद्ध बुद्धियुक्त होकर तुम उसका ही साधन करो। सर्व त्यागसे ही सब कुछ प्राप्त होता है; चिन्तामणि ही नहीं, सर्वत्याग तो साम्राज्य है।

(अ) सर्वत्यागका स्वरूप :—

साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च।
न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप॥ (६/१।९३।२९)
सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव। (६/१।९३।३४)
सर्वस्य बीजे संत्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम्॥ (६/१।९३।३५)

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्त्यक्त्वा पुत्र राजसे ।
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः ॥ (६।१११।२१)
यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे ।
सर्वस्मिन्संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ (६।९३।३०)
सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।
सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम् ॥ (६।९३।४९)

सर्वत्याग न शरीरके त्यागनेसे सिद्ध होता है, न राज्य आदि के त्यागनेसे; और न झोपड़ियोंमें रहकर तप करनेसे । वृक्षके बीजकी नाईं सब वस्तुओंका बीज मन है । सबके बीजके त्याग देनेपर सब ही का त्याग हो जाता है । हे पुत्र ! चित्तको ही सब कुछ कहते हैं; चित्तका त्याग ही सर्वत्याग है । उसको त्यागकर शोभाको प्राप्त करो । जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है उस सबके एक कारण (परमात्मा) में सबको त्याग (अर्पण) करके सर्वत्याग होता है । जो तीनों कालमें स्थित जगज्जालको इस प्रकार अपने भीतर समझता है जैसे मोती तागेको, उसने ही वास्तविक सर्वत्याग किया है ।

(आ) महात्यागीका स्वरूप :—

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येनेति सन्त्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३३)
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३४)
न मे देहो न जन्मापि युक्तायुक्ते न कर्मणी ।
इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३६)
देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः ।
नूनं येनोज्झिता सत्ता महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३५)
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३७)
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३८)

जिसने मनसे धर्म अधर्म, सुख दुःख, मरण जन्मकी भावनाओंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी है । जिसने अपनी बुद्धि द्वारा सब

इच्छाओंका, सब शङ्काओंका, सब तृष्णाओंका और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है। देह मेरी नहीं है; जन्म मरण मेरे नहीं हैं, युक्त और अयुक्त कर्म भी मेरे नहीं हैं—जिसके मनके भीतर इस प्रकारका निश्चय हो गया है वह महात्यागी है। जिसके मनसे शरीरकी, मनकी और इन्द्रियोंकी सत्ताका विश्वास निकल गया है वह महात्यागी है। जिसके अन्दर धर्म और अधर्मकी भावना, मनकी कल्पनात्मक क्रिया और इच्छा नहीं रही वह महात्यागी कहलाता है। जो कुछ भी दृश्य जगत् दिखाई पड़ता है वह सब जिसने भली भाँति त्याग दिया है वह महात्यागी कहलाता है।

(ई) त्यागका फल :—

न गृह्णाति हि यत्किञ्चित्सर्वं तस्मै प्रदीयते। (६/१।९३।६२)
सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते॥ (६/१।९३।५९)

जो कुछ भी नहीं लेता उसीको सब कुछ दिया जाता है। जो सब वस्तुओंका त्यागकर देता है उसीकी सेवामें सब वस्तुएं उपस्थित हुआ करती हैं।

११—समाधि :—

यदि वापि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत्।
तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येतामलं पदम्॥ (३।१।३६)

यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाये तो अक्षय सुषुप्तिके समान शुद्ध पदकी प्राप्ति हो जाती है।

(अ) समाधिका सच्चा स्वरूप :—

बद्धपद्मासनस्यापि कृतब्रह्माञ्जलेरपि।
अविश्रान्तस्वभावस्य कः समाधिः कथं च वा॥ (५।६२।७)
तत्त्वावबोधो भगवन्सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥ (५।६२।८)
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी।
साधो समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः॥ (५।६२।९)
अक्षुब्धा निरहङ्कारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतराकृतिः॥ (५।६२।१०)
निश्चिन्ताधिगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता।
प्रोक्ता समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः॥ (५।६२।११)

यतः प्रभृति बोधेन युक्तमात्यन्तिकं मनः।
तदारभ्य समाधानमव्युच्छिन्नं महात्मनः॥ (५।६२।१२)
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम्। (६/२।४५।४६)
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम्॥ (६/२।४६।१६)
सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदाऽऽगतम्।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः॥ (६/२।४६।१५)
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम्।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम्॥ (६/२।४६।१८)

पद्म आसन लगाकर बैठ जाने और ब्रह्मको हाथ जोड़ कर बैठ जानेपर भी, जब तक कि मनमें शान्ति नहीं है, समाधि नहीं लगती। चुपचाप बैठे रहनेका नाम समाधि नहीं है; सब आशा (इच्छा) रूप तिनकोंको जलानेके लिये अग्निरूप तत्त्वज्ञानको समाधि कहते हैं। समाधि नाम है उस परम प्रज्ञाका जो स्थिर है, नित्य तृप्त है और यथार्थ तत्त्वका ज्ञान देनेवाली है। सुमेरुके समान उस स्थिर स्थितिका नाम समाधि है जिसमें चञ्चलता नहीं, अहंकार नहीं, और जिसमें द्वन्द्वोंकी भावनाएँ नहीं है। मनकी उस पूर्ण अवस्थाका नाम समाधि है जिसमें कोई चिन्ता नहीं, जिसमें सब इच्छाओंकी पूर्ति हो चुकी है, और जिसमें हेय और उपादेयकी दृष्टि नहीं है। महात्माओंकी समाधि उसी समयसे आरम्भ हो जाती है जबसे कि ज्ञान द्वारा मन पूर्णरूपसे स्थिर हो जाए। विषयोंमें बिल्कुल भी तृष्णा न होनेका नाम समाधि है। विषयोंके प्रति दृढ़ विरक्ति होनेका नाम ध्यान है। समाधि और कुछ नहीं है, केवल ज्ञान द्वारा मनमें विषयोंके प्रति विरक्ति और चारों ओर शीतलताका अनुभव है। ऐसा ध्यान ही जिसमें सत्य ज्ञान हो, शान्ति हो और वासनाओंका लेश भी न हो, आनन्दपद-वाला निर्वाण होता है।

(उ) मनके लीन होनेका आनन्द :—

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति॥ (४।१५।२०)
सर्वाशाज्वरसंमोहमिहिकाशरदागमम्।
अचित्तत्वं विना नान्यच्छ्रेयः पश्यामि जन्तुषु॥ (४।१५।२४)

त एव सुखसंभोगसीमान्तं समुपागताः ।
महाधिया शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ॥ (४।१५।२५)
चित्तताम्रे शोधिते हि परमार्थसुवर्णताम् ।
गतेऽकृत्रिम आनन्दः किं देहोपलखण्डकैः ॥ (३।९१।४९)

चित्त रूपी वेताल के शान्त हो जानेपर जो आनन्द अनुभवमें आता है वह सारे जगत्का राज्य प्राप्त होनेपर भी नहीं प्राप्त होता। सब आशाओंके ज्वर और सम्मोह रूपी बरसातको दूर करनेके लिये शरद्ऋतुके आगमन रूप चित्त नाशके सिवाय और कोई कल्याणकारी वस्तु नहीं है। वे ही महामना, शान्त बुद्धि वाले लोग सुखभोगकी सीमापर पहुँच जाते हैं जो मनको मार लेते हैं। चित्तरूपी ताम्बेको शोधकर परमार्थ रूपी सोना बनाकर सच्चा आनन्द मिलता है। शरीर रूपी पत्थरोंसे नहीं।

२५—ज्ञानकी सात भूमिकायें

आत्मज्ञानके अभ्यासके अनेक मार्गोंका योगवासिष्ठके अनुसार विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उसको पढ़नेसे पाठकके मनमें यह तो साफ़ ज़ाहिर होगया होगा कि ज्ञानको पूर्णतया प्राप्त करनेके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। केवल वाचिक ज्ञानसे कुछ लाभ नहीं होता। ज्ञानका अभ्यास क्रमशः होता है, और उस क्रमका एक ही जीवन में आरम्भ और समाप्त होना भी साधारणतया सम्भव नहीं है। ज्ञानको प्राप्त करने और उसको अभ्यास द्वारा सिद्ध करनेमें अनेक जन्म लगजाते हैं। कितने समय और कितने जन्मोंमें ज्ञानकी सिद्धि और उससे जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होगी यह प्रत्येक व्यक्तिके अपने ही पुरुषार्थपर निर्भर है। जिनमें अधिक लगन होती है और जो अधिक यत्न करते हैं, वे जल्द ही परमपदको प्राप्त कर लेते हैं; जो ढीले ढाले चलनेवाले होते हैं वे देर में। जब अत्यन्त तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होती है तो क्षणभरमें मोक्षका अनुभव हो जाता है। इसलिये मोक्षकी वासना होने और मोक्षका अनुभव होनेमें कितने समयका अन्तर है यह नहीं बतलाया जा सकता। ज्ञानी और विद्वान् लोग केवल इसी बातका निर्णय कर सकते हैं कि ज्ञान-मार्गका क्रम क्या है, किन किन सीढ़ियों पर चढ़कर ज्ञानकी सिद्धिका इच्छुक अपने ध्येयपर पहुँच जाता है। ज्ञानके मार्गपर जो जो विशेष क्रमिक अवस्थाएँ आती हैं उनका नाम योगवासिष्ठमें भूमियां अथवा भूमिकायें हैं। जैनियोंने उनका नाम गुणस्थान रक्खा है, पातञ्जल योगमें उनको योगके अङ्ग कहा है। जैनियोंके मतानुसार १४ गुणस्थान हैं; बौद्धोंके अनुसार दस भूमियाँ हैं; पतञ्जलिके अनुसार योगके आठ अङ्ग हैं। योगवासिष्ठकारने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी हैं। हम यहाँपर योगवासिष्ठके अनुसार ज्ञान मार्गकी सात भूमिकाओंका वर्णन करेंगे। योगवासिष्ठमें भी तीन स्थानोंपर इन भूमिकाओंका कुछ कुछ भिन्न विवरण दिया है। पाठकों के विशेष परिचयके लिये हम तीनों स्थानोंपर दिये हुए विवरणको यहाँपर संक्षेपतः रखनेका यत्न करेंगे।

ज्ञानकी सात भूमिकायें :—

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जसि ॥ (३।११८।१)
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥ (३।११८।२)

हे राघव ! ज्ञानकी सात भूमिकाओंको अलग अलग जानकर तुम मोहके कीचड़में नहीं फँसोगे। बहुतसे लोग योगभूमिकाओंको भिन्न भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हैं; मेरी राय में तो वे शुभ गतिको देनेवाली इस प्रकार हैं।

(१) योगभूमिकाओंका प्रथम विवरण :—

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं सप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्तं भूमिकासप्तकात्परम् ॥ (३।११८।३)
सत्यावबोधो मोक्षश्चैवेति पर्यायनामनी ।
सत्यावबोधो जीवोऽयं नेह भूयः प्ररोहति ॥ (३।११८।४)
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ (३।११८।५)
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ (३।११८।६)
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥ (३।११८।७)
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ (३।११८।८)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ (३।११८।९)
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥ (३।११८।१०)
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ (३।११८।११)
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात्प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥ (३।११८।१२)

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ (३।११८।१३)
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ॥ (३।११८।१४)
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ (३।११८।१५)
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥ (३।११८।१६)

आत्माका बोध देनेवाले ज्ञानकी सात भूमिकायें हैं; मुक्ति इन सातों भूमिकाओंसे परे है। मोक्ष और सत्यका ज्ञान ये पर्यावाची शब्द हैं। जिसको सत्यका ज्ञान होगया है वह जीव फिर जन्म नहीं लेता। सात भूमिकायें ये हैं :—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तुर्यगा। इनके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त करके शोक नहीं रहता। अब इन भूमिकाओंका वर्णन सुनो :—

१—शुभेच्छा—वैराग्य उत्पन्न होने पर इस प्रकार की इच्छा कि मैं अज्ञानी क्यों रहूँ, क्यों न शास्त्र और सज्जनोंकी सहायतासे सत्यको जानूं शुभेच्छा कहलाती है।

२—विचारणा—शास्त्रके अध्ययनसे और सज्जनोंके सङ्गसे, वैराग्य और अभ्याससे सदाचारकी ओर प्रवृत्तिका नाम विचारणा है।

३—तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति असक्तता होनेसे जो मनकी स्थूलताका कम होना है उसे तनुमानसा कहते हैं।

४—सत्त्वापत्ति—पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे, विषयोंकी ओर विरक्ति हो जाने पर, जब शुद्ध आत्मामें चित्तकी स्थिरता होने लगे तब सत्त्वापत्ति कहलाती है।

५—असंसक्ति—जब पूर्वोक्त चार अवस्थाओंका अभ्यास हो जानेके कारण संसारके विषयोंमें असंसक्ति होने पर, सत्ताके प्रकाशमें मन स्थिर हो जाये तब उसे असंसक्ति कहते हैं।

६—जब पूर्वोक्त पाञ्चों भूमिकाओंके अभ्याससे आत्मामें दृढ़ स्थिति हो जाने पर भीतर और बाहरके सब पदार्थोंके अभावकी बड़े प्रयत्नसे भावना करके उनको असत् समझ लिया जाये, तब पदार्थाभावना नामवाली भूमिकाका उदय होता है।

७—तुर्यगा-पूर्वोक्त छः भूमिकाओंका अभ्यास हो जानेपर और भेदके न दिखाई देनेपर जो आत्मभावमें अविचलितभावसे स्थिति हो जाती है उसे तुर्यगा कहते हैं। इसको ही तुर्या अवस्था कहते हैं और इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं। विदेह मुक्ति तो तुर्या अवस्थासे परेका विषय है।

(२) ज्ञानकी भूमिकाओंका दूसरा विवरण :—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत्।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः॥ (६/१।१२०।१)
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका॥ (६/१।१२०।२)
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति॥ (६/१।१२०।३)
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः॥ (६/१।१२०।४)
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम्।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्॥ (६/१।१२०।५)
तुर्यातीता तु यावस्था परा निर्वाणरूपिणी।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम्॥ (६/१।१२०।६)
पूर्वावस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम्।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत्॥ (६/१।१२०।७)
आनन्दैकघनीभावात्सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी।
असंवेदनरूपाथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा॥ (६/१।१२०।८)
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका॥ (६/१।१२०।९)

सबसे पहिले शास्त्रोंका अध्ययन और सज्जनोंकी सङ्गत करके बुद्धिको वढ़ावे—योगियोंने इसे योगकी प्रथम भूमिका कहा है। दूसरी विचारणा है, तीसरी असङ्गभावना है, चौथी है विलापिनी जिसमें वासनायें लीन हो जाती हैं; पाँचवी है शुद्ध संवित्में स्थिति जिसको आनन्दरूपा कहते हैं। जागता सा दिखाई देनेवाला आधा सोया हुआ जीवन्मुक्त इसी अवस्थामें रहता है। छठी भूमिका है स्वसंवेदनरूपा (जिसमें आत्माका अनुभव हो)। यह स्थिति

आनन्दसे भरपूर है और सुषुप्तिके सदृश है। यह वह शान्त तुर्या अवस्था है जो कि शुद्ध, सम, और सौम्य है, और जिसमें पहुँचनेपर ही मुक्तिका अनुभव होता है। सातवीं भूमिका वह है जिसका अनुभव जीवको नहीं होता। वह निर्वाण स्वरूपवाली तुर्यातीत परम अवस्था है। पहिली तीन भूमिकाओंमें जाग्रत् अवस्था रहती है। चौथी भूमिकामें स्वप्न अवस्था जैसा अनुभव होता है—इसमें स्थित जीवको जगत् स्वप्नके समान दिखाई पड़ता है। आनन्दमात्रसे पूर्ण होनेके कारण पाँचवीं भूमिका सुषुप्ति कहलाती है। और छठी असंवेदन रूप होनेसे (किसी दूसरे विषयका उसमें ज्ञान न होनेसे) तुर्या कहलाती है। सप्तमी भूमिका तुर्यातीत अवस्था है—उसमें आत्मा अपने ही प्रकाशमें स्थित रहता है। वह मन और वचनसे परे है।

(३) ज्ञानकी सात भूमिकाओंका तीसरा वर्णन :—

१—प्रथम भूमिका :—

अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान्। (६/१२६।४)
असारा बत संसारव्यवस्थालं ममैतया ॥ (६/१२६।५)
कथं विरागवान्भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम्।
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ (६/१२६।७)
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ (६/१२६।८)
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ (६/१२६।९)
मनोऽनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ (६/१२६।१०)
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ (६/१२६।११)
मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते। (६/१२६।१२)
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ॥ (६/१२६।१३)

अनेक जन्मोंके भुगत लेनेपर मनुष्यमें विवेककी उत्पत्ति होती है, और वह यह सोचने लगता है कि यह सब संसार असार है, मुझे इसकी ज़रा भी इच्छा नहीं है। इस प्रकार जब उसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होता है और यह इच्छा होती है कि वह संसार-समुद्रसे पार

हो जाए तब वह उत्तम बुद्धिवाला विचारमें तत्पर होता है। विचारसे दिन पर दिन अपनी वासनाओंसे उसे वैराग्य होने लगता है, और वह दूसरोंके उपकार रूप वाली, उदार क्रियायें करने लगता है, और उनके करनेमें आनन्द लेता है; ग्राम्य और कठोर चेष्टाओंसे वचनेका प्रयत्न करता है; किसीके चित्तको दुःखी नहीं करता और शुभ कर्म करता है; जो दूसरोंके मनको उद्विग्न न करें ऐसे मृदुल कर्म करता है; पापसे डरता है और भोगोंकी उपेक्षा करता है; मीठे और प्रेमसे भरे हुए, उचित और चातुर्यपूर्ण, देश और कालके अनुरूप वचन बोलता है। मन, वचन और कर्मसे सज्जनोंकी सेवा करता है। इधर उधरसे लाकर ज्ञान शास्त्रोंका अध्ययन करता है। (प्रथम विवरणमें पहिली भूमिकाका नाम शुभेच्छा दिया गया है। दूसरे और तीसरेमें कोई नाम नहीं दिया गया)।

२—दूसरी भूमिका:—

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्श्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ (६/१।१२६।१५)
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ (६/१।१२६।१६)
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ (६/१।१२६।१७)
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ (६/१।१२६।१८)

तब, वह ऐसे श्रेष्ठ पण्डितोंकी शरणमें जाता है जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान आदिकी अच्छी व्याख्या कर सकते हों। जैसे गृहस्थी अपने घरके कामोंको अच्छी तरह जानता है वैसे ही वह भी शास्त्रोंको सुनकर और पढ़कर पदार्थोंका विभाग और कार्य और अकार्यका निर्णय जान जाता है। जैसे साँप अपनी बाहरवाली खालको धारण किये हुए भी उसको धीरे धीरे अलग करता रहता है वैसे ही वह भी मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह, लोभ और आतिशयिता (ज़्यादती) को बाहरसे धारण किये हुए भी धीरे धीरे त्याग करता रहता है। इस प्रकारकी बुद्धिवाला पुरुष शास्त्र, गुरु और सज्जनोंको सेवन करके सारे ज्ञानके रहस्यको प्राप्त कर लेता है। (प्रथम और द्वितीय वर्णनमें दूसरी भूमिकाका नाम विचारणा दिया गया है)।

३—तीसरी भूमिका :—

यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ (६।१२६।२०)
संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ (६।१२६।२१)
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ (६।१२६।२२)
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च । (६।१२६।२५)

तब वह शास्त्रोंके वाक्योंमें अपनी बुद्धिको स्थापित करके, तपस्वियोंके आश्रमोंपर आध्यात्मिक उपदेश सुनकर, पत्थरके आसनोंपर बैठकर, संसारका दोषदर्शन करानेवाले और वैराग्य उत्पन्न करनेवाले विचारोंमें अपनी आयुको बिताता है। वह, नीतिके अनुसार चलनेवाला, असंसक्तिका शान्त सुख भोगता है। असङ्ग दो प्रकारका होता है—एक सामान्य असङ्ग, दूसरा श्रेष्ठ असङ्ग।

(अ) सामान्य असङ्ग :—

प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ (६।१२६।२६)
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ॥ (६।१२६।२७)
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ (६।१२६।२८)
अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ (६।१२६।२९)

मैं सुख और दुःखका कर्ता कैसे हो सकता हूँ? सुख दुःख तो पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ईश्वरके आधीन हैं; सब भोगोंके भोग महारोग हैं और सब सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ हैं; सब संयोग वियोग हैं और बुद्धिकी सब व्याधियाँ मानसिक रोग हैं; सब भावोंको खानेके लिये काल सदा ही तत्पर रहता है—इस प्रकार सोचकर जब मनमें वस्तुओंके प्रति अनास्थाका भाव उदय हो जाता है तो उसे सामान्य असङ्ग कहते हैं।

(आ) श्रेष्ठ असङ्गः—

अनेकक्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम् ॥ (६/१।१२६।३०)
पौरुषेण प्रयत्नेन संतताभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥ (६/१।१२६।३१)
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥ (६/१।१२६।३२)
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ (६/१।१२६।३३)

योगके नाना क्रमोंसे, महात्माओंके सत्सङ्गसे, दुर्जनोंसे दूर रहनेसे, आत्मज्ञानके आन्तर प्रयोगसे, पुरुषार्थसे, नित्यप्रति अभ्यास योगसे, जब तत्त्वका हस्तामलकवत् (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो जाए और संसारसमुद्रका पार परम कारण और सार वस्तुमें मिल जाए, तब इस प्रकारका दृढ़ निश्चय हो जाना कि मैं कर्ता नहीं हूँ, कर्ता या तो ईश्वर है या मेरे प्रकृतिजन्य कर्म, और शब्द और अर्थोंकी भावनाको त्यागकर मौन और शान्त रहना श्रेष्ठ असङ्ग कहलाता है।

(तीसरी भूमिका नाम प्रथम वर्णनमें तनुमानसा (असक्तता) और दूसरेमें असङ्गभावना है।)

४—चौथी भूमिका :—

भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ (६/१।१२६।५८)
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ (६/१।१२६।५९)
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ (६/१।१२६।६०)

पूर्वोक्त तीन भूमिकाओंके अभ्याससे अज्ञानके क्षीण हो जानेपर और पूर्ण चन्द्रमाके समान सम्यग्ज्ञानके उदय हो जानेपर, योगी लोग चतुर्थ भूमिकामें प्रवेश करके युक्तचित्त होकर सब वस्तुओंको एक, अनादि, अनन्त, अखण्ड और समरूपसे देखते हैं। द्वैतके शान्त और अद्वैतके दृढ़ हो जानेसे चौथी भूमिकामें स्थित ज्ञानी संसारको

स्वप्नके समान देखने लगता है। (चौथी भूमिकाका नाम प्रथम वर्णनमें सत्त्वापत्ति और दूसरेमें विलापिनी और स्वप्न है)।

५—पाँचवीं भूमिका :—

सत्तावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ॥ (६।१२६।६२)
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ।
गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ॥ (६।१२६।६३)
सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकामितः।
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ॥ (६।१२६।६४)
परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते।
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ॥ (६।१२६।६५)

सुषुप्त पद नामक पाँचवीं भूमिकामें पहुँचनेपर योगीका अनुभव सत्तामात्रका ही रहजाता है। उसके लिये विशेषतायें सब क्षीण हो जाती हैं और उसकी स्थिति अद्वैतमात्रमें रहती है। द्वैतका भान मिट जाता है; भीतर चान्दना हो जाता है। बाहरके काम करता हुआ भी पाँचवीं भूमिकामें आया हुआ पुरुष अपनी अन्तर्मुखी वृत्तिके कारण सुषुप्तिमें लीन रहता है। इस भूमिकाका अभ्यासी वासना रहित होकर अपनी परम शान्तताके कारण सोता हुआ सा दिखाई पड़ता है। (पाँचवीं भूमिकाका नाम प्रथम वर्णनमें असंसक्ति और दूसरे वर्णनमें आनन्दरूपा और सुषुप्ता है)।

६—छठी भूमिका :—

षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम्।
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ॥ (६।१२६।६६)
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः।
निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ॥ (६।१२६।६७)
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ (६।१२६।६८)
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथ वैष न किञ्चन ॥ (६।१२६।६९)

क्रमसे अभ्यास करता हुआ योगी तुर्या नामक षष्ठी भूमिकामें

प्रवेश करता है। उस अवस्थामें न सत्‌का अनुभव होता है न असत्‌का, न अपनेपनका और न अनहंकारका। उस अवस्थामें गया हुआ जीवन्मुक्त भावना रहित, द्वैतसे मुक्त और क्षीण मनवाला होता है; उसके सब सन्देह शान्त हो जाते हैं और मनकी गाँठ खुल जाती है। चित्रके दीपककी नांई वह स्थिर रहता है। निर्वाणमें प्रवेश न किये विना भी उसके लिये निर्वाणसा ही है। जैसे आकाशके बीचमें रक्खे घड़ेके भीतर और बाहर शून्य ही शून्य है वैसे ही इस अवस्थाको प्राप्त योगीको भी शून्यताका अनुभव होता है। जैसे समुद्रमें रक्खे हुए पूर्ण घड़ेके भीतर और बाहर पूर्णताका अनुभव होता है ऐसे ही इस भूमिकामें गये हुए योगीको पूर्णताका अनुभव होता है। वह न कुछ हुआ है और न कुछ नहीं हुआ है। (षष्ठी भूमिकाका नाम प्रथम वर्णनमें पदार्थाभावनी और दूसरे वर्णनमें स्वसंवेदनरूपा और तुर्या है)

७—सातवीं भूमिका :—

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात्।
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका॥ (६/१।१२६।७०)
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु। (६/१।१२६।७१)
नित्यमव्यपदेश्यापि कथंचिदुपदिश्यते॥ (६/१।१२६।७३)
मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मैतत्समुदाहृतम्।
निर्वाणमेतत्कथितं पूर्णात्पूर्णतराकृति॥ (३।९।२५)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो नचाहं न च नेतरः॥ (३।९।१५)

षष्ठी भूमिकाको पार करके योगी सप्तमी भूमिकामें आता है। सप्तमी योगभूमि विदेह मुक्ति कहलाती है। वह शान्त अवस्था सब भूमिकाओंकी अन्तिम सीमा है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। नित्य ही अवर्णनीय होते हुए भी किसी न किसी रीतिसे उसका उपदेश किया ही जाता है। उसको मुक्ति कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं; उस पूर्णसे भी पूर्ण अवस्थाको निर्वाण भी कहते हैं। विदेह मुक्त न उदय होता है और न अस्त, न उसका अन्त होता है। न वह सत् है और न असत्; न वह दूर है; न वह मैं हूँ, न वह कोई दूसरा है। (सातवीं भूमिकाका नाम प्रथम वर्णनमें तुर्यगा और दूसरे वर्णन में तुर्यातीता है)।

विचार करके देखनेसे पाठकोंको मालूम पड़ जायेगा कि दूसरे और तीसरे वर्णनोंमें विशेष भेद नहीं है। प्रथम और पिछले दो में थोड़ा सा भेद है और वह यह है कि प्रथम वर्णनके अनुसार मुक्ति सब भूमिकाओंसे परे है; दूसरे और तीसरे वर्णनके अनुसार मुक्ति भी एक भूमिका है। वास्तवमें योगवासिष्ठके अनुसार बन्धन और मुक्ति दोनों ही मिथ्या कल्पनायें हैं। इसलिये मुक्तिका सातवीं भूमिका होना ठीक ही जान पड़ता है।

२६—कर्म-बन्धनसे छुटकारा

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मोंका बुरा या भला फल अवश्य ही पाता है—यह सृष्टिका एक अटल नियम है। किये हुए कर्मोंका फल पानेके लिये ही जीवको एक जन्मसे दूसरे जन्ममें और एक परिस्थितिसे दूसरी परिस्थितिमें जाना पड़ता है। यद्यपि प्रत्येक जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, तो भी किये हुए कर्मोंके फल भोगनेमें वह परतन्त्रसा ही है। उसे अवश्य ही अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ेगा। यदि ऐसा है तो फिर मुक्तिकी सम्भावना कैसी? वर्त्तमान कालमें हम अपने पूर्व कालमें किये हुए कर्मोंका फल भोग रहे हैं और जो कर्म अब कर रहे हैं उनका फल भविष्यमें भोगना पड़ेगा। ऐसा कोई समय नहीं है जब कि हम कर्म न करते हों—इसलिये ऐसा समय कैसे हो सकता है जब कि हम अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवन धारण न करेंगे? योगवासिष्ठके अनुसार हम इस नियमके रहते हुए भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं। कैसे? यह यहाँपर पाठकोंके सामने वर्णन किया जाएगा।

(१) कर्मफलका अटल नियम :—

न स शैलो न तद्व्योम न सोऽब्धिश्च न विष्टपम्।
अस्ति यत्र फलं नास्ति कृतानामात्मकर्मणाम्॥ (३।९५।३३)
ऐहिकं प्राक्तनं वापि कर्म यद्रचितं स्फुरत्।
पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः॥ (३।९५।३४)

संसारमें ऐसा कोई स्थान—पहाड़, आकाश, समुद्र, स्वर्ग आदि—नहीं है जहाँपर अपने किये हुए कर्मोंका फल न मिलता हो। पूर्व जन्ममें अथवा इस जन्ममें जो भी कर्म किया गया है वह अवश्य ही (फलरूपमें) प्रकट होता है। वह पुरुषका किया हुआ यत्न है; वह फल लाये बिना कभी नहीं रहता।

(२) कर्मका वास्तविक स्वरूप :—

क्रियास्पन्दो जगत्यस्मिन्कर्मेति कथितो बुधैः।
पूर्वं तस्य मनो देहं कर्मातश्चित्तमेव हि॥ (३।९५।३२)

मानसोऽयं समुन्मेषः कलाकलनरूपतः ।
एतत्तत्कर्मणां बीजं फलमस्यैव विद्यते ॥ (३।९५।२९)
कर्मबीजं मनःस्पन्दः कथ्यतेऽथानुभूयते ।
क्रियास्तु विविधास्तस्य शाखाश्चित्रफलास्तरोः ॥ (३।९६।११)

(कर्म केवल बाहरसे दिखाई देनेवाली कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाको ही नहीं कहते। कर्मका असली रूप भीतरी है—वह है मनकी इच्छा)। जगत्में जिस क्रियाको कर्म कहा जाता है उसका सबसे प्रथम रूप मानसिक है। अतएव मनका स्पन्दन और कर्म एक ही हैं। कर्मोंका बीज मनका कलनात्मक समुन्मेष (वासनात्मक स्पन्दन) है। इसीका फल प्राप्त होता है। सब कर्मोंका बीज मनका स्पन्दन है। यह कहा भी जाता है और अनुभवमें भी यही आता है। विविध प्रकारकी क्रियायें जो नाना प्रकारके फल लाती हैं उसकी अनेक शाखायें हैं।

(३) पुरुष (जीव) और कर्ममें भेद नहीं है :—

कुसुमाशययोर्भेदो न यथा भिन्नयोरिह ।
तथैव कर्ममनसोर्भेदो नास्त्यविभिन्नयोः ॥ (३।९५।३१)
कल्पनात्मिकया कर्मशक्त्या विरहितं मनः ।
न सम्भवति लोकेऽस्मिन्गुणहीनो गुणी यथा ॥ (३।९६।६)
यथा वह्न्यौष्ण्ययोः सत्ता न सम्भवति भिन्नयोः ।
तथैव कर्ममनसोस्तथात्ममनसोरपि ॥ (३।९६।७)
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशादृते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ (६/२।२८।६)
कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ (६/२।२८।८)
संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ (६/२।२८।१०)
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ (६/२।२८।२१)

जैसे फूल और उसके आशयमें कोई भेद नहीं है वैसे ही कर्म और मनमें कोई भेद नहीं है—दोनों अभिन्न हैं। जैसे कोई गुणी (गुणयुक्त) बिना गुणके नहीं रह सकता, वैसे ही कोई मन अपनी कल्पनात्मक कर्मशक्तिसे रहित नहीं हो सकता। जैसे अग्नि और उसकी उष्णता

अलग नहीं रह सकतीं वैसे ही मन, कर्म और आत्मा अलग नहीं हैं। कल्पनाके सिवाय पुरुष और कर्ममें, आत्मा और संवित्स्पन्दमें, कोई भेद नहीं है। कर्म ही पुरुष है और पुरुष ही कर्म है। ये दोनों इस प्रकार अभिन्न हैं जैसे बरफ़ और उसकी शीतलता। दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित्के स्पन्दके ही पर्यायवाची शब्द हैं। कर्म आदि पृथक् स्थित नहीं हैं। जैसे बीज और अङ्कुरमें, जल और तरङ्गमें भेद नहीं है वैसे ही पुरुष, कर्म और क्रियामें वास्तविक भेद नहीं है।

(४) उत्पत्ति (सृष्टि) से पहिले जीवके पूर्व कर्म नहीं होते :—

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयम्भुवः ।
विज्ञप्तिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥ (६/२।१४२।२४)
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित् ।
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ॥ (६/२।१४२।२६)
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात् । (६/१।१२४।४)
पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ॥ (६/१।१२४।५)
यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः ।
भान्ति जीवास्तथान्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ (६/२।१४२।२७)
किन्तु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्विकोद्भवाः ।
अबोधा येत्वचिदाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥ (६/२।१४२।२८)
तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते ।
स्वयमेव तथाभूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥ (६/२।१४२।२९)
यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि ।
निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ (६/२।१४२।३०)
न सम्भवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित् ।
पश्चात्स्वकर्म निर्माय भुङ्क्ते कल्पनया स चित् ॥ (६/२।१४२।३८)
सर्गे सर्गतया रूढे भवेत्प्राक्कर्मकल्पना ।
पश्चाज्जीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः ॥ (६/२।१४२।४१)
स्वप्नद्रष्टुर्दृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा ।
न वास्तवं पूर्वकामं जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम् ॥ (६/२।१४३।१०)
यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे च स्वप्ने पुंसां न विद्यते ।
इह जाग्रत्स्वप्ननृणां भातानामपि नो तथा ॥ (६/२।१४३।११)

ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्यथा ।
कार्यकारणता तत्र तथास्तेऽभिहिता यथा ॥ (६।१४३।२३)

सृष्टिके आदिमें जो ब्रह्मा आदि अपने आप ही उदय होते हैं उनके शरीर ज्ञानमय हैं। उनका न कोई (पूर्व) जन्म है और न उनके कर्म। सृष्टिसे पूर्वका किसीका कोई कर्म नहीं होता। सर्गके आदिमें ब्रह्म स्वयं सर्ग रूपसे प्रकट होता है। परम ब्रह्मसे सारे जीव विना किसी कारण (पूर्व कर्मके) आपसे आप ही उदय हो जाते हैं। उत्पन्न होनेके पीछे उनके अपने कर्म उनके दुःखसुखका कारण हो जाते हैं। जिस प्रकार सृष्टिके आदिमें ब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं उसी प्रकार सैकड़ों और हज़ारों और जीव भी प्रकट होते हैं। उनमें-से जो जीव अपनेको ब्रह्मसे अन्य समझते हैं और अज्ञानके कारण प्रकृति नामक द्वैत (दूसरे तत्त्व)को मानने लगते हैं, भविष्यमें कर्मों-के अनुसार उनका जन्म होता है, क्योंकि वे अपने और भूतों (तत्त्वों) के सम्बन्धमें असत्य धारणा कर लेते हैं। जो जीव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि—अपनेको ब्रह्मसे अन्य नहीं समझते वे आत्मज्ञानसे अविचलित नहीं होते। सृष्टिके आदिमें जीवका कोई कर्म नहीं होता, लेकिन पीछे कर्मकी कल्पना करके जीव उसका फल भोगता है। सृष्टिके चालू हो जानेपर ही पूर्व कर्म की कल्पना की जाती है—उसके पीछे जीव अपने अपने कर्मोंकी ज़ंजीरोंमें जकड़े हुए संसार-में भ्रमण करते रहते हैं। स्वप्न देखनेवालेके स्वप्नके मनुष्योंके पूर्व कर्म जैसे काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं हैं, वैसे ही जाग्रत्रूपी स्वप्नके जीवोंके (सृष्टिसे) पूर्व कर्म भी काल्पनिक ही हैं—वास्तविक नहींहैं। जैसे स्वप्नमें उत्पन्न हुए पुरुषके पूर्व कर्म नहीं होते वैसे ही जाग्रत्रूपी स्वप्नमें प्रकट हुए जीवोंके पूर्व कर्म नहीं होते। ब्रह्माके हृदयके भीतर यह सृष्टि ऐसे ही है जैसे कि तेरे हृदयमें स्वप्नका नगर। वहाँपर भी कार्य और कारणका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि तेरे स्वप्नके भीतर।

(५) वासना ही जीवको कर्मके फलसे बान्धती है :–

वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः ।
सर्वा एवाफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात् ॥ (६।८७।१८)
सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव ॥ (६।८७।१९)

ऋत्वन्तरे यथा याति विलयं पूर्वमार्तवम् ।
तथैव वासनानाशे नाशमेति क्रियाफलम् ॥ (६/१।८७।२०)
न स्वभावेन फलति यथा शरलता फलम् ।
क्रिया निर्वासना पुत्र फलं फलति नो तथा ॥ (६/१।८७।२१)

अज्ञानीको अपने सब कर्मोंका फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मोंका सार वासना है। वासनाके क्षीण हो जानेसे ज्ञानीको अपनी किसी क्रिया का फल नहीं भोगना पड़ता। वासनाके अभावसे सब क्रियाएँ फल-रहित हो जाती हैं, चाहे वे अशुभ फल देनेवाली ही क्यों न हो—जैसे कि सींचे विना लता सूख जाती है। जैसे ऋतुके पलट जानेपर पहिली ऋतुकी सब बातें विलीन हो जाती हैं वैसे ही वासनाके नाश हो जानेपर क्रियाओंका फल क्षीण हो जाता है। जैसे वेंतका स्वभाव यह है. कि उसपर फल नहीं आता वैसे ही वासना-रहित क्रिया भी फल नहीं लाती।

(६) कर्मके बन्धनसे मुक्त होनेकी विधि :—

आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः संकल्पः कर्मकारणम् । (६/१।१२४।५)
संकल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ॥ (६/१।१२४।६)
कर्मकल्पनया संवित्स्वकर्मफलभागिनी ।
कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी ॥ (६/२।१४९।२३)
सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव ॥ (६/१।८७।१९)
समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया ।
यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा ॥ (६/२।१९९।७)
शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥ (६/२।१९९।३३)
शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥ (६/२।१९९।३४)

यो ह्यन्तस्थाया मनोवृत्तेर्निश्चय उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानस्तत्कर्तृत्वशब्देनोच्यते ॥ (४।३८।२)

चेष्टावशात्तादृक्फलभोक्तृत्वं वासनानुरूपं स्पन्दते पुरुषः स्पन्दानुरूपं फलमनुभवति। फलभोक्तृत्वं नाम कर्तृत्वादिति सिद्धान्तः ॥ (४।३८।३)

कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा ।
याद्दग्वासनमेतत्स्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ (४।३८।४)

तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च कर्तृता ननु ज्ञाततत्त्वानामवासनत्वात् ॥ (४।३८।५)

ज्ञाततत्त्वो हि शिथिलीभूतवासनः कुर्वन्नपि फलं नानुसंदधाति । अथच स्पन्दमात्रं केवलं करोत्यसक्तबुद्धिः सम्प्राप्तमपि फलमात्मैवेदं सर्वमेव कर्मफलमनुभवति ॥ (४।३८।६)

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति अतो मन एव कर्तृ न देहः ॥ (४।३८।७)

अकुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं शय्यासनगतोऽपि श्वभ्रपातवासनावासिते चेतसि श्वभ्रपतनदुःखमनुभवति । अपरस्तु कुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं परमुपशममुपगतवति मनसि शय्यासनसुखमनुभवति । एवमनयोः शय्यासनश्वभ्रपातयोरेकः श्वभ्रपतनस्याकर्तापि कर्ता संपन्नो द्वितीयश्च श्वभ्रपतनस्य कर्ताप्यकर्ता सम्पन्नश्चित्तवशात्तस्माद्यच्चित्तं तन्मयो भवति पुरुष इति सिद्धान्तः । तेन तत्र कर्तुरकर्तुर्वा नित्यमसंसक्तं भवतु चेतः ॥ (४।३८।१२-१३)

एवं मनः सर्वकर्मणां सर्वेहितानां सर्वभावानां सर्वलोकानां सर्वगतीनां बीजं तस्मिन्परिहृते सर्वकर्माणि परिहृतानि भवन्ति सर्वदुःखानि क्षीयन्ते सर्वकर्माणि लयमुपयान्ति । मानसेनापि कर्मणा यत्कृतेनापि ज्ञो नाक्रम्यते न विवशीक्रियते न रञ्जनामुपैत्यव्यतिरिक्तात् ॥ (४।३८।१६)

यथा बालो मनसा नगरस्य निमार्णं निर्मृष्टं च कुर्वन्नगरनिर्माणं मनःकृतमकृतमिव लीलयानुभवति नोपादेयतया सुखदुःखमकृत्रिममिति पश्यति नगरनिर्मथनं च मनःकृतं कृतमिति पश्यतीति दुःखमपि लीलयानुभवन्नपि न दुःखमिति पश्यति । एवमसौ परमार्थतः कुर्वन्नपि न लिप्यत एवेति ॥ (४।३८।१७)

शुभाशुभात्म कर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ (६/२।३।७)
अवेदनमसंवेद्यं यदवासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ (६/२।३।२४)
समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
नैव तेषां कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ (६/२।३।२७)

इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्मविचारशङ्काम् ।

निर्वासनः सकलसंकलनाविमुक्तः
संविद्वपुर्ननु यथाभिमतेच्छमास्स्व ॥ (६/२।२८।३२)
ये त्वेव कर्मसंत्यागमकृत्वान्यत्प्रकुर्वते ।
अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ (६/२।३।३४)
कर्मत्यागे स्थिते बोधाज्जीवन्मुक्तो विवासनः ।
गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु वोदयम् ॥ (६/२।३।३७)
गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी ॥ (६/२।३।३८)

आत्माके अज्ञानसे ही कर्मके कारण सङ्कल्पका उदय होता है। सङ्कल्पयुक्त होनेसे ही बन्धन होता है; इसलिये सङ्कल्पका त्याग करो। कर्मकी कल्पनासे ही संवित् कर्मफल पाती है; कर्मकी कल्पनासे रहित संवित् कर्मका फल नहीं पाती। जैसे बिना पानीके दिये लता सूख जाती है वैसे ही अशुभ फलवाली क्रियाएँ भी वासनाके अभावसे फल नहीं लातीं। सम, शुद्ध और विकार-रहित बुद्धिसे जो कुछ भी किया जाता है वह कभी दोष नहीं लाता। असक्त मनवाला मुनि शुभ या अशुभ क्रियाओंको नित्य प्रति करता हुआ या त्यागता हुआ भी कभी संसारमें नहीं पड़ता; और जिस मूर्खने मनसे त्याग नहीं किया वह शुभ या अशुभ क्रियाओंको न करता हुआ भी सदा संसार-समुद्रमें डूबता ही रहता है। मनका इस प्रकारका निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करने योग्य है, और उसको प्राप्त करनेकी वासना कर्तृत्व (कर्तापन) कहलाते हैं। किसी विशेष फलकी प्राप्तिकी इच्छासे जब मनुष्य किसी क्रियाको करता है तो जैसा उसका प्रयत्न होता है उसके अनुसार वह फल पाता है। कार्यके कर्ता होनेके कारण ही जीव उसका फल भोगनेवाला होता है, यह सिद्धान्त है। चाहे कोई क्रिया करे या न करे तो भी जैसी-जैसी वासनाएँ होती हैं, स्वर्ग और नरकमें वैसा-वैसा ही फल उसका मन अनुभव करता है। इसलिये अज्ञानी जीव चाहे कर्म करें या न करें तो भी वे कर्ता (कर्म करनेवाले) हैं; और वासना-रहित होनेसे ज्ञानी जीव अकर्ता हैं चाहे वे कर्म करें या न करें। ज्ञानी वासनाओंके क्षीण हो जानेसे कर्मको करके भी उसका फल नहीं भोगता। वह तो असक्तबुद्धि होकर क्रिया मात्र कर्म करता है (फलकी वासनासे नहीं); इसलिये फलकी प्राप्ति होनेपर भी इस भावनासे कि आत्मा ही सब कुछ है कर्मके फलका अनुभव करता है। मनसे

जो कर्म किया जाता है वही कर्म है और मनसे जो कर्म नहीं किया जाता वह कर्म नहीं है। इसलिये कर्मका कर्ता मन ही है, शरीर नहीं। गड्ढेमें गिरनेका भय (वासना) मनमें होनेपर चारपाईपर सोता हुआ और वास्तवमें गड्ढेमें न गिरता हुआ मनुष्य भी अपने मनके भीतर गड्ढेमें गिरनेका दुःख पाता है। दूसरा आदमी गड्ढेमें गिरा हुआ भी अपने मनके शान्त होनेके कारण अपने मनमें चारपाईपर सोनेके सुखका अनुभव करता है। एक चारपाईपर सोनेवाले और दूसरे गड्ढे-में गिरे हुए दो पुरुषोंमेंसे एक तो बिना गड्ढेमें गिरे हुए ही गड्ढेमें गिरनेका दुःख भोगता है और दूसरा गड्ढेमें गिरनेपर भी चारपाईपर सोनेका सुख भोगता है—एक अकर्ता भी कर्ता है और दूसरा कर्ता भी अकर्ता है; केवल चित्तके कारण। इसलिये जैसा जिसका मन वैसा ही वह पुरुष है—यह सिद्धान्त है। इसलिये कर्म करते हुए और न करते हुए सदा मनको असक्त रखना चाहिये। इसलिये मन ही सब कर्मोंका, सब इच्छाओंका, सब भावोंका, सब लोकोंका, सब गतियोंका बीज है। उसके त्याग देनेपर सब कर्मोंका त्याग हो जाता है, सब दुःख क्षीण हो जाते हैं, और सब कर्म लय हो जाते हैं। ज्ञानी लोग तो मानसिक कर्मसे भी आक्रान्त नहीं होते; न उसके वशमें होते हैं और न उसके रङ्गमें ही रँगे जाते हैं, क्योंकि वे उससे असक्त रहते हैं। जैसे जब कोई बालक कल्पना द्वारा नगरको बनाता और बिगाड़ता है तब नगरको कल्पनासे रचते हुए वह वास्तविक रचना न करते हुए भी लीलासे मानसिक रचनाका अनुभव करता है। यदि वह बुरा भला बन गया तो उसे वास्तवमें दुःख सुख होता है। यदि उसका नगर गिर जाता है, तो मानसिक रचनाको वास्तविक रचना समझनेसे, उसको वास्तविक दुःख न होते हुए भी, दुःख होता है। इसलिये वास्तवमें कर्म करनेवाला भी कर्ममें लिप्त नहीं होता और न करनेवाला लिप्त हो जाता है। विवेक द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंका नाश करना चाहिये—यह तब हो सकता है जब कि ज्ञानद्वारा यह निश्चय दृढ़ हो जाए कि कर्म कुछ है ही नहीं। बिना किसी दृश्यकी ओर प्रवृत्तिके, बिना वासनाके, और बिना किसी कल्पनाके शान्त होकर स्थित रहनेका नाम कर्मत्याग है। जो कर्मको जड़ सहित त्याग कर शान्ति प्राप्त कर चुके हैं उनके लिये (बाह्य) क्रियाका करना और न करना एकसा ही है; करनेसे उन्हें कुछ नहीं

मिलता, न करनेसे उनका कुछ नहीं जाता। इसलिये इस निश्चयको दृढ़ करके, कर्म-विचारकी शङ्काको छोड़कर, सब कल्पनाओं और इच्छाओंका त्याग करके, शुद्ध ज्ञानस्वरूप होकर रहो। जो लोग इस प्रकारके सच्चे कर्मत्यागको न करके अत्यागरूपी कर्मत्याग करते हैं (अर्थात् बाह्य क्रियाओंका तो त्याग कर देते हैं किन्तु भीतरकी वासनाओंका त्याग नहीं करते) वे आकाशको मारनेका प्रयत्न करते हैं। जो ज्ञान द्वारा कर्म त्यागमें स्थित हो गया है और वासनारहित जीवन्मुक्त है, वह चाहे घरमें रहे चाहे वनमें, चाहे शान्त हो जाए चाहे उन्नति कर ले; उसके लिये सब एकसा है। उपशान्त व्यक्तिके लिये तो घर ही दूरवर्त्ती निर्जन वनके समान है और अशान्त पुरुषके लिये निर्जन वन भी मनुष्योंसे भरी हुई नगरीके समान है।

(७) कर्मयोग :—

अलब्धज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्र परायणम्।
यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ॥ (६/१।८७।१७)
बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते।
संकल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता॥ (६/२।१।२७)
नेह कार्यं न वाकार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित्।
सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्॥ (६/२।१।२८)
सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत्।
प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम्॥ (६/२।१।१६)
यथाप्राप्तं हि कर्तव्यमसक्तेन सदा सता।
मुकुरेणाकलङ्केन प्रतिबिम्बक्रिया यथा॥ (३।८८।११)
एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम्।
यदवासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता॥ (६/२।१।२४)
प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित्।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते॥ (६/२।३७।२१)
अज्ञस्तु दितचित्तत्वात्क्रियानियमनं विना।
गच्छन्न्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि॥ (६/१।६९।९)
सुज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु।
यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वान्निर्वासनतया तथा॥ (६/१।६९।१०)

न निन्द्यमस्ति नानिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
न चात्मीयं न च परं कर्म ज्ञविषयं क्वचित् ॥ (६।६९।१३)
महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ ।
सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ (६।११५।१)
रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१२)
न किञ्चन द्वेष्टि न किञ्चिदभिकाङ्क्षति ।
भुंक्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२१)
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३४)
अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥ (५।१८।१८)
उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तः सर्वपरित्यागी लोके विहर राघव ॥ (५।१८।१९)
अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
बहिस्तप्तोऽन्तरा शीतो लोके विहर राघव ॥ (५।१८।२१)
बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव ॥ (५।१८।२२)
बहिर्लोकोचिताचारस्त्वन्तराचारवर्जितः ।
समो ह्यतीव तिष्ठ त्वं संशान्तसकलैषणः ॥ (४।१५।४४)
सर्वैषणाविमुक्तेन स्वात्मनात्मनि तिष्ठता ।
कुरु कर्माणि कार्याणि नूनं देहस्था संस्थितिः ॥ (४।१५।४५)
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वाऽवलम्ब्य च ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ (४।४६।१४)
अत्यन्तविरतः स्वस्थः सर्ववासविवर्जितः ।
व्योमवत्तिष्ठ नीरागो राम कार्यपरोऽपि सन् ॥ (४।४६।१५)
यथैव कर्मकरणे कामना नास्ति धीमताम् ।
तथैव कर्मसंत्यागे कामना नास्ति धीमताम् ॥ (३।८८।१२)
अतः सुपुप्तोपमया धिया निष्कामया तया ।
सुपुप्तबुद्धसमया कुरु कार्यं यथागतम् ॥ (३।८८।१३)
गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ (६।१।१५)

स्पन्दस्वाकृतसंकल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ (६/२।१।१७)
रसभावनमन्तस्ते मालं भवतु कर्मसु ।
दारुयन्त्रमयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ (६/२।१।१८)
नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः । (६/२।१।१९)
चिदानन्दरसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ॥ (६/२।१।२१)
अवासनमसंकल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ (६/२।१।२५)

जिसको अभीतक ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उसे कर्मपर हीं निर्भर रहना चाहिये—जैसे जिसे रेशमकी बढ़िया चादरकी प्राप्ति नहीं हुई उसे अपना कम्वल नहीं फेंक देना चाहिये। वहुत कहनेकी ज़रूरत नहीं है—संक्षेपसे यह वताता हूँ कि सङ्कल्प ही मनको वान्धनेवाला है और सङ्कल्पके अभावसे मुक्ति होती है। न मनुष्यको कुछ करना है और न कुछ नहीं करना है; सव कुछ अज, अनन्त और शान्त शिव ही है; वही हो जाओ। सव कामोंके फलरूपी मलको सुप्त पुरुषकी नाईं भूलकर, वेदनारहित होकर, जैसा अवसर पड़े वैसी क्रिया करते रहो। जिस प्रकार शुद्ध शीशेके भीतर प्रतिविम्ब पड़नेकी क्रिया आपसे आप होती रहती है वैसे ही असक्त रहकर यथा-प्राप्त कामोंको सदा करते रहना चाहिये। जन्मके दुःखोंको सदा दूर करनेवाला यह वहुत अच्छा धैर्य है कि अपने कामोंको वासनारहित होकर करनेका अभ्यास रक्खे। आत्मज्ञानीके लिये कोई विधि (यह करना चाहिये) और निषेध (यह नहीं करना चाहिये) नहीं है। जिसकी सव इच्छाएँ शान्त हो गई हैं उसे कौन और क्यों कुछ करनेकी आज्ञा देगा ? अज्ञानी व्यक्ति, जिसने विषयोंकी ओर चित्त प्रवृत्त कर रक्खा है, क्रियाके भले वुरे जाने विना उसको करता हुआ, मछलीकी नाईं वहुत दुःख पाता है। ज्ञानी लोग जितेन्द्रिय होनेके कारण, तत्त्वज्ञानी होनेके कारण और वासनारहित होनेके कारण इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंके चक्करमें नहीं पड़ते। उनके लिये तो न कोई कर्म वुरा है और न कोई भला; न त्याज्य है और न कार्य; न अपना है और न दूसरेका। हे पापरहित राम ! तुमको महा कर्ता, महा भोक्ता और महा त्यागी वनना चाहिये; सव शङ्काओंको त्यागकर अनन्त धैर्यको धारण करो। महा कर्ता वह है जो रागद्वेष, सुख

दुःख, धर्म और अधर्म, सफलता और विफलता आदि सबका भोग अनपेक्ष भावसे करता है। महा भोक्ता वह है जो न किसी वस्तुको चाहता है और न किसी वस्तुसे द्वेष करता है, बल्कि सबका स्वाभाविक रीतिसे उपभोग करता है। महा त्यागी उसे कहते हैं जिसने अपने मनके भीतरसे बुद्धिपूर्वक सब इच्छाओं, तृष्णाओं, निश्चयों और शङ्काओंको दूर कर दिया है। हे राम! बाहरसे सब काम करते हुए, मनके भीतर आशा, राग और वासनासे रहित होकर संसारमें विचरण करो! बाहरसे तो उदार और मनोहर आचरणवाले और सब प्रकारके सदाचारोंके अनुसार क्रिया करनेवाले, लेकिन भीतरसे सबको त्याग किये हुए रहकर, संसारमें विचरण करो। बाहरसे सब प्रकारकी आशाओंसे पूर्ण, लेकिन भीतर कोई आशा न रखकर, बाहर तप्त और अन्दर शीतल रहकर संसारमें विचरण करो। बाहरसे सब प्रकारकी क्रियाओंका सम्पादन करते हुए, अन्दरसे कोई क्रिया न करते हुए, बाहरी तौरपर कर्ता और भीतरसे अकर्ता बने रहकर संसारमें विचरण करो। बाहरसे लोकोचित आचारके अनुसार क्रिया करते हुए अन्दर किसी आचार विचारके बन्धनमें न पड़ते हुए, अत्यन्त सम होकर और सब वासनाओंको शान्त करके रहना चाहिये। जबतक शरीर क़ायम है तबतक करने योग्य कर्मोंको सब इच्छाओंका त्याग करके और आत्मभावमें स्थित होकर करते ही रहना चाहिये। सत् और असत्के मध्यमें अपनी स्थिति करके, और उस स्थितिका आश्रय लेकर, बाहर और भीतरके दृश्यको न प्राप्त करनेकी इच्छा करो न त्याग करनेकी। हे राम कामोंको करते हुए भी रागरहित, अत्यन्त विरत, आत्मामें स्थित और वासनाओंसे रहित होकर अपने मनको आकाशके समान शून्य रक्खो। बुद्धिमान् लोगोंमें जैसे कर्म करनेकी कामना नहीं होती, वैसे ही कर्म त्यागनेकी भी कामना नहीं होती। इसलिये निष्काम बुद्धिसे सोते हुए पुरुषकी नाईं यथाप्राप्त कामोंको ज़रूर करो। जैसे किसी विशेष स्थानको जानेवाले पथिकके पैर बिना किसी सङ्कल्पके ही उस स्थानकी ओर पड़ते रहते हैं उसी प्रकार तुम भी सङ्कल्परहित होकर यथोचित क्रिया करते रहो। बिना किसी सङ्कल्पके, सुख दुःखकी भावना न करते हुए, यथाप्राप्त कामोंको ऐसे करते रहो जैसे तृण अपनी इच्छा न रहते हुए भी इधरसे उधर उड़ता रहता है। जैसे लकड़ीकी मशीन, अपने आप कुछ रस न लेते हुए भी,

दूसरोंके लिये क्रिया करती है वैसे ही (लोकोपकारके लिये) काम करते हुए तुम्हारे मनके भीतर उसका स्वाद नहीं आना चाहिये। तुम्हारी इन्द्रियोंकी सभी वृत्तियाँ नीरस हो जानी चाहियें—बाहरकी ओर प्रवृत्त होते हुए भी उनमें चिदानन्दका ही रस होना चाहिये। जैसे चक्र शनैः शनैः घूमता रहता है वैसे ही तुम भी यथाप्राप्त क्रियाओंको सङ्कल्प और वासनाओंसे रहित होकर करते ही रहो।

(८) आर्यका लक्षण :—

कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ (६।१२६।५४)
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ (६।१२६।५५)

कर्त्तव्यको करता हुआ और अकर्त्तव्यको न करता हुआ जो स्वाभाविक रीतिसे काम करता रहता है उसे आर्य कहते हैं। जो व्यक्ति शास्त्र, सदाचार, परिस्थिति और अपने चित्तके अनुसार कार-व्यवहार करता रहता है उसे आर्य कहते हैं।

२७—आत्माका अनुभव

आत्मज्ञानकी और उसके अभ्यासकी पराकाष्ठा आत्मानुभवमें होती है। विचार और अभ्यासके परिपक्व हो जानेपर आत्माका अनुभव उदय हो जाता है। वह अनुभव एक विचित्र अनुभव है—जिसकी उपमा किसी दूसरे अनुभवसे नहीं दी जा सकती। उसका वर्णन भी करना कठिन है। उसको वही जानता है जिसको वह अनुभव होता है। यहांपर हम योगवासिष्ठके अनुसार आत्मानुभवसे पाठकोंको परिचित कराना चाहते हैं।

(१) आत्मानुभवके उदय होनेके लक्षण :—

जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः।
मननं त्यजतो ज्ञात्वा किञ्चित्परिणतात्मनः॥ (४।२२।१)
दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः।
द्रष्टारं पश्यतो दृश्यमद्रष्टारमपश्यतः॥ (४।२२।२)
जागर्तव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः।
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि॥ (४।२२।३)
पर्यन्तात्यन्तवैराग्यात्सरसेष्वरसेष्वपि।
भोगेष्वाभोगरम्येषु विरक्तस्य निराशिषः॥ (४।२२।४)
संसारवासनाजाले खगजाल इवाखुना।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा॥ (४।२२।७)
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति॥ (४।२२।८)
नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम्।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव॥ (४।२२।९)
शान्ते संदेहदौरात्म्ये गतकौतुकविभ्रमम्।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते॥ (४।२२।१०)
जनितोत्तमसौन्दर्या दूरादस्तमयोन्नता।
समतोदेति सर्वत्र शान्ते वात इवार्णवे॥ (४।२२।११)

अन्धकारमयी मूका जाड्यजर्जरितान्तरा ।
तनुत्वमेति संसारवासनेवोदये क्षपा ॥ (४।२२।१२)
दृष्टचिद्भास्करा प्रज्ञा पद्मिनी पुण्यपल्लवा ।
विकसत्यमलोद्योता प्रातर्द्यौरिव रूपिणी ॥ (४।२२।१३)
प्रज्ञा हृदयहारिण्यो भुवनाह्लादनक्षमाः ।
सत्वलब्धाः प्रवर्धन्ते सकलेन्दोरिवांशवः ॥ (४।२२।१४)
तरङ्गवदिमे लोकाः प्रयान्त्यायान्ति चेतसः ।
क्रोडीकुर्वन्ति चाज्ञं ते न ज्ञं मरणजन्मनी ॥ (४।२२।१८)
विवेक उदिते शीते मिथ्या भ्रममरूदिता ।
क्षीयते वासना साग्रे मृगतृष्णा मराविव ॥ (४।२२।२१)

जैसे कतक (एक फलका नाम है) को पानीमें डालते ही पानी निर्मल हो जाता है वैसे ही पक्षियोंके जालके चूहे द्वारा कट जानेकी नाईं, वैराग्यसे संसारकी वासनाओंके जालके कट जानेपर, और हृदय-की ग्रन्थियोंके ढीला होकर खुल जानेपर, ज्ञानके कारण उस व्यक्तिके भीतर आत्माका प्रकाश हो जाता है जो विचार कर चुका है; जिसके चित्तकी वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं; जिसने मनकी कल्पना शक्तिका त्याग कर दिया है और उसे आत्मामें परिणत कर लिया है; जिसने दृश्यको त्याग दिया है और हेयत्व और उपादेयत्व बुद्धिको छोड़ दिया है; जिसकी दृष्टि अद्रष्टा दृश्यकी ओर न जाकर द्रष्टा आत्माकी ओर ही जाती है; जो परम तत्त्वमें, जिसमें कि जागना चाहिये, जागनेका यत्न कर रहा है, और गहन अन्धकारवाले संसार मार्गमें सो गया है; जो सरस भोग्य पदार्थोंके प्रति भी वैराग्य द्वारा नीरसता प्राप्त करके विरक्त हो चुका है; और जो आशा-रहित हो गया है। जैसे पिञ्जरेसे पक्षी बाहर निकल भागता है वैसे ही राग-रहित, सङ्ग-रहित, द्वन्द्व-रहित और (बाहरके) आश्रय-रहित मन मोहसे बाहर निकल जाता है। सन्देह, कौतुक और भ्रमके शान्त हो जानेपर परिपूर्ण होकर मन पूर्ण चन्द्रमाके समान विराजता है। जैसे हवाके बन्द हो जानेपर समुद्र शान्त हो जाता है वैसे ही (आत्मानुभ प्राप्त हो जानेपर) उस समता-का अनुभव होता है जिसमें उदय और अस्त नहीं है और जो उत्तम सौन्दर्यको उत्पादन करनेवाली है। जैसे सूर्यके उदय होनेपर सुनसान और अन्धेरी रात्री क्षीण हो जाती है वैसे ही जड़तासे जर्जरित वासना क्षीण हो जाती है। जैसे प्रातःकालमें सुन्दर पंखड़ियोंवाला

कमल सूर्यको देखकर खिल उठता है वैसे ही आत्माकी ओर दृष्टि-वाली शुद्ध प्रज्ञाका उदय होता है। जैसे पूर्ण चन्द्रमासे किरणें फैलती हैं वैसे ही हृदयको मोहनेवाले, संसारको प्रसन्न करनेवाले, सत्त्वसे प्राप्त ज्ञानोंका उदय होता है। तरङ्गके समान आने और जानेवाले ये लोक और जन्म मरण अज्ञानीको ही अपनी गोदमें लेते हैं (वशमें करते हैं), ज्ञानी इनसे बच जाता है। जैसे शीतकालके आनेपर मरुस्थलमें मिथ्या भ्रमसे उत्पन्न हुई मृगतृष्णाकी नदी देखते ही देखते ग़ायब हो जाती है वैसे ही विवेकके उदय हो जानेपर मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न हुई वासना भी क्षीण हो जाती है।

(२) आत्माका अनुभव :—

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये हि या स्थितिः ।
निरस्तमनना यासौ स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥ (३।११७।८)
संशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलान्तरिव स्थितिः ।
जाड्यनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः स्मृता ॥ (३।११७।९)
अहंतांशे क्षते शान्ते भेदे निस्पन्दतां गते ।
अजडा या प्रकचति तत्स्वरूपमिति स्थितम् ॥ (३।११७।१०)

चित्तके एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर प्रवृत्त होनेके मध्यकी जो मानसिक क्रियारहित स्थिति है वह आत्मस्वरूपकी स्थिति है। शिलाके भीतरके समान, सब सङ्कल्पोंके क्षीण हो जानेपर जड़ता और निद्रासे रहित जो अपने भीतरका अनुभव है वह स्वरूपमें स्थित होना है। अहंभावके शान्त हो जानेपर, भेदका अनुभव न रहनेपर, और स्पन्दहीन हो जानेपर, जो अजड़ अनुभव होता है वह अपने स्वरूपका अनुभव है।

(३) आत्माके अनुभवका वर्णन नहीं हो सकता :—

अहंकारे परिक्षीणे यावस्था सुखमोदजा ।
सावस्था भरिताकारा सा सेव्या संप्रयत्नतः ॥ (५।६४।४७)
परिपूर्णार्णवप्रख्या न वाग्गोचरमेति नः ।
नोपमानमुपादत्ते नानुधावति रञ्जनम् ॥ (५।६४।४८)
केवलं चित्प्रकाशांशकलिका स्थिरतां गता ।
तुर्या चेत्प्राप्यते दृष्टिस्तत्तया सोपमीयते ॥ (५।६४।४९)

अदूरगतसादृश्यात्सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
सावस्था भरिताकारा गगनश्रीरिवातता ॥ (५।६४।५०)
मनोहंकारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ।
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ॥ (५।६४।५१)
सा स्वयं योगसंसिद्धा सुषुप्ताद्दूरभाविनी ।
न गम्या वचसां राम हृद्येवेहानुभूयते ॥ (५।६४।५२)
अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नानुभूयते ।
अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते ॥ (५।६४।५३)
आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः ।
पण्डितास्तत्र शक्रश्रीर्जरत्तृणलवायते ॥ (६/२।१४३।२)
पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा ।
न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥ (६/२।१४३।३)

अहंकारके क्षीण हो जानेपर जो सुख और प्रसन्नता देनेवाली परिपूर्ण रूपवाली अवस्था उदय होती है उसमें स्थित रहनेका प्रयत्न करना चाहिये। ऊपरतक भरे हुए समुद्रके समान वह परिपूर्ण अवस्था शब्दों द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती। न उसका कोई वर्णन हो सकता है, और न उसकी कोई उपमा ही दी जा सकती है। चित्तके प्रकाशका एक अंशमात्र जो तुर्या अवस्था है यदि वह स्थिर हो जाए तो आत्मानुभवसे उसकी कुछ उपमा दी जा सकती है। उस आकाशके समान विस्तृत और परिपूर्ण अवस्थाकी कुछ कुछ (बहुत कम) उपमा सुषुप्तिसे भी दी जा सकती है। मन और अहंकारके लीन हो जानेपर जो परम आनन्दवाली और परमेश्वरके रूपवाली अवस्था, जो कि सब पदार्थोंके भीतर स्थित है, और जो अपने आप किये हुए योगसे ही सिद्ध होती है, अनुभवमें आती है वह सुषुप्तिसे बहुत भिन्न है। उसका अनुभव केवल अपने भीतर ही हो सकता है—शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे बिना अनुभव किये मिठाईका स्वाद नहीं मालूम होता उसी प्रकार बिना अपने अनुभवके आत्माका स्वरूप नहीं मालूम पड़ता। आत्माका अनुभव जिनको हो गया है वे ज्ञानी जिस गतिको प्राप्त होते हैं उसके सामने इन्द्रकी लक्ष्मी भी तृणके समान तुच्छ है। पाताल, भूतल और स्वर्गमें कहीं भी वह सुख और ऐश्वर्य दिखाई नहीं पड़ता जो आत्मज्ञानसे बढ़कर हो।

(४) आत्मानुभवमें मनका अस्तित्व नहीं रहता :—

अविद्यत्वादचित्तत्वान्मायात्वाच्चासदेव हि ।
ध्रुवं नास्त्येव वा चित्तं भ्रमादन्यत्खवृक्षवत् ॥ (५।८१।३)
चक्रारोहभ्रमस्यान्ते पर्वतस्पन्दनं यथा ।
मौर्ख्यमोहभ्रमे शान्ते चित्तं नोपलभामहे ॥ (५।८१।५)
मृतं चित्तं गता तृष्णा प्रक्षीणो मोहपञ्जरः ।
निरहंकारता जाता जाग्रत्यस्मिन्प्रबुद्धवान् ॥ (५।८१।९)
परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते ।
बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ (६/२।४६।१)
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत् ।
परमार्थदशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ (६/२।४६।२)
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता ।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥ (६/२।४६।४)
सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ (६/२।४६।५)
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलैषणम् ।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ (६/२।४६।६)
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ (६/२।४६।८)

विद्यमान न होनेके कारण, असत्य होनेके कारण, मायामय होनेके कारण, मन आकाश-वृक्षकी नाईं भ्रमके सिवाय कुछ भी सत् पदार्थ नहीं है। जैसे चक्रारोह भ्रम (घूमते हुए यन्त्रपर चढ़नेसे जो चारों ओरकी वस्तुएँ घूमती हुई दिखाई पड़ने लगती हैं उस भ्रम)के अन्त हो जानेपर जैसे पर्वतोंका घूमना बन्द हो जाता है वैसे ही अज्ञान और मोहके भ्रमके शान्त हो जानेपर चित्त (मन)का अनुभव नहीं रहता। ज्ञानीके आत्मभावमें जाग्रत हो जानेपर मन मर जाता है, तृष्णा भाग जाती है, मोह क्षीण हो जाता है और अहङ्कार विलीन हो जाता है। परमार्थका ज्ञान हो जानेपर, और मुक्तिमें परिणति हो जानेपर, मनरूपी सच्चा मृग भी असत् हो जाता है; जैसे जिस दीपका तेल ख़तम हो गया है वह बुझ जाता है, वैसे ही आत्मानुभव हो जानेपर मनकी चञ्चलता कहीं चली जाती है और अनन्त प्रकाशवाली पर-

मार्थ दशा ही बाक़ी रह जाती है; मनकी मनस्ता (चित्तपना, चञ्चलता और सङ्कल्प-विकल्पात्मकता) कहीं चली जाती है, और वह शुद्ध बोध ही शेष रह जाता है जो बोधरहित, विभागरहित, सव कुछ, सूक्ष्म और परमार्थ वस्तु है। विवेकके उदय हो जानेपर चित्तसत्ता ही शुद्ध बोधमें परिणत हो जाती है, और अनादि और अनन्त शुद्ध प्रकाशका अनुभव देने लगती है। तब आपसे आप ही उसके स्थानपर अनादि, अनन्त और अनायास ध्यान ही, जिसमें सब वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, शेष रह जाता है। परमार्थकी एकताका अनुभव हो जानेपर न जाने कहाँ मन चला जाता है, कहाँ वासना, कहाँ कर्म, और कहाँ हर्ष और शोकका अनुभव ?

(५) एक बार जाकर अविद्या फिर नहीं लौटती :—

क्षीणे स्वहृदयग्रन्थौ न बन्धोऽस्ति पुनर्गुणैः ।
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्ते च्युतं फलम् ॥ (५।७४।७५)
परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥ (५।७४।८३)
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः ॥ (४।७४।८४)
अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति ।
मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नावकर्षति ॥ (५।७४।२०)
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि ।
सा परिक्षीयते भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः ॥ (५।६४।१३)

जैसे एक वार वृक्षसे गिरा हुआ फल यत्नसे भी उसपर नहीं लगाया जा सकता, वैसे ही एक वार हृदयकी गांठ खुल जानेपर फिर गुणोंके बन्धनमें मन नहीं पड़ सकता। जैसे किसीके प्रेममें फँसी हुई स्त्री अपने घरके कामोंमें लगी हुई भी अपने प्रेमीके सङ्गके स्वादमें मस्त रहती है, वैसे ही धीर पुरुष जब परम शुद्ध एक तत्त्वमें विश्राम पा लेता है तब उसे इन्द्र सहित सब देवता भी उस पदसे नहीं डिगा सकते। जैसे मृगतृष्णाका ज्ञान हो जानेपर वह प्यासेको भी नहीं आकर्षण करती, वैसे ही जानी गई अविद्या ज्ञानीको आकर्षित नहीं करती। जब अविद्याका पूरा ज्ञान हो जाता है तभी वह स्वप्नके भोगोंकी नांई क्षीण हो जाती है।

(६) परम तृप्तिका अनुभव :—

मोक्षमिच्छाम्यहं कस्माद्बद्धः केनास्मि वै पुरा ।
अबद्धो मोक्षमिच्छामि केयं बालविडम्बना ॥ (५।२९।१०)
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति मौर्ख्यं मे क्षयमागतम् ।
किं मे ध्यानविलासेन किं वाध्यानेन मे भवेत् ॥ (५।२९।११)
ध्यानाध्यानभ्रमौ त्यक्त्वा पुंस्त्वं स्वमवलोकयत् ।
यदायाति तदायातु न मे वृद्धिर्न वा क्षयः ॥ (५।२९।१२)
न ध्यानं नापि वाऽध्यानं न भोगान्नाप्यभोगिताम् ।
अभिवाञ्छामि तिष्ठामि सममेव गतज्वरः ॥ (५।२९।१३)
न मे वाञ्छा परे तत्त्वे न मे वाञ्छा जगत्स्थितौ ।
न मे ध्यानदशाकार्यं न कार्यं विभवेन मे ॥ (५।२९।१४)
नाहं मृतो न जीवामि न सन्नासन्न सन्मयः ।
नेदं मे नैव चान्यन्मे नमो मह्यमहं बृहत् ॥ (५।२९।१५)
इदमस्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यत्र तु संस्थितः ।
नेह वास्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यात्मनि शीतलः ॥ (५।२९।१६)
किं मे ध्यानदशा कार्यं किं राज्यविभवश्रिया ।
यदायाति तदायातु नाहं किञ्चन मे क्वचित् ॥ (५।२९।१७)
न किंचिदपि कर्तव्यं यदि नाम मयाधुना ।
तत्कस्मान्न करोमीदं किञ्चित्प्रकृतकर्म वै ॥ (५।२९।१८)
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न च भोगविवर्जने । (५।३५।३८)
अस्ति सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ (६/१।१०७।२६)
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ।
सुखेषु मम नापेक्षा नोपेक्षा दुःखवृत्तिषु ॥ (५।३५।३९)
सुखदुःखान्युपायान्तुं यान्तु वाप्यहमेषु कः ।
वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा ॥ (५।३५।४०)
देहस्याहमहं देहीति क्षीणे चित्तविभ्रमे ।
त्यजामि न त्यजामीति किं मुधा कलनोदिता ॥ (५।४०।१२)
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धालभ्यपरास्पदः ।
अनिवृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा ॥ (५।७४।३५)
सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ।
अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ (६/१।१०७।२७)

इदं सुखं इदं नेति मिथुने क्षयमागते ।
सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ (६/१।१०९।७०)

मोक्षकी मैं क्यों इच्छा करूँ, मुझे वन्धन ही किस बातका था? जब मैं बद्ध ही नहीं हूँ तो मेरी मोक्षकी इच्छा भी बाल विड़म्बना है। मेरा अज्ञान दूर हो गया है; अब न वन्धन है और न मोक्ष। ध्यानसे मुझे अब क्या? और ध्यान न लगानेसे मुझे क्या? ध्यान और अध्यान दोनोंको छोड़कर अपने आत्माको अनुभव करनेवालेके लिये जो आवे सो आवे; न मेरी वृद्धि होती है और न मेरा क्षय! न मुझे ध्यानकी अब इच्छा है और न अध्यानकी; न भोगोंकी और न भोगत्यागकी; मैं तो विना किसी दुःखके सम-भावसे स्थित हूँ। न मेरी परम तत्त्वमें वाञ्छा है और न मेरी जगत्की स्थितिमें वाञ्छा है! न मुझे ध्यानसे कुछ मतलब और न संसारके वैभवसे! न मैं मरा हूँ, न मैं जीता हूँ; न मैं सत् हूँ, न मैं असत् हूँ। न यह मेरा है न वह मेरा है! मैं बहुत ही महान् हूँ, मुझे नमस्कार है! यदि जगत्का राज्य मिले तो भी मैं स्वस्थ हूँ! राज्य चला जाए तो भी मैं शीतल भावसे स्थित हूँ। मुझे ध्यानसे कुछ नहीं करना, मुझे राज्यके विभवसे कुछ नहीं करना! जो आता है वह आवे! न मैं कुछ हूँ और न मेरा कुछ है। जब कि अब मेरे लिये कुछ कर्त्तव्य (करने योग्य काम) नहीं है, तो मैं क्यों न प्राकृत कामोंको करता रहूँ? मुझे न भोगोंकी प्राप्तिके लिये वाञ्छा है न भोगोंके त्यागके लिये। मेरा स्वर्ग कहीं एक स्थानपर नहीं है; मेरे लिये सब जगह ही स्वर्ग है। जो आता हो वह आए, जो जाता हो वह जाए। न मेरी सुखोंमें इच्छा है और न दुःखों-से द्वेष। दुःख सुख आवें या जावें! मैं इनमें पड़नेवाला कौन हूँ? इस शरीरमें अनेक वासनाएँ उदय और अस्त होती रहें, मुझे क्या? जब मनमेंसे यह भ्रम मिट गया कि यह शरीर मेरा है मैं इस शरीरका हूँ तो फिर यह बात फिज़ूल ही है कि मैं इस शरीरको रक्खूं या त्यागूँ। मैंने सबसे उत्तम विश्राम और दुर्लभ पदकी प्राप्ति कर ली है, और मन, वचन और कर्मके द्वारा उस परम अवस्थाकी प्राप्ति कर ली है जहांसे फिर लौटना नहीं है। यह सुखदायक है यह सुखदायक नहीं है—इस प्रकारके मेरे विचार क्षीण हो गये हैं। अब मैं शान्त और सम पदमें आनन्दपूर्वक स्थित हूँ।

२८—जीवन्मुक्ति

ऊपर वर्णन की हुई अवस्था जिसको प्राप्त हो गई है वह मुक्त कहलाता है। इस प्रकारकी मुक्ति शरीरके मौजूद रहते हुए ही प्राप्त हो जाती है। प्रारब्ध कर्मोंसे बना हुआ और प्राकृत क्रियाएँ करता हुआ शरीर इस प्रकारकी मुक्तिका अनुभव करनेमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं डालता। जब प्रारब्ध कर्मोंका क्षय हो जानेपर यह शरीर मौतके द्वारा क्षीण हो जाता है तो ज्ञानी विदेहमुक्त हो जाता है। उसके लिये किसी शरीरका कर्मकृत बन्धन नहीं रहता। मुक्त ज्ञानी शरीरकी मृत्यु पर्यन्त जीवन्मुक्त (अर्थात् जीवित अवस्थामें ही मुक्त) कहलाता है। यहांपर हम योगवासिष्ठके अनुसार जीवन्मुक्तिकी दशाका और जीवन्मुक्त पुरुषोंका वर्णन करेंगे।

(१) जीवन्मुक्तोंके लक्षण :—

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो।
अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते॥ (६/२।१६९।१)
सुखदुःखेषु भीमेषु संततेषु महत्स्वपि।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः॥ (६/२।१९८।२७)
यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे क्वचिद्रसिकतास्ति नो।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः॥ (६/२।१६९।८)
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
यथाप्राप्तं विहरतः स विश्रान्त इति स्मृतः॥ (६/२।१६९।९)
नालम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित्।
नार्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत्॥ (६/२।१०२।१३)
उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्नोद्वेजयन्ति च॥ (६/२।१९८।२)
तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः॥ (६/२।१९८।१)
मनोज्ञमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः॥ (६/२।१९८।३)
विवेचितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि॥ (६/२।१९८।४)
अनुद्वेगकराचारा बान्धवा नागरा इव।
बहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः॥ (६/२।१९८।५)

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोऽस्यसौम्यो भवत्यन्तः शीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ (६।४५।१०)
प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ (६/२।२२।५)
वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रणयोज्झितः ।
निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्जरादिव केसरी ॥ (६/२।१२२।२)
सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ (६/१।१२२।५)
वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुट्यन्त्यलं शनैः ।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ (६/१।११६।४)
मुदिताद्याः श्रियो वक्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ (६/१।१२।२)
केषुचिन्नानुबध्नाति तृप्तमूर्तिरसक्तधीः ॥ (५।९३।३५)
जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥ (५।९३।२४)
परिपूर्णमना मानी मौनी शत्रुषु चाचलः ॥ (५।९३।२९)
सम्पत्स्वापत्सु घोरासु रमणेषूत्सवेषु च ॥ (५।९३।५२)
विहरन्नापि नोद्वेगी नानन्दमुपगच्छति ।
अन्तर्मुक्तमना नित्यं कर्मकर्तेव तिष्ठति ॥ (५।९३।५३)
न बिभेति न वादत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ।
समः स्वस्थमना मौनी धीरस्तिष्ठति शैलवत् ॥ (५।९३।५५)
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि संतुष्टो न करोति न चेहते ॥ (५।८९।१६)
न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाशामरणजीवितैः ॥ (५।८९।१८)
समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थितः ।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः ॥ (५।७७।११)
उदासीनवदासीनः प्रकृतः क्रमकर्मसु ।
नाभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति ॥ (५।७७।१२)
अनुबन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ (५।७७।१३)
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुःखितः ॥ (५।७७।१४)

न तस्य सुकृतेनार्थो न भोगैर्न च कर्मभिः ।
न दुष्कृतैर्न भोगानां संत्यागेन न बन्धुभिः ॥ (५।७७।१८)
सर्वं सर्वप्रकारेण गृह्णाति च जहाति च ।
अनुपादेयसर्वार्थो बालवच्च विचेष्टते ॥ (५।७७।२५)
स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ॥ (५।७७।२६)
न कदाचन दीनात्मा नोद्धतात्मा कदाचन ।
न प्रमत्तो न खिन्नात्मा नोद्विग्नो न च हर्षवान् ॥ (५।७७।३२)
अयत्नोपनतं सर्वं लीलयासक्तमानसः ।
भुङ्क्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ (५।७४।६३)
सर्वशत्रुषु मध्यस्थो दयादाक्षिण्यसंयुतः ॥ (५।१८।६)
रागद्वेषैः स्वरूपज्ञो नावशः परिकृष्यते ॥ (५।७४।६१)
इमं विश्वपरिस्पन्दं करोमीत्यस्तवासनम् ।
प्रवर्तते यः कार्येषु स मुक्त इति मे मतिः ॥ (५।६।१)
यः कुर्वन्सर्वकार्याणि पुष्टे नष्टेऽथ तत्फले ।
समः सन्सर्वकार्येषु न तुष्यति न शोचति ॥ (५।६।१०)
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ (४।४६।८)
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥ (४।४६।२६)
विगतेच्छा यथाप्राप्तव्यवहारानुवर्तिनः ।
विचरन्ति समुन्नद्धाः स्वस्था देहरथे स्थिताः ॥ (४।४६।२९)
बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्त स उच्यते ॥ (३।९।५)
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।१२)
यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।९)
पुत्रदारसमप्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ (६/२।४५।१४)
न स चेतयते काश्चिल्लोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपदविश्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ (६/२।४५।१७)

आपत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥ (५।१६।१८)
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्येष्टानिष्टवस्तुषु ।
सुषुप्तवच्चरति यः स मुक्त इति ह्योच्यते ॥ (५।१६।१९)
हेयोपादेयकलने ममेत्यहमिहेति च ।
यस्यान्तः संपरिक्षीणे स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (५।१६।२०)
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (५।१६।२१)
सर्वप्रकृतकार्यस्थो मध्यस्थः सर्वदृष्टिषु ।
ध्येयं तं वासनात्यागमवलम्ब्य व्यवस्थितः ॥ (५।१८।३)
सर्वत्र विगतोद्वेगः सर्वार्थपरिपोषकः ।
विवेकोद्यतदृष्टात्मा प्रबोधोपवनस्थितिः ॥ (५।१८।४)
सर्वातीतपदालम्बी पूर्णेन्दुशिशिराशयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ (५।१८।५)
सङ्गरङ्गविनिष्क्रान्तः शान्तमानमनोज्वरः ।
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ॥ (५।७४।३३)
निर्मृष्टकामपङ्काङ्कश्छिन्नवन्धनिजभ्रमः ।
द्वन्द्वदोषभयोन्मुक्तस्तीर्णसंसारसागरः ॥ (५।७४।३४)
सर्वाभिवाञ्छितारम्भो न किञ्चिदपि वाञ्छति ।
सर्वानुमोदितानन्दो नं किञ्चिदनुमोदते ॥ (५।७४।३६)
सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासम्परित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥ (५।७४।३८)
जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।
प्रकृतेनाथकार्याणि किञ्चित्कुर्वन्ति वा नवा ॥ (३।११८।१८)
आत्मारामतया तांस्तु सुखयन्ति न काश्चन ।
जगत्क्रियाः सुसंसुप्तान्रूपालोकाः स्त्रियो यथा ॥ (३।११८।२०)
नाभिनन्दन्ति सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिशोचति ।
केवलं विगताशङ्कं सम्प्राप्तमनुवर्तते ॥ (३।१२२।१४)
नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ (३।९।६)
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।८)

यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्येपि शीतलः ।
पदार्थेष्वपि पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।१३)

जिस अन्तर्मुखी वृत्तिवालेको सुखोंसे सुख और दुःखोंसे दुःखका अनुभव नहीं होता वह मुक्त कहलाता है। ऐसे समदृष्टिवाले लोग बड़े बड़े भयानक और बार बार आनेवाले सुख दुःखोंसे भी मनमें विकार नहीं आने देते। जगत्का सब व्यवहार करते हुए भी जिसके मनमें किसी वस्तुके प्रति रसिकता नहीं आती वह शान्त कहलाता है। जिसके सब काम इच्छा और सङ्कल्पसे रहित होते हैं और जो यथाप्राप्त क्रियाएँ करता रहता है वही शान्त कहलाता है। मुक्त पुरुषको न किसी वस्तुके प्रति रसिकता होती है और न नीरसता। वह विषयोंका इच्छुक होकर विषयोंमें नहीं रमता। रागवाला दिखाई देता हुआ भी वह रागरहित रहता है। मुक्त पुरुष न किसीको उद्विग्न करते हैं और न वे किसीसे उद्विग्न होते हैं। उनके लोभ मोह आदि दुश्मन नष्ट हो जाते हैं। वे दूसरोंके मनके भावोंको जानकर लोकप्रिय आचरण करते हैं और प्रिय और मधुर वाणी बोलते हैं। वे क्षण भरमें कार्य्योंका विवेचन और निर्णय कर लेते हैं। वे नागरिक जनोंके समान आचारवाले और सबके बन्धु होते हैं; बाहरसे तो वे सब काम करते हुए दिखाई पड़ते हैं लेकिन भीतर सब प्रकारसे शान्त रहते हैं। मुक्त पुरुष प्राप्त वस्तुकी उपेक्षा नहीं करता, और अप्राप्त वस्तुकी वाञ्छा नहीं करता; सब वृत्तियोंमें अपने अन्दर शान्त और शीतल रहता है। जो कार्य जीवन-प्रवाहमें करनेको मिले उसे जो कामना और सङ्कल्प-रहित होकर और हृदयमें शून्यताका भाव रखकर करते हैं वे ही ज्ञानी हैं। मुक्त पुरुष वर्ण, धर्म, आश्रम, आचार और शास्त्रोंकी यन्त्रणासे बरी होकर जगत्के जञ्जालसे इस प्रकार निकल भागता है जैसे पिञ्जरेसे शेर। सब कर्म्मोंका फल त्यागनेवाला, सदा तृप्त, किसीके आश्रित न रहनेवाला वह पुण्य, पाप या और किसी भावमें लिप्त नहीं होता, उसकी वासनाओंकी गांठें खुलकर धीरे धीरे गिर जाती हैं; ग़ुस्सा कम हो जाता है और मोह मन्द पड़ जाता है। उसके चेहरेपर सदा ही प्रसन्नताकी शोभा छाई रहती है। वह जीवनकी चाह और मौतकी निन्दा नहीं करता। वह किसी वस्तुके बन्धनमें नहीं पड़ता; सदा ही तृप्त और असक्त रहता हुआ सम्राट्की नाईं असङ्ग रहता है। वह परिपूर्ण मनवाला, अपने मानमें रहनेवाला,

मौनी और शत्रुओंके मध्यमें भी अचल रहनेवाला है। भयानक आपत्तियोंमें, सम्पत्तिकी अवस्थाओंमें और आनन्ददायक उत्सवोंमें विचरण करते हुए, उसे न उद्वेग होता है और न आनन्द। मनके भीतर सदा मुक्त रहता हुआ भी वह सब कामोंको करता रहता है। न वह डरता है, न वह विवश और दीन होता है; वह मौनी, सम और स्वस्थ मन होकर पर्वतके समान धीरतासे रहता है। सब वस्तुओंसे विरक्त, इच्छाओंसे रहित, वह आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है; न किसी वस्तुकी चाहना करता है और न इस ही लिये कोई काम करता है। न उसको आकाशगमन आदि सिद्धियोंकी इच्छा होती है और न भोगोंकी प्राप्तिकी, न प्रभावकी, न सन्मानकी, न मरनेकी और न जीनेकी। वह सब सुखोंको भोगता हुआ और सब प्रकारकी आशाओंवाला दिखाई पड़ता है, और कर्ता होनेके भ्रमको त्यागकर वह सब कामोंको करता रहता है। प्राकृत कामोंमें लगा हुआ भी वह उदासीनके समान रहता है; वह न वाञ्छा करता है, न सोच फ़िक्र; न द्वेष करता है और न हर्ष। जैसा अवसर हो उसके अनुसार असक्त मनसे वह भक्तके प्रति भक्तका, शठके प्रति शठका, बालकके प्रति बालकका सा, वृद्धोंके प्रति वृद्धोंका सा, धीरोंके प्रति धीरताका व्यवहार करता है। यौवन-वृत्तिवालोंमें वह युवाकी नाईं रहता है और दुःखियोंको देखकर दुःखी होता है। उसको न भले काम करनेसे कुछ मतलब, न बुरे; न भोगोंसे और न कर्म करनेसे, न भोगोंके त्यागनेसे, और न बन्धुओंसे। सब वस्तुओंको सब प्रकारसे वह ग्रहण और त्याग करता रहता है। उसे कुछ प्राप्त तो करना ही नहीं, तो भी बालकोंकी नाईं वह सदा काममें लगा रहता है। वह देश, काल, क्रिया और क्रमके अनुसार सब कामोंको करता हुआ भी कामोंसे उत्पन्न सुख दुःखोंसे परे रहता है। वह न कभी दीन होता है, न कभी उद्धत, न प्रमत्त, न खिन्न, न उद्विग्न, न हर्षित। जैसे आंख देखनेका आनन्द लेती है वैसे ही वह भी बिना विशेष यत्न किये यथाप्राप्त भोगोंको लीलासे असक्त मन होकर भोगता रहता है। शत्रुओंके बीचमें भी वह दया और चतुराईसे रहता है। अपने स्वरूपको जाननेवाला वह राग द्वेषोंके वसमें नहीं होता। वासना-रहित होकर जो इस भावसे कामोंको करता है कि यह विश्वकी क्रियाएँ हैं, वह मुक्त है। वह कामोंके करते हुए उनके बनने और बिगड़नेसे प्रसन्न नहीं होता और सोच फ़िक्र नहीं करता और सदा

ही समभावसे रहता है। अप्राप्तकी वाञ्छा न करना और प्राप्त भोगोंको भोग लेना ज्ञानियोंका लक्षण है। ज्ञानी लोग जगत्‌के व्यवहारको न त्यागते हैं और न उसकी कामना ही करते हैं। जैसा जैसा अवसर होता है वे वैसा ही व्यवहार करते हैं। अपने शरीररूपी रथमें स्वस्थ और उन्नत मस्तक होकर बैठे हुए मुक्त लोग इच्छा-रहित रहते हुए यथाप्राप्त व्यवहारको करते हुए विचरते हैं। बोधमात्रमें स्थित वे जीवन्मुक्त जागते हुए भी सोतेसे दिखाई पड़ते हुए जगत्‌के सब व्यवहार करते रहते हैं। जीवन्मुक्तकी सब सांसारिक कल्पनाएँ शान्त हो गई हैं। वह कल्पनामुक्त होता हुआ भी कल्पना-रहित है; चित्तयुक्त होता हुआ भी चित्तरहित है। काम करते हुए या न करते हुए उसमें अहंभाव नहीं रहता; उसकी बुद्धि किसी काममें लिप्त नहीं होती। स्त्री, पुत्र, मित्र और धन सम्पत्तिको वह पूर्व जन्मके किये हुए कर्म्मों-का फल और स्वप्नके समान समझता है। उसके अन्दर लोकेषणा, दारेषणा और धनेषणा नहीं उत्पन्न होतीं; वह अपूर्व विश्रान्तिका अनु-भव करता है और जीता हुआ ही मुर्देके समान दिखाई पड़ता है। सामयिक आपत्तियोंमें, सदा रहनेवाले सुखों और दुःखोंमें; न वह प्रसन्न होता है और न ग्लानिका अनुभव करता है। इष्ट वस्तुकी चाहना और अनिष्ट वस्तुसे नफ़रत उसके मनमें नहीं होती; वह सदा सोते हुए पुरुषकी नाईं प्राकृत आचरण करता रहता है। जिसके भीतर हेय और उपादेयकी कलना और "मैं और मेरा" भाव क्षीण हो गया है वह जीवन्मुक्त है। जिसके मनपर हर्ष और शोक, भय, क्रोध, काम और कृपणता आदिका असर नहीं होता वह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त सब स्वाभाविक कामोंको करता है और सब दृष्टियोंमें मध्यस्थ रहता है (अर्थात् किसी एक दृष्टिका पक्षपात नहीं करता)। वह सदा ध्येय वासना-त्यागका अवलम्बन करके स्थित रहता है। सदा और सब जगह वह उद्वेगसे रहित और सब कामोंमें सहायता देनेवाला है। वह विवेकमें स्थिर, आत्माको जाननेवाला और प्रबोधरूपी उपवनमें सदा वास करनेवाला है। वह सबसे परेवाले पदका ही अवलम्बन करता है; न कभी उद्विग्न होता है और न हर्षित; वह संसारमें कभी दुःख नहीं पाता। वह सङ्गरूपी रङ्गसे रहित है; उसका अभिमानरूपी ज्वर उतर चुका है; वह आत्मानुभवके आनन्दमें स्थित रहता है; पूर्ण और पवित्र मनवाला होता है। वह कामरूपी कीचड़से स्पृष्ट नहीं होता; उसका

भ्रमरूपी बन्धन कट चुका है; वह द्वन्द्व, दोष और भयसे मुक्त है और संसारसागरसे पार हो चुका है। यद्यपि उसके कामोंसे ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कुछ चाहता है, किन्तु वास्तवमें वह कुछ भी नहीं चाहता; सब कामोंमें प्रसन्न होता और आनन्द लेता दिखाई देता हुआ भी वह वास्तवमें किसी विषयसे प्रसन्न नहीं होता। वह किसी भी कामके करनेकी वासना नहीं रखता, सब उपाधियोंसे वरी रहता है, और सब आशाओंको त्याग चुका है। जीवन्मुक्त किसी दुःख सुख देनेवाली स्थितिमें नहीं फँसते; केवल स्वाभाविक काम करते हैं; या कुछ भी नहीं करते। वे सदा ही आत्मामें रत रहते हैं, संसारके व्यवहार उनको इस प्रकार कुछ आनन्द नहीं दे सकते जैसे कि सोये हुए पुरुषको मनोहर रूपवाली स्त्रियां। जो उनको प्राप्त नहीं है उसकी वे चिन्ता नहीं करते, और जो उनको प्राप्त हो गया है उसकी वे प्रशंसा नहीं करते; शङ्कारहित होकर वे यथाप्राप्त स्थितियोंके अनुसार व्यवहार करते हैं। उस यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार व्यवहार करनेवाले !जीवन्मुक्तके मुखकी शोभा सुख दुःखमें उदय और अस्त नहीं होती; बाहर रागद्वेष और भय आदि भावोंके अनुसार आचरण करता हुआ भी वह भीतर आकाशके समान शुद्ध रहता है। वह सब विषयोंके बीचमें व्यवहार करता हुआ भी शीतल और परिपूर्ण रहता है।

(२) जीवन्मुक्तके लिये न कुछ प्राप्य है और न त्याज्य :—

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै ।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥ (६/२।१९९।२)
न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् ।
न वास्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम् ॥ (६/२।१९९।३)
ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥ (६/२।१९९।४)
नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः ।
आत्मैकतत्त्वसन्निष्ठाः सदैव सुसमाधयः ॥ (५।६२।६)
काकतालीयवद्रूढां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
न कुर्वन्त्यपि वै किञ्चिन्नैषां क्वचिदपि ग्रहः ॥ (६/१।६९।११)

रूपालोकनमस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ (६/६।३।१२)

यस्मादात्मनो व्यतिरिक्ते वस्तुनि सिद्धे सति तत्रेच्छा प्रवर्तते । यत्र स्वात्मनो व्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि सम्भवति तत्रात्मा किमिव वाञ्छन्किमनुस्मरन्धावतु किमुपैतु ॥ (४।३७।१०)

अत इदमीहितमिदमनीहितमित्यात्मानं न स्पृशन्ति विकल्पाः । अतो निरिच्छतायामात्मा न किञ्चिदपि करोति कर्तृकरणकर्मणामेकत्वात् नच निरिच्छस्यात्मनो नैष्कर्म्यमभिमतं, द्वितीयायाः कल्पनाया अभावात् ॥ (४।३७।११)

जिसके मनमें यह विचार ही नहीं रहा कि अमुक वस्तु प्राप्य है और अमुक वस्तु त्याज्य है उसको कर्मोंका त्याग करनेसे क्या और उनको करनेसे क्या ? कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ज्ञानीको उद्वेग देनेवाली अतएव त्याज्य हो; न कोई ऐसी वस्तु है जो कि ज्ञानीके लिये प्राप्य हो और जिसके लिये वह यत्न करे। ज्ञानीको कर्मोंके त्यागनेसे कुछ लाभ नहीं, और न कर्मोंके करनेसे कोई हानी है; इसलिये वह जैसी स्थिति होती है उसके अनुसार व्यवहार करता है। वे सदा प्रवुद्ध मनवाले संसारके सब काम करते हुए भी आत्मामें ही स्थित रहनेके कारण सदा ही समाधिमें रहते हैं। संयोगवश जो काम उनके पल्ले पड़ जाता है उसे वे सदा करते हैं। यदि वे न भी करें तो उनके ऊपर कोई मजवूरी नहीं है। इन्द्रियों और मनकी सभी क्रियाएँ करते हुए भी ज्ञानी उनको इस भावनासे नहीं करता कि उसको किसी वस्तुकी प्राप्ति करनी है। अतएव ज्ञानी कभी कर्ता नहीं होता। यदि आत्मासे अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ सत्य हो तभी तो उसके प्राप्त करनेकी इच्छा की जावे; जब कि आत्मासे अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं तव फिर आत्मा किसकी इच्छा करे, किसका ध्यान करे, किसके पीछे दौड़े और किसको प्राप्त करे ? इसलिये यह वाञ्छनीय है और यह अवाञ्छनीय है इस प्रकारका विचार मुक्तके आत्मामें नहीं उठता ! इस प्रकारकी इच्छा न होनेपर आत्मा कुछ भी नहीं करता क्योंकि कर्ता, कर्म और कारण सब आत्मा ही है। इच्छारहित आत्मा कर्मरहित भी नहीं होना चाहता, क्योंकि आत्माके सिवाय और कोई वस्तु है ही नहीं जिससे वह डरे।

(३) जीवन्मुक्त महाकर्ता है :—

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्काविरहिताशयः ।
यः करोति यथाप्राप्तौ महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।११)
रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।१२)
मौनवन्निरहंभावो निर्मलो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।१३)
शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मौ कुशङ्कया ।
मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।१४)
उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।१६)
उदासीनः कर्तृतां च कर्माकर्माचरन्श्च यः ।
समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।१८)
स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
शुभाशुभं ह्याचरन्यो महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।१९)
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२०)

वह महाकर्ता है जो यथाप्राप्त धर्म और अधर्मको शङ्कारहित होकर करता है; जो रागद्वेष, सुख दुःख, धर्म अधर्म, सफलता और विफलतामें निरपेक्ष रहकर काम करता है; जो अहंभाव, मल और मत्सरसे रहित होकर मौनीकी नाईं उद्वेगरहित रहकर काम करता है; जिसके मनमें शुभ और अशुभ, धार्मिक और अधार्मिक कामोंके करते हुए शङ्का नहीं होती; जो उद्वेग और आनन्दसे रहित है, जो सम और शुद्ध बुद्धिसे काम करते हुए न उल्लसित होता है और न चिन्ता करता है; जो कर्म और अकर्म दोनोंमें उदासीन रहकर काम करता हुआ भीतर समभावसे रहता है; जो स्वभावसे ही शान्त है, जो शुभ या अशुभ कामोंको करता हुआ कभी समताका त्याग नहीं करता; और जिसका मन उत्पत्ति, स्थिति, नाश, उदय और अस्त, सब अवस्थाओंमें समान रहता है।

(४) संसारका व्यवहार करता हुआ भी जीवन्मुक्त समाधिमें ही रहता है :—

व्यवहारी प्रबुद्धो यः प्रबुद्धो यो वने स्थितः ।
द्वावेतौ सुसमौ नूनमसंदेहं पदं गतौ ॥ (५।५६।१२)
अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरंगतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥ (५।५६।१३)
अकुर्वदपि कर्तैव चेतः प्रघनवासनम् ।
निस्पन्दाङ्गमपि स्वप्ने श्वभ्रपातस्थिताविव ॥ (५।५६।१४)
चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ (५।५६।१५)
गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहंकृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ (५।५६।२२)
अरण्यसदने तुल्ये समाहितमनोदृशाम् ॥ (५।५६।२३)
अन्तः शीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ॥ (५।५६।३३)
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥ (५।५६।२७)
य सर्वगतमात्मानं पश्यन्समुपशान्तधीः ।
न शोचति ध्यायति वा स समाहित उच्यते ॥ (५।५६।४४)
ईदृशाशयसम्पन्नो महासत्त्वपदं गतः ।
तिष्ठतूदेतु वा यातु मृतिमेतु न तत्स्थितिम् ॥ (५।५६।५१)
वसतूत्तमभोगाढ्ये स्वगृहे वा जनाकुले ।
सर्वभोगोज्झिताभोगे सुमहत्यथवा वने ॥ (५।५६।५२)
उद्दाममन्मथं पानतत्परो वापि नृत्यतु ।
सर्वसङ्गपरित्यागी सममायातु वा गिरौ ॥ (५।५६।५३)
चन्दनागरुकर्पूरैर्वपुर्वा परिलिम्पतु ।
ज्वालाजटिलविस्तारे निपतत्वथवाऽनले ॥ (५।५६।५४)
पापं करोति सुमहद्बहुलं पुण्यमेव च ।
अद्य वा मृतिमायातु कल्पान्तनिचयेन वा ॥ (५।५६।५५)
नासौ किञ्चिन्न तत्किञ्चित्कृतं तेन महात्मना ।
नासौ कलङ्कमाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा ॥ (५।५६।५६)

व्यवहारमें लगा हुआ ज्ञानी और वनमें रहनेवाला ज्ञानी दोनों

ही एकसे हैं—दोनों ही सन्देहरहित (मुक्ति) पदको प्राप्त हो चुके हैं। जीवन्मुक्तका मन वासनाके क्षीण हो जानेके कारण कर्म करते हुए भी अकर्ता है, जैसे कथा सुननेमें उस आदमीका मन जिसका ध्यान दूर चला गया हो। जिनके चित्तमें गहरी वासनायें भरी हैं उनका मन कर्म न करते हुए भी कर्ता है—जैसे कि कुछ भी क्रिया न करता हुआ व्यक्ति स्वप्नमें गड्ढेमें गिरनेका अनुभव कर लेता है। चित्तका अकर्तृत्व भाव ही उत्तम समाधि है। उसीको केवलीभाव और उसीको परम निर्वृत्ति कहते हैं। जिनका चित्त भली भांति स्थिर है और जिनका अहंभावरूपी दोष क्षीण हो चुका है, उन गृहस्थियोंके लिये उनका घर ही निर्जन वनके तुल्य है। समाहित चित्तवालोंके लिये तो घर और वन एकसे हैं। जब अपने भीतर शीतलता आ जाती है तो सारा संसार शीतल हो जाता है। जो अपने आत्माको सब भावों और पदोंसे परे और सब भावोंको युक्त रूपसे देखता है वही समाधिस्थ है। जो आत्माको सब वस्तुओंके भीतर देखता हुआ शान्तबुद्धि होकर न किसी वस्तुका ध्यान करता है और न किसीकी सोच करता है वही समाहित है। जीवन्मुक्त महासत्त्व पदको प्राप्त करके इतनी ऊँची पदवीपर पहुँच जाता है कि उसको इस बातकी ज़रा भी परवाह नहीं रहती कि वह रहे या न रहे; मरे या जिये; सब प्रकारकी उत्तम भोगने योग्य वस्तुओंसे परिपूर्ण और अनेक व्यक्तियोंसे भरे हुए घरमें रहे, अथवा सब प्रकारके भोगोंसे रहित विशाल वनमें; उद्दीप्त कामयुक्त सुरापान किये हुए नाचे, अथवा सब प्रकारके सङ्गको त्याग करके पहाड़ोंपर जाए; चन्दन, अगरु, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थोंको शरीरपर लगाये, अथवा महाप्रचण्ड लटाओंवाली अग्निमें कूदे; बहुत बड़े पाप करे अथवा पुण्य; उसे आज ही मौत आ जाये अथवा कल्पके अन्तमें। ऐसा कोई काम नहीं है जो मुक्त पुरुष करे या न करे। जैसे कीचड़में पड़कर भी सोना मैला नहीं होता वैसे ही जीवन्मुक्तको किसी काम करनेमें कलङ्क नहीं लगता।

(५) जीवन्मुक्त महाभोक्ता है :—

न वाञ्छता न त्यजता दैवप्राप्ताः स्वभावतः ।
सरितः सागरेणैव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥ (६।३९।५१)

अयत्नोपनतं सर्वं लीलयासक्तमानसः ।
भुंक्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ (५।७४।६३)
काकतालीयवत्प्राप्ता भोगाली ललनादिका ।
स्वादिताप्यङ्ग धीरस्य न दुःखाय न तुष्टये ॥ (५।७४।६४)
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ (४।४६।८)
न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदभिकांक्षति ।
भुंक्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२१)
नादत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नपि ।
भुञ्जानोऽपि न यो भुंक्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२२)
साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमखिन्नधीः ।
पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२३)
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२५)
महान्ति सुखदुःखानि यः पयांसीव सागरः ।
समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२६)
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।
अधमं योऽत्ति साम्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२८)
सरसं नीरसं चैव सुरतं विरतं तथा ।
यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।२९)
क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे वाप्यशुभे तथा ।
समता सुस्थिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।३०)
इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
गताभिलाषं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।३१)
आपदं सम्पदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६/१।११५।३२)

दैवयोगसे प्राप्त जो स्वाभाविक भोग हैं उनको बिना वाञ्छा और बिना घृणाके ऐसे भोगना चाहिये जैसे कि समुद्र अपनेमें पड़ी हुई नदियोंका भोग करता है। जैसे आंख देखनेका आनन्द लेती है वैसे ही ज्ञानी भी बिना किसी विशेष यत्नके प्राप्त भोगोंको असक्त मन होकर लीलासे भोगते हैं। दैवयोगसे प्राप्त स्त्री आदि भोग भोगनेपर

धीर पुरुषको न आनन्द होता है और न दुःख। अप्राप्त भोगोंकी वासना न करना और प्राप्त भोगोंका भोग करना ही ज्ञानियोंका लक्षण है। (जीवन्मुक्त महाभोक्ता है)। महाभोक्ता उसे कहते हैं जो न किसी विषयकी इच्छा करता है और न किसीसे घृणा करता है; सब स्वाभाविक भोगोंको भोगता है; जो देते हुए भी कुछ नहीं देता; जो करते हुए भी कुछ नहीं करता, जो भोगते हुए भी कुछ नहीं भोगता; जो समस्त लोक व्यवहारको विना खिन्न मनके साक्षीके समान इच्छा-रहित होकर देखता है; जो बुढ़ापे और मौतको, आपत्ति, राज्य और दारिद्र्यको एकसा ही रम्य समझता है; जो महान् दुःख और सुखोंको समान भावसे ऐसे ग्रहण करता है जैसे समुद्र सब नदियोंको; जो कड़ुये, खट्टे, नमकीन, चर्चरे और मीठे, उत्तम और अधम खाद्य पदार्थोंको समान भावसे खाता है; जो सरस और नीरस, सुरत और विरतको समान भावसे और शान्त रहकर देखता है; जिसके लिये नमक और मिठाई, शुभ और अशुभ ठीक समान जान पड़ते हों; जो अभिलाषा-रहित होकर और इस विचारको छोड़कर खाता है कि यह खाने लायक़ (स्वादिष्ट) पदार्थ है और यह खाने लायक़ नहीं, और जो आपत्ति और सम्पत्ति, आनन्द और मोह अपने और पराये सबका समबुद्धिसे भोग करता है।

(६) जीवन्मुक्तको शरीरसे घृणा नहीं होती; वह शरीर नगरीपर राज्य करता है :—

स उत्तमपदालम्बी चक्रभ्रमवदास्थितः।
शरीरनगरीराज्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (४।२३।१)
तस्येयं भोगमोक्षार्थं तज्ज्ञस्योपवनोपमा।
सुखायैव न दुःखाय स्वशरीरमहापुरी॥ (४।२३।२)
रम्येयं देहनगरी राम सर्वगुणान्विता।
ज्ञस्यानन्तविलासाढ्या स्वालोकार्कप्रकाशिता॥ (४।२३।४)
स्वशरीरमनोज्ञस्य सर्वसौभाग्यसुंदरी।
सुखायैव न दुःखाय परमाय हिताय च॥ (४।२३।१७)
अज्ञस्येयमनन्तानां दुःखानां कोशमालिका।
ज्ञस्य त्वियमनन्तानां सुखानां कोशमालिका॥ (४।२३।१८)

सुखावहैषा नगरी नित्यं वै विदितात्मनः ।
भोगमोक्षप्रदा चैषा शक्रस्येवामरावती ॥ (४।२३।२९)
अत्रस्थः पुरुषो भोगानात्मा सर्वगतोऽपि सन् ।
विश्वकल्पकृतान्भुक्त्वा पुंसामधिगतार्थभाक् ॥ (४।२३।३३)
इन्द्रियाणां न हरति प्राप्तमर्थं कदाचन ।
नाददाति तथा प्राप्तं संपूर्णो ज्ञोऽवतिष्ठते ॥ (४।२३।४५)

जीवन्मुक्त उत्तम पदपर स्थित रहता हुआ चक्रभ्रम (हिंण्डोले) पर बैठे हुए व्यक्तिकी नाईं शरीर-नगरीपर राज्य करता हुआ भी नहीं लिप्त होता। ज्ञानीके लिये यह शरीर-नगरी उपवनके समान भोग और मोक्षके देनेवाली है; सुख देनेवाली है, दुःख देनेवाली नहीं है। हे राम! यह देहनगरी बड़ी सुरम्य और सर्वगुण सम्पन्न है; ज्ञानीको अनन्त आनन्द देनेवाली और आत्मसूर्यका प्रकाश करनेवाली है। जो अपने शरीर और मनका ज्ञान रखता है उसके लिये यह सर्व सौभाग्य और सौन्दर्यवाली शरीर-नगरी दुःख देनेवाली नहीं है; बल्कि परम-हित और सुखको देनेवाली है। यह शरीर ज्ञानियोंको तो अनन्त प्रकारके सुख और आनन्दका और अज्ञानियोंको अनन्त प्रकारके दुःखोंका देनेवाला है। जैसे इन्द्रको अमरावती सुख देती है वैसे ही यह देह भी ज्ञानियोंको सुख देती है और उनके भोग और मोक्षका साधन होती है। शरीरमें बैठा हुआ सर्वगत आत्मा नानाप्रकारके भोगोंको भोगता हुआ अपने पुरुषार्थको प्राप्त कर लेता है। ज्ञानी लोग इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयोंका तिरस्कार नहीं करते और अप्राप्त विषयोंको पानेका यत्न नहीं करते; परिपूर्ण भावमें स्थित रहते हैं।

(७) जीवन्मुक्त यथाप्राप्त अवस्थाके अनुसार व्यवहार करता है :—

यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये ।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः ॥ (६¹।१०४।४०)
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन्बालतयैव ते ।
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभावतः ॥ (६¹।१०४।४१)
यावत्तिलं यथा तैलं यावद्देहं तथा दशा ।
यो न देहदशामेति स च्छिनत्त्यसिनाम्बरम् ॥ (६¹।१०४।४२)

एष देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगान्नतु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ (६/१।१०४।४३)
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्ग विजानता ।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं नतु बुद्धीन्द्रियैः क्वचित् ॥ (६/१।१०४।४४)
क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
प्रकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ (६/१।१०६।६)

वे ज्ञानी नहीं हैं, मूर्ख हैं, जो जबतक देह है तबतक समचित्त होकर देहकी अवस्थाओंके अनुसार कर्मेन्द्रियोंका व्यवहार नहीं करते। जो मूर्ख तत्त्वको नहीं जानते वे ही अपने बालकपनके कारण स्वाभाविक अवस्थाओंसे दूर भागते हैं। जैसे जबतक तिल है तबतक तेल है, वैसे ही जबतक यह शरीर है तबतक इसकी स्वाभाविक दशायें हैं। जो शरीरकी अवस्थाके अनुसार व्यवहार नहीं करता वह तलवारसे आकाशको काटता है। देहकी दशाके अनुसार होनेवाले दुःख सुखोंका त्याग करना ठीक नहीं। चित्तकी शान्ति और समता तो योगसे प्राप्त होती है न कि कर्मेन्द्रियोंको स्थगित कर देनेसे। जबतक शरीर है तबतक ज्ञानपूर्वक सदाचारके अनुसार कर्मेन्द्रियों-द्वारा देहकी आवश्यकतायें पूरी करनी चाहिये—मनद्वारा नहीं। जबतक सृष्टि है तबतक काम करने हीसे मनको प्रसन्न करनेवालेको सुख मिलता है। स्वाभाविक कामोंको करनेसे किसीको कोई दोष नहीं लगता।

(८) बाह्य व्यवहारमें ज्ञानी और अज्ञानीको समानता :—

व्यवहारे यथैवाज्ञस्तथैवाखिलपण्डितः ।
वासनामात्रभेदोऽत्र कारणं बन्धमोक्षदम् ॥ (४।१५।३७)
यावच्छरीरं तावद्धि दुःखे दुःखं सुखे सुखम् ।
असंसक्तधियो धीरा दर्शयन्त्यप्रबुद्धवत् ॥ (४।१५।३८)
मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि ।
बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि ॥ (४।१५।४२)
सुखदुःखदशो लोके बन्धमोक्षदशास्तथा ।
हेतुर्बुद्धीन्द्रियाण्येव तेजांसीव प्रकाशने ॥ (४।१५।४३)

(बाह्य) व्यवहारमें जैसा अज्ञानी वैसा ही सर्वज्ञ। भेद केवल वासनाका है जो कि बन्धन और मोक्षका कारण है। जबतक शरीर है तबतक दुःखमें दुःख और सुखमें सुख अज्ञानियोंकी नाईं असंसक्त ज्ञानियोंके शरीरमें भी होते दिखाई पड़ते हैं। जो मनसे मुक्त है वही मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियोंके व्यवहारमें बँधा हुआ ही हो, और जो मनसे बद्ध है वही बद्ध है, चाहे कर्मेन्द्रियोंसे वह कुछ भी न करता हो। संसारमें सुख दुःखका अनुभव दिलानेवाली और बन्ध मोक्षकी ओर ले जानेवाली केवल बुद्धीन्द्रियां (मन, बुद्धि आदि) ही हैं, कर्मेन्द्रियां नहीं, जैसे सूर्यकी किरण प्रकाशका हेतु हैं।

(६) जीवन्मुक्तका चित्त :—

मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते। (६/१।१०१।३१)
भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते॥ (६/१।१०१।३२)

आत्मविदां हि तन्मनः परमुपशममागतं मृगतृष्णाजलमिव वर्षति जलदे हिमकण इव चण्डातपे विलीनं तुर्यदशामुपागतं स्थितम्॥ (४।३८।९)

भृष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना॥ (५।४२।१४)

जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते॥ (६/१।२।४२)

जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता॥ (६/१।२।४३)

निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञा निर्लं समपदे स्थिताः।
लीलया प्रभ्रमन्तीह सत्त्वसंस्थितिहेलया॥ (६/१।२।४४)

विवेकविशदं चेतः सत्त्वमित्यभिधीयते।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाङ्कुरम्॥ (६/१।२।४७)

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम्।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः॥ (६/१।२।४६)

मूढ़ चित्त ही चित्त कहलाता है, प्रबुद्ध चित्त सत्त्व कहलाता है! चित्तका दूसरा जन्म होता है सत्त्वका नहीं। आत्मज्ञानियोंका मन अत्यन्त उपशमको ऐसे प्राप्त होकर जैसे कि बादलके बरसनेपर मृगतृष्णाकी नदीका जल और तेज़ धूपके पड़नेपर बरफ़का कण विलीन हो जाते हैं, तुर्य दशामें स्थित हो जाता है। जीवन्मुक्तोंका हृदय

शुद्ध होकर इस प्रकार दूसरे जन्मको उत्पन्न नहीं करता जैसे कि भुना हुआ बीज नये अङ्कुरको उत्पन्न नहीं कर सकता। उन जीवन्मुक्त महात्माओंका चित्त, जिन्होंने उस तत्त्वका दर्शन कर लिया है जो यहां और वहां सब जगह है, सत्त्व कहलाता है। जीवन्मुक्तके शरीरमें व्यवहार करनेवाली वासनाका नाम चित्त नहीं है; वह सत्त्व कहलाती है। तत्त्वज्ञानी लोग जो नित्य समभावमें स्थित हैं चित्तरहित हो जाते हैं। वे सत्त्वके स्पन्दनद्वारा लीलासे संसारमें भ्रमण करते हैं। विवेकद्वारा शुद्ध किया हुआ चित्त 'सत्त्व' कहलाता है; जैसे भुने हुए बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही सत्त्वसे मोह उत्पन्न नहीं होता। जो मुनि अन्तर्मुख होकर चितिरूपी अग्निमें तीनों जगत्‌रूपी तृणोंकी आहुति देता रहता है उसके लिये चित्त आदिका भ्रम मिट जाता है।

(१०) जीवन्मुक्त और सिद्धियां :—

तत्त्वज्ञो वाप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वत्वादि सिध्यति॥ (५।८९।१६)
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः।
आत्मन्येव हि संतुष्टो न करोति न चेहते॥ (५।८९।१७)
न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः।
न प्रभावेण नो मानैर्नाशामरणजीवितैः॥ (५।८९।१८)
यस्तु वा भावितात्मापि सिद्धिजालानि वाञ्छति।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात्॥ (५।८९।२३)
द्रव्यकालक्रियामन्त्रप्रयोगाणां स्वभावजाः।
एतास्ताः शक्तयो राम यद्व्योमगमनादिकम्॥ (५।८९।२७)
सदा स्वभाववशतो द्रव्यकालक्रियाक्रमाः।
नियतं साधयन्त्याशु प्रयोगं युक्तियोजिताः॥ (५।८९।२९)
यथोदेति च यस्येच्छा स तया यतते तथा।
यथाकालं तदाप्नोति ज्ञो वाप्यज्ञतरोऽपि वा॥ (५।८९।३४)
याः फलावलयो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः।
तास्तेनाधिगता राम निजात्प्रयतनद्रुमात्॥ (५।८९।३७)

तत्त्वज्ञानी हो या अज्ञानी हो, जो कोई काल द्रव्य और क्रियाद्वारा सिद्धियां प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है वही आकाशगमन आदि

सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है। जो जीवन्मुक्त आत्मभावमें स्थित है उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई हैं, वह सबसे परेके पदपर स्थित है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है। वह किसी प्रकारका यत्न नहीं करता। न उसे आकाशगमन आदि सिद्धियोंसे कुछ मतलब है, और न भोगोंसे; न उसे प्रभावकी इच्छा है और न सन्मानकी; उसे न जीनेकी आशा है और न मरनेका भय। यदि कोई आत्मज्ञानी भी सिद्धियां प्राप्त करना चाहे तो वह भी सिद्धिके देनेवाले द्रव्योंद्वारा उनको क्रमसे प्राप्त कर सकता है। द्रव्य, काल, क्रिया, मन्त्र और प्रयोगकी जो स्वाभाविक शक्तियां हैं उनको वशमें करनेसे आकाशगमन आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं। द्रव्य, काल, क्रिया और क्रम युक्तिसे उपयोगमें लानेपर अपने स्वाभाविक फलोंको देते हैं। जिसके चित्तमें जैसी इच्छा उत्पन्न होती है, वह, चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, यत्न करके उसको यथासमय पूरी कर लेता है। जो जो सिद्धि-नामक फल जिस जिसने प्राप्त किये हैं वे सब उन्होंने अपने अपने ही पुरुषार्थरूपी वृक्षसे पाये हैं।

(११) जीवन्मुक्त सब आपत्तियोंसे छूट जाता है :-

वेत्ति नित्यमुदारात्मा त्रैलोक्यमपि यस्तृणम्। (४।३२।३७)
तं त्यजन्त्यापदः सर्वाः सर्पा इव जरत्वचम्॥ (४।३२।३८)
परिस्फुरति यस्यान्तर्नित्यं सत्त्वचमत्कृतिः। (४।३२।३८)
ब्राह्ममण्डमिवाखण्डं लोकेशाः पालयन्ति तम्॥ (४।३२।३९)
न किञ्चिद्येन सम्प्राप्तं तेनेदं परमामृतम्।
सम्प्राप्यान्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम्॥ (५।३४।७६)

जो उदार चित्तवाला महात्मा त्रिलोकीको तृणके समान समझता है उसको छोड़कर सारी आपदायें ऐसे चली जाती हैं जैसे कि सांप अपनी पुरानी खाल (केंचुली) को। जिसके भीतर सदा सत्त्वका प्रकाश रहता है उसकी लोकपाल इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे सारे ब्रह्माण्डकी। जो कुछ भी नहीं लेता उसीको परम अमृत मिलता है जिसको पाकर वह सब कुछ अखण्ड और पूर्णरूपसे पा लेता है।

(१२) जीवन्मुक्तका जीवन ही शोभायुक्त जीवन है :-

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात्।
यथार्थदर्शिनो ज्ञस्य जीवितं तस्य शोभते॥ (५।२९।४६)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभावेषु जीवितं तस्य राजते ॥ (५।३९।४७)
योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ (५।३९।४८)
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ (५।३९।४९)
अवस्तुसदृशे वस्तुन्यसक्तं कलनामले ।
येन लीनं कृतं चेतो जीवितं तस्य शोभते ॥ (५।३९।५०)
सत्यां दृष्टिमवष्टभ्य लीलयेयं जगत्क्रिया ।
क्रियतेऽवासनं येन जीवितं तस्य राजते ॥ (५।३९।५१)
नान्तस्तुष्यति नोद्वेगमेति यो विरहन्नपि ।
हेयोपादेयसंप्राप्तौ जीवितं तस्य शोभते ॥ (५।३९।५२)
शुद्धपक्षस्य शुद्धस्य हंसौघः सरसो यथा ।
यस्माद्गुणौघो निर्याति जीवितं तस्य शोभते ॥ (५।३९।५३)
यस्मिन्श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते ।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवित तस्य शोभते ॥ (५।३९।५४)
यद्यत्संसारजालेऽस्मिन्क्रियते कर्म भूमिप ।
तत्समाहितचित्तस्य सुखायान्यस्य नानघ ॥ (५।६२।२)
पूर्वं धिया विचार्यैते भोगा भोगिभयप्रदाः ।
भोक्तव्याश्चरमं राम गरुडेनेव पन्नगाः ॥ (५।७६।१८)
विचार्य तत्त्वमालोक्य सेव्यन्ते या विभूतयः ।
ता उदर्कोदया जन्तोः शेषा दुःखाय केवलम् ॥ (५।७६।१९)
असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम विभूतयः ।
परं विस्तारमायान्ति प्रावृषीव महापगाः ॥ (५।६८।४९)
बलं बुद्धिश्च तेजश्च दृष्टतत्त्वस्य वर्धते ।
सवसन्तस्य वृक्षस्य सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ (५।७६।२०)

जिस यथार्थदर्शी ज्ञानीकी बुद्धि आत्मावलोकनसे विचलित नहीं होती उसका ही जीवन शोभायुक्त है। जिसके अन्दर अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि विषयोंमें लिप्त नहीं होती; जो सब भावोंमें सम रहता है, उसका ही जीवन शोभा पाता है। जो रागद्वेषसे रहित है और शीतल बुद्धिसे इस जीवनको साक्षीके समान देखता है, जीवन

उसका ही शोभित होता है। जिसने यथार्थ ज्ञान पाकर और हेय और उपादेय भावनाको त्यागकर अपने मनके भीतर ही मनको स्थापित कर लिया है, जीवन उसीका शोभा पाता है। सच्ची दृष्टिको प्राप्त करके जो लीलासे ही जगत्की क्रियाओंको वासनारहित होकर करता है जीवन उसका ही शोभायुक्त होता है। जो हेय और उपादेय विषयोंमें विचरण करता हुआ अपने मनमें न उद्विग्न होता है और न हर्षित, जीवन उसका ही शोभित होता है। जैसे शुद्ध सरोवरसे श्वेत हंसों-की पंक्ति निकलती है वैसे ही जिसमेंसे सद्गुणोंकी पंक्तियां निकलती हैं, जीवन उसका ही सुशोभित होता है। जिसके गुणोंको सुनकर, जिसको देखकर, जिसका स्मरण करके सब प्राणियोंको आनन्द होता है जीवन उसका ही शोभायुक्त है। संसारमें जो जो काम किये जाते हैं उनसे समाहित चित्तवालोंको ही आनन्द मिलता है, दूसरोंको नहीं। बुद्धिद्वारा विवेक प्राप्त कर लेनेपर ही सांपकी नाईं भयदायक भोगोंको इस प्रकार भोग करना चाहिये जैसे कि गरुड़ सांपोंको खा जाता है। तत्त्वका विचार और दर्शन कर लेनेपर विभूतियोंका सेवन करनेसे आनन्दकी प्राप्ति होती है, अन्यथा दुःख मिलता है। जैसे वर्षा ऋतुमें नदियां बड़ा आकार धारण कर लेती हैं वैसे ही सङ्गरहित होकर भोगोंको भोगनेपर उनकी विभूतियां और अधिक हो जाती हैं। जैसे वसन्त ऋतुमें वृक्षोंकी सुन्दरता और शोभा आदि गुण बढ़ जाते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेपर मनुष्यमें बल, बुद्धि और तेजकी वृद्धि हो जाती है।

(१३) शरीरके अन्त हो जानेपर जीवन्मुक्त विदेह मुक्तिमें प्रवेश करता है :—

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ (३।९।१४)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥ (३।९।१५)
सूर्यो भूत्वा प्रतपति विष्णुः पाति जगत्त्रयम्।
रुद्रः सर्वान्संहरति सर्गान्सृजति पद्मजः॥ (३।९।१६)
खं भूत्वा पवनस्कन्धं धत्ते सर्षिसुरासुरम्।
कुलाचलगतो भूत्वा लोकपालपुरास्पदः॥ (३।९।१७)

भूमिर्भूत्वा बिभर्तीमां लोकस्थितिमखण्डिताम् ।
तृणगुल्मलता भूत्वा ददाति फलसंततिम् ॥ (३।९।१८)
बिभ्रज्जलानलाकारं ज्वलति द्रवति द्रुतम् ।
चन्द्रोऽमृतं प्रसवति मृतं हलाहलं विषम् ॥ (३।९।१९)
तेजःप्रकटयत्याशास्तनोत्यान्धं तमो भवत् ।
शून्यं सद्व्योमतामेति गिरिः सन् रोधयत्यलम् ॥ (३।९।२०)
करोति जङ्गमं चित्तः स्थावरं स्थावराकृतिः ।
भूत्वार्णवो वलयति भूस्त्रियं वलयो यथा ॥ (३।९।२१)
परमार्कवपुर्भूत्वा प्रकाशान्तं विसारयन् ।
त्रिजगत्त्रसरेण्वोघं शान्तमेवावतिष्ठते ॥ (३।९।२२)
यत्किञ्चिदिदमाभाति भातं भानमुपैष्यति ।
कालत्रयगतं दृश्यं तदसौ सर्वमेव च ॥ (३।९।२३)
मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मैतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं पूर्णात्पूर्णतराकृति ॥ (३।९।२५)

जैसे चलती हुई हवा स्थिर हवामें प्रवेश कर जाती है वैसे ही देहके कालद्वारा नष्ट हो जानेपर जीवन्मुक्त विदेहमुक्त हो जाता है। विदेहमुक्त न उदय होता है और न अस्त होता है; न उसका अन्त होता है। न वह सत् रहता है न असत्, न कहीं दूर जाता है। न वह मैं हूँ न कोई दूसरा। (वह किसी कर्मके फल पानेके वशीभूत होकर शरीर धारण नहीं करता। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है वह जब चाहे जो रूप धारण कर ले)। वह सूर्य होकर जगत्को गर्मी देता है; विष्णु होकर त्रिलोकीका पालन करता है; रुद्र होकर सबका संहार करता है; ब्रह्मा होकर सृष्टिकी रचना करता है; आकाशके रूपमें वह सुर असुर और ऋषियों सहित वायु-मण्डलको धारण करता है; कुलाचल होकर लोकपालोंके नगरको धारण करता है; भूमि होकर सारे लोकोंको धारण करता है; तृण गुल्म और लता होकर फल फूलोंको धारण करता है; जलका आकार धारण करके वह दौड़ता है; आगका आकार धारण करके वह जलाता है; तेज होकर प्रकाश देता है; तम होकर अन्धेरा फैलाता है; शून्य होकर आकाश बनता है; पर्वत होकर रुकावट पैदा करता है; चेतन होकर चेतन जीवोंको उत्पन्न करता है और जड़ होकर जड़ वस्तुओंको; समुद्र होकर वह त्रिवलीकी नाईं पृथ्वीको

घेरता है; परम सूर्य होकर प्रकाशको फैलाता है; तीनों जगत्‌के परमाणु रूपसे वह शान्तिसे स्थित रहता है; जो कुछ भी यह जगत् दिखाई पड़ा है, पड़ता है, या दिखाई देगा—अर्थात् तीनों कालोंमें दिखाई देनेवाला दृश्य जगत्—सब कुछ वही है। हे राम! इस अवस्थाका नाम ही मुक्ति है; इसीको ब्रह्म कहते हैं: यही पूर्णसे भी परिपूर्ण स्वरूपवाला निर्वाण कहलाता है।

२९—स्त्रियाँ और योग

जिस योग-मार्गका ऊपर वर्णन किया गया है और जो जीवन्मुक्तिके पदपर लेजानेवाला है, उसके ऊपर चलनेका, वसिष्ठजीके अनुसार, सब मनुष्योंको अधिकार है; चाहे वे ब्राह्मण हों अथवा शूद्र; देव हों अथवा दैत्य; पुरुष हों अथवा स्त्री। यही नहीं, योगवासिष्ठके पढ़नेसे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि योगसाधनमें स्त्रियोंको शीघ्रतया और अधिकतर सफलता हो सकती है, क्योंकि वे पुरुषोंसे अधिक तीव्र बुद्धिवाली और लगनवाली होती हैं। वे जिस बातके पीछे पड़ती हैं उसको सिद्ध किये बिना चैन नहीं लेतीं। लीला और चुडालाके उपाख्यान इस विषयमें प्रमाण हैं। लीलाने सरस्वती की (जो स्वयं स्त्री थी) उपासना द्वारा जीवन और मरणका सारा रहस्य जान लिया था और अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करली थीं। वह त्रिकालदर्शिनी होकर सभी ब्रह्माण्डों और लोकोंमें जा सकती थी, और उसने अपने मृत पतिको दूसरे लोकोंसे बुलाकर जीवित कर लिया था। शिखिध्वज राजाकी बुद्धिमती और चतुर रानी चुडालाने, अपने पतिके योगसाधनके लिये सब कुछ त्यागकर वन चले जानेपर, उसके राज्यपर बड़ी निपुणतासे राज्य करते हुए ही, अपने पतिसे पहिले आत्मज्ञान प्राप्त करके, प्रच्छन्न वेषसे वनमें जाकर उसे ब्रह्मज्ञान और जीवन्मुक्तिका परम सुन्दर उपदेश किया, और उसको जीवन्मुक्त बना दिया। वास्तवमें, लीला और चुडालाके उपाख्यानोंमें योगवासिष्ठके सारे सिद्धान्त आ जाते हैं। ये दोनों उपाख्यान योगवासिष्ठका हृदय हैं। इनको पढ़कर पाठकोंको ज्ञात हो जायेगा कि योगवासिष्ठके अनुसार स्त्रीका स्थान कितना ऊंचा है। वैराग्य प्रकरणमें की हुई स्त्रीनिन्दा वसिष्ठका मत नहीं है; वह मत है अज्ञ और सद्यविरक्त रामचन्द्रका। वहाँ पर भी उनहीं स्त्रियोंकी निन्दा की गई है जो विषय-भोगों और कामवासनाओंकी तृप्तिको ही अपने जीवनका ध्येय समझकर पुरुषोंको अपने मोहजालमें फँसानेका प्रयत्न करती रहती हैं। इसके विपरीत

अच्छे कुलकी और सुशील स्त्रियाँ अपने पतियोंको संसारसागरसे पार उतारनेमें सहायक होती हैं। उनके सम्बन्धमें योगवासिष्ठमें कहा गया है :—

मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥ (६।१०९।२६)
शास्त्रार्थगुरुमंत्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥ (६।१०९।२७)
सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥ (६।१०९।२८)

अर्थात्—अच्छे कुलोंकी प्रयत्नशील स्त्रियाँ मनुष्यको अनन्त और अनादि गहरे मोहसे पार कर देती हैं। शास्त्र, गुरु और मंत्र आदिमेंसे कोई भी संसारसे पार उतारनेमें इतना सहायक नहीं है जितनी कि स्नेहसे भरी हुई अच्छे कुलोंकी स्त्रियाँ अपने पतियोंको पार उतारनेमें सहायक होती हैं। कुलीन स्त्रियाँ अपने पतिकी सखा, बन्धु, सुहृद्, सेवक, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, मन्दिर, दास आदि सभी कुछ होती हैं।

यदि किसी मुमुक्षुको ऐसी समान विचारोंवाली सहगामिनी मिल जाए तो, योगवासिष्ठके अनुसार, इस संसारमें इससे अधिक आनन्ददायक कुछ नहीं है :—

समग्रानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ।
यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वादने सुखम् ॥ (६।८५।४३)

संसारके सब आनन्दोंसे बढ़कर वह सुख है जोकि समान मनोवृत्तिवाले दम्पतीको एक दूसरेकी संगतमें प्राप्त होता है।

३०—उपसंहार

श्री योगवासिष्ठ महारामायणके दार्शनिक सिद्धान्तोंका विशेष विवरण समाप्त हो चुका। यहांपर यदि उनको संक्षिप्त और सूक्ष्म रूपमें पाठकोंके सामने दुहरा दिया जाए तो अनुचित न होगा। वसिष्ठजीके सिद्धान्तोंका सार यह है :—

मनुष्यके जीवनके अधिकतर अथवा सभी दुःखोंका कारण उसका अज्ञान है। जितना जितना मनुष्यको अपने और जगत्के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता जाएगा उतना ही मनुष्यका दुःख कम होता चला जाएगा। पूर्ण आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर, और तदनुसार आचरण करनेपर, मनुष्यके सब दुःख क्षीण हो जाते हैं, और उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इस परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीवको अपने आप ही पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये। विना पुरुषार्थ किये, किसी दूसरेकी कृपा-मात्रसे, मनुष्यको उस परमपदकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये उसका अधिकारी बनना चाहिये। आत्मज्ञानका अधिकारी बननेके लिये विचार, साधु-सङ्ग, समता और सन्तोषकी आवश्यकता है। इनके अभ्याससे मन शुद्ध और शान्त हो जाता है और नित्य आध्यात्मिक साधनोंको करते-करते एक दिन आत्मा अथवा ब्रह्मके वास्तविक रूपका साक्षात्कार कर लेता है। बिना अपने आप साक्षात्कार किये तत्त्वज्ञान नहीं होता। जगत् और ईश्वरके वास्तविक रूपका ज्ञान केवल आत्मानुभव द्वारा ही हो सकता है; उसका और कोई दूसरा साधन नहीं है।

जिन लोगोंने तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है उनके अनुसार सारे जगत्में एकही तत्त्वका प्रकाश है—द्रष्टा और दृश्य दोनों एक ही चिन्मात्र तत्त्वके रूपान्तर हैं—सारे द्रष्टा और सारे दृश्य पदार्थ वास्तवमें चिन्मय हैं। संसारके सारे पदार्थ चितिकी कल्पनाएँ हैं। देश और काल भी कल्पित और मनके ऊपर निर्भर हैं। कल्पनाके अतिरिक्त पदार्थोंमें कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। संसारकी स्थिरता और नियतता भी मनकी ही कल्पनायें हैं। कल्पना ही जड़ताका आकार

धारण कर लेती है। सारे दृश्य पदार्थोंका उदय द्रष्टाके मनसे ही होता है और वे सब मनके ही अङ्ग हैं। वास्तवमें स्वप्न-जगत् और बाह्य-(जाग्रत्-)जगत्में कोई भेद ही नहीं हैं। यह सारा जगत् एक स्वप्न ही है। प्रत्येक जीवके भीतर यह जगत्स्वप्न पृथक्-पृथक् उदय हो रहा है, अतएव प्रत्येक जीवका विश्व दूसरे जीवके विश्व-से भिन्न है। समानताके कारण ही सबका एक ही विश्व जान पड़ता है। प्रत्येक जीव अपने-अपने विश्वकी सृष्टि और प्रलय (अंशतः अथवा पूर्णतया) करता रहता है। तो भी सब जीवोंका मूलरूप एक समष्टि जीव अथवा समष्टि मन है जिसका नाम ब्रह्मा है। ब्रह्मासे ही सब व्यष्टि जीवों और उनके संसारोंकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक जीव उसी रीति और उसी प्रकारसे अपने-अपने विश्वकी रचना करता रहता है जैसे कि ब्रह्मा सारे ब्रह्माण्डकी करता है। संसारमें जीवोंकी संख्या अनन्त है। अतएव सृष्टियोंकी भी। प्रत्येक सृष्टिके भीतर अनन्त जीव हैं, और प्रत्येक जीवके भीतर उसकी सृष्टि है—यह परम्परा भी अनन्त है। ब्रह्माण्डके प्रत्येक अणुके भीतर ब्रह्माण्डकी समस्त अनन्त शक्तिका भण्डार है। अतएव सब कुछ सदा और सब जगह है, और ऐसा होना सम्भव है। सब सृष्टियाँ एक सी नहीं हैं। नानाप्रकारकी सृष्टियाँ हैं। सब सृष्टियोंकी उत्पत्ति और प्रलय होती हैं। कोई सृष्टि नित्य नहीं है। कल्पके अन्तमें सब सृष्टियां नष्ट होकर विलीन हो जाती हैं। केवल परम ब्रह्म अपनी प्रकृति-शक्तिको अपने भीतर समाये हुए स्थित रहता है। सब सृष्टियोंकी उत्पत्ति उसी क्रमसे होती है जिससे कि स्वप्न सृष्टिकी होती है। वासना ही सृष्टिका मूल कारण है। सृष्टि तीन प्रकारके आकाशोंमें स्थित है—भूताकाश (स्थूल), चित्ताकाश (सूक्ष्म) और चिदाकाश (कारण)। जो कुछ संसारमें होता है वह सब नियमसे होता है। नियतिका सब ओर साम्राज्य है। परन्तु नियति कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। नियति मनकी ही बनाई हुई है। मन चाहे तो अपनी अपार शक्ति और अपने कठिन पुरुषार्थसे नियतिको बदल सकता है और उसपर विजय प्राप्त कर सकता है।

मन क्या है? मनका स्वरूप अनन्त और अपार है। मन और ब्रह्ममें कोई भेद ही नहीं है। ब्रह्म ही अपनी सङ्कल्प-शक्ति द्वारा सृष्टि करनेके लिये मनके आकारमें प्रकट होता है। मनके अनेक रूप हैं।

वह जैसी-जैसी क्रिया करता है वैसा ही उसका रूप और नाम हो जाता है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, मल, माया, प्रकृति, ब्रह्मा आदि देवता, जीव, आतिवाहिक देह, इन्द्रिय, पुर्यष्टक, भौतिक शरीर और बाह्य पदार्थ—ये सब मनके ही अनेक नाम और रूप हैं। मन ही जीव है, वही अहङ्कार हो जाता है, वही शरीरका रूप धारण कर लेता है। संसारके जितने बन्धन हैं, और जितनी इयत्ता (महदूदियत) है, वे सब मनने अपनी वासनाके लिये बनाये हैं। मन ही एकसे अनन्त और नाना प्रकारके जीव हो जाता है। जीवोंकी सात अवस्थाएँ—बीज-जाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत् जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्ति—हैं। जीव सात प्रकारके होते हैं:—स्वप्न-जागर, सङ्कल्प-जागर, केवल-जागर, चिर-जागर, घन-जागर, जाग्रत्स्वप्न और क्षीण-जागर। सारे जीव इन १५ जातियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं:—इदंप्रथमता, गुणपीवरी, ससत्त्वा, अधमसत्त्वा, अत्यन्ततामसी, राजसी, राजससात्त्विकी, राजस-राजसी, राजसतामसी, राजसात्यन्ततामसी, तामसी, तामससत्त्वा, तमोराजसी, तामसतामसी, और अत्यन्ततामसी। ये सब प्रकारके जीव ब्रह्मा (समष्टि मन)से उत्पन्न होते हैं, और इन सबकी उत्पत्ति और लय एकही प्रकारके नियमोंसे होती हैं। संसारका ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसके भीतर मन (जीव) न हो।

मनका जैसे स्वरूप अनन्त है वैसे ही उसकी शक्तियाँ भी अनन्त और अपार हैं। मनमें सब प्रकारकी शक्तियाँ हैं। मन जगत्की सृष्टि करता है, और सृष्टिके करनेमें वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। प्रत्येक मनमें इस प्रकारकी स्वतन्त्र शक्ति है। प्रत्येक मन जो चाहे वह सम्पादन कर सकता है। हमारी सब परिस्थिति हमारे मनके विचारोंके अनुरूप मनकी शक्ति द्वारा ही रची हुई है। जैसी दृढ़ जिसकी भावना होती है वैसा ही उसकी शक्तिका प्रकाश होता है। दृढ़ निश्चय और अभ्यास द्वारा मन जो चाहे सो प्राप्त कर लेता है। जैसा जिसका मन है वैसी ही उसकी गति होती है। भौतिक शरीर भी मनका ही रचा हुआ है; इसका आकार और रूप मनके ही आधीन है। मन शरीरको अपनी वासनाओंकी पूर्त्तिके लिये इस प्रकार बनाता है जैसे कुम्हार अपनी इच्छाके अनुसार बर्तनको बनाता है। शरीरके सब रोग मानसिक अशान्ति, व्यथा और असामञ्जस्यसे उत्पन्न होते हैं,

और इनके दूर हो जानेपर दूर हो जाते हैं। शरीरके रोगोंका नाम व्याधि है और मनके रोगोंका नाम आधि है। आधिसे व्याधिकी उत्पत्ति होती है और आधिके दूर हो जानेपर व्याधि दूर हो जाती है। आधि और व्याधि दोनोंकी जड़ मूल आधि अर्थात् आत्माका अज्ञान है। उसके ज्ञान द्वारा दूर हो जानेपर आधि व्याधि सब ही समूल नष्ट हो जाती हैं। जीवनको शान्त और सुखी बनानेका उपाय भी मनको शुद्ध, उच्च और महान् बनाना ही है। जीवनको सब प्रकार सुखी और निरोग रखनेका एक मात्र उपाय है मनकी शुद्धि। मन जब शान्त और सुखी है तो सारा संसार शान्त और सुखी दिखाई पड़ता है। व्यथित मनवालेको संसारमें आग सी लगी हुई दिखाई पड़ा करती है। शुद्ध मनमें ही आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जबतक मनमें अज्ञान है तभीतक जीव संसाररूपी अन्धकारमें पड़ा हुआ हाथ पैर पीटता रहता है। वास्तवमें मन जगत्-रूपी पहियेकी नाभि है जिसको ज़ोरसे पकड़ लेनेपर सारा संसार वशमें हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यके चित्तमें अलौकिक और असाधारण शक्ति या सिद्धि प्राप्त करनेकी वासना रहती है, और वह वासना तबतक रहती है जबतक कि मनुष्य पूर्णताका अनुभव नहीं कर लेता। परम पूर्णता तो ब्रह्मानुभव द्वारा ही प्राप्त होती है। जबतक ब्राह्मी स्थितिकी प्राप्ति नहीं होती तबतक मनुष्य सिद्धियोंके लिये इधर उधर टक्कर मारता है और अनेक साधन करता रहता है। इन साधनों द्वारा प्रयत्न करनेसे मनुष्योंको अनेक सिद्धियों अर्थात् असाधारण शक्तियोंकी प्राप्ति हो जाती है। योगवासिष्ठमें सिद्धियोंके प्राप्त करनेके तीन विशेष साधन बताये हैं:—(१) मनकी शुद्धि, (२) कुण्डलिनी शक्तिका उद्बोधन तथा नियमित सञ्चालन और (३) प्राणायाय। जो इन साधनोंका यथोचित रीतिसे अभ्यास कर लेता है उसको अनेक प्रकारकी अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मनुष्य कोई भी सिद्धि प्राप्त कर ले, उसको परम आनन्द और परम तृप्तिकी प्राप्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक कि वह अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं जान लेता। आत्माका वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या अवस्थाओंका भली भांति अध्ययन कर लेना चाहिये। तब यह समझमें आजाएगा कि उस आत्माका जो कि इन चारों अवस्थाओंमें वर्त्तमान रहता है क्या स्वरूप है।

हम लोग प्रायः जाग्रत् अवस्थाको ही प्रधान अवस्था समझते हैं, और इस अवस्थामें व्यवहार करनेवाले शरीरको ही अपना आप (अहंभाव) समझते हैं। यह विचार युक्ति और अनुभव दोनोंके विरुद्ध है, और सन्तोषजनक नहीं है। इससे ऊँचा और अधिक सन्तोषजनक विचार उन लोगोंका है जो कि मनको आत्मा मानते हैं। मनको आत्मा माननेवालोंसे उच्च विचार उनका है जो मनसे सूक्ष्म रूपवाले, मनकी गतिको देखने और चलानेवाले, सब दृश्य भावोंसे परे रहनेवाले सूक्ष्म जीवात्माको आत्मा समझते हैं। ऐसा माननेवालोंके मतमें वह जीवात्मा शरीरसे बिल्कुल अलग रहनेवाला एक सूक्ष्म तत्त्व है जो कि शरीरसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता। आत्मसम्बन्धी इन सब विचारों अथवा निश्चयोंसे श्रेयस्कर, युक्ति और अनुभवके अनुकूल और सबसे अधिक सन्तोषजनक, योगवासिष्ठकारका वह मत है जो आत्मा और समस्त विश्वके बीचमें कोई दीवार नहीं मानता। आत्माकी कहींपर इयत्ता नहीं है। हमारा आत्मा शरीर, मन और जीवतक ही परिमित नहीं है। वह तो समस्त विश्वमें ओत-प्रोत है। जगत्में कोई काल और स्थान ऐसा नहीं है जहाँ मेरा आत्मा नहीं है। जगत्की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें मेरा आत्मा नहीं है। जगत् मुझमें है और मैं जगत्में हूँ। जो इस प्रकार अनुभव करता है वही आत्माका वास्तविक रूप जानता है; और ऐसा अनुभव कर लेनेपर ही जीवनमें पूर्णता आती है।

जबतक मनुष्यकी इस दृष्टिमें स्थिति नहीं हो जाती और जबतक वह अपने आपको देश, काल और वस्तुओंमें परिमित समझता है, तबतक उसको जन्म और मरणरूपी संसारमें ग़ोते खाने पड़ते हैं। उसको यह भी पता नहीं चलता कि जन्म और मरणका रहस्य क्या है और क्यों उसको मौत आती है। प्रायः जिनका अहंभाव स्थूल शरीरतक ही परिमित रहता है वे ही मौतसे डरा करते हैं—वे ही समझते हैं कि मौतसे उनकी हस्ति (अस्तित्व)का ख़ात्मा (अन्त) हो जाएगा। सारी ज़िन्दगी उनको मौतका भय सताया करता है और उससे बचनेका वे अनेक प्रकारसे यत्न करते हैं। यदि हमको मौतका रहस्य भी मालूम न हो तो भी मौतसे डरनेका कोई कारण नहीं है। यदि मौत द्वारा किसी व्यक्तिका सर्वनाश ही हो जाता है तो क्या बुराई है? चलो जीवनके सब झंझटों और सुख दुःखोंसे सदाके लिये छुट्टी मिली।

और यदि मौतके पीछे हमको दूसरा जीवन मिलता है तो भी बहुत प्रसन्नताका अवसर है, क्योंकि जरा और व्याधियोंसे जर्जरित हुए इस शरीरको, और जिस स्थानपर रहते-रहते हम ऊब गये हैं उस स्थानको, छोड़कर हमको नया शरीर और नई परिस्थिति मिलेगी। इससे अच्छी भला और क्या बात हो सकती है? दुःख हमको केवल आसक्ति और मोहके कारण होता है। हमारी इस भौतिक शरीरसे, मित्रों, सम्बन्धियों और परिस्थितियोंसे जो आसक्ति हो जाती है वही हमको मौतसे डराती है, और उसीके कारण हमको मरते समय अनेक मानसिक और उनसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक कष्ट होते हैं। जो ज्ञानी हैं और जिनकी दृष्टि विस्तृत है, उनको मौतसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता। वे शान्ति और आनन्दपूर्वक इस जीर्ण शरीरको त्यागकर अपने पुण्य कर्म्मोंके कारण उत्तमसे उत्तम लोकोंका अनुभव करते हैं। उनको इस संसारसे भी कहीं अच्छे संसारोंका अनुभव होता है, और वे उन संसारोंमें अपने मनकी पवित्र वासनाओंकी पूर्त्तिका अनुभव करते रहते हैं। अज्ञानी, पापी और मूर्ख लोगोंको मरते समय तो कष्ट होता ही है, वे मरनेके पश्चात् भी अपने पूर्व पाप कर्मानुसार अधम लोकोंका अनुभव करते हैं, और उनमें पड़कर अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं। मौत क्या है? केवल जीवके अनुभवकी तबदीलीका नाम मौत है। मरकर जीव एक दृश्य जगत् और शरीरका अनुभव छोड़कर दूसरे दृश्य जगत् और शरीरका अनुभव करने लगता है। और यह अनुभव जीवकी वासना और कर्म्मोंके अनुसार होता है। जैसे-जैसे संस्कार और भावनायें परलोकके सम्बन्धमें जीवके भीतर रहतीं हैं वैसे-वैसे ही लोकोंका वह अनुभव करता है। परलोकोंका अनुभव करके, इस भौतिक संसारकी अनेक अपूर्ण वासनाओंके कारण, जीवको फिर यहीं आना पड़ता है। जिनके मनमें यहांकी वासनायें नहीं रहतीं वे यहांपर नहीं आते। जो योगका अभ्यास करते करते मर जाते हैं वे जीव परलोकका अनुभव करके, यथायोग्य कुलमें जन्म लेकर, फिर अपने पूर्व अभ्यासकी ऊँची भूमिकाओंपर चढ़ने लगते हैं। यह जन्म-मरणका अनुभव तभीतक होता है जबतक कि जीव आत्मज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त नहीं हो जाता। जीवन्मुक्त जीव जन्म मरण के नियमसे मुक्त हो जाता है, क्योंकि जन्म-मरण तो शरीर और मनके धर्म हैं, आत्माके नहीं—वह तो अमर है। यद्यपि मौतका आना अनि-

वार्य है तो भी आयुको यथेच्छ दीर्घ किया जा सकता है—ऐसा करनेका विशेष उपाय पवित्र, शान्त और निर्मोह जीवन है।

व्यष्टि-मनकी ओरसे अब हम दृष्टिको हटाकर समष्टि मनकी ओर ले जाते हैं। सारे विश्वका—जिसमें कि अनन्त जीव और उनके संसार हैं—सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। ब्रह्माका वास्तविक स्वरूप मन है। ब्रह्माकी उत्पत्ति परम ब्रह्मसे होती है। यह ब्रह्मारूपी मन ब्रह्मका स्वाभाविक लीला-जनित स्पन्दन है। इस स्पन्दन द्वारा ब्रह्म ब्रह्माका आकार धारण कर लेता है। यह आकार ब्रह्मकी सङ्कल्प-शक्तिका, हेतु-रहित, सङ्कल्पमय रूपमें प्रकट होना है। ब्रह्माकी उत्पत्ति किसी पूर्व कर्मके अनुसार नहीं होती। उसका आकार सूक्ष्म है, स्थूल नहीं है। ब्रह्मा इस प्रकार उदय होकर सृष्टिकी रचना करता है, और उसकी रची हुई सृष्टि मनोमय है। प्रत्येक कल्पकी सृष्टि अपूर्व और नई है।

ब्रह्मकी जिस स्पन्दन-शक्तिका प्रकाश ब्रह्माके आकारमें होता है उसको ही प्रकृति और माया कहते हैं। ब्रह्ममें और भी अनन्त और अनेक शक्तियां हैं। ब्रह्म और उसकी शक्ति दो पदार्थ नहीं हैं। ब्रह्मको स्पन्दन-शक्ति सदा ही ब्रह्मके आश्रित रहती है, और उससे अनन्य है। सृष्टिके समय वह आकार धारण करती है और प्रलयके समय वह ब्रह्ममें लीन हो जाती है।

उस परम ब्रह्मका, जिसकी एक मात्र शक्तिसे जगत्की सृष्टि, रक्षा और प्रलय होती हैं, क्या स्वरूप है यह कहना मनुष्यके लिये प्रायः असम्भव सा ही है—क्योंकि मनुष्यके पास जितने शब्द, भाव र विचार हैं वे सब द्वन्द्वात्मक जगत्की वस्तुओंके द्योतक हैं। जो तत्त्व दोनों प्रतियोगी पदार्थोंका आत्मा है और जगत्के भीतर और बाहर है; और जिससे जगत्के सब दृश्य पदार्थ और उनको जाननेवाले द्रष्टाओंकी उत्पत्ति हुई है, वह भला उन शब्दों द्वारा कैसे वर्णन किया जा सकता है जो कि इन सबके ही वर्णन करनेके लिये बने हैं? इसलिये ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता। वह न यह है और न वह है; इसमें भी है, उसमें भी है, और इस और उस दोनोंसे परे भी है। ब्रह्मको न एक कह सकते हैं और न अनेक, क्योंकि दोनों सापेक्षक हैं। ऐसे ही न ब्रह्मको भावात्मक कह सकते हैं न शून्यात्मक; ब्रह्म न ज्ञान है और न अज्ञान; न तम है न प्रकाश; न जड़ है और न चेतन; न आत्मा है न अनात्मा। ब्रह्मका क्या स्वभाव है यह कहना भी असम्भव है। ब्रह्म

का कोई विशेष नाम भी नहीं हो सकता। ब्रह्मके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह वह परम तत्त्व है जिससे जगत्के सब ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं; जिसमें स्थित रहते हैं; और जिसमें विलीन हो जाते हैं; जिससे दृश्य, द्रष्टा और दृष्टि उदय होकर उसमें स्थित रहकर उसीमें विलीन हो जाते हैं; जो अनुभवमें आनेवाले सभी प्रकारके आनन्दोंका उद्गम है। ब्रह्म अपनेसे उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थसे कहीं सुन्दर और परिपूर्ण होना चाहिये, क्योंकि कारण हमेशा कार्यसे अधिक पूर्ण होता है। उसका स्वरूप सभी आधिभौतिक पदार्थों, मन, जीव और आत्मा आदि सभी पदार्थोंके स्वरूपसे उत्कृष्ट होना चाहिये। उसकी शक्ति सभी व्यक्त पदार्थों और प्राणियोंकी शक्तिसे अधिकतर होनी चाहिये। उसका ज्ञान सर्वज्ञ होना चाहिये। वह सदा, सब जगह, सब वस्तुओंमें परिपूर्ण रूपसे वर्त्तमान है। वही सब कुछ, सदा और सब जगह है। वह महान्से भी महान्, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, और दूरसे भी दूर और समीपसे भी समीप है; वही सबका आत्मा है और वही सबका अन्तिम आदर्श है। उसीके भीतर प्रत्येक जीव अणुतम रूपसे उदय होकर शनैः शनैः महत्ताको प्राप्त होकर तदाकार होकर शान्त हो जाता है। उसमें सारी सृष्टि बीज रूपसे सदा ही स्थित रहती है। उसके सम्बन्धमें केवल यही कह सकते हैं कि जो कुछ भी जहाँ कहीं है वह वही है। यह सारा जगत् ब्रह्मका बृंहण मात्र है। तीनों जगत् (भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् अथवा पृथ्वी, आकाश और पाताल) ब्रह्मके भीतर ही स्थित हैं; जगत्में ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है; ब्रह्म ही प्रत्येक पदार्थके रूपमें प्रकट हो रहा है। इस प्रकार प्रकट होना उसका स्वभाव ही है। किसी बाह्य कारण द्वारा ऐसा नहीं होता है। सारा सृष्टि-क्रम ब्रह्मके भीतर निमेष मात्रकी क्रिया या स्पन्दन है। ब्रह्म स्वयं एक रूप है परन्तु उसमें अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी शक्ति है; और अनेक रूपोंमें प्रकट होते हुए भी ब्रह्मकी एक रूपतामें क्षति नहीं आती। नानाता एकताके भीतर है। ब्रह्म अपनी सत्ता मात्रसे ही सृष्टि करता रहता है। वास्तवमें उसकी सत्तामें किसी प्रकारका विकार नहीं आने पाता।

अनन्त प्रकारकी सृष्टियां होते हुए भी ब्रह्मसे अन्य संसारमें कोई पदार्थ नहीं है। ब्रह्मसे अभिन्न यहां कुछ नहीं है। प्रकृति और ब्रह्मका, मन और ब्रह्मका; जगत् और ब्रह्मका सदा ही तादात्म्य सम्बन्ध है।

ब्रह्म जगत्के विना कभी नहीं रहता, सृष्टि न होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे जगत् ब्रह्ममें रहता ही है। जगत्की सत्ता तो ब्रह्म ही की सत्ता है। सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्मके अतिरिक्त यहां कुछ भी नहीं है।

यदि सत् उसको कहते हैं जो सदा अपने रूपमें स्थित रहे और असत् उसे कहते हैं जो कभी अनुभवमें ही न आवे, अथवा यदि सत् वह है जिसका कभी नाश न हो और असत् वह है जिसकी कभी सत्ता ही न हो, तो जगत्को न सत् कह सकते हैं और न असत्, क्योंकि जगत्का नाश भी होता है और जगत्की सत्ताका भी अनुभव होता है। दूसरी रीतिसे, जगत् सत् भी है और असत् भी, क्योंकि वह देखनेमें भी आता है और नाशवान् भी है। जो वस्तु सत् भी हो और असत् भी; न सत् हो और न असत् हो, उसका नाम मिथ्या है। प्रायः जितने भ्रम होते हैं वे सब मिथ्या होते हैं। जगत् और उसके सभी पदार्थ इसी प्रकार मिथ्या और भ्रमात्मक हैं। भ्रमका ही नाम अविद्या है। उसीको माया भी कहते हैं। वास्तवमें जगत् माया है (मा-या = जो है नहीं), अविद्या है (अ = न - विद्यते = जो है ही नहीं)। जगत् तभीतक अनुभवमें आता है जबतक अज्ञानवश हमको इसके सत्य होनेका भ्रम हो रहा है। जगत्की सत्ता मूर्खोंके मनमें ही है; ज्ञानियोंके लिये यह सत्य नहीं है। सत्य पदार्थके ज्ञानसे उसमें उत्पन्न हुए भ्रमका नाश हो जाता है। अविद्याके लीन हो जानेपर जगत्का भ्रम आत्मामें ही लीन हो जाता है।

सबसे ऊँची आध्यात्मिक दृष्टि वह है जिसमें यह समझमें आ जाये कि यहां ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जगत्का न ब्रह्ममें उदय होता है और न अस्त। जगत् न कभी उत्पन्न होता है और न लीन होता है। क्योंकि जो वस्तु सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकती और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकती। ब्रह्म सदा ही ब्रह्म है; वह ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरी वस्तु कभी नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि जगत्को ब्रह्मने उत्पन्न किया है तो यह ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि पूर्ण और नित्य ब्रह्म क्यों अपूर्ण और अनित्य पदार्थोंकी उत्पत्ति करेगा। जगत् ब्रह्मका विकार है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्मकी जगत्में ऐसे परिणति नहीं होती जैसे कि दूधकी दहीमें—ब्रह्म तो सदा ही अपने नित्य रूपमें स्थित

रहता है। यदि उसमें परिणति होने लगे तो वह नित्य कैसे रहेगा? ब्रह्मको जगत्का वीज भी नहीं कह सकते, क्योंकि वीजसे वृक्षकी उत्पत्ति वीजके नाम रूप नष्ट हो जानेपर होती है। ब्रह्म जगत्को उत्पादन करनेमें अपने स्वरूपका नाश नहीं करता। ब्रह्म और जगत्का कारण और कार्यका भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कार्य रूपमें परिणत होनेपर कारणको अपना पूर्व नाम और रूप खो देना पड़ता है। ब्रह्मका स्वरूप तो नित्य है उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं माना जा सकता। इन सब विचारोंसे यह सिद्ध होता है कि जगत् कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ब्रह्मने उत्पन्न की हो, या ब्रह्मका विकार हो, या ब्रह्मका कार्य हो। ब्रह्मसे अतिरिक्त या भिन्न जगत् नामक वस्तु नाम मात्रको भी यहां मौजूद नहीं है; न उत्पन्न हुई है, और न उसके उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही है। केवल एक ही बात जगत्के सम्बन्धमें कह सकते हैं। जगत् केवल एक भ्रम है जो कि ब्रह्मके आधारपर उत्पन्न होता और नष्ट होता रहता है। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि जगत् ब्रह्मका विवर्त मात्र है। ब्रह्म ही जगत्के रूपमें दिखाई पड़ रहा है। जबतक अज्ञान है तभीतक यह भ्रम है; ज्ञानके उदय होनेपर यह भ्रम लुप्त हो जाता है। क्यों ब्रह्ममें अज्ञान और तज्जन्य विवर्त हैं इसका उत्तर इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि यह ब्रह्मका स्वभाव ही है। ब्रह्म जगत् रूपसे प्रकट होता ही रहता है। स्वयं ब्रह्म पूर्ण अविकारी है। जगत्की दृष्टिसे ही वह विकारी दिखाई पड़ता है। ज्ञान होनेपर न विवर्त रहता है और न यह प्रश्न।

मनुष्यकी ज्ञान-पिपासा तबतक पूर्णतया शान्त नहीं होती जबतक वह इस पूर्ण और उच्चतम दृष्टिको प्राप्त नहीं कर लेता। इसी प्रकार उसकी आनन्द प्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा तबतक पूर्ण नहीं होती जबतक कि वह अपने वास्तविक स्वरूपमें, जो कि पूण ब्रह्म ही है, स्थित नहीं हो जाता। प्रायः सभी प्राणी आनन्दकी खोजमें रहते हैं; किन्तु अधिकतम प्राणी आनन्दसे वञ्चित ही रहते हैं—क्योंकि वे आनन्दकी ऐसी जगह तलाश करते हैं जहांपर वह नहीं मिल सकता। विषयोंके भोगमें जहांपर कि सब लोग आनन्दको खोजते हैं—आनन्दका निवास नहीं है। विषयोंके भोग तो दूरसे देखने मात्रसे ही आनन्ददायक प्रतीत होते हैं। वास्तवमें वे आनन्ददायक नहीं हैं। जितने विषय सुख हैं वे सब दुःखमें परिणत होनेवाले हैं। सारे विषय-भोग

इस रीतिसे असार हैं। उनमें आनन्दकी खोज करना व्यर्थ है। संसारके सब विषयोंके भोगोंकी प्राप्ति होनेपर भी मनुष्यको सच्चे और दुःख-रहित आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। संसारके जितने सुख हैं वे विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे उत्पन्न होनेवाली अशान्ति और दुःखका नाश होनेपर आत्माकी निज रूपमें शान्त स्थितिके नाम हैं। विषयोंकी प्राप्तिसे उनकी प्राप्तिकी इच्छा शान्त हो जाती है और उस इच्छाकी पूर्ति न होनेसे जो बेचैनी रहती थी वह भी शान्त होकर आत्माके स्वाभाविक आनन्दका क्षणिक अनुभव होता है। इसको मनुष्य अपने अज्ञानसे विषयसे उत्पन्न होनेवाला सुख समझने लगता है। यदि सुख विषयसे मिलता तो फिर विषयकी प्राप्ति और भोगपर तुरन्त ही वह दुःखमें क्यों परिणत हो जाता? विषय तभीतक सुखदाई मालूम पड़ते हैं जबतक उनकी प्राप्ति नहीं होती। एक विषयके प्राप्त हो जानेपर दूसरे विषयकी प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक इच्छा दुःख देनेवाली है। अपने नाशसे ही वह सुख देती है। विषयकी प्राप्ति इच्छाका नाश करती है। यदि हमारे मनमें किसी भी विषयकी इच्छा न हो और हम आत्मामें स्थित रहकर यथाप्राप्त कामोंको और स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्ति करते रहें तो हमको सदा ही अविच्छिन्न आनन्दका अनुभव होता रहेगा। संसारके सारे सुख आत्मानन्दके लेशमात्र भी नहीं हैं, क्योंकि वे सब अभावात्मक हैं और निजानन्द भावात्मक।

इस निजानन्दका पूर्णतया अनुभव तबतक नहीं होता जबतक कि जीव मुक्त नहीं हो जाता। बन्धनकी अवस्था सुख दुःखकी अवस्था है। मोक्षकी अवस्था परम आनन्दकी अवस्था है। अपनेको ब्रह्म अनुभव करना मोक्ष है और शरीर, मन या जीव अनुभव करना बन्धन है। बन्धनको उत्पन्न करने और स्थिर रखनेके ये कारण हैः—(१) वासना, (२) अपनेको परिमित समझना, (३) मिथ्या भावना, (४) आत्माको भूल जाना, (५) अनात्म पदार्थोंमें अहंभावना और (६) अज्ञान। मोक्षका अनुभव करनेके लिये शरीरका त्याग करना आवश्यक नहीं है। शरीर सहित और शरीर विना भी मोक्षका अनुभव होता है; प्रथम सदेह मोक्ष (जीवन्मुक्ति) और दूसरा विदेह मोक्ष (विदेहमुक्ति) कहलाता है। दोनोंके अनुभवमें कोई विशेष भेद नहीं है। मुक्ति जड़वत् स्थितिका नाम नहीं है। मुक्तिमें चेतनताकी पराकाष्ठा

होती है। अचेतन स्थितिमें आगे (भविष्यमें) चेतन होनेवाली वासनायें सोई रहती हैं। मुक्तिमें आत्मा वासना-रहित हो जाता है।

मोक्षकी दशाको प्राप्त करनेका कौनसा निश्चित और सच्चा उपाय है? योगवासिष्ठके अनुसार ज्ञानके सिवाय मोक्षप्राप्तिका और दूसरा कोई उपाय नहीं है। आत्मज्ञानसे मोक्षका अनुभव उदय होता है। मोक्षप्राप्तिके निमित्त किसी देवी, देवता अथवा गुरुकी उपासना करनेकी आवश्यकता नहीं है। समझदार मनुष्यको तो आत्मदेवके सिवाय किसी और दूसरे देवताकी आराधना नहीं करनी चाहिये। कोई देवता या गुरु विचार-रहित पुरुषको आत्मज्ञान नहीं प्रदान कर सकता। आत्मज्ञानका उदय तो केवल आत्म-विचारसे होता है। ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है। भीतरके ईश्वरको छोड़कर जो लोग बाहर ईश्वरकी खोज करते हैं वे मूर्ख हैं। ईश्वरकी प्राप्ति ज्ञानसे और आत्मपूजासे होती है। ज्ञानी लोग संसारमें सब कर्म्मोंको आत्मदेवको निवेदन करके आत्मदेवकी पूजा करते हैं। आत्माकी प्राप्तिकी इच्छा, आत्माका वर्णन, आत्मा हीका ध्यान, आत्माको ही सब कर्म्मों और भोगोंका समर्पण—ये सब देवोंके देव आत्मदेवके प्रसन्न करनेकी विधि हैं। मोक्षप्राप्तिके लिये संसार और कर्म्मोंको त्यागनेकी भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जबतक संसार-भावना मनमें है तबतक संसारसे छुटकारा नहीं होता, और जबतक जीवपन, मनस्ता और शरीरभाव है तबतक कर्म करना ही पड़ता है। कर्म और पुरुषमें भेद नहीं है। हमारा व्यक्तित्व कर्म हीसे निर्मित है। जबतक व्यक्तित्व है कर्म होता ही रहेगा। मोक्ष दशामें कर्मके त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वासना-और सङ्ग-रहित कर्म बन्धनका कारण नहीं होता। अतएव मोक्षके लिये न किसी देवताकी उपासना करनी है और न कर्म्मोंका त्याग ही करना है। करना क्या है? आत्मज्ञान-प्राप्ति। वह होती है अपने ही पुरुषार्थ और विचारसे। विचार तब होता है जब कि चित्त शुद्ध हो जाए। चित्तकी शुद्धि शुभ कर्म्मोंके करनेसे, साधुओंकी सङ्गतसे और शास्त्रोंके अध्ययनसे होती है। शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके ऊपर विचार और मनन करनेसे वे समझमें आते हैं, और समझमें आनेपर उनका अपने अनुभवमें साक्षात्कार किया जाता है। जबतक आत्मानुभव नहीं होता तबतक ज्ञान नहीं होता। शास्त्रादि तो सङ्केत मात्र हैं। ज्ञान तो अपने ही विचार और अनुभवसे होता है।

केवल वाचिक और मानसिक निश्चयको ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान उसको कहते हैं जो जीवनके व्यवहारमें आता हो। जिसका जीवन ज्ञानमय नहीं है, जो कहता कुछ है और करता कुछ है; जो ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञानचर्चा रुपया पैसा और आदर-सन्मान ही प्राप्त करनेके लिये करता है वह ज्ञानी नहीं है, ज्ञानबन्धु है। ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञानके अनुसार आचरण करता है; जो ज्ञानमें स्थित रहता है और जो अपने ज्ञानको अनुभव करता है। ऐसी दशा नित्यके अभ्याससे प्राप्त होती है। सहसा नहीं आ जाती। इस प्रकारके अभ्यासका नाम योग है। योग द्वारा ही मनुष्य संसारसे पार होता है। योगाभ्यासकी तीन विशेष रीतियां हैं :—(१) एकतत्त्वका गहरा अभ्यास, (२) प्राणोंकी गतिका निरोध और (३) मनका लय। एकतत्त्वका अभ्यास तीन प्रकारसे होता है—(१) ब्रह्मकी भावनासे, (२) पदार्थोंके अभावकी भावनासे और (३) केवलीभावसे। प्राणोंकी गतिका मनकी गतिसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि प्राणकी गति रोक ली जाए तो मनकी गति भी रुक जाती है। मनकी गतिके रुक जानेपर संसारका अनुभव क्षीण होकर आत्माका अनुभव ही शेष रहजाता है। प्राणोंकी गतिके रोकनेके अनेक उपाय हैं जिनको किसी योग्य गुरुसे सीखकर प्रयोगमें लाना चाहिये। मनको विलीन करनेकी युक्ति आत्माके अनुभवके प्राप्त करानेमें सबसे सहल है। इसका अभ्यास आसानीसे हो सकता है। मन संसार चक्रकी नाभि है। जब मन वशमें हो जाता है तब सारा संसार वशमें हो जाता है; जब मन विलीन हो जाता है तब संसार भी गायब हो जाता है। योगवासिष्ठमें मनके निरोध करनेकी अनेक युक्तियां बताई गई हैं; उनमेंसे कुछ ये हैं :—(१) ज्ञान द्वारा मनको असत्य और मिथ्या (भ्रम) समझकर उसका परित्याग करना, (२) सङ्कल्पोंका उच्छेदन करना, (३) विषयोंके भोगोंसे विरक्त होना, (४) इन्द्रियोंका निग्रह, (५) वासनाओंका परित्याग, (६) अहङ्कारका त्याग, (७) असङ्गका अभ्यास, (८) समताका अभ्यास, (९) कर्तृत्वभावका त्याग, (१०) मनसे सब वस्तुओंका त्याग और (११) नित्य समाधिका अभ्यास। मनके विलीन होनेपर परम आनन्दका अनुभव होता है।

योगाभ्यास धीरे धीरे और क्रमशः ही सिद्ध होता है। जाननेवालोंने आत्माका पूर्ण अनुभव होने तक इसकी सात भूमिकायें निश्चित की हैं। उनका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर आया है।

वे सात भूमिकायें ये हैं :—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावना और (७) तुर्यगा। इन सातों भूमिकाओंको पार कर लेनेपर मुक्तिका अनुभव होता है जिसमें जीवके सब बन्धन कट जाते हैं।

जीवके बन्धनोंमेंसे कर्मका बन्धन एक बड़ा भारी बन्धन है। जीव जैसा जैसा कर्म करता है उसका उसे अवश्य ही फल प्राप्त करना होता है। कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता, और प्रत्येक जीवको अपने किये हुए कर्मका फल भुगतनेके लिये अपना व्यक्तित्व बनाये ही रखना पड़ता है। जबतक जीव जीव है और उसके मनमें संसारके विषयोंकी वासना है, तबतक वह उनके प्राप्त करनेका यत्न करता है। वह यत्न ही कर्म है। उस कर्मका फल अवश्य ही जीवको मिलता है। इस प्रकार जीव एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें, एक जन्मसे दूसरे जन्ममें, और एक लोकसे दूसरे लोकमें भ्रमता रहता है। एक कर्मका जब वह फल पा लेता है तो दूसरा कर्म करने लगता है। बहुधा कर्मका फल तब मिलता है जब कि उसकी प्राप्तिकी इच्छा भी नहीं रहती। उस समय हम यह अनुभव करते हैं कि वास्तवमें कर्म-फलका नियम एक बहुत बड़ा बन्धन है। क्योंकि इच्छा न रहते हुए भी हमें बहुतसे पदार्थोंसे बन्धना पड़ता है—यद्यपि ये वही पदार्थ हैं जिनके लिये कभी हमारे मनमें प्रबल इच्छा थी और जिनकी प्राप्तिके लिये हमने कभी पूरा यत्न किया था। कर्मका बन्धन तभी आरम्भ हो जाता है जब कि जीवके हृदयमें वासनाका उदय होता है। वासना ही जीवको कर्मके फलसे बान्धती है। यदि हम वासना रहित होकर कर्म करते रहें तो हमको उस कर्मके फलसे नहीं बन्धना पड़ता। वासना रहित रह कर कर्म करते रहनेसे जीवके सब बन्धन कट जाते हैं, और उसका जीवत्व ब्रह्मत्वमें परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष कर्मके बन्धनसे पूर्णतया छूट जाता है।

आत्माका अनुभव जब उदय हो जाता है तब अविद्या और मन आदिका अभाव हो जाता है। परम तृप्ति और परम आनन्दका ही भान रहता है। यह वह अनुभव है जिसका न तो वर्णन ही हो सकता है और न जिसकी किसी और अनुभवसे उपमा ही दी जा सकती है। उसको वही समझ सकता है जिसको वह अनुभव हो चुका हो। जिसको क्षणभरके लिये भी अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थिति प्राप्त हो

गई है वह स्वर्गके सुखोंको भी उस अनुभवके आनन्दके सामने हेच समझने लगता है। क्योंकि आत्माका जो स्वाभाविक आनन्द है, संसारके सब आनन्द उसकी कला मात्र हैं।

इस अनुभव और आनन्दमें जो मनुष्य जीते जी ही स्थित हो जाते हैं और जिनके सब प्रकारके वन्धन कट जाते हैं उनको योगवासिष्ठमें जीवन्मुक्त कहा गया है। जीवन्मुक्तके लक्षण विस्तार-पूर्वक वर्णन किये जा चुके हैं। उनके यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि जीवन्मुक्त वह पुरुष है जिसने अपने ब्रह्मभावको पूर्णतया जान लिया है और जिसका सारा ज्ञान, सारा व्यवहार, और सारे भाव उस उच्चतम दृष्टिसे होते हैं। उसके लिये समस्त ब्रह्माण्ड उसका स्थान है; सारे प्राणी उसके वन्धु और आत्मा हैं। वह सब कामोंको निरपेक्ष भावसे करता है; सब भोगोंको वासना रहित होकर भोगता है; सब अवस्थाओंमें आनन्दसे परिपूर्ण रहता है। कभी मोह और अज्ञानके वशमें नहीं होता। उसका जीवन परिपूर्ण, शान्त और दिव्य जीवन है। तीनों लोकों में उसके लिये न कुछ प्राप्य है और न कुछ त्याज्य है। वह महाकर्ता और महाभोक्ता है। संसारके सारे व्यवहार करते हुए भी वह नित्य समाधिमें रहता है। वह भौतिक शरीरसे न प्यार करता है और न घृणा। वह अपने शरीरको अपने वशमें रख कर उससे लोकोपकारके काम करता है। जैसा जैसा अवसर प्राप्त होता है उसके अनुसार वह व्यवहार करता है। प्राकृत व्यवहारसे वह घृणा नहीं करता। बाहरसे देखनेपर उसके और अज्ञानीके कामोंमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता, पर आन्तरिक भेद बहुत रहता है। अज्ञानीकी सभी क्रियायें वासनासे प्रेरित होती हैं—जीवन्मुक्तकी क्रियाएँ यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार, वासनासे रहित होती हैं। जीवन्मुक्तके मनकी दशा भी एक अद्भुत दशा होती है। उसमें किसी प्रकारकी वासना और संकल्प विकल्प नहीं उठते। वह सदा ही शान्त और सत्त्व रूपमें रहता है। ब्रह्माण्डकी सारी शक्तियाँ जीवन्मुक्तकी सेवा और रक्षा किया करती हैं; और उसका जीवन एक दिव्य और ज्योतिर्मय जीवन हो जाता है—जिसके स्पर्शमें आते ही दूसरे लोगोंका कल्याण हो जाता है। प्रारब्ध कर्म द्वारा प्राप्त भौतिक शरीरको समय आनेपर छोड़ कर जीवन्मुक्तका किसी शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता; वह सब प्रकारसे

ब्रह्ममय हो जाता है। पूर्णसे पूर्ण स्थितिका अनुभव करता है। वह समस्त ब्रह्माण्डके साथ एकताका अनुभव करने लगता है, और उसका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। इस अवस्थाका नाम विदेह मुक्ति अथवा निर्वाण है। जीवका यही अन्तिम ध्येय है।

श्रीयोगवासिष्ठ महा रामायणके दार्शनिक सिद्धान्तोंको लेखक ने अपनी बुद्धिके अनुसार पाठकोंके सामने विस्तार पूर्वक तथा संक्षेपतः रखनेका प्रयत्न कर दिया। इन सिद्धान्तोंको पढ़ते समय विद्वान् पाठकोंके मनमें बहुधा यह बात आई होगी कि इस प्रकार के सिद्धान्त भारतवर्षके अनेक प्राचीन ग्रन्थों—उपनिषत्, भगवद्गीता, पुराण और दर्शनोंमें भी पाये जाते हैं। यही नहीं, इस प्रकारके विचार माध्यमिक और विज्ञानवादी बौधदर्शन, मध्यकालीन सन्तोंकी वाणी और मुसलमानोंके तसव्वुफ़ (सूफ़ीमत) और ईसाइयोंके सन्तोंके उपदेशोंमें भी मिलते हैं। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शनमें भी इस प्रकारके अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। आजकलके दर्शन और विज्ञान तो स्पष्टतया हमको वसिष्ठजीके सिद्धान्तोंकी ओर ही ले जाते हुए जान पड़ते हैं (इस विचारकी पुष्टि लेखकने अपने अंग्रेज़ी ग्रन्थ "योगवासिष्ठ ऐण्ड मोडर्ण थॉट" में की है)। लेखकने इस प्रकारका तुलनात्मक विवर्ण यहाँपर ग्रन्थके विस्तारके भयसे नहीं किया। दूसरे भागमें इस प्रकारका अध्ययन पाठकोंके सामने रखकर योगवासिष्ठके इस कथनकी पुष्टि की जायेगी कि—

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।
इदं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः॥" (३।८।१२)

जो बातें इस ग्रन्थमें हैं वे और और ग्रन्थोंमें भी मिलेंगी। जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगी। विद्वान् लोग इसको सब विज्ञान-शास्त्रोंका कोश समझते हैं।

तुलनात्मक अध्ययनके पश्चात् यह भी आवश्यक है कि हम योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंको निष्पक्ष भावसे समालोचककी दृष्टिसे देखकर यह निश्चित करें कि ये सिद्धान्त कहाँतक युक्तियुक्त हैं, क्योंकि वसिष्ठजीने स्वयं हमको यह शिक्षा दी है कि—

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

योऽस्मात्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
यत्त्वा गाङ्गं पुरस्थं तं को नाशास्त्यतिरागिणम् ॥
अपि पौरुषमुपादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥
(२।१८।३,४,२)

युक्तियुक्त बात तो बालककी भी मान लेनी चाहिये; लेकिन युक्तिसे च्युत बातको तृणके समान त्याग देनी चाहिये, चाहे वह ब्रह्माने ही क्यों न कही हो। जो अतिरागवाला पुरुष अपने पास मौजूद रहते हुये गङ्गाजलको छोड़कर कूँवेंका जल इसलिये पीता है कि यह कूँवाँ मेरे पिताका है, वह सबका ग़ुलाम है। जो न्यायके भक्त हैं उनको चाहिये कि जो शास्त्र युक्तियुक्त और ज्ञानकी वृद्धि करनेवाला है उसको ही ग्रहण करें, चाहे वह किसी साधारण मनुष्य ही का बनाया हुआ क्यों न हो; और जो शास्त्र ऐसा नहीं है उसको तृणके समान फेंक दें, चाहे वह किसी ऋषिका बनाया हुआ ही हो।

इस प्रकारके समालोचनात्मक अध्ययनके लिये भी यहाँपर स्थान नहीं है; यह भी दूसरे ही भागका विषय होगा (जो पाठक अंग्रेज़ी भाषासे भलीभाँति परिचित हों वे इस सम्बन्धमें हमारी अंग्रेज़ी पुस्तक "दी फिलासोफ़ी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" का अन्तिम अध्याय पढ़ लें)। अब तो हम इस भागको यहीं समाप्त करके ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं :—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वस्सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वस्सर्वत्र नन्दतु ॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥

सब लोग कष्टोंको पार करें, सब लोग भलाई ही देखें, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब सर्वत्र प्रसन्न रहें। दुर्जन सज्जन बन जावें, सज्जन शान्ति प्राप्त करें, शान्त लोग बन्धनोंसे मुक्त हों, तथा मुक्त लोग औरोंको मुक्त करें।

इति ।

अनुक्रमणिका

लेखककी योगवासिष्ठ सम्बन्धी पुस्तकोंपर विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंकी कुछ सम्मतियाँ:—

Prof. Dr. Th. Stcherbatsky (Leningrad) :—

"A very thorough investigation imbibed with a real scientific spirit and conducted in accordance with the methods of modern criticism..a work that tends to the advancement of our knowledge..Prof. Atreya has brought the problem (of the date of the *Yogavasistha*) very near to its final solution..Prof. Atreya deserves the highest praise for introducing into his exposition numerous and various references to European philosophy."

Prof. A Berriedale Keith (Edinburgh):—

"It seems clear that you have proved it to be before Śankara's date, and there seems to be a good case for placing it before Bhartṛhari..Despite the appearance of Prof. Das Gupta's Second Volume I have no doubt that your contribution to the study of Yogavasistha has much value."

Prof. Dr. Schrader (Kiel):—

"I became acquainted with Yogavasistha when I was in Adyar, and I have always since been wondering that Indologists did not seem to care for it.......I am inclined to congratulate you on your having proved that Yogavasistha is earlier than Śankara and possibly even Gaudapada. When this will have been generally admitted, the interest in that much neglected work (neglected, at least, by orientalists) is bound to grow immensely."

Prof. Winternitz (Prague):—

"The arguments for your date of the *Yogavasistha* are certainly deserving of most earnest consideration....Your discovery of the source of some of the Minor Upanishads sees to me very important."

लेखककी योगवासिष्ठ सम्बन्धी पुस्तकोंपर विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंकी कुछ सम्मतियाँ:—

Prof. Dr. Th. Stcherbatsky (Leningrad) :—

"A very thorough investigation imbibed with a real scientific spirit and conducted in accordance with the methods of modern criticism..a work that tends to the advancement of our knowledge..Prof. Atreya has brought the problem (of the date of the *Yogavasistha*) very near to its final solution..Prof. Atreya deserves the highest praise for introducing into his exposition numerous and various references to European philosophy."

Prof. A Berriedale Keith (Edinburgh):—

"It seems clear that you have proved it to be before Śankara's date, and there seems to be a good case for placing it before Bhartṛhari..Despite the appearance of Prof. Das Gupta's Second Volume I have no doubt that your contribution to the study of Yogavasistha has much value."

Prof. Dr. Schrader (Kiel):—

"I became acquainted with Yogavasistha when I was in Adyar, and I have always since been wondering that Indologists did not seem to care for it.......I am inclined to congratulate you on your having proved that Yogavasistha is earlier than Śankara and possibly even Gaudapada. When this will have been generally admitted, the interest in that much neglected work (neglected, at least, by orientalists) is bound to grow immensely."

Prof. Winternitz (Prague):—

"The arguments for your date of the *Yogavasistha* are certainly deserving of most earnest consideration....Your discovery of the source of some of the Minor Upanishads sees to me very important."

Dr. Gualtherus H. Mees (Leyden):—

"I am most happy that this one of the most profound and exalted books of the world has been taken to hand so thoroughly and in such a scientific manner."

Prof. Jules Bloch (Paris):—

"Your exposition is as lucid as it is thorough".

Prof. W. Stede (London):—

"I sincerely appreciate these lofty truths and see in them an invaluable help for the improvement of the affairs of our so called civilised world."

Prof. H. von Glassenapp (Koenigsberg):—

"Your valuable work I have read with the greatest interest."

Prof. L. D. Barnett (London):—

"It is very interesting."

Prof. Turner (London):

"It is indeed most encouraging to find that Indian philosophy (in which India has made perhaps a greater contribution to mankind than in anything else) receives so much cultivation and that too in the most fitting home, the University of Benares. With best wishes for the prosecution of your researches."

Sadhu Kripanand (America):—

"I congratulate you for the splendid and monumental work entitled *Yogavasistha and its Philosophy*. You have won the sublime approbation of the civilised world, and I do most forcibly review your book in the columns of "*The Atlantic Monthly*" of Boston and "*The Pan-Pacific Progress*" of Mass. Only people of your stamp could interpret the sublime works of the Rishis."

Dr. Keval Motwani (U. S. A.):—

"Your effort to elucidate the hidden and the subtle philosophy of *Yogavasistha*, to give it a modern garb, and to place it alongside the philosophical thought of today, is highly commendable and deserves gratitude. I am one of those who believe teat our ancient philosophers, seers and sages did probe very

deeply the mysteries of God, nature and man and their contributions, when relieved of the technical and the philological debris that has accumulated around them as a result of time and arid erudition, will stand shoulder to shoulder with the contributions, of the great seers and sages of other countries and secure for them a place in the valhalla of immortality. Every one of our young luminaries who can participate in this work of interpretation places his readers and his countrymen under a deep dept of gratitude. I am greatly struck with the rich variety of material contained in the *Yogavasistha*, and with your laborious research in finding parallel passages in the writings of modern philosophers. May *Yogavasistha* and you receive the recognition which you both richly deserve. I shall look forward with interest to your further works on the subject."

Paul Brunton:—

"I have just completed writing an article on your book, and I have done my best to give it a highly fovourable com mendation to Western readers........I consider it ought to be brought to wider notice."

Dr. Sir Radhakrishnan:—

"He gives an admirable account of the main ideas of the system and his comparisons with western views are as a rule stimulating..The range of the author is as wide as his judgement is measured. Dr. Atreya's work is certain to rank among the dependable English treatises on Samskrit philiosophical classics."

Prof. S. N. Dasgupta (Calcutta) :—

"It is a very elaborate work which testifies to the great industry of the writer in going carefully through the problems of Yogavasistha and of arranging them in a modern form.. There is no doubt that the writer bestowed immense time and labour in digesting the material of this great work and in attempting to give it a modern shape. He also gave a very lucid and clear exposition of the general position of Yogavasistha Philosophy."

Dr. Bhagwan Das:—

"Your judicious and excellently classified selection of verses from the vast original, printed under significant headings which briefly but clearly indicate the essential meaning of what follows, will, I feel sure, facilitate the study of this important work and make it more widely known."

Prof. B. P. Adhikari (Benares):—

"Has done here something which is not known to have been attempted hitherto by any writer with such thoroughness ......I cannot but admire the degree of perseverence with which this has been done and the extent of studies undertaken for the purpose..............In the actual presentation of the position......the author......evinces a throughness which is simply admirable......He displays, throughout the work, a deep analytic penetration into and a through intelligent grasp of the thoughts dispersed in the original work..........The exposition is on the whole simple and direct."............"The concluding chapter is devoted to the discussion of some of the most important problems of the present day philosophy of the West and the place the Yoga-vasistha can occupy in connection with them....Has made out a case for this position on the problems, which is thought provoking and deserves due consideration from any thinker."

Principal Gopi Nath Kaviraj (Benares):—

"I have glanced through the pages of Prof. Atreya's "Vāsistha Darshanam." The arrangement of the Sanskrit text in the way it has been done will prove highly useful, not only to the students of the particular work, but also to all who are interested in the history of Indian Philosophy in general........ Certainly a distinct service to the cause of Indian Philosophy."(8-11-27).

A. B. Dhruva (Ex-Pro: Vice-Chancellor, Benares Hindu University) :—

"I commend to every earnest student of Vedanta this book of selections from the *Yogavasistha* which has been carefully

and lovongly gathered and classified by my friend Dr. B. L. Atreya."

Dr. Ganga Nath Jha (in the *Leader*, Allahabad):—

"The *Yogavasistha 'Ramayana'* is one of those works in Sanskrit which deserves most to be read, and yet is the least read by students of Sanskrit literature. It is a work wherein philosophy has been brought down as near as possible to practical life..The *Yogavasistha* embodies within itself the quest of a bewildered soul—that of Rama, the ideal man, faced by practical problemes of life—as met by Vasistha, his guide, philosopher and friend. The book under review is an attempt,—and a fairly successful attempt,—at bringing within easy reach of the modern student, just those teachings that allayed the striving heart of Sir Ramachandra............The work is a comprehensive one: dealing with the entire field of Indian philosophy..It has to be confessed that the outlook of the work is mainly. if not entirely, *Vedantic;* but that is as much to say that it represents the essence of Indian philosophy. Like all roads leading to Rome, all principle *'Darshanas'* lead but to one Goal, the *Universal Absolute*, which is attainable only by the path of *Universal Brotherhood.* And herein lies the value of Prof Atreya's work at the present moment, when in India, and in the world at large, every individual and every community is trying to strangle the other. ..The professor deserves to be congratulated on having presented to us the main teachings of the great text in a readable and understandable form."

Prof. V. Subrahmanya Iyer (Mysore):—

"You have done splendid research work in a very important field of Indian thought. My most hearty congratulations to you."

Prof. V. Subrahmanya Iyer (Mysore):—

"The valuable work you have been doing in the field of Indian Philosophy..Your reseatches in the teachings of Yogavasistha are of *first rate* importance. Your new publication, "*Yogavasistha & Modern Thought*" is another piece of work not less valuable. It also bears the impression of a wide range

of study combined with equally critical thinking. The parallels yau have quoted reveal not only your extensive knowledge of Western and Eastern thinkers of eminence, but also your great insight".

Prof. Ranade (Allahabad):—

"I am sure the book will be widely appreciated".

Dr. Girindra Shikhar Bose (Calcutta):—

"I found it extremely interesting. You have a remarkabie gift of clear exposition and you write from deep appreciation.. The probable date of composition of the present work has been very likely correctly fixed by you".

Dr. G. Bose (Calcutta):

"Dr. B. L. Atreya, M. A., D. Litt., has been a keen student of Yogavasistha Ramayana for several years past and to him belongs the credit of drawing the attention of modern scholars to the great worth of this book. The original work is a voluminous one and in preparing an abridged edition Dr. Atreya has done a great service to students of Indology and Indian Philosophy. He has discussed the different aspects of this great work in an extremely lucid manner and has shown wonderful judgment in his selection of material. The work teems with passages which may truly be called literary gems. The philosophy of Vasistha is the well known Vedantic Monism but the way of approach is something quite original. It has a freshness which is charming. Prof. Atreya's "Vasistha-darshanam" will be undoubtedly recognised as the best introduction to "Yogavasistha Ramayana."

Prof. Hiriyanna (Mysore):—

"Your account of the work is very interesting and you have made it clear that it deserves to be closely studied by all students of Indian Philosophy."

Dr. J. N. Sinha (Meerut):—

"Nothing is more gratifying to me than to find that the Benares Hindu University is doing something to spread the light of Hindu culture. Such an intensive study of a particular aspect of Indian Philosophy and its interpretation in terms of

modern concepts of philosophy is the thing most needed in India today. Please accept my hearty congratulations on your achievement."

Principal Pramath Nath Tarkabhushana (Benares) :—

"He has rendered a valuable service to the thinkers of Hindu Philosophy."

Dr. Naga Raja Śarma (in the *Hindu*, Madras):—

"Dr. B. L. Atreya has made a laudable effort to push into the focus of modern philosophical thought the truths embodied in *Yogavasistha*."

Prof. N. G. Damle (Poona):—

"I have liked your book so much".

Prof. P. M. Bhambhani (Agra):—

"It is an excellent piece of literature and forms a very valuable addition to it."

Prof. Shiva Prasad Bhattacharya (Calcutta):—

"I congratulate you heartily for the really admirable persentation of the many of the prominent philosophical doctrines of the Yogavasistha".

Janakdhari Prasad (Muzaffarpur):—

"Your book has given me a new insight of life and I have found peace, solace and rest which I could not succeed in getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. Yogavasistha in original was in itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling. Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude. May I make one request ? Will you bring out a Hindi Edition of the book for the understanding of those who do not know English ? It is clear that it was the teaching of Yogavasistha which made India so great. We are now fallen because we have quite forgotten it. May this book of yours infuse a new life into the decaying nerves of India ? Every step should be taken to popularise this teaching".

M. K. Acharya *in The Federated India,* **(Madras) :—**

"In the present pamphlet an attempt is made to point out "the agreement of the East and the West on fundamental problems." The author has selected some forty-three of such problems..and under each heading he has given the teachings of *Yogavasistha* along with the conclusions or findings of some great modern writer or journal on the subject. He has drawn from over eighty modern thinkers to corroborate the findings of *Yogavasistha* of old. A recognition of this truth that the greatest minds in every age have come particularly to the same conclusions on the higher problems of life should go towards building a common World-Culture which, as Dr. Atreya says, "is the crying need of the times."

P. C. Divanji (Jalgaon):—

"I was very much pleased to fined that you were able to lay your hands on the works of a host of leaders of modern thought for the purpose of showing that Western science has now advanced so much as to enable the thinkers of the West to meet those of the East on a common platform to discuss the nature of the Absolute..........Your work is an eloquent testimony of your firm determination to raise the *Yogavasistha* in the eyes of the intelligentia of the world and the possession by you of the inexhaustible fund of energy for the realisation of that ideal.

Prof. Phani Bhushan Adhikari (Benares):—

"The pains the candidate appears to have so carefully taken in this work of compilation and the analytic judgement he has displayed in the selection of relevent texts and in their classification according to topics, evince by themselves the importance of the undertaking. This Sanskrit part of the thesis can by itself form a separate and independent book bearing on the philosophical position of Yogavasistha, which may be utilised with facility by scholars who would like to refer to the original sources on points of interest. The candidate has, in my opinion, done here something which has a value of its own."

Principal Gopinath Kaviraj (Benares):—

"An attempt, made perhaps for the first time in the history of the work, to sum up the philosophical teachings of the Yogavasisth Ramayana in a consistent and systematic manner. The earlier attempts of Abhinand (900 A. D.) and Mahidhara (1600) and others did not claim to be any more than abridged redactions of the text, but to Professor Atreya belongs the credit of presenting briefly the philosophy of this unique treatise in the language of the original text, with the topics arranged in logical sequence....It is unfortunate that a work of such monumental grandeur (the *Yogavasistha*), the like of which is hardly to be met with even in Sanskrit literature, should have been allowed to remain obscure and neglected so long It is hoped that interest in the study of Yogavasistha will again be revived and that the present booklet will serve as an humble introduction to this study."

Mr. P. C. Divanji (Jalgaon):—

"Your study of the work is very comprehensive and many sided;....I have a profound regard for your intelligence, patience and industry."

Mr. B. Subba Rao (Kanara):—

"It is a book containing highly inspiring selected thoughts which every one should ponder over in everyday life".

R. V. Subrahmanyam (Tirupattur):—

"I congratulate you on your splendid and original contribution on *Yogavasistha*—a rare Sanskrit work and not handled by any scholar upto date."

Mr. R. V. Snbrahmania Iyer (Tirupattur) :—

"It is a piece of original research and you have thrown much light on what is altogether a closed book to many modern students of philosophy and religion".

Pt. Ram Narayan Misra (Benares):—

"Your attempt to bring the East and the West together is laudable. The book is inspiring".

The Leader (Allahabad) :—

"The author has really rendered valuable service by presenting in a simple, yet scientific way, the essence of a philosophical thought as contained in the extensive and voluminous work known as *Yogavasistha.*

The Leader (Allahabad :—

"This is a comparative, critical and synthetic survey of the philosophical ideas of Vasistha as presented in the *Yogavasistha Maharamayana*......The author has shown by his original researches that the *Yogavasistha* existed before the time of Shankara and Gaudapada....The author must be congratulated on his able presentation of the details of Vasistha's philosophy in a systematic and coherent manner....He has not only pointed out similarities in the thoughts of other thinkers, ancient and modern, Indian and Western but also has brilliantly summed up the salient features of this philosophy. There is a chapter at the end dealing with the critical estimate of the philosophical position of Vasistha......Every library worth the name ought to have a copy of this book."

The Hindu (Madras):—

"Dr. Atreya......is to be congratulated on making available to the English knowing reader so comprehensive an account of a work which has hardly received from modern scholars the attention that it deserves.............. The volume is divided into two main sections. The first of them deals with general points touching the work, like its date and place in the philosophical literature of India; and the second, which is by far the bigger, is devoted entirely to an elucidation of its teaching..Dr. Atreya, with his intimate knowledge of the work, has succeeded in giving us a full and connected account of it. He writes in a simple and interesting manner; and his exposition is interspersed throughout with free renderings into English of passages from the original. These passages are printed in Deva Nagari characters at the foot of the page for ready reference. Another noteworthy feature of the exposition is the comparison he now and then

institutes between Vasistha's teachings and the views of modern thinkers. The printing and the get-up of the book are excellent."

The Theosophy in India (Benares):—

"The *Yogavasistha* is a very important book, but its philosophy is somewhat difficult, so that writers on Indian philosophy give it scant attention. Dr. Atreya has made a special study of it and tries to make it popular by placing the fruits of his labour in easy manuals before the public. The author's researches on this book have necessitated modification of certain opinions held by western Orientalists, and this is high praise of his work.......All the works of this writer are written in a popular style..He is doing a great service to the country by making the philosophy of the *Yogavasistha* available to the public in simple and short form. We would recommend all the books of this writer on *Yogavasistha* to our readers."

The Vaitarani (Cuttack):—

"It is an excellent specimen of lucid exposition...... Such contributions, it is hoped, will soon be classed according to Ruskin amongst the books for all times."

The Hindustan Times (Delhi):—

"Yogavasistha is a very important field of Indian mataphysics, and any scientific research in it naturally requires a good deal of sustained effort.....Dr. Atreya has treated his subject in the true spirit of a scholar.

The Madras Mail :—

"Dr. Atreya..is deservedly proud that he has been the first to give the rightful place that that work (the *Yogavasistha*) deserves..The range of the author's knowledge is wide and his judgements are tendentious The book has the merit of making comparison betweeen Eastern and Western philosophy and this work is proud to rank as a first rate work in English among other philosophical classics."

The Parasaki Magazine, (Bangalore):—

"Dr. B. L. Atreya has won for himself an undying reputation for making a most brilliant contribution satisfying all canons of true scientific spirit and modern criticism, upon a very important but least known section of Indian Philosophical and Religious literature "*Yoga Vasistha*" by presenting in an illuminating manner the essence of the reputed system of thought in a series books of which three are altready published and the other two are in preparation. A careful perusal of its Contents and the Bibliography reveals the author's phenomenal industry and unflagging enthusiasm to dispel from the reader's mind the erroneous belief that "the East is East and the West is West and never the twain shall meet" nad seeks to impress unequivocally the cardinal Principle that in the world's Great plan, East and West, past or present, nay future too, do not differ fundamentally in their outlook and visualisation of a common World Culture towards which some of the International movements are aiming.... I have no hesitation in saying that this book and indeed all his books deserve to be classed according to Ruskin as "the Books for all Times."

The Federated India (Madras):—

"A most valuable contribution to a study of ancient Indian philosophical systems—very valuable both to the general study of Indian thought, and to the specialist interested in the evolution of the Advaita system".

The United India and Indian States (Delhi):—

"The writer claims, and with considerable justification, that he has been the first to draw the attention of modern scholars to the unique position of *Yogavasistha* which has made a unique and important contribution not only to Indian wisdom, but to the thought of the world as well".

The Young Builder (Karachi):—"An excellent introduction to the study of Yogavasistha."

His Holiness
The Jagathguru Sri Sankaracharya Swamigal Mutt of
SRI KANCHI KAMAKOTI PITHA.

"श्रीमता अद्वैतमतप्रतिपादकेषु ग्रन्थेषु अत्युत्तमतया परिगणिते योगवासिष्ठग्रन्थे तदीयमार्मिकभावोद्घाटनार्थं यत्परिश्रान्तं यच्च ग्रन्थान्तरैस्साकं तुलनादिकं कृतम्, तेनाऽतीव सन्तुष्यत्यस्माकं चेतः। एतावत्पर्यन्तं भारतीयैर्वैदेशिकैर्वा विपश्चिद्वरैर्विशेषेण अपरिक्षुण्णेऽस्मिन् पथि विचरतोऽपि भवतः प्राचीनादृतात्पथः न मनागपि च्युतिरासीत् इत्येतदस्मिन् ग्रन्थे दृष्ट्वा विशेषेण सन्तुष्यामः। पश्यन्तो वयमनेनोत्तमोत्तमेन भवतः परिश्रमेण महान्तमुपकारं दार्शनिकानां, विशेषतोऽद्वैतिनां भवतः परमस्य श्रेयसः प्राप्त्य पुनर्नारायणस्मृतिं कुर्मः। प्रार्थयामश्च भगवन्तं चन्द्रमौलीश्वरं एतादृशस्य विद्याभिवर्धककार्यस्याऽभिवृद्ध्यर्थं भवतश्चिरजीवित्वादिसमग्रसाधनसम्पत्सम्पादनेन भवन्तमनुगृह्णात्विति—"

श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण शर्म्मणः (Director of Sanskrit Studies College of Oriental Learning, Benares Hindu University):—

"अस्मिन् खलु निबन्धे योगवासिष्ठीयाद्वैतवादस्य श्रीमद्भगवत्पादाचार्यशङ्कराविर्भावात्प्रागपि विद्यमानत्वं तथा नितरां वैलक्षण्यं सम्प्रति प्रचरदद्वैतवादात् संस्थापयितुं श्रीमता भवता या युक्तयः सप्रमाणाः समुद्भाविताः, ताः प्रायेण अखण्डनीयाः शिष्टविद्वज्जनसम्मताश्चेति निःसंकोचं वक्तुमुत्सहे। योगवासिष्ठीयदर्शनस्य ज्ञातव्यानि बहूनि तत्त्वानि स्फुटीकुर्वता भवता आत्मनो दार्शनिकेषु ऐतिहासिकेषु च विषयेषु सम्यक्पर्यालोचनपाटवं सुमहच्च पाण्डित्यं सर्वथा व्यवस्थापितं सहृदयेषु समभिज्ञेषु। भवत्प्रणीतोऽयं निबन्धः नवोदितप्रदीपकल्पो भारतीयप्राचीनदर्शनमहाटवीप्रदेशे निगूढमहार्हरत्नविशेषसंदर्शनसाहाय्यसम्पादनेनानुशीलनपराणां विदुषां महान्तमुपकारं विधास्यतीति मे सुदृढो निश्चय इति।"

पं० बालकृष्ण मिश्रः (प्रिंसिपल, संस्कृत कालिज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी):—

"आत्रेयोपनाम्ना डाक्टर श्री भीखनलालशर्मणा एम. ए. महोदयेन परिश्रमानुभावि प्रकाशितं वासिष्ठदर्शनमेतत्कालोचितमालोचनस्पृशा दृशा सम्यगवालोकयम्। अत्र विषयबाहुल्यप्रयुक्तं गरिमाणे गतवता योगवासिष्ठग्रन्थेन प्रतिपादितानामियता संक्षिप्तरूपेण संग्रहः कलशे सागरानयनं विडम्बयति। विषयाणां विनियोगः स्थापनक्रमश्च चारुतमतामञ्चति। मुद्रणप्रकारोऽपि

श्लाघनीयतामश्नुते । तदिदं स्तुत्यं कार्यं विपश्चितां पुरस्तादुपस्थापितमेतेन, स्वकीयनैपुण्यपरिचयोऽपिप्रदत्तः । दृढमहं विश्वसिमि यत्पुस्तकमिदं वेदान्तविद्यानुरागविवशीकृतमनसां विदुषामन्तः सन्तोषमाधातुमिष्टे ।"

राजा सूर्यपालसिंह जी (आवागढ़) :—

"हमको 'योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थॉट' नामकी किताब पढ़कर बड़ा सन्तोष और आनन्द हुआ और यह भरोसा हो गया है कि हिन्दू युनिवर्सिटी द्वारा हिन्दूधर्मका रक्षण और हिन्दू जातिका कल्याण अवश्य होगा !……… सम्पादकजीके उपकारके उपलक्षमें उनके चरणोंकी भेंट हम मु० १००१) भेजते हैं । उनके अमूल्य ग्रन्थकी किञ्चित् मात्र यह भेंट बराबर नहीं है, किन्तु अंग्रेज़ी पढ़े लिखोंका इस ओर ध्यान आकर्षित करनेमें अगर सहायता दे सके तो हम अपना कर्तव्य पूरा हुआ समझेंगे ।"

श्री विष्णुराम गिरिधरलाल सनावद्या (नीमाड़) :—

" "श्री वासिष्ठदर्शनसार" को मैंने बड़े ही ध्यानपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा । आपने गागरमें सागर समानेका अच्छा प्रशंसनीय प्रयत्न किया है । पुस्तककी छपाई सफाई तो बहुत ही उत्तम है । आपकी अनुवादिक भाषा बड़ी सरल एवं सुबोध है……"योगवासिष्ठ" जैसे संस्कृत साहित्यके सर्वोत्तम अध्यात्म-ग्रन्थका गूढ़-रहस्य आपने १५० श्लोकोंमें सफलतापूर्वक समझानेका प्रयास किया, इस कठिन प्रयासके हेतु आप धन्यवादके पात्र हैं । मुझे विश्वास है कि यह पुस्तिका अध्यात्म विषय प्रेमियोंको अधिक रुचिकर होगी ।"

प्रताप (कानपुर) :—

"श्री योगवासिष्ठ-महारामायण संस्कृत साहित्यमें संसारका सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ बहुत बृहद् है । इसमें ३२००० श्लोक हैं ।…… प्रस्तुत पुस्तिकाके संग्रहकर्ताने इसी बृहद् अध्यात्म ग्रन्थके २५०० चुने हुए श्लोकोंको लेकर 'वासिष्ठदर्शन' नामक एक क्रमबद्ध संग्रह तैयार किया है । यह पुस्तिका हिन्दी अनुवाद सहित उसी संग्रहका १५० श्लोकोंमें सार है । विद्वान् संग्रहकर्ताने कोशिश की है कि इतने ही श्लोकोंमें योगवासिष्ठके सारे सिद्धान्त आ जायें । अनुवादकी भाषा बहुत सरल और स्पष्ट है । इस छोटी पुस्तिकाके पढ़नेसे भी योगवासिष्ठका निचोड़ सर्वसाधारणके सामने आ जायगा । पुस्तिकाकी छपाई सफाई भी अच्छी है ।"

सनातनधर्म (काशी) :—

"हाल हीमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके दर्शनाध्यापक डॉ० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०, ने श्री योगवासिष्ठपर विशेष चिन्तन और मनन करके हिन्दी भाषा-भाषियोंके लिये श्री योगवासिष्ठके ३२०.०० श्लोकोंका सार १५० श्लोकोंमें निकाल कर रख दिया है। यह प्रयास सचमुच ही गागरमें सागर रखनेका है। ······आशा करते हैं कि हिन्दी जाननेवाले इस श्री वासिष्ठ-दर्शनसारका उचित आदर और स्वागत करेंगे। प्रत्येक धार्मिक पुरुष और स्त्रीके लिये यह अत्यन्त अमूल्य निधि है।"

पं० हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक कल्याण, गोरखपुर) :—

"योगवासिष्ठको प्रकाशमें लाकर तथा उसके दार्शनिक उच्च सिद्धान्तोंको जनताके सन्मुख रखकर, विशेषतः विदेशी विद्वानोंकी आँखें खोलकर, आपने भारतीय गौरव और आदर्शका मुख उज्ज्वल किया है। वस्तुतः इस दिशामें यदि आप प्रयत्नशील नहीं होते तो अभी बहुत दिनों तक यह ग्रन्थरत्न अन्धकार में ही पड़ा रहता तथा भारतवर्ष और बाहरके लोग इसके विषयमें सर्वथा अनभिज्ञ होते। भारतीय संस्कृतिके इतिहासको गौरव प्रदान कर आप कोटि कोटि हृदयोंके धन्यवादके पात्र हैं।"

नारायण स्वामी (किशनगढ़) :—

आपकी पुस्तक निरन्तर देख रहा हूँ। दो बार देख चुका हूँ, किन्तु जब कभी भी इसको उठाता हूँ तो कोई न कोई नवीन आदेश प्राप्त हो जाता है। इस अमृत-कलशको छोड़नेको जी नहीं चाहता···स्वामी रामतीर्थने मुज़फ्फ़र नगरके ऑन्रेबिल लाला निहालचन्दसे कहा था कि योगवासिष्ठका एक धुरन्धर ज्ञाता इसी ज़िलेमें होगा। यह बात उन्होंने किशनगढ़के एक विद्यार्थीसे भी कही थी। वह विद्यार्थी आज ६०-६५ वर्षका है एवं जोधपुरमें प्रसिद्ध सर्जन है। उसने स्वामी रामतीर्थकी वाणीकापात्र मुझे घोषित कर दिया था किन्तु उसका भ्रम दूर हटानेको मैंने आज उसे पत्र लिख कर असली ऋषिका 'जुडा' का पता लिख दिया है।"

लेखककी योगवासिष्ठ-सम्बन्धी पुस्तकें

1. Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy
2. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
3. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
4. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
5. Deification of Man
6. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत) (With English Introduction)
7. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत)
8. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
9. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (हिन्दी)
10. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)

लेखककी योगवासिष्ठ-सम्बन्धी पुस्तकें

1. Yogavasiṣṭha and Its Philosophy
2. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
3. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
4. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
5. Deification of Man
6. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत) (With English Introduction)
7. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत)
8. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
9. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (हिन्दी)
10. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)
11. योगवासिष्ठसार (संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी)
